लगातार संख्याओं का योगफल

● अखिलेश्वर नाथ

सरेंजा, भोजपुर (बिहार)

मद्रास प्रान्त के तंजोर जिले के कुम्बाकोनम के पास रोड़ नामक एक छोटे से गाँव का प्राइमरी स्कूल। गणित की घंटी बजी। अध्यापक महोदय कक्षा में आये और धप से कुर्सी पर बैठ गये। थकावट के कारण उनका नया पाठ पढ़ाने को नहीं था अतः समय काटने के लिए बच्चों को आज्ञा दी, '1 से 100 तक की सब संख्याओं को जोड़ो' और स्वयं आराम से नींद के खर्राटें लेने लगे।

पलक झपकते देर न हुई कि एक लड़का आया और उनकी नींद में खलल डाल दिया। उसने सवाल तो हल कर लिया था लेकिन एक गणितीय सूत्र से जिसकी पढ़ाई कालेज में ही होती थी। कम वय के कुशाग्रबुद्धि बालक को देखकर अध्यापक महोदय दंग रह गये क्योंकि सूत्र का ज्ञान किसी पुस्तक के पढ़ने से हुआ होगा ऐसा मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। यह बालक था जन्मजात विलक्षण प्रतिभावान महान् भारतीय गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजन्।

तो आइये हम भी उस तरह के सवालों को हल करने का तरीका जानें। आओ, एक से ही नहीं बल्कि किसी भी संख्या से आरम्भ होने वाली किसी भी पद अन्तर वाली श्रेणी के मनचाहे पदों का योगफल निकालें।

यदि कोई श्रेणी किसी निश्चित संख्या (पद अन्तर) से उत्तरोत्तर बढ़ती है उसे समानान्तर श्रेणी (Arithmetic Progression) **कहते हैं** यथा;

अ, (अ+ब), (ब+2ब),........, अ+(स−2) ब, अ+(स−1) ब श्रेणी में आरंभिक पद 'अ' और प्रत्येक अगले पद में पिछले पद से उत्तरोत्तर वृद्धि 'ब' है।

यदि स० श्रेणी का सवाँ पद 'प' हो तो प=अ+(स−1) ब और यदि सवाँ पद को अंतिम पद माना जाय तो पदों की संख्या

$$(स) = \frac{प - अ}{ब} + 1 \text{ होगी।}$$

यदि स० श्रेणी के स पदों तक का योगफल 'य' हो तो

$$य = अ + (अ + ब) + (अ + 2ब) + \ldots\ldots + (प - 2ब) + (प - ब) + प$$

श्रेणी को उलटकर लिखने पर

$$य = प + (प - ब) + (प - 2ब) + \ldots\ldots + (अ + 2ब) + (अ + ब) + अ$$

जोड़ने पर $2 य = (अ+प) + (अ+प) \ldots\ldots$ स पद तक

$$= स \times (अ + प)$$

$$\therefore \quad य = \frac{स(अ+प)}{2}$$

या स का मान रखने पर

$$य = \frac{अ+प}{2} \times \left(\frac{प - अ}{ब} + 1\right)$$

या प का मान रखने पर

$$य = \frac{स}{2}[2 अ + (स - 1) ब]$$

अतः साधारणतः 3 प्रकार से स० श्रेणी का योगफल निकाला जा सकता है—

(क) आरम्भिक पद, पद अन्तर और अंतिम पद ज्ञात रहने पर

$$\text{योगफल} = \frac{\text{आरंभिक पद} + \text{अंतिम पद}}{2} \times \left(\frac{\text{अंतिम पद-आरंभिक पद}}{\text{पद अन्तर}} + 1\right)$$

(ख) आरंभिक पद, पद अन्तर और पदों की संख्या ज्ञात रहने पर

$$\text{योगफल} = \frac{\text{पदों की संख्या}}{2} [2 \times \text{आरंभिक पद} + (\text{पदों की संख्या} - 1) \times \text{पद अंतर}]$$

(ग) आरंभिक पद, अंतिम पद और पदों की संख्या ज्ञात रहने पर

$$\text{योगफल} = \frac{(\text{आरंभिक पद} + \text{अंतिम पद})\ \text{पदों की संख्या}}{2}$$

उदाहरण—

$4+7+10+13+16+19+22+25=$

(क) की सहायता से $\frac{(4+25)}{2}\left(\frac{25-4}{3} + \right) = 116$

(ख) की सहायता से $\frac{8}{2}[2 \times 4 + (8-1)3] = 116$

(ग) की सहायता से $\frac{(4+25) \times 8}{2} = 116$

कुछ परिणाम—इसके अंतर्गत गिनती, पहाड़ा, सम एवं विषम संख्याओं का योगफल निकालने के सरलतम उपाय पर विचार करेंगे। आरंभिक पद, अंतिम पद या पदों की संख्या के सहारे योगफल आसान हो जाता है।

I. कहीं से आरंभ होने वाली गिनती का योगफल

(क) आरंभिक पद और अंतिम पद मालूम रहने पर

$$\text{योगफल} = \frac{(\text{आरंभिक पद} + \text{अंतिम पद})\ (\text{अंतिम पद} - \text{आरंभिक पद} + 1)}{2}$$

अर्थात्

$$\frac{(\text{आरंभिक पद} + \text{अंतिम पद})\ (\text{अंतिम पद की अगली सं०} - \text{आरंभिक पद})}{2}$$

उदाहरण—$5+6+7+8+9+10+11+12$

$$= \frac{(5+12)\ (13-5)}{2} = 68$$

(ख) आरंभिक पद और पदों की संख्या मालूम रहने पर

$$\text{योगफल} = \frac{\text{पदों की संख्या}}{2} [2 \times \text{आरंभिक पद} + \text{पदों की संख्या} - 1]$$

उदाहरण—$7+8+9+10+\ldots\ldots 20$ पद तक

$$= \frac{20}{2}[2 \times 7 + 20 - 1] = 330$$

1 से आरंभ होने वाली गिनती का योगफल

इकाई से आरंभ होने वाली इकाई अंतरवाली श्रेणी का अंतिम पद के बराबर ही पदों की संख्या होती है अतः इकाई से आरंभ होने वाली गिनती का

$$\text{योगफल} = \frac{(\text{पदों की संख्या} + 1)\ \text{पदों की संख्या}}{2}$$

या

$$\frac{(\text{अंतिम पद} + 1)\ \text{अंतिम पद}}{2}$$

1 से 100 तक की गिनती का

योगफल $= 1+2+3+4+\ldots\ldots+100$

या $1+2+3+4+\ldots\ldots 100$ पद तक

$$=\frac{100\times101}{2}=5050$$

II. कहीं से आरम्भ होने वाली सम या विषम संख्याओं की श्रेणी का योगफल—

(क) आरम्भिक पद और अंतिम पद मालूम रहने पर

$$\text{योगफल}=\frac{\text{आरंभिक पद}+\text{अंतिम पद}}{2}\times\left(\frac{\text{अंतिम पद}-\text{आरंभिक पद}}{2}+1\right)$$

उदाहरण—5+7+9+11+13+15+17

$$\frac{5+17}{2}\left(\frac{17-5}{2}+1\right)=77$$

4+6+8+10+12+14+16

$$=\frac{4+16}{1}\left(\frac{16-4}{2}+1\right)=70$$

(ख) आरम्भिक पद और पदों की संख्या मालूम रहने पर

$$\text{योगफल}=\frac{\text{स}}{2}[2\text{ अ}+(\text{स}-1)\ 2]$$

$$=\frac{\text{स}}{2}\times2\ (\text{अ}+\text{स}-1)$$

=पदों की संख्या (आरंभिक पद+पदों की संख्या −1)

उदाहरण—3+5+7+9+......20 पद तक

$$=20(3+20-1)=440$$

8+10+12+14......15 पद तक

$$=15(8+15-1)=330$$

इकाई से आरम्भ होने वाली विषम संख्याओं की श्रेणी का योगफल

(क) अंतिम पद मालूम रहने पर

$$\text{योगफल}=\frac{1+\text{प}}{2}\left(\frac{\text{प}-1}{2}+1\right)$$

$$=\left(\frac{\text{प}+1}{2}\right)^2$$

=अंतिम पद की अगली संख्या का आधा का वर्ग

उदाहरण—1+3+5+7+9+11+13+15

$$=\left(\frac{16}{2}\right)^2=64$$

(ख) पदों की संख्या मालूम रहने पर

$$\text{योगफल}=\frac{\text{स}}{2}[2\times1+(\text{स}-1)\ 2]$$

$$=\frac{\text{स}}{2}\times2\ (1+\text{स}-1)$$

$$=\text{स}^2$$

= पदों की संख्या का वर्ग

उदाहरण—1+3+5+7+.........25 पद तक

$$=25^2=625$$

III. 'आरम्भिक पद और पद अंतर समान' वाली श्रेणी का योगफल

(क) आरम्भिक पद और अंतिम पद मालूम रहने पर

$$\text{योगफल}=\frac{\text{अ}+\text{प}}{2}\left(\frac{\text{प}-\text{अ}}{\text{अ}}+1\right)$$

$$=\frac{\text{प}\ (\text{अ}+\text{प})}{2\text{ अ}}$$

उदाहरण—3+6+9+12+......+150

$$=\frac{150\ (3+150)}{2\times3}$$

$$=3825$$

(ख) आरंभिक पद और पदों की संख्या मालूम रहने पर

$$\text{योगफल}=\frac{\text{स}}{2}[2\text{ अ}+(\text{स}-1)\text{ अ}]$$

(शेष पृष्ठ 13 पर)

प्राणि-विज्ञान के कुछ वस्तुनिष्ठ प्रश्न-1

राकेश कुमार पाण्डेय

इस अंक से प्राणि विज्ञान के वस्तुनिष्ठ प्रश्न प्रकाशित हो रहे हैं।
नववर्ष में विज्ञान के छात्र पाठक यह विशेष उपहार स्वीकार करें।

—सम्पादक

1 प्राणि-विज्ञान की वह शाखा जिसमें मछलियों तथा एम्फिबिया का अध्ययन होता है, क्या कहलाता है ?

(अ) सरीसृप विज्ञान (ब) मत्स्य विज्ञान

(स) गांधिक विज्ञान (द) संधि विज्ञान।

2. कीटों के स्वभाव का अध्ययन क्या कहलाता है ?

(अ) एथौलोजी (ब) एन्थोलोजी

(स) एथनोलोजी (द) इकोलोजी।

3. आधुनिक भ्रूण-विज्ञान का जनक किसको कहा जाता है ?

(अ) वोनवेयर (ब) ल्योनार्ड डा० विन्सी

(स) अर्नस्ट हकिल (द) मिलर।

4. रुधिर वर्गों की खोज किसने की ?

(अ) लेण्ड स्टीनीयर (ब) अल्टमान

(स) रोनाल्ड रोस (द) लोश।

5. इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप की खोज किसने की ?

(अ) नौल व रस्का (ब) गैलीलियो

(स) फार्मर वमूर (द) ग्राह्म व शार्ट।

6. एरिस्टोटिल ने जन्तु वर्ग को निम्नलिखित में से किसमें विभाजित किया था ?

(अ) वर्टीब्रेटा और इनवर्टीब्रेटा (ब) कार्डेटा और नानकार्डेटा (स) प्रोटोजोआ और मेटाजोआ (द) इनएइमा व एनएइमा।

7. वर्गीकरण की द्विपद नाम पद्धति का केरोलस लिनियस ने आविष्कार किया था। यह क्या प्रदर्शित करती है ?

(अ) एक वैज्ञानिक एवं साधारण नाम

(ब) दोनों टैक्सोनामिस्ट द्वारा दिये नाम

(स) एक जीनस एवं स्पीसीज का नाम

(द) अर्न्तराष्ट्रीय आभिज्ञान सूचीपत्र द्वारा।

8. निम्न में से किस संघ में श्वसनी उत्सर्जी तथा संवहनी संस्थान नहीं होता ?

(अ) पोरीफेरा (ब) प्लेटी हेलमिन्थीरज

(स) प्रोटोजोआ (द) एस्केहेलमिन्थीज।

9. ल्यूकोसोलेनिया संघ पोरीफेरा के किस वर्ग में रखा जाता है ?

(अ) कैल्केरिया (ब) हेक्सैक्टिनेलिडा (स) डीमान्सि-पंजिया (द) हेट्रोसीला।

10. वर्ग सीलेन्ट्रेटा का प्रमुख लक्षण क्या है ?

(अ) स्पर्शक (ब) मुखशंकु

(स) दंशकोशिका (द) आधार डिस्क

1. पौर्चुगीज मैन आफ वार (फाइसेलिया) क्या है ?

(अ) एक सिपाही (ब) स्पंज (स) एकल बहुरूपिक सीलिन्ट्रेट (द) निवह बहुरूपिक सीलेन्ट्रेट ।

12. टीनिया सोलियम एक अन्त:परजीवी के रूप में निम्न लिखित में से किसमें पाया जाता है ?

(अ) मानव रक्त में (ब) मानव यकृत में

(स) मानव आमाशय में (द) मानव आँत में

13. वह शब्द क्या है जो एकाइनोडर्मेटा के साथ संलग्न नहीं है ?

(अ) मेड्रीपोराइट (ब) पोडिया

(स) समुद्री (द) बाइलैटेरल सिमिट्रीकल ।

14. किस फाइलम में सर्वाधिक स्पीशीज होती हैं ?

(अ) प्रोटजोआ (ब) सीलेन्ट्रेटा

(स) आर्थोपोडा (द) कार्डेटा ।

15. त्रिज्य सममिति निम्नलिखित में से किसमें उपस्थित होती है ?

(अ) मोलस्का में (ब) स्टारफिश में

(स) स्पंज में (द) मीन में

16. निम्न में से कौन एक आर्थोपोडा और एनीलिडा के बीच जीवित सम्बन्धित कड़ी है ?

(अ) पेरीपेटम (ब) लिमुलस

(स) वैलैनोंग्लेसस (द) स्फीनीडोन

17. क्रोकोडाइल (Reptilia) में मुख्य एवं सबसे आधुनिक लक्षण क्या है ?

(अ) शक्तिशाली जबड़े (ब) कवची अंडे

(स) थीकोडोन्ड दन्तविन्यास (द) चार कोष्ठीय हृदय

18. संसार की एकमात्र विषैली छिपकली कौन सी है ?
(अ) ओफियोसौरस (ब) ड्रेको

(स) वैनेरस (द) हैलोडर्मा

19. सामान्य कांगो ईल किस संवर्ग में आता है ?

(अ) मत्स्य (ब) छिपकली

(स) ऐम्फीबिया (ब) रेप्टीलिया

20. ओफियोसौरस (ग्लास सर्प) निम्नलिखित में से किसे कहते हैं ?

(अ) सर्प (ब) छिपकली

(स) मछली (द) ऐम्फीबिया

21. पक्षी और चमगादड़ दोनों उड़ने वाले हैं किन्तु किस लक्षण द्वारा दोनों भिन्न हैं ?

(अ) डायफ्राम (ब) चतु:कोष्ठीय हृदय

(स) पक्ष (द) लघु मस्तिष्क

22. पक्षी वर्ग का प्रमुख लक्षण क्या है ?

(अ) समतापी रुधिर (ब) चतुष्पादी मेरुदण्डधारी

(स) द्विपादीय (द) पिच्छ का वाह्य कंकाल

23. भारत के राष्ट्रीय पक्षी मयूर का प्राणि-वैज्ञानिक नाम क्या है ?

(अ) सिट्राकुला कामेरी (ब) बूबो बूबो

(स) पेवा क्रास्टासस (द) स्ट्रीथियो केमेलस

24. खरगोश (रैबिट) शशक (हेयर) से भिन्न क्यों हैं ?

(अ) पश्च पाद छोटे होने से

(ब) पूँछ की उपस्थिति से

(स) वाह्य कर्ण की उपस्थिति से

(द) नखर की उपस्थिति से ।

25. कौन सा ऐन्थ्रोपौएड कपि मनुष्य से सर्वाधिक समानता रखता है तथा जंगली मानव नाम से जाना जाता है ?

(अ) हाइलोबेटीस (Gibbon) (ब) पोंगोसेटाइरस (ओरंग उटान) (स) गोरिल्ला (द) पान (चम्पैंजी)

26. निम्न में से कौन एकस्तनी नहीं है ?

(अ) डाल्फिन (ब) एकिडना

(स) ऐन्ट ईटर (द) हेलोडर्मा

27. निम्नलिखित में से कौन सा कीट नहीं है ?

(अ) टिड्डी (ब) चीलर

(स) चींटी (द) गुबरीला

28. जीवद्रव्य क्या होता है ?

(अ) यौगिक (ब) तत्व

(स) श्लेषाभ (द) मिश्रण

29. निम्न में से कौन एक कोशिकावाद से भिन्न है ?

(अ) बैक्टीरिया (ब) वाइरस

(स) प्रोटीस्टा (द) प्रोटोजोआ।

30. कोशिका का सबसे छोटा आकार जो बिना किसी यन्त्र के देखा जा सकता है, निम्नलिखित में से क्या है ?

(अ) 1 माइक्रोन (ब) 10 माइक्रोन

(स) 100 माइक्रोन (द) 1000 माइक्रोन

31. कोशिका का "पावर हाउस" किसे कहते हैं ?

(अ) माइटोकोन्ड्रिया (ब) लाइसोसोम

(स) माइक्रोसोम (द) गाल्जी-काय

32. कौन से प्रकार के आर० एन० ए० (RNA) का अणु प्रोटीन संश्लेषण के लिये आवश्यक है ?

(अ) एम आर एन ए (ब) टी आर एन ए

(स) आर आर एन ए (द) कोई नहीं

33. निम्न में से कौन एक प्यूरिन बेस नहीं हैं ?

(अ) एडीनिन (ब) गुयानिन

(स) यूरासिल (द) कोई नहीं

34. माइटोकोन्ड्रिया में प्रोटीन की मात्रा लगभग कितने प्रतिशत होती है ?

(अ) 50-60% (ब) 60-70%

(ब) 70-80% (द) 80-90%

35. कितने माइटोटिक विभाजन के फलस्वरूप 64 कोशिका का निर्माण होता है ?

(अ) 16 (ब) 32

(स) 48 (द) 63

36. ए० टी० पी० (एडिनोसीन ट्राइफॉस्फेट) क्या है ?

(अ) एन्जाइम (ब) हर्मोन

(स) प्रोटीन (द) एक अणु जिसमें उच्च ऊर्जा फास्फेट बंध होता है।

37. पक्षियों के अंडे को क्या कहते हैं ?

(अ) टीलोलीसीथल (ब) होमोलीसीथल

(स) मियोलीसीथल (द) सेन्ट्रोसीथल

38. कोशिका में कौन सी अंगिकायें इलेक्ट्रान तन्त्र रखते हैं ?

(अ) माइटोकोन्ड्रिया (ब) लइसोसोम

(स) न्यूक्लियस (द) सेन्ट्रिओल

39. अमीबा प्रोटियस में उत्सर्जन किससे होता है ?

(अ) संकुचनशील रिक्तिका से (ब) सामान्य सतह से

(स) खाद्य रिक्तिका से (द) कूटपादों से।

40. अमीबा प्रोटियस में केन्द्रक बहुत सूक्ष्म क्रोमेटिन कणिकाओं का बना होता है। उनकी संख्या कितनी होती हे ?

(अ) 100 से 200 के मध्य

(ब) 200 से 400 के मध्य

(स) 400 के 600 के मध्य

(द) 600 से 800 के मध्य

41. एन्टअमीबा हिस्टोलाइटिका में आर० बी० सी० (रक्ताणु) का अर्न्तग्रहण किससे होता है ?

(अ) पक्ष्माभिका की सहायता से

(ब) कूटपादों की सहायता से

(स) कशामिकों की सहायता से

(द) उपरोक्त में से कोई नहीं

42. **किससे** अमीबिक डाइसेन्ट्री उत्पन्न होती है ?

(अ) प्लास्मोडियम (ब) हीनिया सोलियम

(स) एन्टअमीबा हिस्टोलाइटिका

(द) एन्टमीबा जिन्जीवेलिस से

43. एन्टअमीबा जिन्जीवेलिस मनुष्य के शरीर में कहाँ पाया जाता है ?

(अ) मुख गुहा में (ब) आंत में

(स) रक्त में (द) पेट में

44. **निम्नलिखित में से** किससे पाइरिया होता है ?

(अ) एन्टमीबा जिन्जीवेलिस

(ब) ट्राइकोमोनास वक्केलिस

(स) ट्रिप्नोसोमा योम्बीयन्स

(द) लेशमानिया डोनोवेनाई

45. मलेरियाणु के जीवन चक्र की रक्ताणु अवस्था किसमें पायी जाती है ?

(अ) श्वेताणुओं में (ब) यकृत कोशिकाओं में

(स) रुधिर में (द) लाल रुधिर कणिकाओं में

46. मैलिग्नैन्ट अथवा सबटरशियन मलेरिया किससे उत्पन्न होता है ?

(अ) प्ला० वाइवैक्स से (ब) प्ला० मलेरियाई से

(स) प्ला० फालसीपेरम से (द) प्ला० ओवेलाई से

47. मलेरिया में टीका लगाना क्यों असम्भव है ?

(अ) प्लास्मोडियम सूक्ष्म प्रतिरक्षी बनाता है

(ब) प्लास्मोडियम प्रतिजीव विष बनाता है

(स) यह प्रतिरक्षक एवं प्रतिजीव विष नहीं बनाता

(द) ऊपर में से कोई नहीं।

उत्तर

1 ब 2 ब 3 अ 4 अ 5 अ 6 द 7 स 8 अ 9 अ 10 स 11 स 12 द 13 द 14 स 15 ब 16 अ 17 द 18 द 19 स 20 ब 21 अ 22 द 23 स 24 अ 25 ब 26 द 27 ब 28 स 29 ब 30 स 31 अ 32 अ 33 स 34 ब 35 द 36 द 37 स 38 अ 39 ब 40 स 41 ब 42 स 43 अ 44 ब 45 द 46 स 47 स

(शेष पृष्ठ 9 का)

$$= \frac{स}{2} \times अ (2+स-1)$$

$$= \frac{स (स+1)}{2} \times अ$$

उदाहरण—$4+8+12+16+\ldots\ldots 99$ पद तक

$$= \frac{99 \times 100}{2} \times 4$$

$$= 19800$$

पहाड़ा का योगफल—किसी पहाड़ा में पदों की संख्या 10 होती है, अतः योगफल

$$= \frac{10 \times 11}{2} \times अ = 55\ अ$$

जिस संख्या का पहाड़ा जोड़ना होता है उसमें 55 का गुणा करते हैं ।

उदाहरण—7 का पहाड़ा का योगफल $=7\times55=385$

19 का पहाड़ा का योगफल $=19\times55=1045$

:68 वें भारतीय साइंस कांग्रेस की संक्षिप्त रिर्पोट

परिशिष्ट

● संकलन : प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव

भारतीय विज्ञान कांग्रेस का क्षंक्षिप्त इतिहास

इण्डियन साइन्स कांग्रेस असोसिएशन की स्थापना का श्रेय दो अंग्रेज रसायनज्ञों, प्रोफेसर जे० एल० साइमोन्सेन और प्रोफेसर पी० एस० मैकमाहोन को है जिनकी नियुक्ति भारतवर्ष में 1910 में हुई। इन वैज्ञानिकों ने यह सोचा कि यदि भारत में वैज्ञानिकों का सम्मेलन प्रतिवर्ष किया जाय तो विज्ञान की प्रगति तीव्र गति से हो सकती है। इसके लिये इन्होंने एक संस्था की रूपरेखा तैयार किया जो ब्रिटिश असोसिएशन फार दि एडवान्समेंट आफ साइन्स की नकल थी। इन दो वैज्ञानिकों ने 1911 में भारत के चोटी के 17 वैज्ञानिकों का विचार जानने के लिये उनके पास परिपत्र भेजा। इनकी सहमति मिल जाने के बाद पहली बैठक 2 नवम्बर 1912 को डा० एच० एच० हेडेन की अध्यक्षता में एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के तत्वावधान में सम्पन्न हुई। फिर एक दूसरी बैठक 20 नवम्बर 1913 को हुई और इसमें यह निर्णय लिया गया कि "बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी विज्ञान कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन का कार्यभार संभाले।" इस प्रकार उस समय की विज्ञान, साहित्य और कला से सम्बन्धित उच्चतम कोटि के लोगों की संस्था-एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ने भारतीय विज्ञान कांग्रेस को जन्म दिया।

इण्डियन साइन्स कांग्रेस असोसिएशन का पहला अधिवेशन कलकत्ता में 15-17 जनवरी 1914 को हुआ जिसके संरक्षक बंगाल के राज्यपाल लार्ड कार्मिकिल, प्रधान सभापति कलकत्ता यूनिवर्सिटी के उपकुलपति जस्टिस सर आशुतोष मुकर्जी और महामन्त्री तथा कोषाध्यक्ष बोटैनिकल सर्वे के डो० हूवर थे। इस अधिवेशन में देश-विदेश से आये 105 वैज्ञानिकों ने भाग लिया और कुल 35 शोध पत्र पढ़े गये जिन्हें 6 अनुभागों (सेक्शन्स) में विभाजित किया गया था। इस अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में सर आशुतोष मुकर्जी ने इण्डियन साइन्स कांग्रेस के उद्देश्य और कार्य क्षेत्र की विवेचना की। उन्होंने भारत में विज्ञान और तकनीकी की प्रगति के लिए संस्था के योगदान पर विशेष बल दिया। इसके मुख्य तीन उद्देश्य हैं :–

(1) भारत में विज्ञान को बढ़ावा देना और विकसित करना,

(2) भारत में उचित स्थान पर विज्ञान कांग्रेस के वार्षिक सम्मेलन का आयोजन करना और

(3) कार्यवाहियों, कार्य सम्पादनों और शोधपत्रिकाओं को प्रकाशित करना।

इस संस्था के वे सभी लोग सदस्य हो सकते हैं जिन की विज्ञान की प्रगति में रुचि है।

1932 में 'करेन्ट साइन्स' (Current Science) नामक शोध पत्रिका का प्रकाशन संभव हो गया। भारतीय विज्ञान कांग्रेस की रजत जयंती के अवसर पर 1938 में पहली बार विदेशी वैज्ञानिकों ने इसमें भाग लिया। इसके निर्वाचित प्रधान सभापति लार्ड रदरफोर्ड के निधन के कारण सर जेम्स जीन ने यह पद संभाला। इस अधिवेशन में 2437 सदस्यों ने भाग लिया और 919 शोध पत्र प्रस्तुत किये गये।

1947 में देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद प्रगति की गति तीव्र हो गई। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू की भारतीय विज्ञान कांग्रेस में गहरी दिलचस्पी थी। वे नियमित रूप से हर वर्ष इसमें उपस्थित होकर युवा वैज्ञानिकों का उत्साह-वर्धन करते थे। बाद में तो यह परम्परा हो गई कि भारत के प्रधान मन्त्री ही भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अधिवेशन का उद्घाटन करते हैं। 1963 में दिल्ली में हुए स्वर्ण जयन्ती अधिवेशन के अवसर पर देश-विदेश के 4127 वैज्ञानिक उपस्थित थे और 1868 शोधपत्र प्रस्तुत किये गये। 1966 से 'एव्रीमैन्स साइन्स' (Everyman's Science) नामक शोध पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ जो 1970 तक वर्ष में दो बार प्रकाशित की जाती थी किन्तु 1971 में यह पत्रिका त्रैमासिक हो गयी। इसमें विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए भाषण और लेख प्रकाशित किये जाते हैं।

पिछले 68 वर्षों में इण्डियन साइन्स कांग्रेस असोसिएशन की सदस्य संख्या बढ़कर 7000 हो गयी है और अब अधिवेशन को 13 अनुभागों (सेक्शन्स) में विभाजित कर दिया गया है। इस प्रकार अब विज्ञान के अधिक विषयों पर इसमें विचार विनियम होता है।

भारतीय विज्ञान कांग्रेस का अधिवेशन हर वर्ष 3 जनवरी को प्रधानमन्त्री के उद्घाटन भाषण के साथ प्रारम्भ होता है किन्तु विभिन्न अकादमियों का कार्य दो दिन पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। 3 जनवरी को उद्घाटन के बाद प्रधान सभापति (जेनेरल प्रेसिडेन्ट) का भाषण होता है। इसी दिन प्रधानमन्त्री द्वारा युवावैज्ञानिकों को मेडल और पुरस्कार प्रदान किया जाता है जिनका चयन इण्यिन नेशनल साइन्स अकादमी द्वारा होता है। महामन्त्री (जेनेरल सेक्रेटरी) विदेशों से आये वैज्ञानिकों का परिचय देते हैं। इस वर्ष (1981) से पुरस्कृत युवा वैज्ञानिकों को अपने शोध कार्यों को अपने विषय से सम्बन्धित सेक्शनल सेशन में प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान कर दी गई है।

4 जनवरी को विभिन्न अनुभागों के अध्यक्ष (सेक्शनल प्रेसिडेन्ट्स) अपना अध्यक्षीय भाषण पढ़ते हैं। 8 जनवरी तक शोधपत्र अन्य सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। किन्तु 1975 से एक दिन कम कर दिया गया है। अब अनुभागों की कार्यवाही 3 जनवरी की शाम को प्रारम्भ हो जाती है। 8 जनवरी को सदस्य दर्शनीय स्थलों का भ्रमण करते हैं। साइन्स कांग्रेस में शोधपत्रों के अतिरिक्त प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के लोकप्रिय भाषणों का भी आयोजन किया जाता है। प्रकाशकों तथा विभिन्न कम्पनियों द्वारा पुस्तकों और वैज्ञानिक उपकरणों की प्रदर्शनी भी आयोजित की जाती है। 7 जनवरी को जेनेरल प्रेसिडेन्ट, अगले वर्ष के फोकलथीम (मुख्य विषय) और एक्सक्यूटिव कमेटी के सदस्यों के नामों की घोषणा करते हैं। पिछले वर्ष से फोकलथीम की घोषणा एक वर्ष पूर्व कर दी जाती है। फोकलथीम का चुनाव देश की प्रगति और विज्ञान के महत्व को ध्यान में रखते हुए किया जाता है। 68 वें साइन्स कांग्रेस का फोकलथीम "इम्पैक्ट आफ दि डेवेलपमेंट आफ साइन्स एण्ड टेक्नालोजी आन एनविरानमेंट" रहा। जेनेरल प्रेसिडेन्ट कलकत्ता विश्व विद्यालय के वनस्पति के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष डा० अरुण कुमार शर्मा थे। यह अधिवेशन वाराणसी में 3-7 जनवरी तक हुआ। विज्ञान कांग्रेस की सिफारिशों का बहुत महत्व रहता है। सरकार भी इन सिफारिशों पर ध्यान देती रही है और भरसक इन्हें पूरा करने का प्रयत्न करती है।

68 वें विज्ञान कांग्रेस के प्रधान सभापति (जेनेरल प्रेसिडेन्ट) और अनुभागों के अध्यक्ष (सेक्शनल प्रेसिडेन्ट)

56 वर्षीय **प्रोफेसर अरुण कुमार शर्मा** 68 वें विज्ञान कांग्रेस के जेनेरल प्रेसिडेन्ट थे। प्रोफेसर शर्मा का जन्म 31 दिसम्बर 1924 को हुआ था। आजकल आप कलकत्ता विश्वविद्यालय में वनस्पति विभाग में रास बिहारी घोष प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष हैं। आपके अनुसंधान का प्रिय विषय जेनेटिक्स है और पिछले 33 वर्षों से आप क्रोमोसोम पर शोधकार्य करते आ रहे हैं। साइटोजेनेटिक्स, साइटोकेमिस्ट्री और सेल बायोलोजी में अपने योगदान के लिए आप विश्वविख्यात हैं। "क्रोमोसोम टेकनिक्स थियरी

एण्ड प्रैक्टिस" आपकी बहु चर्चित पुस्तक है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय जरनल 'दि न्यूक्लियस' के सम्पादक हैं। प्रोफेसर श्रीमती ए० शर्मा पुस्तक की सहलेखिका और जरनल की सहसम्पादिका हैं। आपने विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिये भी बहुत काम किया है। इस वर्ष आपके अध्यक्षीय भाषण का विषय "इम्पैक्ट आफ दि डेवेलपमेंट आफ साइन्स एण्ड टेक्नालोजी आन एनविरानमेंट था।"

1932 में जन्मे प्रोफेसर **बी० के० लाहिड़ी** गणित अनुभाग के अध्यक्ष थे। आजकल आप कल्याणी विश्व विद्यालय में गणित के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष हैं। रियल एण्ड काम्पलेक्स एनैलिसिस, टोपोलोजी, फंक्शनल एनैलिसिस, मीजर थियरी और थियरी आफ इनफाइनाइट सिरीज आपके अनुसंधान के प्रिय विषय रहे हैं।

डा० एम० एन० दास स्टैटिस्टिक्स अनुभाग के अध्यक्ष थे। इनका जन्म 1 फरवरी 1923 को हुआ था। इस समय आप दिल्ली में स्टैटिस्टिक्स के निदेशक हैं। एग्रीकल्चरल स्टैटिस्टिक्स आपका प्रिय विषय है।

भौतिकी सेक्शन के अध्यक्ष प्रोफेसर **बी० वी० श्री कान्तन** 1975 से टाटा इंस्टीट्यूट आफ फन्डामेन्टल रिसर्च, बम्बई के निदेशक हैं। आपके शोध के मुख्य विषय कॉस्मिक रे, हाई एनर्जी फिजिक्स और हाई एनर्जी ऐस्ट्रोफिजिक्स हैं।

1 अक्टूबर 1922 में जन्मे प्रोफेसर **हीरालाल निगम** रसायन अनुभाग के अध्यक्ष थे। आप आजकल इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं। केमिकल स्पेक्ट्रोस्कोपी, मैगनेटो-केमिस्ट्री और इलेक्ट्रोकेमिस्ट्री (पोलैरोग्राफी) आप के अनुसंधान के प्रिय विषय रहे हैं। विज्ञान को लोकप्रिय बनाने लिए भी आपने काम किया है।

जिऑलोजी एण्ड जियोग्राफी सेक्शन के अध्यक्ष **श्री शंकर मोहन माथुर** का जन्म 22 जून 1919 को वाराणसी में हुआ था। आप जिऑलोजिक सर्वे के अवकाशप्राप्त निदेशक हैं और आजकल सागर विश्वविद्यालय में एमेरिटस साइन्टिस्ट हैं। आप देश के जाने-माने आर्कियोलाजिस्ट हैं।

प्रोफेसर बी० आर० ज्ञानसागर वनस्पति अनुभाग के अध्यक्ष थे। आपका जन्म 1918 में नागपुर में हुआ था। आप नागपुर विश्वविद्यालय में वनस्पति विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष रह चुके हैं। प्लान्ट एम्ब्रियोजी और साइटो-जेनेटिक्स आपके प्रिय विषय हैं।

एन्थ्रोपोलोजी एण्ड आर्कियोलोजी सेक्शन के अध्यक्ष **डा० नीलरतन बनर्जी** का जन्म 1922 में हुआ था। आज-कल आप नेशनल म्यूजियम, नई दिल्ली के निदेशक हैं। आपने नेपाल और भारत में अनेक स्थानों पर खुदाई का कार्य करवाया है। आप आर्कियोलाजी में अपने योगदान के लिए विख्यात हैं।

प्रोफेसर पी० के० बनर्जी मेडिकल और वेटेरिनैरी साइन्सेज सेक्शन के अध्यक्ष थे। आपका जन्म 1917 में हुआ था। आजकल आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के डा० बी० सी० राय पोस्ट ग्रैजुएट इंस्टीट्यूट आफ बेसिक साइ-न्सेज, यूनिवर्सिटी कालेज आफ मेडिसिन के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष हैं। आपके अनुसंधान के मुख्य विषय एण्डो-क्राइन एण्ड रीप्रोडक्टिव फिजियालोजी, न्यूट्रीशन और न्यूरोफिजियालोजी हैं।

1 अप्रैल 1924 को कलकत्ता में जन्मे प्रोफेसर **तारक मोहन दास** एग्रीकल्चरल साइन्सेज अनुभाग के अध्यक्ष थे। आपके शोध के मुख्य विषय पादप फिजियालोजी और टिशू कल्चर हैं। 1974 से आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के कालेज आफ एग्रीकल्चर में वनस्पति विभाग के विभागा-ध्यक्ष हैं।

फिजियालोजी अनुभाग के अध्यक्ष **डा० अजित कुमार मेड्डा** का जन्म 1929 में हुआ था। आजकल आप बोस इंस्टीट्यूट में ऐनिमल फिजियालोजी विभाग में रीडर और विभाग के इन्चार्ज हैं। ऐनिमल फिजियालोजी आपका प्रिय विषय है।

साइकालोजी एण्ड एजूकेशनल साइन्सेज अनुभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर **राम गोविन्द चैटर्जिया** का जन्म 1921 में हुआ था। मनोविज्ञान में अपने शोध-कार्य के लिए आप

विख्यात हैं। आजकल आप संज्ञानात्मक शैली, सामाजिक दूरी और पूर्वाग्रह जैसे विषयों पर अनुसंधान कर रहे हैं और कलकत्ता विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग में प्रोफेसर हैं।

प्रोफेसर मृणाल कुमार दास गुप्त का जन्म 1923 में हुआ था। आप इंजिनियरिंग सेक्शन के अध्यक्ष थे। आजकल आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के रेडियो फिजिक्स एण्ड इलेक्ट्रानिक्स विभाग में प्रोफेसर हैं। आपके अनुसंधान के मुख्य विषय रेड़ियो ऐस्ट्रोनोमी, ऐटमास्फेरिक एण्ड रेडियो वेव प्रोपैगेशन और सूर्य-पृथ्वी सम्बन्ध हैं।

ज़ूआलोजी, एन्टोमालोजी एन्ड फिशरीज सेक्शन के अध्यक्ष **प्रोफेसर जे० पी० थपलियाल** का जन्म नवम्बर 1922 में उत्तर प्रदेश में तेहरी में हुआ था। आजकल आप बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में ज़ूआलोजी के प्रोफेसर और स्कूल आफ लाइफ साइन्सेज के कोआर्डिनेटर हैं। आप चिड़ियों और सरीसृपों के प्रजनन पर शोधकार्य के लिए विख्यात हैं।

विज्ञान कांग्रेस का 68वां अधिवेशन

3 जनवरी 1981 को प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने विज्ञान कांग्रेस के 68वें अधिवेशन का उद्घाटन किया। अपने भाषण में प्रधान मन्त्री ने इस बात की चेतावनी दी कि भारत का प्रौद्योगिक विकास एक महत्वपूर्ण दौर से गुजर रहा है। केवल तेल ही नहीं बल्कि कोयले के क्षेत्र में भी संकट बढ़ गया है। भारत की ऊर्जा आवश्यकता की पूर्ति जल विद्युत्, सौर ऊर्जा और गोबर गैस से होनी चाहिए। इसके लिए उन्होंने वैकल्पिक ऊर्जा आयोग के गठन का भी उल्लेख किया। श्रीमती गांधी ने देश में 3 लाख प्रशिक्षित वैज्ञानिकों और अभियंताओं के बेरोजगार रहने पर चिंता व्यक्त की और इस बात का आश्वासन दिया कि छठीं पंचवर्षीय योजना में बेरोजगार लोगों को रोज़गार देने की व्यवस्था की जायेगी।

इसके पूर्व उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह और बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के उपकुलपति डा० हरि नारायण ने प्रधान मन्त्री का स्वागत किया। उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता काशी नरेश विभूति नारायण सिंह ने की। विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष (जेनेरल प्रेसिडेन्ट) प्रोफेसर अरुण कुमार शर्मा ने अपने अध्यक्षीय भाषण में पर्यावरण प्रदूषण के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हुए बताया कि मुख्य रूप से प्रदूषण दो प्रकार का होता है—प्राकृतिक और कृत्रिम।

प्राकृतिक प्रदूषकों में पारा, सीसा, सल्फर डाइ-ऑक्साइड, कार्बन डाइ ऑक्साइड और कार्बन मोनो-ऑक्साइड प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त उद्योगों से निकला धुआं, एरोसाल्स और कई तरह के धातु और अम्ल हैं। कृत्रिम प्रदूषकों में औद्योगिक प्रगति और शहरीकरण के कारण कीटनाशियों का उपयोग, प्लास्टिक, सौंदर्य प्रसाधन के लिए उपयोग में आने वाली वस्तुयें, रसायन और दवाइयां तथा साबुन और सर्फ जैसे डिटरजेन्ट हैं। प्रकृति लम्बे समय तक इन वस्तुओं को नष्ट नहीं कर पाती। उदाहरण के लिए एक रद्दी प्लास्टिक की बोतल मिस्र के पिरामिडों या भारत की मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता से भी अधिक समय तक नष्ट नहीं होती। मनुष्य को अधिक खतरा उन्हीं वस्तुओं से है जो विज्ञान और तकनीकी की देन हैं।

प्रोफेसर शर्मा ने कहा कि विज्ञान के विकास में वैज्ञानिक सदैव सहयोग देते आये हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग कृषि उत्पादन बढ़ाने, नये उद्योगों की स्थापना और जनजीवन का स्वास्थ्य सुधारने में किया गया है। इससे जहां औद्योगिक और आर्थिक रूप से हमारा जीवन स्तर बढ़ा है वहीं जनजीवन के लिए पर्यावरण प्रदूषण की विकराल समस्या उत्पन्न हो गई है। उद्योगों से निकला धुआं, विषैली गैसें तथा तरल अपशिष्ट पदार्थ वायु और जल को लगातार प्रदूषित करता जा रहा हैं। जंगलों के अंधाधुन्ध कटाव से पिछले 100 वर्षों में चार सौ लाख हेक्टेयर भूमि नष्ट हो गई है। वन्य जीवों के नष्ट होने से प्रकृति का संतुलन बिगड़ गया है। यह सब हमारे स्वास्थ्य के लिये हानिकर है। पृथ्वी पर 20,000-30,000 ऐसे

प्राणी और वनस्पतियां हैं जिनको प्रदूषण से खतरा है किन्तु जो सबसे बड़ी बात है वह यह है कि इससे मनुष्य के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो गया है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि प्रदूषण से मनुष्यों में अनेक प्रकार के आनुवंशिक रोगों की भी आशंका बढ़ गई है।

प्रोफेसर शर्मा ने आगे कहा कि वायु और जल के प्रदूषण को रोकने के लिए सरकार को प्रभावशाली कानून बनाना चाहिए। नये उद्योगों की स्थापना, औषधियों पर नियंत्रण, भोज्य पदार्थों में मिलावट और कीटनाशियों के अंधाधुन्ध प्रयोग पर रोक लगाई जानी चाहिए। औद्योगिक मलजल को नदियों या खेतों में प्रवाहित करने पर रोक लगाई जानी चाहिए। वैज्ञानिकों और सरकार को मिलकर ऐसी योजनायें बनानी चाहिए जिससे प्रदूषण की रोकथाम की जा सके। इसके लिये प्रोफेसर शर्मा ने आम जनता से भी सहयोग की अपील की। प्रदूषण किसी एक देश की समस्या नहीं, विश्वव्यापी समस्या है।

विज्ञान कांग्रेस की सिफारिशें

68वें विज्ञान कांग्रेस के अंतिम दिन अपनी 30 सूत्री सिफारिशों में विज्ञान कांग्रेस ने कहा कि वायु और जल प्रदूषण की रोकथाम के लिए अविलम्ब सक्रिय कदम उठाये जाने चाहिए और सरकार से अनुरोध किया कि पर्यावरण सुरक्षा को संविधान की समवर्ती सूची में सम्मिलित किया जाय। शोर प्रदूषण के विरुद्ध भी कानून बनाया जाना चाहिए। प्रदूषणकारी तत्वों को कम करने के लिए उचित कार्यवाही आवश्यक है।

कृषि कार्य में प्रयुक्त किए जाने वाली खादों और कीटनाशी रसायनों का मानकीकरण होना चाहिए।

औषधियों के निर्माण और उपयोग, सौन्दर्य प्रसाधन सामग्रियों, प्लास्टिक और उद्योगों में रसायनों का उपयोग निश्चित मानकों के अनुसार होना चाहिए।

विज्ञान कांग्रेस ने इस बात की संस्तुति की है कि उद्योग कानून, औषधि नियंत्रण कानून, भोज्य पदार्थों में मिलावट संबंधी कानून, कीटनाशी और अन्य रसायनों से संबंधित कानूनों का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए और इनसे संबंधित निर्धारित मानकों का उल्लंघन करने वालों के लिए आर्थिक दण्ड और आवश्यकता हो तो कारावास दण्ड की भी व्यवस्था की जानी चाहिए।

एक दूसरी संस्तुति में लुप्तपाय वन्य जीवों, व्यापारिक महत्व के प्राणियों और वनस्पतियों की सुरक्षा और संरक्षण की उचित व्यवस्था की जानी चाहिये ताकि ये प्राणी या वनस्पतियां नष्ट न होने पायें, इनकी वृद्धि होती रहे और प्रकृति का संतुलन बना रहे। वायुमंडल में रहने वाले जीवों की सुरक्षा के लिये नभ प्राणि विज्ञान केन्द्रों की स्थापना होनी चाहिये।

विज्ञान कांग्रेस ने एक अन्य संस्तुति के द्वारा एक सेल (विभाग) की स्थापना का भी सुझाव दिया है। इसके अनुसार समुद्री संसाधनों की भी प्रदूषण से रक्षा की जानी चाहिये। यह सेल संभावित प्रदूषणों और पर्यावरण संबंधी विसंगतियों पर भी ध्यान रखे ताकि समुद्री जीवों की वंश-वृद्धि पर कुप्रभाव न पड़े। पर्यावरण प्रदूषण को रोकने के लिए योजनाओं के सभी स्तरों पर वैज्ञानिक, प्रशासनिक और सामाजिक प्रयत्न किये जाने चाहिए।

68वें विज्ञान कांग्रेस की संस्तुतियों को सफल बनाने के लिये 13 सदस्योंकी एक 'टास्क फोर्स कमेटी' का गठन किया गया है जिसमें सरकारी और गैरसरकारी दोनों तरह के लोग होंगे। प्रोफेसर एम०जी०के० मेनन इसके अध्यक्ष नियुक्त किये गये हैं। प्रो० मेनन भारत सरकार के विज्ञान और तकनीकी विभाग के सचिव हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० मेनन इन्डियन नेशनल साइन्स अकादमी के नव-निर्वाचित अध्यक्ष (President, INSA) भी हैं।

विज्ञान कांग्रेस समाचार

(1) कीटनाशियों से हानि

कलकत्ता के डा० ए० के० चौधरी ने अपने शोध पत्र में बताया कि जल-प्रदूषण के अतिरिक्त प्रयोग में लाये जाने वाले कीटनाशियों का प्रभाव मनुष्य की जननेन्द्रियों पर हानिकर होता है।

(2) डा० खुराना व डा० अब्दुससलाम सहित 6 वैज्ञानिकों को मानद उपाधि

भारत में जन्मे अमेरिकी वैज्ञानिक डा० हर गोविन्द खुराना और पाकिस्तान के डा० अब्दुससलाम (दोनों नोबेल पुरस्कार प्राप्त वैज्ञानिक), स्टाकहोम के कारोलिसिका संस्थान के अध्यक्ष डा० कैस्पर्सन, योजना आयोग के सदस्य डा० एम०एस० स्वामीनाथन, भौतिकी अनुसंधान प्रयोगशाला, अहमदाबाद के निदेशक डा० देवेन्द्र लाल तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग के सचिव डा० एम०जी० के० मेनन को विज्ञान कांग्रेस के अवसर पर मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

(3) प्रोफेसर मेनन सम्मानित

प्रो० एम०जी०के० मेनन को केन्द्रीय सरकार द्वारा गठित वैकल्पिक ऊर्जा आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया है। इस आयोग के अन्य सदस्यों में ऊर्जा विभाग के सचिव और एक अन्य वित्तीय सदस्य होंगे। डा० मेनन 69वें साइन्स कांग्रेस के अध्यक्ष (जेनेरल प्रेसिडेन्ट) निर्वाचित हुये हैं। प्रो० मेनन इण्डियन नेशनल साइन्स अकादमी के नवनिर्वाचित अध्यक्ष हैं।

(4) विज्ञान के लिए एक नयी योजना

साइन्स और टेक्नालॉजी विभाग के डा० मेनन ने रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुये बताया कि युवकों में विज्ञान के प्रति अभिरुचि बढ़ाने के लिए एक योजना तैयार की गई है जिसके अंतर्गत विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने भी ग्रामीण एवं शहरी विकास तथा क्षेत्रीय आवश्यकता के अनुरूप पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयों में लागू कराने का प्रस्ताव किया है। इसके लिये 186 कालेज चुने गये हैं। कार्यक्रमों में टेक्नालॉजी, पंजीकरण, बागवानी, मत्स्य पालन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, रसायन उर्वरक तथा डेयरी विज्ञान आदि विषयों के संबंध में वर्कशाप लगाना है।

(5) विशाल टेलिस्कोप का निर्माण

भारतीय ऐस्ट्रोफिजिक्स संस्थान के डा०जे०सी० भट्टाचार्य के अनुसार भारत एक विशाल टेलिस्कोप का निर्माण कर रहा है। कुछ विशेष डिजाइनों के उपकरण छोड़कर बाकी सब पुर्जे तथा कच्चा माल स्वदेशी है तथा डिजाइन भारत में ही बनी है। इसका अपर्चर 23 सेन्टीमीटर होगा और इसे तमिलनाडु के कवलपुर नामक स्थान पर लगाया जायेगा। इस टेलिस्कोप में 'वन लाइन प्रोसेसिंग' का प्रावधान है। 1982 से यह टेलिस्कोप काम करने लगेगा और तब इससे खगोल के डाटा प्राप्त किए जा सकेंगे।

(6) न्यूटन एवं आइंस्टीन के सिद्धान्तों को चुनौती

प्रसिद्ध भौतिकी और खगोल विज्ञानी एन०के०शॉ ने बताया कि ग्रहीय पदार्थ स्थिर और ठंडे हैं। ये एक दूसरे को खींचने का प्रयास करते हैं। उन्होंने कहा कि ब्रह्माण्ड का संचलिक बल प्रतिकर्षण से है। सौर मंडल में सूर्य विकर्षण का प्रयास करता है जबकि ग्रहों एवं उपग्रहों में गुरुत्वाकर्षण शक्ति होती है। सूर्य ग्रहों को अपकर्षित करता है जबकि ग्रह सूर्य को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस प्रकार सौर मंडल दोनों के आपसी विकर्षण शक्ति के सहारे ही संतुलित है। इस कारण न तो ग्रह सूर्य पर गिरते हैं और न ही वे सौर मंडल की सीमा से बाहर जा पाते हैं। सम्पूर्ण सौर मंडल में सूर्य पिंड का भाग 99.87 % है। यदि इसमें गुरुत्वाकर्षण उत्पन्न हो जाय तो सभी ग्रह सूर्य पर गिर जायेंगे। फिर समूचे ब्रह्माण्ड के विनाश को रोका न जा सकेगा। उन्होंने आज के वैज्ञानिकों द्वारा माने जाने वाले अभिकेन्द्रीय बल (जो सूर्य से ग्रहों की दूरी और उसके परिभ्रमण के कारण है) को गलत बताया। इस प्रकार शॉ के अनुसार सूर्य और तारे तारकमण्डल होने के नाते प्रतिकर्षण का प्रयास करते हैं न कि गुरुत्वाकर्षण का जैसा कि न्यूटन और आइन्सटीन का सिद्धान्त है। श्री शॉ ने आगे कहा कि सौर विकर्षण शक्ति जो गुरुत्वाकर्षण से एकदम उल्टी है, निश्चय ही अंतरिक्ष की खोज के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगी। क्या होगा यह तो भविष्य के गर्भ में है किन्तु श्री शॉ ने न्यूटन और आइन्सटीन के सिद्धान्तों को चुनौती और अनुसंधान के लिये एक नयी दिशा दी है।

(7) उच्च ऊर्जा प्रोटानों से निर्मित विकिरणों की खोज

भौतिकी अनुभाग की संगोष्ठी के अध्यक्ष प्रोफेसर बी०वी० श्रीकान्तन ने बताया कि गत 75 वर्षों में सुदूर अंतरिक्ष से आने वाले ऐसे विकिरणों का पता चला है जो उच्च ऊर्जा वाले प्रोटानों तथा अल्फा कणों एवं अन्य भारी नाभिकों से बने होते हैं। इन विकिरणों के साथ प्रबल ऊर्जा सम्बद्ध रहती है। वायुमंडल में पहुँचकर ये मुख्यतः द्वितीय कणों की कॉस्मिक किरणें उत्पन्न करती हैं। ये अंतरिक्ष की अनन्त गहराइयों और पृथ्वी पर स्थित सूक्ष्म कण जगत के बीच संबंध स्थापित करते हैं। इन्हीं संबंधों का अध्ययन विश्व की सृष्टि के मूल कारणों को जानने में सहायक होगा, ऐसी संभावना है।

(8) मुस्लिम महिलायें अधिक प्रजननशील

कल्याणी विश्वविद्यालय के मलिंग चौधरी ने अपने शोधपत्र में बताया कि हिन्दू और मुस्लिम महिलाओं के विभिन्न वर्गों की प्रजननशीलता के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हिन्दू महिलाओं की तुलना में मुस्लिम महिलायें अधिक प्रजननशील होती हैं।

(9) गंगा में हिलसा मछली कम हो रही है

भागलपुर वि०वि० के प्रोफेसर जे० एस० दासमुन्शी ने अपने शोधपत्र में बयाया कि गंगा में हिलसा मछली लगातार कम होती जा रही है। इसका कारण उन्होंने फरक्का बांध में जल निकासी के मार्ग का दोषपूर्ण होना बताया जिसके कारण प्रजनन के लिए गंगा की ऊँची धारा में इन मछलियों का पहुँचना मुश्किल हो रहा है। दूसरा कारण यह है कि दक्षिणी भाग में इन मछलियों को लोग पकड़ लेते हैं। प्रो० दासमुन्शी ने कहा कि यदि फरक्का बांध के निचले मार्गों को ठीक न किया गया तो गंगा नदी से हिलसा मछलियां विलुप्त ही हो जावेंगी।

(10) कुष्ठ रोगियों के लिए नवीन यंत्र का आविष्कार

दिल्ली वि०वि० के वैज्ञानिक मदन मोहन बजाज ने कुष्ठ रोगियों के खून की जांच के आधार पर रोग के संबंध में नवीन सूचनायें देते हुये बताया कि दिल्ली वि० वि० के मेडिकल फिजिक्श अनुसंधान विभाग के वैज्ञानिकों ने एक ऐसे यंत्र का आविष्कार कर लिया है जिससे रोगियों के नाड़ी संचार को बढ़ाया जा सकता है। नाड़ी संचार बढ़ जाने से रोगियों के रक्त में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ जाते हैं और इससे रोग की प्रारंभिक अवस्था में ही रोग का पता चल जाता है और इस कारण निदान संभव हो जाता है।

(11) सौर पम्प का निर्माण

सेन्ट्रल इलेक्ट्रानिक्स लिमिटेड ने केन्द्रीय विज्ञान एवं तकनीकी की सहयोग से सौर वाटर पम्प का निर्माण किया है। इस पर 40 हजार रुपये की लागत आयी है। पम्प में फोटोवोल्टीय सेल लगे हैं जो सूर्य की गर्मी से तीन सौ साठ (360) वाट विद्युत उत्पन्न करते हैं। इससे प्रति घंटे चौदह हजार (14,000) लीटर पानी खींचा जा सकता है। यही नहीं, पानी खींचने के अतिरिक्त रेडियो ट्रांजिस्टर भी बजाये जा सकते हैं।

(12) पक्षी बरसात में काम पीड़ित क्यों ?

प्रोफेसर जे०पी० थपलियाल जिन्होंने पक्षियों पर उच्च स्तर का अनुसंधान कार्य किया है, बताया कि मुनिया पक्षी, बत्तख, बटेर और मैना की जातियों पर अनुसंधान के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पक्षी बरसात के मौसम में अधिक कामोत्सुक होते हैं। अधिकतर मादा पक्षी इसी मौसम में अण्डे देती हैं। वैसे अभी इसके सही कारण की खोज न हो सकी है किन्तु इसके कारणों में वायुमंडल की आर्द्रता, प्रकृति की हरीतिमा या बूंदों की आवाज़ कुछ भी हो सकता है।

प्रो० थपलियाल के अनुसार प्रकाश और मानसून बरसाती पवन के प्रभाव से पक्षियों के थायरायड और एड्रीनल ग्रंथियों की क्रिया में परिवर्तन के कारण प्रजनन क्षमता प्रभावित होती है। इन्होंने इसकी सही जानकारी के दो लाभ बताये :

(1) ऐसे पक्षी जो फसल को हानि पहुँचाते हैं उनकी संख्या प्रजनन कम करके कम की जा सकती है और

(2) प्रजनन बढ़ाकर अधिक मांस और अधिक पंख प्राप्त किया जा सकता है।

(13) पृथ्वी गर्म होती जा रही है

औद्योगिकी और प्रौद्योगिकी सेक्शन की गोष्ठी में बताया गया कि पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है और सन् 2000 तक तापमान में 2·65 प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी। मानव द्वारा ऊर्जा के प्रयोग के बढ़ते जाने से ऐसा हो रहा है। अमेरिका के जनरल मोटर्स रिसर्च लैब के डा०ए०आर० सप्रे के अनुसार पृथ्वी के तापमान में वृद्धि भविष्य में कृत्रिम ईंधन की मात्रा पर निर्भर है।

एक शोध पत्र में यह बताया गया कि आज कार्बन डाइ ऑक्साइड की वायुमंडल में मात्रा 335 पी०पी०एम० है किन्तु यदि प्रदूषण रोका नहीं गया तो सन् 2060 तक बढ़कर 778 पी०पी०एम० हो जाने की आशंका है।

(14) 69वाँ विज्ञान कांग्रेस

69वां विज्ञान कांग्रेस अधिवेशन जनवरी 1982 में मैसूर (कर्नाटक) में होगा। इसका फोकल थीम (मुख्य विषय) **'बेसिक रिसर्चेस ऐज ऐन इन्टेग्रल कम्पोनेन्ट आफ सेल्फ रिलायेन्ट बेस आफ साइन्स एण्ड टेक्नालॉजी' होगा।** इसके प्रधान सभापति (जेनेरल प्रेसिडेन्ट) प्रोफेसर एम० जी०के० मेनन निर्वाचित हुये हैं जो 2 फरवरी 1981 को पद संभाल लेंगे।

(15) 70वें विज्ञान कांग्रेस के प्रधान सभापति क निर्वाचन

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू०जी०सी०) के उपाध्यक्ष श्री बी० रामचन्द्र राव को त्रिपुरा (आंध्र प्रदेश) में होने वाले 70वें विज्ञान कांग्रेस (1983) का प्रधान सभापति चुन लिया गया है।

'विज्ञान' के समस्त पाठकों को नववर्ष की बधाइयाँ

—सम्पादक

विज्ञान परिषद की गतिविधियाँ

(1)

रसायन विज्ञान की पाठ्य पुस्तकों का लेखन कार्य

विज्ञान परिषद के तत्वावधान में 10 तथा 11 जनवरी 1981 को एक द्विदिवसीय गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें गोरखपुर, आगरा तथा कुमायूँ विश्वविद्यालय के प्रतिनिधियों के साथ ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं स्थानीय सी० एम० पी० कालेज तथा ईविंग क्रिश्चियन कालेज के रसायन विज्ञान के ऐसे अध्यापकों एवं अध्यक्षों ने भाग लिया जो हिन्दी में बी०एस-सी० कक्षाओं के लिए रसायन विज्ञान की पाठ्य पुस्तकें लिखने के सम्बन्ध में अपने सुझाव दे सकें। गोष्ठी में विचार-विमर्श के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश के समस्त विद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले पाठ्यक्रमों को समेकित करके रसायन की तीनों शाखाओं—कार्बनिक, अकार्बनिक तथा भौतिक रसायन — के लिये तैयार की जाने वाली पाठ्यपुस्तकों के लेखकों की सूची को भी अन्तिम रूप प्रदान किया गया। यह भी निश्चित हुआ कि समस्त लेखकों से यह आग्रह किया जाय कि वे अपने-अपने निर्दिष्ट अध्यायों को एक मास के भीतर लिख कर दे दें। वे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का ही उपयोग करें और ऐसा प्रयत्न करें कि उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्री कक्षा में दिए गए लेक्चरों जैसी हो, जिसे छात्र सरलता से ग्रहण कर सकें।

इस गोष्ठी में कुल मिलाकर 25 अध्यापकों तथा 10 बी-एस-सी के छात्रों ने भाग लिया। इस अवसर पर उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के निदेशक श्री हरिश्चन्द्र जी, उपाध्यक्ष डा० रामलाल सिंह तथा वित्त अधिकारी श्री गुलाब सिंह भी उपस्थित रहे। गोरखपुर से डा० सतीश चन्द्र त्रिपाठी, आगरा से डा० डी० आर० सिंह तथा कुमायूँ विश्वविद्यालय से डा० हनुमान प्रसाद तिवारी इस गोष्ठी में सम्मिलित हुए। इस गोष्ठी के संयोजक विज्ञान परिषद के उपसभापति एवं रसायन विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० रामदास तिवारी थे।

यह अपनी किस्म की पहली गोष्ठी है जिसमें पाठ्य पुस्तकों के सहयोगी लेखन को एक स्वर से संस्तुति मिली। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के निदेशक महोदय तथा उपाध्यक्ष दोनों ने ही इस गोष्ठी को मार्गदर्शक गोष्ठी के रूप में स्वीकार किया।

यह निश्चय हुआ कि रसायन की पाठ्य पुस्तकों के पृथक-पृथक सम्पादक नियुक्त किये जायँ और लेखन की प्रगति का लेखा-जोखा लेने के लिये एक स्थानीय समिति गठित की जाय।

परिषद ने प्रधान मन्त्री डा० शिव गोपाल मिश्र के प्रबन्धकत्व में उपर्युक्त समस्त कार्यों को साकार रूप देने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है और इसके लिये विशेष कक्ष नियुक्त कर दिया गया है।

हिन्दी माध्यम से विश्वविद्यालयों में विज्ञान के प्रचार-प्रसार की दिशा में परिषद का यह योगदान स्मरणीय होगा।

(2)

विज्ञान के प्रचार-प्रसार की एकमात्र सक्षम भाषा हिन्दी

(विशेष प्रतिनिधि द्वारा)

मेलजोल (सांध्य समाचार) से साभार, 7 जनवरी 1981

वाराणसी, 7 जनवरी। 68वीं साइन्स कांग्रेस की पूर्व संध्या पर विज्ञान परिषद प्रयाग द्वारा आयोजित गोष्ठी में उपस्थित वैज्ञानिकों ने एक स्वर से इस बात पर बल दिया कि विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी सबसे सशक्त भाषा है। इस अवसर पर सर्वप्रथम प्रख्यात रसायनज्ञ स्वामी (डा०) सत्य प्रकाश को उनकी 75वीं वर्ष पूर्ति पर विज्ञान परिषद्, प्रयाग के सभापति और दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति प्रोफेसर राम चरण मेहरोत्रा ने परिषद् द्वारा प्रकाशित 'अनुसंधान पत्रिका' का 'पुरातत्व विशेषांक' प्रदान कर सम्मानित किया। इसके पश्चात् परिषद् द्वारा प्रकाशित मासिक 'विज्ञान' के 'प्रदूषण' विशेषांक का विमोचन काशी विश्वविद्यालय के भौमिकी विभाग के प्रोफेसर महाराज नारायण मेहरोत्रा के करकमलों द्वारा हुआ।

गोष्ठी में इलाहाबाद, वाराणसी, दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, जयपुर आदि से आये वैज्ञानिकों ने भाग लिया। सभी वक्ताओं ने विज्ञान परिषद, प्रयाग की हिन्दी भाषा के माध्यम से विज्ञान के सफल प्रचार-प्रसार और 'विज्ञान' के 'प्रदूषण' विशेषांक तथा 'अनुसंधान पत्रिका' के पुरातत्व विशेषांक की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में चूंकि इन्टर स्तर तक विद्यार्थी विज्ञान की शिक्षा हिन्दी भाषा के माध्यम से प्राप्त करते हैं इस कारण इन क्षेत्रों में विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षण और अनुसन्धान कार्य दोनों को हिन्दी में करने के अतिरिक्त दूसरा विकल्प ही नहीं है। 1914 से 'विज्ञान' और 1958 से 'अनुसंधान पत्रिका' का अनवरत प्रकाशन इस बात का सबूत है कि शिक्षण और शोध कार्य के लिए हिन्दी पूर्णतया सक्षम है और अब यह विवाद का विषय नहीं रहा। इस काम में कठिनाइयां हैं किन्तु हिन्दी में श्रेष्ठ विज्ञान साहित्य का सृजन विज्ञान की प्रगति में निश्चय ही श्रेयस्कर है।

गोष्ठी में जहां एक ओर स्वामी सत्य प्रकाश, डा० लल्लन जी गोपाल, डा० महराज नारायण मेहरोत्रा आदि ने पुरातत्व पर शोध कार्य को समय की मांग बताया, वहीं डा० महातम सिंह, डा० एस० के० तिवारी, डा० लक्ष्मी शंकर शुक्ल, डा० बी० के० नायर, डा० सुधांशु कुमार जैन, प्रोफेसर रामदास तिवारी, डा० हीरा लाल निगम, डा० रमा शंकर सिंह, डा० ब्रह्मदत्त त्रिपाठी, डा० एम० एम० मोघे आदि ने हिन्दी में विज्ञान साहित्य के सृजन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला। डा० ब्रह्मदत्त त्रिपाठी ने पर्यावरण प्रदूषण पर अनुसंधान कार्य को प्रमुखता दिए जाने की मांग की और बताया कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 13 विभागों के वैज्ञानिक सम्मिलित रूप से 'गंगा जल प्रदूषण' पर शोध कार्य में लगे हुए हैं।

इस गोष्ठी में इलाहाबाद से स्वामी सत्यप्रकाश, डा० रामदास तिवारी, डा० हीरा लाल निगम, डा० शिवगोपाल मिश्र, डा० पूर्ण चन्द्र गुप्त, डा० जगदीश सिंह चौहान, श्री प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव, श्री व्यास जी द्विवेदी और डा० प्रेम चन्द्र मिश्र ने भाग लिया। विज्ञान परिषद के अध्यक्ष प्रोफेसर रामचरण मेहरोत्रा ने आशा व्यक्त की कि विज्ञान के श्रेष्ठ साहित्य के सृजन में जहाँ वैज्ञानिक और अध्यापक लगन से काम करेंगे वहीं सरकार भी इस कार्य में प्रोत्साहन देगी। गोष्ठी के आयोजक प्रोफेसर नन्दलाल सिंह ने सभी वक्ताओं के व्याख्यानों का सार प्रस्तुत किया। अंत में प्रचार मन्त्री डा० रमेश चन्द्र तिवारी ने सभी को धन्यवाद दिया और एक सुखद सूचना दी कि 68वें साइन्स कांग्रेस की हिन्दी में रिपोर्टिंग के लिए उपकुलपति ने वही के हिन्दी प्रेमी अध्यापकों की एक समिति का गठन किया है। इस गोष्ठी का सफल संचालन परिषद् के प्रधानमन्त्री डा० शिव गोपाल मिश्र ने किया।

पुस्तक : बैक्टीरिया अदालत में
(सफाई संबंधी बालोपयोगी रोचक नाटक)
लेखक : प्रेमानन्द चन्दोला

प्रकाशक : हिन्द पाकेट बुक्स प्रा० लि०
जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली–110032
मुद्रक : आई० बी० सी० प्रेस, शाहदरा, दिल्ली–110032

(1)

यह पुस्तक बालकों के लिये सफाई संबंधी उपयोगी और रोचक पुस्तक है। इसमें बालकों द्वारा प्रस्तुत किये जाने योग्य तीन नाटक हैं जो बहुत ही रोचक हैं और एक बार पढ़ने के लिये शुरू किये जाने पर छोड़े नहीं जा सकते। ये सभी नाटक अदालत में हो रहे मुकदमों की तरह हैं। ये हैं क्रमश: **गंदगीमल पर मुकदमा, नाइट्रोजन की पेशी, अदालत में**। ये सभी नाटक शिक्षा देते हैं। इनमें हमें सफाई से रहने व स्वस्थ वस्तुयें खाने की शिक्षा मिलती है, अनेक प्रकार के रोगाणु व रोगों के बारे में पता चलता है और इनसे दूर रहने के तरीके भी पता चलते हैं।

यह पुस्तक मोटे कागज पर स्वच्छ रूप से छपी है। इसमें स्थान-स्थान पर चित्र भी हैं जो इस पुस्तक की रोचकता बढ़ाते हैं। किन्तु इसमें एक-आध जगह प्रूफ की गलतियां छूट गयी हैं जैसे पृष्ठ 5 पर तीसरी पंक्ति में श्रीमती डी० डी० टी० वाला की जगह श्रीमनी डी० टी० टी० वाला छप गया है। कुछ उर्दू (भाषा) के शब्द भी छपे हैं जो खटकते हैं और समझ में नहीं आते हैं जैसे 'मरसिया', 'मुद्दई', 'पैरबी', 'मुल्तवी' आदि।

—अमिताभ प्रेमचन्द्र

(2)

यह पुस्तिका वैज्ञानिक तथ्यों को बच्चों तक पहुँचाने के लिए एक सर्वथा नवीन शैली का अनुसरण करते हुए लिखी गई है—नाटकीय ढंग से, या यों कहें कि कथोपकथन की शैली में वैज्ञानिक जानकारी को प्रस्तुत करना अनोखी सूझबूझ की परिचायक है। पुस्तक की छपाई तथा गेटअप अत्यन्त आकर्षक हैं। पुस्तक देखकर हठात् मन करता है कि इसे खरीदा जाय और पुस्तकालय में रखा जाय।

विश्वास है कि चंदोला जी की यह कृति, जो सर्वथा नन्हें-मुन्नों के लिये लिखी गई है, बच्चों को उनको प्रोत्साहित करने हेतु उपहार के रूप में भी दी जावेगी। प्रकाशक तथा लेखक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

शि० गो० मिश्र

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों और इण्टर तक के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हों।
3. प्रकाशनार्थ स्वीकृत रचनाओं पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।
4. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
5. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
6. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
7. प्रकाशित रचनाओं के संबंध में पाठकों की सम्मतियों का स्वागत किया जायेगा।
8. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिये पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु प्रकाशन की दो प्रतियां भेजी जानी चाहिये। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जावेगी।

विज्ञापन दाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं:

भीतरी पूरा पृष्ठ 100·00 रु०; आधा पृष्ठ 50·00 रु०; चौथाई पृष्ठ 25·00 रु०; आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 200·00रु०।

सभी लोग समस्त पत्र-व्यवहार निम्न पते पर करें।

सम्पादक 'विज्ञान'

विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद -2

प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक मेघनाद साहा की पच्चीसवीं बरसी पर

प्रोफेसर मेघनाद साहा

● प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव
सी०एम०पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद

प्रोफेसर मेघनाद साहा विश्व के बीसवीं शती के उन महान वैज्ञानिकों में हैं जो भौतिकी में अपने योगदान के लिये सदैव याद किये जायेंगे। तारा, परमाणु और आयन साहा के अध्ययन के मुख्य विषय रहे हैं। इन विषयों पर अध्ययन करने वाला कोई अन्य वैज्ञानिक संभवतः राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा से कटा हुआ प्रयोगशालाओं के भीतर ही अनुसंधान करता रहता किन्तु साहा उन गिने चुने वैज्ञानिकों में हैं जिन्होंने विज्ञान की प्रयोगशालाओं के बाहर आकर अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की छाप राष्ट्र पर छोड़ी है। यह सच है कि साहा के तारों और परमाणुओं का संबंध हमारे दैनिक जीवन से बहुत दूर का लगता है किन्तु उनके आयनीकरण सिद्धान्त के अनेक उपयोग हमारी रोज़ाना की जिंदगी से जुड़े हुये हैं। उदाहरण के लिये रेडियो लहरों का प्रेक्षण, ज्वालाओं का संवहन, चापों और विस्फोटक प्रतिक्रियाओं का निर्माण आदि।

कांटों भरा बचपन

मेघनाद साहा का जन्म पूर्वी बंगाल के सेवरातली नामक गांव में ढाका से 45 किलोमीटर दूर एक निर्धन दूकानदार के घर हुआ था। आठ बच्चों में मेघनाद पांचवें पुत्र थे। पिता जगन्नाथ की किराने की एक छोटी दूकान थी जिसपर इनके बड़े भाई भी बैठते थे। एक और भाई ने बाद में दवा की एक छोटी सी दूकान खोल ली। इनके पिता अर्थाभाव के कारण यही चाहते थे कि मेघनाद किराने की दूकान पर बैठें किन्तु बालक की प्रखर बुद्धि के कारण उनके अध्यापक यह चाहते थे कि उन्हें आगे की पढ़ाई के लिए ढाका भेजा जाय। पिता के पास न तो साधन था और नाही इच्छा। किन्तु बड़े भाई जयनाथ चाहते थे कि मेघनाद की शिक्षा जारी रहे। यदि मेघनाद को इस समय प्रारंभिक शिक्षा समाप्त होने के बाद ढाका न भेजा जाता तो संभवतः भारत एक महान वैज्ञानिक की प्रतिभा के लाभ से बंचित रह गया होता।

पहले तो उनका प्रवेश घर से 12 किलोमीटर दूर एक अंग्रेजी स्कूल में हुआ, बाद में 1905 में 12 वर्ष की वय में ढाका कालेज में प्रवेश के लिए स्कालरशिप मिल गई किन्तु इसी वर्ष बंगाल के विभाजन के समय गवर्नर के आगमन का वहिष्कार करने पर उन्हें कालेज से निष्कासित कर दिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि मेघनाद में देश प्रेम की भावना का अंकुरण बचपन में ही हो गया था। इस कारण शिक्षा के लिए मेघनाद ने एक छोटे गैरसरकारी स्कूल में प्रवेश लिया और प्रथम आने के बाद ढाका कालेज में 16 वर्ष की उम्र में विज्ञान की विधिवत् शिक्षा के लिये उन्हें प्रवेश मिल गया। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि बालक मेघनाद न तो आर्थिक कठिनाइयों और ना ही अन्य मुसीबतों से हतोत्साहित हुये। दो वर्ष बाद बी०एस० सी० के लिए उन्होंने प्रेसिडेन्सी कालेज, कलकत्ता में प्रवेश

लिया। यहां के हास्टल में उन्हें एस०एन० बोस, जे०सी० घोष, एन०आर० सेन, जे०एन० मलिक, एन०आर० धर जैसे मेधावी छात्रों का साथ मिला। एन० आर० धर मेघनाद से दो वर्ष आगे थे और पी०सी० महालानोबिस एक वर्ष आगे थे। ये सभी विद्यार्थी आगे चलकर प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुये। यहां साहा ने बी०एस०सी० आनर्स और एम० एस०सी० में गणित ले रखा था, किन्तु उस समय यहां पी०सी०रे और जगदीश चन्द्र बसु जैसे लोग अध्यापक थे। इस समय मेघनाद का परिचय राजेन्द्र प्रसाद और सुभाष बोस से भी था जो बाद में भारत के राजनैतिक क्षितिज पर छा गये थे। इसलिये यदि मेघनाद साहा के बहुआयामी व्यक्तित्व में एक सफल अध्यापक, वैज्ञानिक और राजनीतिक नेता के गुणों का समावेश था तो इसमें आश्चर्य क्या?

राजनीतिक क्रान्तिकारियों से सम्पर्क के कारण 1915 में साहा को इण्डियन फिनान्स सर्विस परीक्षाओं में बैठने की अनुमति नहीं मिली किन्तु 1915 में ही सर आसुतोष मुकर्जी जो उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे, उन्होंने मेघनाद साहा को साइन्स कालेज में थर्मोडाइनैमिक्स पढ़ाने के लिये नियुक्त कर लिया।

साहा ख्याति की ओर

साहा का प्रथम शोध पत्र 1917 में 'फिलोसोफिकल मैगजीन' में प्रकाशित हुआ। 1918 में एस०एन०बोस के साथ प्रसिद्ध वैज्ञानिक ऑइन्सटॉइन की थियरी का अनुवाद पुस्तक के रूप में 'प्रिन्सिपिल्स आफ़ रिलेटिबिटी' नाम से हुआ। साहा ने शिकागो विश्वविद्यालय के 'ऐस्ट्रोफिज़िकल जरनल' में शोध निबंध प्रकाशित किये। आक्सफोर्ड के ई०ए० मिल्ने ने लिखा है कि उन्हें अपने शोध कार्य में साहा के मूल विचारों से प्रेरणा मिली है। 1920 में 'फिलोसोफिकल मैगज़ीन' में उन्होंने प्रसिद्ध 'साहा समीकरण' की व्याख्या की।

साहा को कलकत्ता विश्वविद्यालय ने डी०एस०सी० डिग्री से सम्मानित किया और 2 वर्ष तक जर्मनी और लंदन में रिसर्च के लिये दो स्कालरशिप प्रदान किया। साहा ने इम्पीरियल कालेज, लंदन में ए० फाउलर के साथ काम किया। इस समय साहा के मित्र जे०सी० घोष और जे०एन० मुकर्जी प्रोफेसर एफ०जी० डोनान के निर्देशन में फिजिकल केमिस्ट्री में शोध कर रहे थे। यहीं साहा की भेंट शान्तिस्वरूप भटनागर से हुई जिन्होंने बाद में 'कौंसिल आफ साइन्टिफिक एण्ड इनडस्ट्रियल रिसर्च' का 1942 में संगठन किया। फाउलर के साथ साहा ने 'स्टेलर स्पेक्ट्रोस्कोपी' पर कार्य किया। इसी समय साहा कैम्बिज के जे०जे० थामसन, बर्लिन के नर्स्ट, ऑइन्सटॉइन, प्लैंक और सोमरफील्ड जैसे वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आये। 1921 में साहा को कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी के नये प्रोफेसर का पद मिल गया जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। यहां साहा को शोध की सुविधा नहीं थी इस कारण एन०आर० धर के निमंत्रण पर 1922 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर होकर चले आये। उस समय विश्वविद्यालय में केवल 120 स्नातक छात्र थे। अनुसंधान कार्य की सुविधा नहीं थी किन्तु साहा ने पढ़ाने के साथ ही साथ पुस्तकालय और प्रयोगशाला को अनुसंधान कार्य के योग्य बनाया और अपने आयनीकरण सिद्धान्त पर प्रयोग किये। 1927 में साहा रायल सोसाइटी के फेलो (FRS) चुन लिये गये। 1927 में साहा बर्लिन और कोपेनहागेन गये जहाँ उनकी मुलाकात ई०ओ० लारेन्स से हुयी जिन्होंने बाद में साहा की मदद एक साइक्लोट्रॉन के कलकत्ता में साहा की प्रयोगशाला में लाने में की। 1928 में इलाहाबाद वापस आने के बाद स्पेक्ट्रास्कोपिक रिसर्च के लिये उपकरण जुटाना प्रारम्भ कर दिया (लगभग उसी तरह के काम के लिये जिसपर 1930 में सी०वी० रमन को नोबेल पुरस्कार मिला)। सीमित साधनों के बावजूद साहा कुछ मेधावी छात्रों को विज्ञान की दुनियां में रोके रहने में सफल हो गये जो संभवत: प्रशासनिक सेवावों में चले जाते। 1931 तक विज्ञान के क्षेत्र में साहा की भूमिका तै हो चुकी थी। 1931 में साहा को लंदन की रायल सोसाइटी ने उपकरणों के लिये डेढ़ हजार पौण्ड का ग्रांट दिया किन्तु भारत सरकार से उपयुक्त धन राशि न मिल सकी। वास्तविकता

तो यह है कि उस समय के अंग्रेजी शासन ने कभी भी ठीक ढंग से वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये धन नहीं दिया। इसी वर्ष साहा की पुस्तक 'ट्रीटीज आन हीट' प्रकाशित हुई जिसके बाद में कई संस्करण छपे।

साहा का राष्ट्रीय प्रभाव

1931–38 तक इलाहाबाद में रहते हुये साहा ने विज्ञान को राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावित किया। इलाहाबाद में उन्होंने अनुसंधान का एक सक्रिय दल तैयार किया। कलकत्ता में एक होमियोपैथिक डाक्टर महेन्द्र लाल सरकार द्वारा 1876 में गठित 'इण्डियन एसोसियेशन फार द कल्टीवेशन आफ साइंस' नामक संस्था में विशेष रुचि लिया। सरकार के अर्थ विभाग में कार्य करते हुये भी रमन 1906 से ही इस संस्था के साधारण सदस्य थे। यहां के विज्ञान के उपकरणों का उपयोग वह अपने अनुसंधान के लिये करते थे। 1917 में पालित प्रोफेसर हो जाने के बाद तो वह संस्था के भवन में ही प्रयोग करने लगे थे। धीरे-धीरे रमन संस्था के संचालन पर हाबी हो गये। जिसे रमन चाहते थे वही इस संस्था का सदस्य हो सकता था। वैज्ञानिक इससे क्षुब्ध थे। साहा ने सी०वी० रमन का विरोध किया जिसके कारण रमन कलकत्ता छोड़कर बैंगलोर की विज्ञान की संस्था, इण्डियन इंस्टीट्यूट के भारतीय निदेशक होकर चले गये। यह बात 1933 की है। रमन ने अपने जीवन के 26 वर्ष कलकत्ता में बिताये थे। साहा का प्रभाव बढ़ गया और 1943 के बाद तो साहा इण्डियन एसोसियेशन फार द कल्टीवेशन आफ साइंस संस्था के सर्वेसर्वा हो गये। 1946 में साहा इसके अध्यक्ष हुये और इस संस्था के लिये एक नये भवन का निर्माण कराया।

इण्डियन इन्स्टीट्यूट, बैंगलोर के लिये एक जांच समिति गठित की गई। साहा इसके सदस्य थे। इस जांच समिति की रिपोर्ट के आधार पर रमन को 1938 में यहां से भी हटना पड़ा जहां वे पांच वर्ष तक थे। साहा ने सदैव रमन के कार्य करने के ढंग का विरोध किया। सी०वी० रमन जैसे ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक के विरोध के बावजूद साहा की ख्याति बढ़ी ही, घटी नहीं।

विज्ञान की अकादमियों की स्थापना

1930 तक भारतीय विज्ञान कांग्रेस एसोसिएशन बहुत बड़ी संस्था हो गई थी। साहा ने स्थानीय आधार पर 1930 में यूनाइटेड प्राविन्सेज अकादमी आफ साइन्सेज की स्थापना की किन्तु इसके सदस्य पूरे भारत से हो सकते थे। बाद में साहा ने इसका नाम बदल कर नेशनल अकादमी आफ साइन्सेज रख दिया। 1935 में साहा ने 'साइन्स एण्ड कल्चर' नामक शोध पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। इस शोध पत्रिका के माध्यम से साहा अपने विचारों को व्यक्त करने लगे। इससे राजनीतिज्ञ भी प्रभावित हुये और फलस्वरूप साहा 1938 में राष्ट्रीय योजना आयोग के सदस्य बनाये गये।

1936 में साहा जर्मनी गये। सोमरफील्ड और बोहर से मिले। इसी समय सर्वप्रथम भाभा से मिले। इसी यात्रा के दौरान साहा अमेरिका भी गये। साहा संभवतः अधिक सक्रिय रूप से विज्ञान की सेवा करने के लिये 1937 में इलाहाबाद वापस आये किन्तु 1937 में सर जगदीश चन्द्र वसु के निधन के बाद जब डी० एम० बोस, बोस इंस्टीट्यूट के निदेशक हो गये तो 1938 में मेघनाद साहा उनके स्थान पर कलकत्ता में प्रोफेसर होकर चले गये। यहां साहा सुभाष चन्द्र बोस जैसे राजनीतिक नेताओं के सम्पर्क में आये और देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये भी विचार विमर्श किया। नेहरू और साहा के विचारों में मतभेद था फिर भी साहा को रिसर्च के लिये आर्थिक सहायता मिलने में (1941, 1947 और 1948) नेहरू का हाथ था। इस प्रकार साहा अपनी साइक्लोट्रान प्रयोगशाला की स्थापना में सफल हो गये।

1947 में साहा, 'इंस्टीट्यूट आफ न्यूक्लियर फिजिक्स' की स्थापना के लिए 6,20,000 रुपये इकत्र करने में सफल हो गये। अप्रैल 1948 में श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने इस भवन का शिलान्यास किया। 1950 में साहा 1,20,000 रुपये प्राप्त करने में सफल हुये और जनवरी 1950 में इंस्टीट्यूट का उद्घाटन प्रोफेसर जोलिअॅट क्यूरी द्वारा हुआ। जुलाई 1951 से इंस्टीट्यूट में एम०एस०सी० की कक्षायें प्रारंभ हो गईं। पालित प्रयोगशाला (बायो-

फिजिक्स) में 1948 में इलेक्ट्रोन माइक्रास्कोप बनाया गया। इसी प्रयोगशाला में कॉस्मिक किरणों पर 1938 में अनुसंधान प्रारंभ हो गया।

प्रयोगशाला से लोकसभा की ओर

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सुभाष चन्द्र बोस के भ्राता शरत चन्द्र बोस ने साहा को चुनाव लड़ने की सलाह दी। शीघ्र ही साहा के पास एक विशिष्ट कांग्रेसी आये और उन्होंने कहा कि चूँकि साहा ने 'चर्खा' और 'खादी' का विरोध किया है इस कारण कांग्रेस पार्टी उन्हें अपना उम्मीदवार नहीं मनोनीत कर सकती। 1947 से 1951 के सरकारी रेकार्ड से ज्ञात होता है कि साहा अनेक मसलों पर सरकार से सहमत नहीं थे। साहा अपने विचारों को और अच्छी तरह अभिव्यक्त करने के लिये जीवन के अंतिम समय में राजनीति में कूद पड़े। ऐसा उन्होंने 'मिनिस्टर' बनने के लिए नहीं वरन् देश की सेवा को ध्यान में रखकर किया। वह स्वतंत्र उम्मीदवार थे और 1951 के चुनाव में अपने निकटतम प्रतिद्वन्दी कांग्रेस के प्रत्याशी को बहुमत से हराकर विजयी हुये और लोकसभा में प्रवेश किया। विरोध पक्ष के नेता होने के बावजूद सरकार भी उनके विचारों का आदर करती थी क्योंकि इससे अधिक यश प्रोफेसर साहा ने विज्ञान के क्षेत्र में अर्जित किया था। उनके देश प्रेम में कोई संदेह नहीं था।

एक बार एक कांग्रेसी नेता ने मज़ाक में उनसे कहा था कि एक वैज्ञानिक को अपने आपको विज्ञान तक ही सीमित रखना चाहिये। उन्होंने इसका उचित प्रत्युत्तर दिया, "वैज्ञानिकों के कल्पना महल (एकान्त) में रहने का दोष लगाया जाता है। मैं भी कल्पना महल में था। किन्तु समय बदल गया है। आज, विज्ञान राष्ट्रीय योजना और प्रशासन से गहरी तरह जुड़ा हुआ है। इसी कारण मैं धीरे-धीरे विज्ञान से राजनीति की ओर आ गया, अपने विज्ञान के ज्ञान और सूझ-बूझ से देश की सेवा के लिये।"

सरस्वती के अनन्य उपासक

एक बार उनके पड़ोस के कुछ बच्चे उनसे सरस्वती पूजा के लिए चंदा मांगने आये। प्रोफेसर साहा ने सहज ढंग से पूछा, "सरस्वती की पूजा तुम किस प्रकार करोगे?" बच्चों ने विनम्रता से कहा, "सर, हम लोगों ने देवी की मूर्ति बनाई है। पुजारी पूजा करेगा। हम लोगों ने संगीत का आयोजन किया है, माइक्रोफोन लगाया है और शाम को नाटक करेंगे।" इतना सुनना के बाद प्रोफेसर साहा ने बच्चों से कहा, "मेरे साथ ऊपर के कमरे में चलो और देखो विद्या की देवी की पूजा मैं कैसे करता हूँ।" वहां जाने के बाद बच्चों ने देखा कि कमरा किताब की आलमारियों से भरा हुआ है। पुस्तकें अधिकतर विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र और धर्म पर हैं। इसके अतिरिक्त मेज पर थीं पुस्तकें, लिखने का कागज, कलम, और पेन्सिल। प्रोफेसर साहा ने बच्चों को संबोधित करते हुये कहा, "यदि तुम परिश्रम से अध्ययन करोगे, तुम ज्ञान की देवी का सबसे अधिक आदर करोगे। देवी की पूजा का सर्वश्रेष्ठ तरीका यही है।"

मेघनाद साहा का बहुआयामी व्यक्तित्व इस बात की मिसाल है कि कैसे कठोर श्रम और लगन से नियति को बदला जा सकता है। कठिनाइयों के ऊपर जिस प्रकार उन्होंने विजय प्राप्त किया वह भावी पीढ़ियों को अनुप्राणित करती रहेगी। क्रूर मृत्यु ने इस महान व्यक्ति को 16 फरवरी, 1956 को हमसे छीन लिया। प्रोफेसर साहा को उनकी पच्चीसवीं बरसी पर हम श्रद्धान्जलि अर्पित करते हैं।

मेघनाद साहा

('हमारे वैज्ञानिक' से)

जन्म : 6 अक्टूबर, 1893

शिक्षा : एम०ए०, कलकत्ता विश्वविद्यालय; डी०एस०सी०, लंदन वि०वि०

1921–1923 : खैरा प्रोफेसर आफ फिजिक्स, कलकत्ता वि०वि०

1923–38 : भौतिकी के प्रोफेसर, इलाहाबाद वि०वि०

1938–52 : पालित प्रोफेसर आफ फिजिक्स, कलकत्ता वि०वि०

1952–56 : एमेरिटस प्रोफेसर आफ फिजिक्स, कलकत्ता वि०वि०

1955–56 : निदेशक, इंडियन एसोसिएशन फार द कल्टीवेशन आफ साइन्स, कलकत्ता

1952–56 : संसद-सदस्य (लोकसभा)

1955–56 : संस्थापक व निदेशक, इंस्टीट्यूट आफ न्यूक्लियर फिजिक्स, कलकत्ता

निधन : 16 फरवरी, 1956

अध्यक्ष : भारतीय विज्ञान कांग्रेस (1934)

अध्यक्ष : राष्ट्रीय विज्ञान संस्थान (1937-38)

सदस्य : विश्वविद्यालय आयोग (1949)

अध्यक्ष : कलैंडर सुधार समिति, भारत सरकार
फेलो आफ द रायल सोसाइटी (1927)
फेलो आफ द अमेरिकन सोसाइटी आफ आर्ट्स एण्ड साइंस

फेलो आफ द एस्ट्रोनोमीकल सोसाइटीज आफ अमेरिका एण्ड फ्रांस
कार्नेगी ट्रैवेलिंग फेलो (1936)

प्रकाशन : ए ट्रीटीज आन द थ्योरी आफ रिलेटिविटी आन ए फिजिकल थ्योरी आफ द सोलर कोरोना

ए ट्रीटीज आन हीट
ए ट्रीटीज आन माडर्न फिजिक्स
माई एक्पीरियेन्स इन रशिया

यह अंक आपको कैसा लगा ?

हमारा सदैव यह प्रयास रहा है कि अपने पाठकों को विज्ञान के द्वारा सामयिक सूचनाप्रद एवं उपयोगी सामग्री दें। फिर भी पाठक इस विषय में पत्रों के माध्यम से अपने सुझाव देते रहें तो हमें इस पत्रिका को और भी उपयोगी बनाने में निश्चय ही सहायता प्राप्त होगी। अतएव पाठकों से निवेदन है कि हर अंक के विषय में हमें अपने विचारों से अवश्य अवगत करावें।

—सम्पादक

आचार्य मेघनाद साहा का जीवन और कृतित्व

सनत कुमार साहा
रसायन विभाग, इलाहाबाद वि०वि०

यद्यपि डा० मेघनाद साहा हमारे बीच अब नहीं है, तथापि राष्ट्रीय विज्ञान के नियोजन और लौकिकीकरण की दिशा में उनके बहुमुखी और विशाल योगदान के लिये हम उन्हें स्मरण करते हैं।

मेघनाद साहा का जन्म एक अत्यन्त सामान्य परिवार में 6 अक्टूबर, 1893 ई० को बंगला देश के ढाका जिले के सियोरतली ग्राम में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा बड़ी कठिन परिस्थितियों में हुई थी। बाल्यावस्था से ही साहा एक विलक्षण प्रतिमा के छात्र सिद्ध हुए। मिडिल स्कूल परीक्षा में सर्वोच्च पद प्राप्त करने के लिये उन्हें ब्रिटिश छात्रवृत्ति प्रदान की गई थी किन्तु 1905 में उस स्कूल में ब्रिटिश गवर्नर के आगमन के बहिष्कार के आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें विवश होकर स्कूल छोड़ देना पड़ा और फलस्वरूप छात्रवृत्ति भी निरस्त हो गई। 1909 में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा में ईस्ट बंगाल के सफल परीक्षार्थियों में सर्वोच्च पद प्राप्त किया। वर्ष 1911 में उन्होंने कलकत्ता के सुप्रसिद्ध प्रेसीडेंसी कालेज में प्रवेश लिया जहाँ वे अपने आचार्य पी०सी० राय, सी०ई० क्यूलिस, जे०सी० बोस और डी०एन० मलिक जैसे स्वनामधन्य अध्यापकों के संपर्क में आये। 1913 और 1915 में क्रमशः बी०एस०सी० और एम०एस०सी० परीक्षायें उत्तीर्ण कीं।

शासन ने उन्हें इण्डियन फाइनेन्स परीक्षा में बैठने की अनुमति प्रदान नहीं की। इन्हीं दिनों उन्हें भीषण आर्थिक संकट का भी सामना करना पड़ा और अपने छोटे भाई के भरण-पोषण के लिये साइकिल पर लंबा रास्ता चलकर ट्यूशन करनी पड़ी। वर्ष 1916 में वे यूनिवर्सिटी साइन्स कालेज के गणित विभाग में प्रवक्ता नियुक्त हुए। बाद को उन्हें एस०एन० बोस के साथ विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग में स्थानांतरित कर दिया गया। इस बीच डा० सी०वी० रमन ने इण्डियन फाइनेन्स सर्विस को त्याग कर विश्वविद्यालय में भौतिक शास्त्र के पलित प्रोफेसर के रूप में प्रवेश किया।

जब श्री साहा स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ा रहे थे उनके मन में तापगतिकी और स्पेक्ट्रमिकी के ज्ञान के लिये अपूर्व उत्साह विकसित हुआ। कु० एडनेस क्लार्क द्वारा लिखित पुस्तकों के पढ़ने से उन्हें सूर्य और तारों के अध्ययन में भी अभिरुचि उत्पन्न हुई। सोवियत् की एक आधुनिक उद्धरण पुस्तक में यह उल्लेख मिलता है कि एक भारतीय वैज्ञानिक एस्ट्रोफिजिक्स ने ऊँचे तापमानों के अधीन गैस के आयोनाइजेशन के संबंध में एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया और तारों के वातावरण के अध्ययन के संबंध में उसका प्रयोग किया। उद्धरण पुस्तक के एस्ट्रानोमी और कास्मोनाटिक्स के मुख्यांग में साहा का सिद्धान्त एस्ट्रोफिजिक्स के अध्ययन की आधुनिक प्रविधियों का मूलाधार बन गया है। साहा ने सोवियत वैज्ञानिकों से घनिष्ट संबंध बनाये रखा। वे बराबर सोवियत् यूनियन की यात्रा करते रहे और अपने सहयोगियों से फलप्रद पत्र व्यवहार करते रहे। **उनकी वैज्ञानिक धारणाओं की छाप अभिनव खगोलवेत्ता एडवर्ड कनोनोवियन की कृतियों पर पड़ी दिखाई देती है।**

साहा के नक्षत्रीय वातावरण के सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए मास्को के एस्ट्रोफिजिसिस्ट एडवर्ड कनोनोवियन ने यह सिद्ध किया कि सूर्य नहीं किन्तु उसके वातावरण का फैलाव बढ़ता है जिससे यह संकेत मिलता है कि थर्मो-न्यूक्लियर प्रतिक्रियायें बहुत संभव है सूर्य की गहराई में घटित होती हैं। ज्वलंत समस्या के समाधान की दिशा में इस नवीन विचार की ओर अनेक वैज्ञानिक आकृष्ट हुए हैं। परिणामस्वरूप, विख्यात वैज्ञानिक मेघनाद साहा का नाम विश्व के समाचार पत्रों के मुखपत्र पर प्रकाशित हुआ।

युवा वैज्ञानिक प्रोफेसर मेघनाद साहा सोवियत् भूमि के वैज्ञानिक क्षेत्र में सुविख्यात हो गये। सोवियत् के वैज्ञानिक आयोटेट ने अपनी पुस्तक "भौतिक शास्त्री जिनसे मैं मिला" में लिखा है कि डा० साहा से उनकी प्रथम भेंट बर्लिन में वर्ष 1922 में हुई। उन दिनों साहा कम उम्र के अत्यंत उदीयमान वैज्ञानिक थे। वे अपने देश की दुर्दशा और ब्रिटिश शासन द्वारा किये गये अत्याचारों का वर्णन किया करते थे। मेघनाद साहा थर्मल आयोनाइजेशन और एस्ट्रोफिजिक्स के क्षेत्र में अपनी विद्वत्ता के लिये विश्व-विख्यात हो गये।

उनकी लोकप्रियता के अतिरिक्त यह भी उल्लेख्य है कि साहा के कलकत्ता विश्वविद्यालय में किये गये काम का प्रथमांश 'फिलसाफिकल मैगजीन' के वर्ष 1920 के अक्टूबर अंक में प्रकाशित हुआ। विदेशों में उन्होंने ए०फाउलर (लंदन) और एन० नर्स्ट (बर्लिन) के साथ काम किया।

साहा वर्ष 1923 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए और उन्होंने अपने जीवन के 15 वर्ष यहाँ बिताये। अधिस्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ाते समय उनकी भाषा में बड़ी प्रांजलता और प्रेषणीयता रहती थी। छात्रों को अपना पाठ अधिक सुगम बनाने के लिये वे पाठ-विषय का सारांश बड़े अक्षरों में श्यामपट्ट पर भी लिख दिया करते थे और प्रायः अपने प्रयोगों का प्रदर्शन भी किया करते थे। वर्ष 1938 में वे कलकत्ता विश्वविद्यालय वापस चले गये जहाँ विज्ञान के निमित्त अपनी बहुमूल्य सेवायें अर्पित करते हुए इन ज्ञानवृद्ध वैज्ञानिक का वर्ष 1956 में स्वर्गवास हुआ।

प्रोफेसर मेघनाद साहा भारत में राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के संस्थापक-अध्यक्ष और संस्थापक-सदस्य थे। वे वर्ष 1937-38 में भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के द्वितीय अध्यक्ष भी हुए। उन्होंने कलकत्ते में 'न्यूक्लियर फिजिक्स संस्थान' स्थापित किया और 'इण्डियन एसोसियेशन फार द कल्टीवेशन आफ साइन्स' की प्रयोगशालायें स्थापित कराईं।

वे 'साइन्स और कल्चर' नामक मासिक पत्रिका के प्रथम संपादक थे। स्थापना काल वर्ष 1942 से ही साहा 'काउन्सिल आफ साइन्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के सक्रिय सदस्य रहे। काउन्सिल की 'इण्डियन कैलेण्डर रिफार्म कमेटी' के अध्यक्ष पद को भी उन्होने सुशोभित किया। वर्ष 1951 में वे बहुमत से संसद-सदस्य चुने गये और उन्होंने राष्ट्रीय नियोजन, विशेषतया विज्ञान और उद्योग से संबंधित नियोजन की समस्याओं में विशेष अभिरुचि दिखाई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा वर्ष 1938 में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में गठित राष्ट्रीय नियोजन समिति के भी वे सदस्य थे। वे स्वभाव से अत्यन्त सरल और तपोनिष्ठ व्यक्ति थे। यद्यपि वे निजी आवश्यकताओं के प्रति अत्यन्त उदासीन थे, किन्तु दूसरों की आवश्यकताओं के प्रति सदा सतर्क रहते थे। वे अदम्य उत्साह और दया तथा दृढ़ विश्वास और समर्पित भावनाओं से ओत-प्रोत थे। ●

जलाशयों में मत्स्य पालन

● देवेन्द्र कुमार कौशल
केन्द्रीय मत्स्य अनुसंधान केन्द्र, बिलासपुर
(हिमाचल प्रदेश)

भारत की आजादी के बाद देश की कई प्रमुख नदियों पर बांध निर्माण के द्वारा अनेक जलाशयों की स्थापना हो चुकी है, और कुछ नदियों पर अभी भी बांध निर्माण का कार्य जारी है। इन जलाशयों का मुख्य उद्देश्य है सिंचाई, विद्युत उत्पादन, कारखानों एवं शहरों में जल-वितरण, बांध-नियंत्रण और मत्स्य पालन। देश भर में कुल मिलाकर छोटे-बड़े आठ सौ (800) जलाशयों का निर्माण हो चुका है। इनका अनुमानित क्षेत्रफल तीस लाख हेक्टेयर है तथा आने वाले बीस वर्षों में जलाशयों का क्षेत्रफल साठ लाख (60 लाख) हेक्टेयर तक पहुँचने की सम्भावना है। भारत-वर्ष के प्रमुख जलाशयों में गोविन्द सागर, गाँधी सागर, गोविन्द वल्लभ सागर, उकई सागर, कंग छावटी सागर, नागार्जुन सागर, भवानी सागर, तुंगभद्रा सागर, निजाम सागर एवं सरदार सागर के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारत की बढ़ती जनसंख्या को ध्यान में रखते हुये, जलाशयों में मछली की खेती का विशेष महत्व है। गरीब जनता की खाद्य समस्या एवं बढ़ती हुई पशु प्रोटीन की मांग को ध्यान में रखते हुए जलाशय पशु-प्रोटीन प्राप्त करने के अच्छे स्रोत सिद्ध हुए हैं। वैज्ञानिक तरीकों से जलाशयों में मछली पालन द्वारा देश की भोजन की समस्या को कुछ सीमा तक हल किया जा सकता है। अनुमानतः देश भर के जलाशयों के द्वारा औसतन 10 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष मछली का उत्पादन होता है। वैज्ञानिक तरीकों से मछली पालन द्वारा हम जलाशयों से प्रति वर्ष 200 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर या इससे भी अधिक मछली उत्पादित कर सकते हैं।

सफलतापूर्वक मछली पालन के लिये हमें जलाशय की पारिस्थितिकी (Ecology) एवं मत्स्यकी (Fisheries) का ज्ञान होना आवश्यक है। जलाशय की परिस्थिति का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिये निम्न बातों की जानकारी आवश्यक होती है। सर्वप्रथम जलाशय में पाये जाने वाले सूक्ष्म जलजीवों के बारे में ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है क्योंकि ये सूक्ष्म जलजीव ही मछली के प्रमुख आहार हैं। सूक्ष्म जलजीवों को हम चार मुख्य भागों में बाँट सकते हैं: (1) फायटोप्लेंकटन (Phytoplankton) (2) जू प्लेंकटन (Zoo plankton) (3) संलग्न जीवी (Periphyton) (4) धरातल पर पाये जाने वाले जल जीव फायटोप्लेंकटन के मुख्य सदस्य हरित शैवाल, नील-हरित शैवाल एवं डायटेम शैवाल हैं। जूप्लेंकटन के प्रमुख सदस्य प्रोटोजोआ, रोटीफर्स, कोपीपोड्स एवं क्लैडोसेरन्स है। हरित शैवाल के कुछ सदस्य संलग्न जीव होते हैं। धरातल पर पाये जाने वालेजलजन्तुओं में कीट (Insect) एवं इनके लार्वे, ओलीगोकीट्स (Oligochaetes) तथा घोंघे आते हैं। इस प्रकार हमें जलाशयों में पाये जाने वाले जलजीवों की महत्वपूर्ण जानकारी से उचित मात्रा में विभिन्न प्रकार की मछलियों के बीजारोपण में सहायता मिलती है।

सूक्ष्मजल जीवों के बाद, जलाशयों में पायी जाने वाली मछलियों के प्रकार एवं उनके आहार की जानकारी अति आवश्यक है। जलाशयों में पायी जाने वाली मछलियों को सुविधा हेतु तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है: (1) कार्प मछली (2) कैट मछली (3)

अवांछित मछली। साधारणतया कार्प मछली का विकास अन्य मछलियों की अपेक्षा तेज होता है। आर्थिक दृष्टि से यह मछली सर्वश्रेष्ठ पायी गयी है। प्रमुख कार्प मछलियों के नाम इस प्रकार हैं: भाकुर (Catla), रोहू, नैन (Mrigala), कलबासु (Calbasu), सैंड कोल (Sand khol), फिमब्रियेटस (Fimbriatus) तथा कोन्टीअस (Kontius)। विदेशी कार्प में सिल्वर कार्प, ग्रास कार्प तथा मीरू कार्प के नाम उल्लेखनीय हैं। भाकुर, रोहू एवं नैन मछली का प्रमुख आहार शैवाल है। कलबासु एवं फिमब्रियेट्स मुख्यतया धरातल पर पाये जाने वाले जल जन्तुओं को अपना आहार बनाते हैं। जलाशयों में पायी जाने वाली कैट मछलियों में वेलागो अट्टु (Wallgo attu), मिस्टस सींघाला (Mystust Seenghala), मिस्टस अओर (Mystus aor), सिलोनीया सिलोंडिआ (Silonia silondia) एवं पांगासियस (Pangasius pangasius) मछलियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन मछलियों का प्रमुख आहार अवांछित मछलियां होती हैं। इसके अलावा ये घोंघे एवं जल जन्तु भी खाती हैं। इस प्रकार इन मछलियों के भोजन-चक्र के लम्बे होने की वजह से यह मछलियां जलाशय की उत्पादकता बढ़ाने में सहायक नहीं हैं। इन मछलियों के जलाशय में अधिक मात्रा में पाये जाने से कार्प मछलियों के विकास में अवरोध पैदा हो जाता है। जलाशयों में पायी जाने वाली अवांछित मछलियों में प्रमुख नाम हैं: ऐमबासीअस नामा (Ambassius nama), ओस्टीयोब्रमा (Osteobrama Cotio), गडुसिया (Gadusia chapra), बैरिलियस (Barillius barila) एवं ओक्सीगैस्टर (Oxygaster bacaila)। अवांछित मछलियों का विकास सीमित होता है। इनका प्रमुख आहार सूक्ष्म जलजीव हैं। अवांछित मछलियों की अधिक संख्या जलाशय में कैट मछली के विकास में सहायता पहुँचाती है।

मछलियों की प्राकृतिक प्रजनन क्रिया एवं जलाशयों में इनके बीज वितरण की प्रक्रिया का ज्ञान बीजारोपण करने में सहायता पहुँचाता है। कार्प मछली साधारणतया वर्षा-ऋतु में, बहते हुये जल में प्रजनन करती है। इस प्रकार कार्प मछली जलाशयों, नदी-नालों में जहां छिछला जल पाया जाता है, वर्षा ऋतु में प्रजनन करती हैं। अनुकूल वातावरण में प्रजनन के द्वारा इनकी संख्या जलाशय में बढ़ती जाती है। इस प्रक्रिया से आने वाले वर्षों में जलाशयों की उत्पादकता को बढ़ाने में सहायता मिलती है।

जलाशय मत्स्यकी का विकास एवं प्रबन्ध के उपाय: जलाशयों की उत्पादकता बांध-निर्माण के बाद उसमें निरन्तर होने वाली भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रियाओं पर निर्भर करती है। धरातल में पड़ी विभिन्न वनस्पतियों एवं मृत जलजीवों का सड़ना-गलना धीरे-धीरे जलाशय की उत्पादकता बढ़ाने में सहायक होता है। सूक्ष्म जलजीवों तथा संलग्न जीवों का विकास भी जलाशय की उत्पादकता बढ़ाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार शुरू के वर्षों में जलाशय काफी उपजाऊ होते हैं। ऐसे समय पर, जलाशय में कार्प मछली का बीजारोपण अच्छी संख्या में करने से आने वाले वर्षों में मछली की लगातार अच्छी फसल प्राप्त की जा सकती है। समय पर कार्प मछली का बीजारोपण नहीं करने से अवांछित मछलियों का विकास तेजी से होता है और इनकी संख्या में काफी वृद्धि हो जाती है। इसका मुख्य कारण प्रचुर मात्रा में पाये जाने वाले सूक्ष्म जलजीव होते हैं। इस प्रकार अवांछित मछलियां कार्प मछलियों के साथ अपना आहार प्राप्त करने के लिये संघर्ष करती हैं तथा कार्प मछलियों की उत्पादकता घटाने का प्रमुख कारण होती हैं। अधिक संख्या में अवांछित मछली का पाया जाना, जलाशय में कैट मछली (Cat fish) को समृद्ध करने में सहायक होता है। इस प्रकार का बीजारोपण, जलाशय मत्स्यकी के विकास का मुख्य उपाय है।

बीजारोपण के बारे में प्रश्न यह उठता है कि हम कब, कहां, कैसे और किस प्रकार की मछलियों का बीजारोपण करें? हमारे देश के जलाशयों के लिये भाकुर (Catla), नैन एवं कलबासु के बीजों (अंगुलिकाओं) का रोपण उचित पाया गया है। इन मछलियों के बीज जलाशय में सफलापूर्वक स्थापित हो लेते हैं तथा अपना विकास करने

में सक्षम होते हैं। देशी मछलियों के अतिरिक्त कुछ विदेशी मछलियों के बीज भी हमारे जलाशयों के अनुकूल सिद्ध हुए हैं, जिसमें मिरर कार्प प्रमुख है। कहीं-कहीं पर कैट मछली विशेषतया पैंगेशियस का बीजारोपण भी उत्पादकता बढ़ाने में सहायक माना गया है क्योंकि इन मछलियों का प्रमुख आहार घोंघे एवं कीट हैं। ऊँचे पर्वतीय क्षेत्रों तथा ठंढे पानी वाले जलाशयों के लिये डिरो, टोर, साइजोथोरेक्स एवं ओरिन्स मछली का बीजारोपण उत्तम होता है। साधारणतया, जलाशय में यदि कैट मछली अनुपस्थित हो तो कार्प मछली की 250 अगुँलिकाएं प्रति हेक्टेयर रोपित करना चाहिये अन्यथा 500 अंगुलिकाएं प्रति हेक्टेयर रोपित करना चाहिये। बीजारोपण, जलाशय के मध्य क्षेत्र में अधिक कारगर होता है क्योंकि इस क्षेत्र में सूक्ष्म जल-जीवों की संख्या प्रचुर मात्रा में पायी जाती है।

जलाशयों को उपजाऊ बनाने में उर्वरकों का प्रयोग व्यावहारिक नहीं है; लेकिन कुछ उपायों द्वारा उपज को बढ़ाया जा सकता है। इस दशा में जलाशयों के चारों ओर खेती विशेषतया धान की खेती, को बढ़ावा देना, बहुत लाभदायक होता है। जहां एक ओर विभिन्न उर्वरकों के प्रयोग द्वारा तथा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध जल से धान का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है उसके साथ-साथ फसल कटने पर बचे धान के तने सड़ने-गलने के बाद जलाशय में पोषक तत्वों की कमी को पूरा करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

जलाशयों से मछली की फसल प्राप्त करने के लिये भी कुछ बातों का ध्यान रखना पड़ता है। अधिकांश मछलियां वर्षा-ऋतु में प्रजनन के हेतु जलाशय के ऊपरी भागों में जाती हैं, जहाँ उनके पकड़े जाने की संभावना अधिक होती है। चूंकि प्रजनन के द्वारा ही मछलियों की संख्या बढ़ती है अतः यदि इस ऋतु में मछलियों को न पकड़ा जाय तो इससे जलाशयों की उत्पादकता निश्चय ही बढ़ेगी।

जलाशयों में पायी जाने वाली छोटी-छोटी मछलियों को नहीं पकड़ना चाहिये, इससे जलाशय की उत्पादकता पर बुरा असर पड़ता है। साधरणतया जलाशयों में मछली पकड़ने के लिये विभिन्न नापों के फसल जाल (Gill net) उत्तम पाये गये हैं। ●

With the Best Compliments from :

Phone : 54292
52089

SCIENCE CORPORATION

104, Leader Road, Allahabad

Dealers in : Laboratory Chemicals, Scientific Instruments, Microscope, Glasswares etc.

Authorised Stockist :

B. D. H. ; S. M. ; E. Merck ; I. D. P. L. ; LOBA ; Ranbaxy : S. R. L. Chemical ; GETNER Instruments, Sigcol Glasswares, Blue Star Slides & Cover Glasses.

सापेक्षता सिद्धान्त में दिक् और काल

● राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप
प्रवक्ता, शिक्षा शास्त्र विभाग,
ए० पी०एन० डिग्री कालेज, बस्ती

आइंस्टाइन का जन्म जर्मनी में 1879 ई० में हुआ था। वाल्यावस्था में और विद्यालय जीवन में ऐसा कोई अद्भुत मानसिक कार्य उनके द्वारा सम्पन्न नहीं हुआ जिससे उनकी प्रतिभा का पूर्वानुमान सम्भव होता। कालेज स्तर पर भी लगभग सभी विषयों में उनकी उपलब्धि असन्तोष-जनक ही थी और ज्यूरिच फैडरल पालीटेक्निक संस्थान से स्नातक होने के बावजूद वह बड़ी कठिनाई से बर्न के पेटेन्ट कार्यालय में नौकरी पा सके थे। परन्तु इस कार्यालय के अवकाश का उपयोग करते हुए आईंस्टाइन ने 1905 में जो तीन शोध-पत्र प्रकाशित किये उन्होंने न केवल आइंस्टाइन को विश्वप्रसिद्धि प्रदान की वरन् भौतिकी की मूलभूत अवधारणाओं के सम्बन्ध में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। इन्हीं शोध-पत्रों में से एक सापेक्षतावाद के सिद्धान्त (Theory of Relativity) के जन्म का कारण बना।

वास्तव में विशेष सापेक्षतावाद का सिद्धान्त, सापेक्षता के नियम और प्रकाश की (स्रोत और निरीक्षक से स्वतन्त्र) स्थिर गति का संश्लेषण है। प्रकाश वेग की स्थिरता की व्याख्या करने के स्थान पर आइंस्टाइन ने भौतिकी की आधारभूत दिक्-काल की अवधारणा पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिये। चिन्तन की इस नवीन धारा ने काल को किसी वाह्य पदार्थ के सापेक्ष स्थिर गति से चलता हुआ मानने की अवधारणा को ध्वस्त कर दिया। इसके आश्चर्यजनक निष्कर्ष सामने आये। किन्हीं दो घटनाओं का एक साथ घटना (Simultaneity) अब निरपेक्ष धारणा नहीं रह गयी। वस्तुओं की लम्बाइयों और घड़ियों के समय में भी कमी दिखाई दी जब इनका निरीक्षण एक गतिशील प्रणाली (Frame of Reference) के सापेक्ष किया गया। इतना ही नहीं न्यूटनीय-यांत्रिकी को नवीन सिद्धान्तों की अपेक्षायें पूरी करने के लिए संशोधित किया गया तथा विशेष सापेक्षता सिद्धान्त के नवीन परिणाम भी प्राप्त किये गये। मात्रा और ऊर्जा की स्वतन्त्र अवधारणाएँ अब एक समीकरण $E=mc^2$ द्वारा एक दूसरे में परिवर्तित किये जाने की सम्भावना से, परस्पर संयुक्त हो गयी।

विशेष सापेक्षता सिद्धान्त (Special theory of Relativity) के इन आश्चर्यजनक परिणामों की झलक देखने के लिए हमें कल्पना का सहारा लेना पड़ेगा। उदाहरण के लिये निम्न प्रयोग के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है। मान लिया जाये कि प्रकाश के वेग (3,00,000 कि० मी० प्रति सेकेण्ड) की तुलना में कुछ दूरी पर दो तीव्र प्रकाश स्रोत अवस्थित हैं। प्रकाश स्रोत इस प्रकार सम्बन्धित है कि उन्हें एक स्विच से संचालित किया जा सकता हैं। अब यदि इन प्रकाश स्रोतों का संचालक दोनों स्रोतों के मध्य में खड़े होकर स्विच आन करे तो उसे दोनों स्रोतों के एक साथ प्रकाशित होने का अनुभव होगा। परन्तु यदि वह किसी प्रकाश स्रोत से अधिक निकट हो और स्विच आन करें तो उसे निकट के स्रोत से शीघ्र और दूरवर्ती स्रोत से देर में प्रकाश प्राप्त होगा और एक साथ प्रकाशित होने के बावजूद निरीक्षक यह अनुभव करेगा कि दोनों स्रोत अलग-अलग प्रकाशित हुए हैं। यह प्रयोग स्पष्ट कर देता है कि (घटनाओं के एक साथ घटने की प्रतीति घटनाओं और

निरीक्षक के सापेक्ष ही होती है।) यह कोई निरक्षेप (Absolute) घटना नहीं है।

इसी क्रम में एक अन्य प्रयोग भी किया जा सकता है। माना कि एक रेलगाड़ी 54 लाख कि०मी० लम्बी है और वह 2 लाख 40 हजार कि०मी० प्रति सेकेन्ड के वेग से चल रही है। रेलगाड़ी के बीच में एक लैम्प है और सिरों पर दर्पण लगे हैं। लैम्प का प्रकाश रेलगाड़ी के सिरों पर पहुँचते ही आगे और पीछे दो दरवाजे खुल जाते हैं जिन्हें लैम्प के निकट स्थित निरीक्षणकर्ता रेलगाड़ी के सिरों पर लगे दर्पण में देख सकता है। अब चूँकि प्रकाश पर स्रोत की गति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता इसलिये गाड़ी के अगले और पिछले हिस्सों से आने वाला प्रकाश $5400000/2\times300000=9$ सेकेन्ड में मध्य निरीक्षणकर्ता तक पहुँचेगा। अब एक अन्य स्थिति की कल्पना करें। माना लैम्प के जलते ही पटरियों के पार्श्व में स्थित एक निरीक्षण कर्ता दरवाजों के खुलने का निरीक्षण करना शुरू कर देता है। प्रकाश लैम्प से पिछले दरवाजे तक अपने स्थिर वेग से चलता है परन्तु पिछला दरवाजा रेलगाड़ी के वेग से आगे आ रहा है। अतः रेलगाड़ी के पार्श्व में स्थित निरीक्षक के लिए प्रकाश के स्रोत से पिछले दरवाजे तक पहुँचने में लगने वाला समय—

$$\frac{2700000}{300000+240000}=5 \text{ सेकेन्ड होगा।}$$

अब स्रोत से अगले दरवाजे तक प्रकाश पहुँचने के समय की गणना करें (ध्यान रखने की बात यह है कि गाड़ी का अगला सिरा गाड़ी के वेग से प्रकाश से दूर भाग रहा है) यहाँ 27 लाख किलोमीटर की दूरी को स्थिर निरीक्षक के सापेक्ष (300000 -- 240000) कि०मी० प्रति सेकेन्ड की गति से तय करने में

$$\frac{2700000}{60,000}=45 \text{ सेकेन्ड लगेंगे।}$$

स्वाभाविक है कि जो घटना रेलगाड़ी में स्थित निरीक्षक के लिये एक साथ घटित हुई, वही पार्श्व में स्थित निरीक्षक के लिये 40 सेकेन्डों के अन्तर पर घटित प्रतीत हुई। परन्तु इस समयांतर पर हम आगे पुनः विचार करेंगे।

सापेक्षतावाद ने त्रि-आयामी दिक् (Three Dimensional Space) और समय (Time) के एक दूसरे से स्वतंत्र होने की अवधारणा को भी ध्वस्त कर दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार दो अलग-अलग संदर्भ प्रणालियों (Frames of Reference) में घटित घटनाओं के लिये एक ही समय का प्रयोग नहीं किया जा सकता इसीलिये प्रत्येक सन्दर्भ प्रणाली में चार आयामों का प्रयोग किया जाता है अर्थात् प्रत्येक सन्दर्भ प्रणाली के लिये समय का आयाम उसी प्रकार अलग होगा जिस प्रकार दिक् के तीन आयाम होते हैं।

सापेक्षतावाद में समय किस प्रकार प्रभावित होता है यह समझने के लिये हम रेलगाड़ी वाली कल्पना पुनः दुहराते हैं। मानलें, यह गाड़ी किसी स्टेशन A से चली है और उस समय रेल के यात्रियों और स्टेशन की घड़ियाँ ठीक 9 बजा रही थी। माना दूसरे स्टेशन B पर जब यह गाड़ी पहुँची तो स्टेशन की घड़ियों में 10 बजे थे। अब रेल के यात्रियों की घड़ियों में क्या समय होना चाहिये ? सामान्य अनुभव के अनुसार रेल के यात्रियों की घड़ियों में भी 10 ही बजने चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि हमारी गाड़ी प्रकाश के वेग से कुछ कम वेग से चल रही थी।

1 घंटे में गाड़ी द्वारा तय की गई दूरी

$$=240,000\times60\times60 \text{ कि०मी०}$$

$$=864,000,000 \text{ कि०मी०}$$

यहाँ अपनी रेलगाड़ी के सम्बन्ध में एक अल्पना और की जाये। माना कि जिस समय रेलगाड़ी स्टेशन A से चलना शुरू करती है उसी समय एक डिब्बे के फर्श से एक प्रकाश की किरण छत की ओर फेंकी जाती है। छत की ऊँचाई इतनी है कि प्रकाश छत पर लगे दर्पण से उसी समय टकराने के पश्चात् पुनः वापस, निरीक्षक तक ठीक पहुँचता है जब गाड़ी स्टेशन B पर पहुँचती है। निश्चित है रेल गाड़ी में बैठे निरीक्षक के लिये प्रकाश की किरण सीधी छत तक जाती है और वापस आती है। परन्तु पटरियों के पार्श्व में खड़े निरीक्षक के लिये प्रकाश की किरण की यह यात्रा दिखाये गये चित्र के अनुसार होती है। दूरी AM_C अथवा M_CB प्रकाश द्वारा एक घंटे में चली हुई दूरी की

आधी होती है, तथा स्टेशन A अथवा स्टेशन B से दोनों स्टेशनों के मध्य स्थिति स्थान C के बीच की दूरी
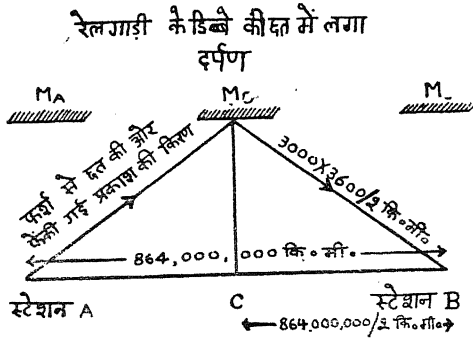
चित्र : पटरियों के पार्श्व में खड़े निरीक्षक के लिए प्रकाश की किरण की यात्रा

M_A—छत में लगे दर्पण की स्थिति, डिब्बा जबकि स्टेशन A पर है

M_B—छत में लगे दर्पण की स्थिति, डिब्बा जबकि स्टेशन B पर पहुँचता है।

M_C—छत में लगे दर्पण की स्थिति दोनों स्टेशनों के ठीक मध्य में स्थिति स्थान C पर जबकि प्रकाश किरण दर्पण से टकराती है और पुनः वापस आना प्रारम्भ करती है।

$M_C C$—रेल के डिब्बे की फर्श से छत में लगे दर्पण तक की ऊँचाई

AC या $BC = \dfrac{864,000,000}{2}$ कि०मी०

अर्थात्, छत की ऊँचाई (पायथागोरस प्रमेय के द्वारा)

$$\sqrt{(AM_C)^2 - AC^2} = \sqrt{BM_C^2 - BC^2}$$

$$= \sqrt{\left(\frac{300000 \times 3600}{2}\right)^2 \left(\frac{864000000}{2}\right)^2}$$

$$= \sqrt{(540000000)^2 - (432000000)}$$

$=324000000$ कि०मी०

अब इस दूरी को तय करने में प्रकाश की किरण द्वारा लगा समय

$= \dfrac{324000000}{300000} = 1080$ सेकेन्ड

$=18$ मिनट

अर्थात् 36 मिनट में प्रकाश की किरण रेलगाड़ी के फर्श से छत तक जाकर पुनः निरीक्षक तक वापस आयेगी दूसरे शब्दों में यात्रियों की घड़ियों में केवल 9 बजकर 36 मिनट हुये होंगे जब बाहर की घड़ियों के अनुसार रेलगाड़ी 10 बजे स्टेशन पर पहुँचेगी।

समय-संकुचन के यह प्रभाव उसी समय अधिक स्पष्ट होते हैं जब यात्राएँ प्रकाश के वेग से कुछ कम वेग से की जाती है (वास्तव में सापेक्षता के सिद्धान्त में प्रकाश का वेग, वेग की वह अधिकतम सीमा है जो किसी संदर्भ प्रणाली में प्राप्त की जा सकती है)।

उपरोक्त निष्कर्षों के क्रम में यह भी ध्यान दिया जाना चाहिये कि यात्रियों के अनुसार A और B स्टेशनों के बीच की दूरी भी अब 864,000,000 कि० मी० के स्थान पर $36 \times 60 \times 240000 = 518,400,000$ कि० मी० प्रतीत होगी परन्तु यदि रेलगाड़ी प्रकाश के वेग से चलने लगे तो A और B के बीच की दूरी यात्रियों के लिये समाप्त हो जायेगी। इसी आधार पर गतिशील रेलगाड़ी की लम्बाई भी पटरियों के पार्श्व में खड़े निरीक्षक के लिए कम होगी। चूँकि 864,000,000 किमी० प्रतीत होते हैं

$=518,400,000$ किमी०

अतः 5400000 किमी० प्रतीत होंगे

$= \dfrac{518400000 \times 5400000}{864000000}$

$=3240000$ किमी०

इस नवीन परिणाम से यदि हम अपना रेलगाड़ी का प्रयोग दुहराएँ तो अगले और पिछले दरवाजों के खुलने में पटरियों के पार्श्व में खड़े निरीक्षक को 40 सेकेन्ड के स्थान प 40 36 60 24 सेकण्ड का ही अन्तर प्राप्त होगा।

क्लासिकी भौतिकी में पदार्थ की मात्रा को स्थिर माना जाता था अर्थात् उस पर वेग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था परन्तु सापेक्षतावादी भौतिकी में पदार्थ की मात्रा वेग पर निर्भर करती है उदाहरण के लिए गणना द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि हमारी रेलगाड़ी की मात्रा गति की अवस्था में, स्थिर अवस्था की आपेक्षा 60/36=5/3 गुना अधिक हो जायेगी। यदि रेलगाड़ी का वेग 270000 किमी० प्रति सेकण्ड हो तो गाड़ी की मात्रा 2 गुने से अधिक (10/19) और यदि वेग 297000 किमी० प्रति सेकण्ड हो तो रेलगाड़ी की मात्रा 11 गुना (100/89) हो जायेगी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रकाश की गति से चलने वाली वस्तुओं की मात्रा अनन्त हो जाती हैं।

विशिष्ट सापेक्षता के सिद्धांत के पश्चात् आइंस्टाइन ने सामान्य सापेक्षता का सिद्धांत (General Theory of Relativity) प्रस्तुत किया। वास्तव में इस सिद्धांत के अन्तर्गत त्वरित गति की समस्या पर विचार किया गया था।

विशिष्ट सापेक्षता के अन्तर्गत गति की निरपेक्षता को अस्वीकार किया गया था क्योंकि किसी स्थिर वेग से गतिमान प्रणाली के भीतर स्थिर निरीक्षक किसी भी प्रयोग द्वारा यह ज्ञात करने में असमर्थ रहता है कि उसकी प्रणाली गति में है अथवा स्थिर है। परन्तु त्वरित गति की स्थिति में क्या होता है ? क्या निरपेक्ष त्वरण का कोई निश्चित भौतिक अर्थ होता है ?

आइंस्टाइन के अनुसार किसी भी त्वरित प्रणाली के भीतर होने वाली समस्त घटनाएँ किसी गुरुत्व-क्षेत्र के भीतर स्थित स्थिर प्रणाली की घटनाओं के पूरी तरह अनुरूप होती है। इस कथन का तात्पर्य समझने के लिये हम एक और प्रयोग पर विचार करेंगे।

माना एक राकेट आकाशीय पिण्डों के गुरुत्व बल से परे कहीं अन्तरिक्ष में गतिमान है। यदि इंजिन बन्द कर दिये जायँ तो राकेट स्थिर वेग से यात्रा प्रारम्भ कर देगा और राकेट के यात्री किसी गुरुत्व बल के अभाव के कारण भीतर स्वतन्त्र रूप से गतिमान रहेगें। अब यदि इन्जिन पुनः चला दिया जाये तो राकेट की गति बढ़ने लगेगी और चूँकि यात्री स्थिर वेग से चल रहे थे अतः वे राकेट-कक्ष की यात्रा दिशा के विरोधी हिस्से में एकत्रित हो जायेगें और त्वरण के बल से वहां स्थिर रहेगें। यात्री उस फर्श पर वैसे ही खड़े हो सकेगें जैसे वे पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के अन्तर्गत पृथ्वी की सतह पर करते हैं। इस दिशा में यदि राकेट की दिशा में लम्बवत् प्रकाश की कोई किरण चले तो राकेट के त्वरण के कारण वह अपने सीधे मार्ग से यात्रा दिशा की विरोधी दिशा में विचलित हो जायेगी और उसी प्रकार परवलय में गतिशील होगी जैसे पृथ्वी के गुरुत्व वल के अधीन क्षैतिज दिशा में फेंका गया कोई पिण्ड। यदि यह चितन वैज्ञानिक हो तो प्रकाश को गुरुत्व बल की दिशा में विचलित होना चाहिये और इस प्रयोग द्वारा सत्यापित होना चाहिये। वास्तव में ऐसा ही होता भी है। 1919 में अफ्रीका में होने वाले पूर्ण सूर्य ग्रहण में ब्रिटेन के एक वैज्ञानिक दल के प्रयोगिक रूप में यह निष्कर्ष प्राप्त किया था। बाद में अन्य कई प्रयोगों ने इसे पूरी तरह पुष्ट भी किया।

गुरुत्व-बल सम्बन्धी गणनाओं ने कुछ अन्य निष्कर्ष भी दिये। उदाहरण के लिये न्यूटन के अनुसार सौरमंडल का प्रत्येक ग्रह सूर्य को नाभि पर मानकर खींचे गये दीर्घ वृत्त (Ellipse) में गतिमान होता है जिसके मुख्य अक्ष स्थिर होते हैं। सापेक्षतावाद की गणनाओं के अनुसार यह मुख्य अक्ष ग्रह की गति की विरोधी दिशा में खिसकते रहने चाहिये। गणना द्वारा बुध के लिए एक शताब्दी में यह खिसकाव 42.9 कोणीय सेकेन्ड प्राप्त हुआ था। वास्तविकता तो यह थी एक शताब्दी में बुध की कक्षा के 43 कोणीय सेकेन्ड के खिसकाव की व्याख्या ज्योतिर्विदों के लिये एक समस्या थी। आइंस्टाइन ने केवल इस समस्या के कारक की व्याख्या प्रस्तुत कर दी।

इसी प्रकार सामान्य सापेक्षता सिद्धांत का एक निष्कर्ष यह भी था कि गुरुत्व-बल सभी भौतिक प्रक्रियाओं को धीमा कर देता है। दूसरे शब्दों में चन्द्रमा (जिसका गुरुत्व बल पृथ्वी की अपेक्षा कम है) पर रखी हुई कोई घड़ी सूर्य

पर रखी हुई किसी घड़ी की तुलना में कम तेज चलनी चाहिये। सूर्य पर घड़ी रखने की कल्पना हास्यास्पद ही थी परन्तु इस समस्या को दूसरे प्रकार से हल किया गया। कुछ तत्वों के परमाणु निश्चित आवृत्ति की प्रकाश तरंगे उत्सर्जित करते हैं, यह प्रक्रिया आवृत्ति काल से सम्बन्धित होने के कारण इस काल की गणना की जा सकती है। अर्थात् यदि एक ही तत्व की विशिष्ट प्रकाश तरंगों को सूर्य और पृथ्वी पर उत्पन्न करके निरीक्षण किया जाये तो इन तरंगों के तरंग दैर्ध्य (Wave Length) में अन्तर प्राप्त होना चाहिये। ज्योतिर्विदों ने सूर्य और आकाशीय नक्षत्रों के प्रकाश की तरंगों के कंपन आवृत्तियों की तुलना से यही परिणाम प्राप्त किये।

सामान्य सापेक्षता-सिद्धात में एक दूसरा महत्वपूर्ण चरण दिक् की वक्रता की अवधारणा थी। आइंस्टाइन ने, गुरुत्व के कारण प्रकाश के पथ के विचलन को इस रूप में व्यक्त किया कि प्रकाश तो सीधी रेखा में ही चल रहा है, गुरुत्वीय बल की उपस्थिति के कारण दिक् ही वक्र हो गया है। गुरुत्व की गणितीय व्याख्या में इस अवधारणा ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका ग्रहण की है। दूसरे शब्दों में आइंस्टाइन का सामान्य सापेक्षता सिद्धांत सार्वभौमिक (न्यूटनीय) गुरुत्व की ज्यामितीय व्याख्या करता है। यह कहने के स्थान पर कि गुरुत्व के कारण पिण्डों की गति और प्रकाश संचरण रैखिक गति से विचलित हो जाते हैं, यह कहा जाता है कि रैखिक गति ऐसे दिक् में होती है जो पदार्थ की ओर तज्जनित गुरुत्व की उपस्थिति के कारण वक्र हो गया है।

अपने अन्तिम दिनों में प्रिंस्टन में आइंस्टाइन एकीकृत क्षेत्र सिद्धांत (Unified Field Theory) पर कार्य कर रहे थे, वे सफल नहीं हो सके। इस सिद्धांत के अनुसार प्रकृति के चारों बल गुरुत्व-बल, विद्युत-चुम्बकीय बल, शक्तिशाली नाभिकीय बल और निर्बल नाभिकीय बल एक सार्वभौमिक बल के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। आइंस्टाइन ने विद्युत चुम्बकीय बल और गुरुत्व बल की एकता सिद्ध करनी चाही थी परन्तु वे इसमें सफल नहीं हुए। हर्ष की बात है कि पाकिस्तान के डा० अब्दुलस्सलाम और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रो० शेल्डन ग्लैशो और प्रो० स्टीवेन वियोनवर्ग ने अलग-अलग कार्य करते हुए यह सिद्ध किया है कि निर्बल नाभिकीय बल और विद्युत चुम्बकीय बल एक ही हैं। इन तीनों वैज्ञानिकों को इस कार्य के लिए 1979 का नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया जो आइंस्टाइन के उर्वर मस्तिष्क, मौलिक चिंतन और ज्ञान के अछूते क्षेत्रों को छूने, परिभाषित करने और व्याख्या करने का यह एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।

[शेष पृष्ठ 32 का]

पड़ने के कारण इसे स्वतः सभी की स्वीकृति मिल जायेगी। हाइड्रोजन में न केवल ऊर्जा-संकट जैसी विश्वव्यापी समस्या के समाधान की सम्भावनायें हैं वरन् विश्व की लड़खड़ाती हुई अर्थ-व्यवस्था को आधार प्रदान करने की भी क्षमता है। मानव का भविष्य निश्चय ही अंधकारमय नहीं है। आवश्यकता है वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियों के विवेकपूर्ण उपयोग की।

छिपकलियों का विचित्र संसार

● आनन्द कक्कड़
बी० एस-सी० (प्रथम वर्ष)
सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद

घरों में रहने वाली छिपकलियों को हम नित्य ही देखते हैं और उनसे घृणा भी करते हैं, परन्तु ये निरीह जीव घृणा के पात्र नहीं हैं। इस समय छिपकलियों की लगभग 800 से अधिक जातियाँ भूमण्डल में विद्यमान हैं। इनमें कुछ रंगीन, कुछ समुद्र में रहने वाली; कुछ उड़नें वाली तो कुछ पेड़ों पर निवास करती हैं; कुछ बहुत छोटी हैं तो कुछ मनुष्यों से भी लम्बी होती हैं।

प्रायः सभी पूँछदार होती है। अधिकतर का शरीर पतले-पतले शल्कों द्वारा आच्छादित होता है, जो नुकीले और खुरदुरे होते हैं। किन्तु कुछेक में शल्क अनुपस्थित भी होते हैं।

अधिकांश छिपकलियों में चार पैर होते हैं, पर कुछ में केवल दो और कुछ किस्मों में तो पैर होते ही नहीं। इनके पंजों के नाखून तेज नहीं होते। घरेलू छिपकलियों की अंगुलियों में मोटी गद्दियां होती हैं, जिनके सहारे ये दीवार पर चढ़ सकती हैं। मरुस्थल में पाई जाने वाली छिपकलियों की अंगुलियों में सिन्नें होते हैं जिससे बालू पर चलने में मदद मिलती है। कुछ छिपकलियों की दुम छोटी होती है, परन्तु कुछ की दुम शरीर की लम्बाई की दुगुनी या तिगुनी लम्बी होती है। वे अपनी दुम को जोर से पटककर या फटकार कर अपने शत्रु को डराती व वार करती हैं। कुछ छिपकलियों की यह विशेषता है कि संकट में वे अपनी दुम का त्याग कर देती हैं किन्तु दुम बाद में पुनः निकल आती है।

छिपकलियों की जीभ अनेक प्रकार की होती है। कुछ की मोटी व चौड़ी पर अधिकतर पतली, लम्बी, और सर्प की जीभ के समान दो भागों में विभाजित रहती है। छिपकलियों के दाँतों की बनावट सर्प के दाँतों की भाँति होती है। अब तक छिपकलियों के किसी भी अंग में विष की उपस्थिति नहीं पाई गई है। केवल दो जातियां ही विषैली होती हैं, जो कि मैक्सिको या उसके समीपवर्ती भागों में पाई जाती हैं (इनका वर्णन आगे है)।

कैमीलियन

प्रायः सभी छिपकलियों के नेत्रों में पारदर्शक झिल्लियां रहती हैं, किन्तु उनमें पलक नहीं होते। कुछ जातियों को छोड़कर प्रायः सभी छिपकलियां रात को भोजन की खोज में निकलती हैं व दिन में छिपी रहती हैं। बहुत सी छिपकलियां तो अपनी जीभ को तालू पर मार-मार कर पट-पट की ध्वनि उत्पन्न करने के लिए प्रसिद्ध हैं। घरेलू

छिपकलियों की गति मन्द है, परन्तु कुछ बहुत ही तेज गति से दौड़ती हैं। तेज दौड़ने वाली छिपकलियां शरीर के अगले भाग को उठाकर पिछले पैरों के बल पूँछ की सहायता से दौड़ती हैं। अधिकांश छिपकलियां स्थल वासी हैं किन्तु कुछ वृक्षों पर, कुछ जल में, कुछ जल व स्थल दोनों में निवास करती हैं। कुछ छिपकलियां अण्डे देती हैं, कुछ के अण्डे गर्भाशय में ही फूट जाते हैं जिसके कारण उनके जीवित बच्चे उत्पन्न होते हैं। आइये अब कुछ अनूठी छिपकलियों से आपका परिचय करायें।

सबसे प्राचीन छिपकली (टुआटेरा): न्यूजीलैण्ड और उसके समीपवर्ती द्वीपों में छिपकली जैसा उरंगम पाया जाता है जो शरीर रचना और स्वभाव में कुछ-कुछ कछुओं से और कुछ पक्षियों से मिलता-जुलता है। इसी से वर्तमान जातियों की छिपकलियों का विकास हुआ है। इसका नाम "टुआटेरा" या "स्फेनोडोन" है। किसी समय पृथ्वी पर ये बहुत अधिक संख्या में उपस्थित थीं परन्तु आजकल शीघ्रता से लुप्त हो रहीं हैं। ये अत्यंत डरपोक होती हैं और अधिक समय बिल में ही काट देती हैं। इनका भोजन केचुयें, घोंघे, मेंढ़क व चूहे हैं। जनवरी तथा फरवरी के महीनों में ये अण्डे देती हैं। एक बार में 12 अण्डे तक देती हैं। इन अण्डों की खोल बहुत कड़ी होती है। लगभग एक वर्ष पश्चात् अण्डे से बच्चा निकलता है। इसका असाधारण लक्षण है उसकी "तीसरी आँख"! कुछ उरंगमों में तीसरी आँख सिर के बीच में मस्तिष्क के ऊपर पाई जाती थी। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि जब वे कोई चीज पकड़ते हैं, तब वे अपनी अँगुलियों को दो भाग में विभाजित करके पकड़ते हैं। टुआटोरा व कैमीलियन के अतिरिक्त कोई अन्य छिपकली अपना भोजन पंजों द्वारा पकड़ने में सक्षम नहीं है।

रंग बदलने वाली छिपकली (कैमीलियन): साधारण कैमीलियन उत्तरी अफ्रीका, सीरिया, एशिया माइनर, स्पेन, दक्षिणी भारत, लंका आदि देशों में पाई जाती हैं। इनकी विशेषता रंग बदलना है। यह परिस्थिति के अनुसार रंग बदल लेती है। अचानक आक्रमण के समय क्रोध व भय के समय यह अपना रंग बदलती है। प्रयोगों द्वारा यह निष्कर्ष निकला है कि कैमीलियन के शरीर पर हरा या हरा-नीला प्रकाश डालने पर इसका रंग परिवर्तित होने लगता है परन्तु लाल व पीले प्रकाश का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। बहुधा यह देखा गया कि भय, क्रोध या निद्रा की अवस्था में भी यह हरे रंग का हो जाता है। भूख या कमजोरी के कारण इसकी खाल पर काले धब्बे पड़ जाते हैं। मृत्यु के बाद भी इसका रंग हरा या काले धब्बों वाला हो जाता है। कैमीलियन बड़ी आलसी होती है, बहुत धीरे-धीरे चलती है। घंटों पेड़ की शाखा पर लटकी रहती है। ये बहुत लड़ाकू प्रवृति की होती हैं। लड़ते समय अपने फेफड़ों में हवा भर लेती हैं जिससे बड़ी भयानक लगती हैं। ये प्रायः 10 इंच लम्बी होती हैं। संसार की सबसे छोटी कैमेलियन जो कि 5 इंच की होती है, अफ्रीका में पाई जाती है। इसका रंग हरा व लाल धब्बों वाला होता है। कैमेलियन जाति में केवल यही बच्चे देती है, शेष सब अण्डे देती हैं। अक्टूबर मास में यह जमीन में गड्ढा खोद कर उसमें अण्डे देती है। इन अण्डों से बच्चे बसंत ऋतु में निकलते हैं। ये कीड़े-मकोड़े अत्यन्त चाव से खाती है। जल यह अत्याधिक मात्रा में ग्रहण करती है और जल के अभाव में शीघ्र ही मर जाती है। इसे पाला भी जा सकता है। यह पानी किसी पात्र से नहीं पी पाती। पानी को पत्ती के ऊपर से ओस की बूंद के रूप में ग्रहण करती है। इसीलिये उन पिंजड़ों में पानी का छिड़काव करना पड़ता है। जिसमें इन्हें पाला जाता है।

घरेलू छिपकलियां: यह गरम देशों की निवासी हैं। इनकी करीब 300 जातियां ज्ञात है। इन जातियों की विभिन्नता इनके पैरों की संरचना में अंतर होने के कारण होती है। इनका मुख्य वर्ग "गैको" है। किन्तु इस वर्ग की सभी छिपकलियां घरों में नहीं रहतीं। ये कीट पतंगों का शिकार करती हैं। घरेलू छिपकलियों की देह में एक प्रकार के नालदण्ड होते हैं, जिनकी मदद से ये चिकने धरातल पर भी आसानी से चिपक सकती हैं।

उड़ने वाली छिपकली : छिपकली का दूसरा बड़ा वंश "अगेमड़ी" है जिसमें लगभग 200 जातियां ज्ञात हैं। इनमें उड़ने वाली छिपकलियों का स्थान प्रथम है । इनकी लगभग 20 जातियां मद्रास, मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियो द्वीपों

उड़ने वाली छिपकली

में पाई जाती हैं। ये प्रायः 10 इंच लम्बी होती हैं और केवल पूँछ की ही लम्बाई 5 इंच होती है । इनकी पिछली 6-7 पसलियाँ धड़ के बाहर दोनों ओर खाल में निकली हुई रहती हैं। इन पसलियों के मध्य को झिल्ली फैलाने पर इनके लिये पैराशूट का काम करती हैं। ये बढ़ी हुई हड्डियां आगे व पीछे हिल-डुल सकती हैं। चमगादड़ तथा इन छिपकलियों की क्रिया में भेद है। जहाँ चमगादड़ों के पैर पंख में बदल गये हैं वहाँ उड़ाकू छिपकलियों में फैली हुई झिल्ली को साधकर पसलियाँ उन्हें उड़ने में सहायता प्रदान करती हैं। इनका रंग लगभग भूरा-काला होता है। इनके पंख गहरे नारंगी रंग के होते हैं जिनपर काले रंग की धारियां होती हैं। ये घने जंगलों में पाई जाती हैं। शत्रुओं से बचाव के लिये आसानी से रंग-बिरंगे पुष्पों के बीच में सहज ही छिप जाती हैं।

झालरदार छिपकलियां : "अगेमड़ी" वंश में दूसरा स्थान आस्ट्रेलिया की विचित्र झालरदार छिपकलियों का है, जिनका निवास स्थान आस्ट्रेलिया का उत्तरी भाग और क्वीन्सलैंड है। इस छिपकली की खाल अद्भुत होती है, किन्तु उड़ाकू छिपकली से विपरीत इसकी झिल्ली पसलियों के बजाय गर्दन और कण्ठ के चारों ओर बढ़ी हुई होती है। इसमें पसलियों के बदले उपास्थि (Cartilage) की छड़ें ही, जो कि विशेष मांस-पेशियों द्वारा खुलती व बन्द होती हैं, उक्त झिल्ली को फैलाने में सहायक होती हैं। इस विचित्र रचना का प्रयोजन उड़ने में सहायता देना नहीं है। यह एक पर्दे का काम करता है जिसमे पूरा शरीर ढका रहता है। झालर का रंग पीला-लाल धब्बेदार होता है, जो कि शरीर के (3 फिट लम्बे) सौंदर्य को और बढ़ा देता है। इन छिपकलियों द्वारा किसी को कोई हानि नहीं पहुँचती। इसका मुख्य भोजन चीटियाँ हैं।

नई दुनियां की अनोखी छिपकलियां : पुरानी दुनिया की "आगेमड़ी" वंश की छिपकलियों का स्थान नई दुनियाँ में "इग्वैनडी" वंश की छिपकलियों ने ले लिया है। इस वंश के दो वर्ग पुरानी दुनिया (अफ्रीका के निकट मेडागास्कर द्वीप) में अब भी पाये जाते हैं। इस वंश की कुछ छिपकलियां रंगीन व रंग बदलने वाली होती हैं। कीट-पतंगों को पकड़ते समय इनकी फुर्ती देखने लायक होती है। "बैसलिस्क" नामक प्रसिद्ध छिपकली भी इसी वर्ग की सदस्या है। इसकी विशेषता इसके शरीर पर जगह-जगह नुकीले शंकु के आकार के उभार हैं। यह देखने में अत्यंत डरावनी लगती है परन्तु इसका स्वभाव उग्र नहीं है। ये बड़ी ही सीधी-सादी, शाकाहारी तथा वृक्षों पर निवास करने वाली होती हैं और पानी में आसानी से तैर सकती है।

इसी "इग्वैडी" वंश की अन्य उल्लेखनीय सदस्य के नाक के ऊपर दो छेद होते हैं। यह केलीफोर्निया में पाई जाती है। यह केवल कीट-पतंगों का भक्षण करती हैं। इन छिपकलियों की एक आश्चर्यजनक बात यह प्रसिद्ध है कि जब ये किसी शत्रु पर आक्रमण करती हैं तब इनकी आँखों के कोनों से कई फिट आगे रुधिर जैसे लाल रंग की धारा निकलती है।

विषैली छिपकलियां

विषैली छिपकलियों की एक जाति मध्य मेक्सिको से लेकर मध्य अमेरिका तथा दूसरी जाति न्यूमेक्सिको से लेकर एरिजोना तक मिलती है। प्रथम जाति की छिपकलियों का शरीर सुगठित तथा पूंछ छोटी व मोटी होती है। दोनों जाति की छिपकलियों के शरीर पर हल्के नारंगी और काले रंग के धब्बे पाये जाते हैं। ये सुस्त व कुरूप होती
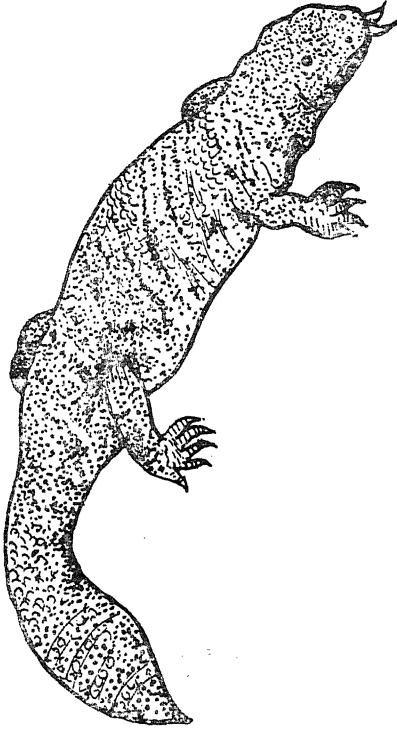
गिला मांस्टर

हैं। यह दो फुट लम्बी होती हैं। इनमें विषैली ग्रन्थियाँ नीचे के जबड़ों में उपस्थित रहती हैं। इनके विष से छोटे जीव-जन्तु शीघ्र मर जाते हैं। इनके शरीर पर माला के-से छोटे-छोटे दाने उभरे होते हैं। इन्हें "गिला मांस्टर" या "मालाकार छिपकलियां" कहते हैं।

बिना पैर वाली छिपकलियां

ये विचित्र छिपकलियाँ सर्प जैसी दिखती हैं। आस्ट्रेलिया तथा न्यूगिनी की छिलकेदार पैर वाली छिपकलियों में अगली टांगें बिल्कुल ही लुप्त रहती हैं, परन्तु पिछली टांगें बहुत छोटी होती हैं। ये किसी कार्य योग्य नहीं होतीं। दक्षिणी अफ्रीका की कँटीली और घेरदार दुमवाली छिपकलियों में भी एक ऐसी ही जाति पाई जाती है, जिसकी अगली टांगें नहीं होतीं। ये बीस-बाइस इंच तक लम्बी होती हैं। गलती से बहुधा लोग इन्हें सर्प समझ लेते हैं। इनकी दो-तिहाई दुम प्रायः टूटती रहती है।

बिना पैर वाली छिपकलियों में सबसे प्रसिद्ध "ऐन्ग्यूडी" वंश की वे छिपकलियां हैं, जो साधारणतः "अन्धेकीट" या "आलसी कीट" के नाम से पुकारी जाती हैं। परन्तु न यह आलसी होती हैं और न ही अन्धी। ये सर्प के समान फुर्तीली होती हैं। इनके चारों पैर पूर्णतया लुप्त होते हैं। इन लुप्त पैरों का कोई अवशेष भी नहीं दिखलाई पड़ता। ये सर्पों के समान केंचुली भी उतारती हैं। इनका आकार गोल व लम्बा होता है। बहुत लोग इन्हें सर्प समझ लेते हैं। परन्तु ये सर्प से बिल्कुल भिन्न हैं क्योंकि इनके कानों के बाहरी छेद और चलती हुई पलकें होती हैं।

कॉच-सर्प

एक और साँप जैसी छिपकली पाई जाती हैं। ये दक्षिणी-पूर्वी यूरोप, दक्षिणी-पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और अमेरिका के अतिरिक्त उत्तरी पूर्वी भारत व वर्मा में पाई जाती हैं। इनका शरीर चार फीट लम्बा और काँच के समान चिकना होता है। सारा शरीर पीले-भूरे रंग के चौकोर शल्कों से ढका रहता है। इसमें अगले पैर लुप्त होते हैं और पिछले पैर छोटे और नुकीले होते हैं। यह चूहों-छछूदरों, कीड़े-मकोड़ों को खाती है। यह अपनी पूँछ का त्याग करने में भी समर्थ होती है।

वृहदाकार छिपकलियाँ

कुछ छिपकलियां बहुत बड़ी होती हैं। ऐसी बड़ी छिपकलियों की करीब 30 जातियाँ भारतवर्ष, अफ्रीका, मलाया, और आस्ट्रेलिया में पाई जाती हैं। हमारे देश में इन्हें "गोह" व "बिसखोपड़ा" के नाम से पुकारते हैं। आस्ट्रेलिया में पाई जाने वाली बृहदाकार छिपकली की एक

(शेष पृष्ठ 27 पर)

तापवैद्युत जनित्र एवं उष्मा-पम्प

● डा० चन्द्र मोहन भंडारी
भौतिकी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

ऊर्जा के गैर पारम्परिक स्रोतों के विषय में व्यापक चर्चायें पिछले दो दशकों में काफी जोर पकड़ चुकी हैं। सौर ऊर्जा को उपयोग में लाने के प्रयत्न—सौर भट्टी के रूप में या सौर सेल के रूप में—एक चिरस्थायी ऊर्जा स्रोत के विकास की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास हैं। एक अपेक्षाकृत कम चर्चित और कम दक्षतायुक्त—पर कुछ विशेष परिस्थितियों में अत्यन्त उपयोगी, तापवैद्युत प्रभाव पर आधारित तापवैद्युत जनित्र अपनी अलग विशेषता रखते हैं। पारम्परिक जनित्रों की तुलना में इनकी दक्षता बहुत कम (लगभग 6-8 प्रतिशत) है परन्तु फिर भी निम्नलिखित विशेषताओं के कारण परिस्थिति विशेष में अत्यन्त उपयोगी हैं।

(1) किसी गतिशील भाग की अनुपस्थिति,

(2) छोटा आकार,

(3) बिना किसी देखभाल के लम्बे समय तक कार्य करते रहने की क्षमता।

एक सीमित सन्दर्भ में इनकी उपयोगिता पिछले दो दशकों में सिद्ध हो चुकी है, अनेक तापवैद्युत जनित्र अमेरिकी अन्तरिक्षयानों में प्रयोग किये गये हैं। सूर्य के निकटवर्ती ग्रहों के अध्ययन के लिये भेजे गये 'मिशनों' में प्रयुक्त यानों में एक विशेष प्रकार के सौर तापवैद्युत जनित्र (Solar Thermoelectric Generators या STG) प्रयुक्त हुये हैं। दूसरी ओर **पैल्टियर प्रभाव** पर आधारित उष्मा-पम्प या प्रशीतक अपेक्षाकृत अधिक सफलतापूर्वक प्रयोग किये जाने लगे हैं यद्यपि इनका दैनिक जीवन में व्यापक प्रयोग करने की स्थिति अभी नहीं आ सकी है।

सीबेक प्रभाव

सन् 1811 में सीबेक ने एक प्रभाव की खोज की जिसे उसके नाम के आधार पर सीबेक-प्रभाव कहा जाता है। दो विभिन्न धातुओं के बने तारों के सिरों को जोड़कर यदि दोनों जोड़ों को विभिन्न तापों पर रखा जाय तो परिपथ में एक विद्युत-धारा प्रवाहित होने लगती है। परिपथ में लगे एक प्रतिरोध के सिरों के बीच उत्पन्न वोल्टेज को नापने पर देखा गया कि यह वोल्टेज दोनों जोड़ों के मध्य तापांतर के समानुपाती है (यदि तापांतर अधिक न हो)

$$E = \alpha \, \Delta T$$

गुणांक α को सीबेक-गुणांक कहते हैं और यह पदार्थ की प्रकृति पर निर्भर करता है। धातुओं के बने तापयुग्मों में α का मान बहुत कम होता है। साधारणतया धातुओं के लिये माइक्रोवोल्ट प्रति डि० से० से काफी नीचे रहता है।

यद्यपि तापवैद्युत प्रभाव की खोज 150 वर्ष से भी अधिक पहले हो चुकी थी फिर भी इतने बड़े अन्तराल में इसका अधिक प्रभावकारी अनुप्रयोग न किया जा सका। इसका सबसे अधिक उपयोग ताप मापन में किया गया है। विकिरण ऊर्जा के मापन में विशेष रूप से इसका व्यापक प्रभाव होता रहा है। पिछले तीन दशकों में इस दिशा में

अनेक भौतिकविदों का ध्यान आकर्षित हुआ और अनेक प्रयोगशालाओं में इसके विभिन्न पहलुओं पर कार्य होने लगा। ऊर्जा-संकट के कारण जब अन्य ऊर्जा स्रोतों का अध्ययन किया जाने लगा तब अपनी सीमाओं में तापवैद्युत प्रभाव का उपयोग भी अछूता न रह सका।

जैसा कि कहा जा चुका है धातुओं के लिये सीबेक-गुणांक का मान काफी कम होने के कारण इस प्रभाव का उपयोग विद्युत उत्पादन में करना सम्भव न हो सका। परन्तु पिछले तीन दशकों में तापवैद्युत प्रभाव का विस्तृत अध्ययन अनेक अर्द्धचालक पदार्थों पर किया गया और कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हुए। जैसा कि हम अगले परिच्छेदों में वर्णन करेंगे। सीबेक-गुणांक के अतिरिक्त विद्युतचालकता गुणांक व उष्मा चालकता गुणांक का अनुपात (σ/k) भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण राशि हैं और एक दक्ष तापवैद्युत जनित्र में सीबेक-गुणांक के साथ-साथ इस अनुपात का भी अधिक होना आवश्यक है। अर्द्धचालकों में σ/k का मान धातुओं की अपेक्षा कम होते हुए भी $\propto$ का मान अधिक (मिली बोल्ट कोटि का) होने के कारण इनकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है और तापवैद्युत जनित्र की कल्पना को साकार रूप दिया जाना सम्भव हो सकता है।

दो अर्द्धचालकों a तथा b से निर्मित एक तापयुग्म (चित्र 1) में दोनों सिरों के मध्य तापांतर रखने पर लोड
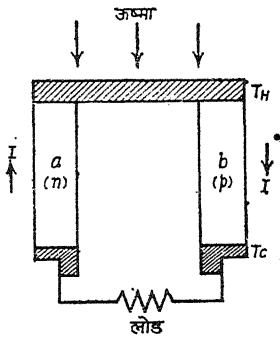
(Load) के सिरों के बीच एक विभवान्तर उत्पन्न होगा जो तापान्तर पर तथा पदार्थों के सीबेक-गुणांकों एवं कुछ अन्य भौतिक राशियों पर निर्भर करेगा। उत्पन्न विद्युत-ऊर्जा का गर्म सिरे पर प्राप्त ऊष्मा से अनुपात इस ताप-वैद्युत जनित्र की दक्षता को परिभाषित करता है और एक सरल गणितीय विश्लेषण से यह दर्शाया जा सकता है कि जनित्र की दक्षता (सर्वोत्तम ज्यामितीय रचना के लिये) पदार्थ के तापवैद्युत योग्यता-अंक Z पर निर्भर करेगा जहाँ

$$Z=\frac{(\propto_a-\propto_b)^2}{\left[\left(\frac{k_a}{\sigma_a}\right)^{1/2}+\left(\frac{k_b}{\sigma_b}\right)^{1/2}\right]^2}$$

यदि a और b एक ही पदार्थ के n- व p- अवयव हो तब

$$Z=\frac{\propto^2\sigma}{k}$$

यहाँ n— व p—अवयवों के लिये σ तथा k के मान समान लिये गये हैं। सीबेक-गुणांक के मान भी समान लिये हैं। केवल उनमें चिन्हों का अन्तर है।

तापवैद्युत जनित्र या प्रशीतक में प्रयुक्त पदार्थों के चुनाव में निश्चय ही इस बात का महत्व होगा कि ताप विशेष पर Z का मान अधिक से अधिक हो। यह बात सरलता से समझी जा सकती है कि एक अच्छे तापवैद्युत पदार्थ में निम्नलिखित गुण होने चाहिये :

(1) अधिक सीबेक-गुणांक—ताकि एक निश्चित तापांतर के लिये अधिक वोल्टेज प्राप्त हो सके।

(2) अधिक विद्युत चालकता—ताकि जूल उष्मन को कम किया जा सके।

(3) कम उष्मा-चालकता—ताकि कम से कम उष्मा का चालन द्वारा हो और अधिक से अधिक भाग तापवैद्युत रूपान्तर के लिए प्राप्त हो सके।

धातुओं में σ, $\propto$ तथा k के मान पदार्थ के उच्च इलेक्ट्रॉन संख्या-घनत्व से ही निर्धारित हो जाते हैं और इसे साधारणतया अधिक परिवर्तित नहीं किया जा सकता, परन्तु अर्द्धचालकों में डोपन (doping) द्वारा इलेक्ट्रॉन

(या होल) के संख्या-घनत्वों को काफी सीमा तक इच्छानुसार बदला जा सकता है।

इलेक्ट्रॉन संख्या-घनत्व बढ़ने से σ का मान तेजी से बढ़ता है पर सीवेक-गुणांक का मान कम होता जाता है। एक विशेष परिसर में $\alpha^2\sigma$ का एक उच्चतम मान प्राप्त होता है (चित्र 2)।
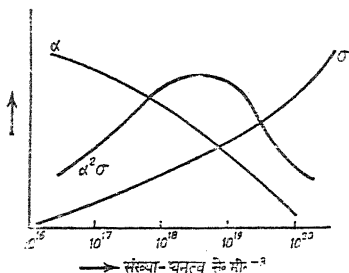
चित्र 2

सीवेक-गुणांक, विद्युत-चालकता गुणांक तथा $\alpha^2\sigma$ का इलेक्ट्रोन (होल) संख्या घनत्व के साथ परिवर्तन।

कैस्केड जनित्र

अनेक तापवैद्युत युग्मों को इस प्रकार जोड़ा जा सकता है कि एक का गर्म सिरा दूसरे के ठंडे सिरे के सम्पर्क में ये और दूसरे का गर्म सिरा तीसरे के ठंडे सिरे के सम्पर्क में। इस तरह प्राप्त कैस्केड जनित्र की दक्षता एक एकपदीय जनित्र (Single stage generator) से अधिक होगी।

पदार्थों का चुनाव

विभिन्न ताप परिसरों के लिये विभिन्न अर्द्धचालक प्रयुक्त किये जाते हैं। अधिक ऊर्जा-अन्तराल तथा कम उष्मा चालकता एक अच्छे पदार्थ के लिए आवश्यक है यदि ताप-युग्म को उच्च तापों पर प्रयुक्त किया जाना हो। ऊर्जा अन्तराल कम होने पर अन्तः चालन (Intrinsic Conduction) प्रारम्भ हो जाता है जिससे दक्षता का ह्रास होता है। दूसरी ओर अधिक तापान्तर से अधिक दक्षता प्राप्त हो सकती है। ठंडे सिरे को कमरे के ताप पर रखकर दूसरे सिरे को उच्च ताप पर रखकर अधिक विद्युत-ऊर्जा प्राप्त हो सकती है पर एक पदीय जनित्र में ऐसा करना उचित नहीं है। एक ऐसे बहुपदीय जनित्र की रचना जिसमें निम्न ताप परिसर में Bi_2-Te_3, उच्च ताप परिसर (1000 k के ऊपर) में $Si-Ge$ मिश्र-धातु तथा मध्यवर्ती ताप-परिसर (700—1000 k) में III-V यौगिक प्रयुक्त होते हों काफी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। किसी ताप परिसर विशेष में प्रयुक्त पदार्थ के लिये Z का मान उस ताप परिसर में अधिक होना चाहिये। $Bi_2\,Te_3$ तथा इस परिवार के अन्य सदस्य ($Bi_2\,Se_3$, $Sb_2\,Te_3$ आदि) सामान्य तापों (300°C से नीचे) पर सर्वश्रेष्ठ पदार्थों में गिने जाते हैं पर 300-400°C से ऊपर के तापों के लिए ये उपयोगी नहीं हैं क्योंकि ऊर्जा-अन्तराल कम होने के कारण अन्तः चालन होने लगता है। *GaAs*, *In Sb* तथा अन्य III-V अर्द्धचालक 700-1000 k के ताप परिसर में उपयोगी हैं। 1000°K ऊपर साधारणतया इनकी उपयोगिता कम हो जाती है जहाँ कुछ विशेष सैलिनाइड यौगिक तथा *Si-Ge* मिश्रधातु ही प्रयोग किये जा सकते हैं।

हाल ही में कुछ प्रयोगशालाओं में एकल क्रिस्टलीय पदार्थ के स्थान पर चूर्ण को उच्च दाबों तथा तापों पर दबाकर बनाये गये सिन्टरित पदार्थों का अध्ययन किया जा रहा है। यह सिन्टरित पदार्थ एकल क्रिस्टलीय पदार्थ से काफी सस्ता होता है। साथ ही छोटे कणों (0.1 माइक्रोन या इससे बड़े) के होने से उष्मा-चालकता कम हो जाती है जिससे योग्यता अंक में कुछ सुधार की संभावना है यदि ऐसा न भी हो सके तो इनके कम खर्चीले होने के कारण भविष्य में इनके व्यापक उपयोग की सम्भावना है।

अमेरिकी अन्तरिक्ष कार्यक्रम में अनेक कृत्रिम उपग्रहों में तथा अन्तरिक्षयानों में तापवैद्युत जनित्रों का प्रयोग होता रहा है। उष्मा-स्रोत के लिये रेडियो आइसोटोप प्रयोग किये जाते हैं जो दीर्घ काल तक उष्मा दे सकते हैं, इसके अतिरिक्त सूर्य से प्राप्त उष्मा का भी प्रयोग किया जा सकता है विशेषकर उन यानों में जो सूर्य के निकटवर्ती ग्रहों (बुध या शुक्र) के अध्ययन के लिये भेजे गये हैं। पहले

प्रकार के जनित्र RTG (Radioisotopic Thermo-electric Generator) तथा दूसरे प्रकार के जनित्र STG (Solar Thermo electric Generator) कहलाते हैं।

इन जनित्रों का उपयोग विशेष परिस्थितियों में अत्यन्त उपयोगी हो सकता है। अन्तरिक्षयानों में दीर्घकाल तक बिना देखभाल के कार्य कर सकने की क्षमता इनकी दक्षता के कम होते हुए भी इनको महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है। उन उपकरणों ने जहाँ ऊर्जा की आवश्यकता परिमाण में कम हो तथा उष्मा निरन्तर प्राप्त की जा सके वहाँ ऊर्जा की प्राप्ति तापवैद्युत जनित्रों से हो सकती है। दीर्घ अवधि (लगभग 20 वर्ष) तक कार्य करते रहने पर इनकी दक्षता में कई कारणों से कमी होने लगती है जिनमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं :

(1) रेडियो आइसोटोप (साधारणतया Pu 238) के क्षय के कारण ऊष्मा धारण शक्ति में कमी।

(2) फॉस्फोरस, बोरोन आदि डोपैन्टों (dopants) के समय के साथ अवक्षेपण होने के कारण विद्युत गुणों में परिवर्तन के कारण।

पिछले दशक में इनका विस्तृत अध्ययन किया गया है और उसके आधार पर जनित्रों के दीर्घकालीन व्यवहार का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

दक्षता और जनित्र का आकार

किसी भी स्थिति विशेष में प्रयुक्त जनित्र का चुनाव उसकी दक्षता के आधार पर होना चाहिये। कई स्थितियों में दक्षता ही सबसे महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाती। किसी जनित्र का चुनाव विशेषकर अन्तरिक्षयानों में प्रयोग के लिये—इस दृष्टि से भी होना चाहिये कि उसका आकार बहुत बड़ा न हो और भार भी कम से कम हो। एक अपेक्षाकृत अधिक दक्षतायुक्त जनित्र जिसका भार काफी अधिक हो अन्तरिक्षयानों के लिये उतना लाभदायक नहीं है जितना एक कम दक्षतायुक्त कम भार वाला जनित्र। अतः दक्षता के साथ-साथ इन पहलुओं पर भी विचार कर एक चुनाव की व्यावहारिक नीति—जो सभी बातों को ध्यान में ले सके—आवश्यक है।

पैल्टियर-प्रभाव और तापवैद्युत प्रशीतक या उष्मा-पम्प

सीबेक के लगभग 10 वर्ष बाद पैल्टियर ने एक और भौतिकीय प्रभाव की खोज की जिसे उसके नाम के आधार पर पैल्टियर प्रभाव कहा जाता है। किसी ताप युग्म में होकर यदि विद्युत धारा प्रवाहित की जाय तो युग्म का एक सिरा गर्म हो जाता है और दूसरा सिरा ठंडा। कौन सिरा गर्म होगा या ठंडा, यह धारा की दिशा पर निर्भर करेगा। प्रयोगों द्वारा यह देखा गया कि उष्मा-उत्पादन (गर्म सिरे पर) H प्रवाहित होने वाली धारा I के समानुपाती होती है।

$$H = \pi I$$

π को पैल्टियर-गुणांक कहते हैं और यह सीबेक-गुणांक से निम्न समीकरण द्वारा सम्बन्धित है।

$$\pi = \propto T$$

इस प्रभाव का उपयोग प्रशीतन में किया जा सकता है। अनक प्रकार के तापवैद्युत प्रशीतक पिछले दो दशकों मे विकसित किये गये हैं। 1954 में गोल्डस्मिड और उनके सहयोगियों ने Bi और $Bi_2 Te_3$ से निर्मित प्रशीतक की और दो सिरों के मध्य 26°C का तापांतर प्राप्त किया। तब से इस दिशा में काफी प्रगति हो चुकी है और अपनी अनेक विशेषताओं के कारण यह छोटे उपकरणों को ठंडा करने के लिये प्रयुक्त होने भी लगा है। इसके अतिरिक्त अन्तरिक्षयानों, वायुयानों, पनडुब्बियों आदि में इसके उपयोग की बहुत सम्भावनायें हैं जहाँ कि विश्वसनीयता अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। एक पदीय उष्मा पम्प द्वारा 40°C तक निम्न ताप प्राप्त किये जा सकते हैं। इसके नीचे के तापों को प्राप्त करने के लिये बहुपदीय उष्मा-पम्प (Multistage Head pump) का प्रयोग आवश्यक है।

तापवैद्युत जनित्रों और उष्मा-पम्पों की दक्षता बढ़ाने की दिशा में हो रहे कार्य का एक बड़ा भाग पदार्थों के योग्यता-गुणांक Z बढ़ाने से सम्बन्धित है। कुछ वैज्ञानिक

यह सोचते हैं कि भविष्य में ऐसी स्थिति आ सकती है जब इच्छा तथा आवश्यकता के अनुसार पदार्थों का विकास किया जा सकेगा। यह पूरी तरह शायद न हो परन्तु इतना तो निश्चित है कि आने वाले समय में Z तथा साथ ही दक्षता के वर्तमान मानों में काफी वृद्धि की जा सकेगी और तब ये उपकरण दैनिक जीवन की कुछ विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेंगे।

यद्यपि किसी तापवैद्युत जनित्र के लिये सबसे महत्वपूर्ण अवयव तापयुग्म है फिर भी कुछ अन्य तथ्य भी उसके उपयोग में आवश्यक हैं। एक ऊर्जा स्रोत जो दीर्घकाल तक आवश्यक ऊर्जा देता रहे और एक विकीरक (radiator) जो निरन्तर प्रभावी ढंग से निम्न ताप वाले सिरे से विकिरण द्वारा उष्मा का ह्रास करा सकने में सक्षम हो यह अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यदि निम्न ताप वाले सिरे से उष्मा ह्रास की दर कम हो जाय तब उसका ताप बढ़ने लगेगा और दो जोड़ों के मध्य तापान्तर कम होने लगेगा। विभिन्न स्थितियों में विभिन्न संरचना ली जानी आवश्यक है। उदाहरण के लिए एक RTG के लिये चित्र (3) में दिखाई रचना प्रयुक्त हो सकती है। गर्म व ठंडी प्लेटों को
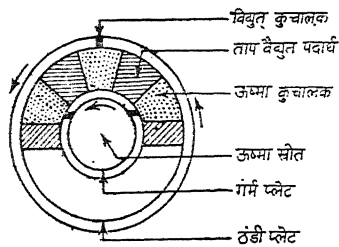
चित्र 3

धातु की बनी बेलनाकार या गोलीय आकृति में लिया जा सकता है। केन्द्रीय भाग में रेडियोएक्टिव पदार्थ उष्मा-स्रोत का कार्य करता है, दोनों प्लेटों के मध्य n-व p-प्रकार के ताप वैद्युत पदार्थ एक क्रम में लगे रहते हैं। धात्विक प्लेटों को विद्युत कुचालक पदार्थ द्वारा विभिन्न पट्टियों में विकसित कर देते हैं ताकि दो युग्म परस्पर वैद्युत सम्पर्क में न आ पायें।

परन्तु STG के लिये इस प्रकार की गोलीय प्लेटें अनुपयुक्त होंगी। जनित्र के गर्म सिरे को एक समतल प्लेट के रूप में लेना होगा ताकि सूर्य से प्राप्त विकिरण उस पर अधिक मात्रा में आयतित हो सकें।

एक बहुपदीय प्रशीतक का रेखाचित्र चित्र 4 में दिखाया गया है। प्रशीतन में तापवैद्युत प्रभाव का उपयोग अधिक सफलतापूर्वक किया जा सका है जबकि तापवैद्युत जनित्रों का विकास और उपयोग अभी सीमित स्थितियों में ही सम्भव हो पाया है। सब मिलाकर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आगामी दशकों में इस दिशा में विकास की बहुत सम्भावनायें हैं और दक्षता कम होते हुए भी ऊपरी कई विशिष्टताओं के कारण तापवैद्युत जनित्रों एवं प्रशीतकों का उपयोग लाभकारी सिद्ध होगा।
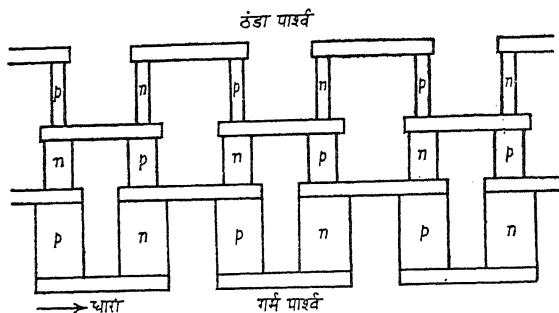
चित्र 4. एक त्रिपदीय थर्मोपाइल

आयुर्वेदिक औषधियां : नवीनीकरण की बीमारियां

● यशवन्त कोठारी
प्राध्यापक (रसायन विज्ञान)
राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर

आयुर्वेद का जिक्र आते ही काढ़ा, चूर्ण, खरल या बड़ी-बड़ी पुड़ियों का चित्र आपके सामने उभर आता है लेकिन नहीं अब आपको पेटेन्ट विलायती दवाओं की तरह चाँदी के पत्ते में चिशून की टेबलेट्स और सुन्दर प्लास्टिक की शीशी में लिव 52 मिल सकती है, यह तरीका आयुर्वेदिक दवाओं को सुलभ और लोकप्रिय बना रहा है। चिशून, लिवोमिन, फेमिप्लेक्स, हरबोलेक्स, वेदना निग्रहरस, मेनाल माल्ट, क्रिमनिल, लिव-52, टेन्टेक्स फोर्ट, गेलेक्स, लसोना, ल्यूकोल, लूनारक्स आदि औषधियों में से अधिकांश शास्त्रीय विधियों से न बना करके संस्थानों द्वारा नवीन खोजों के आधार पर तैयार की जाती हैं, साथ ही औषधियों को रुचिकर, कम समय में प्रयुक्त हो सकें, मात्रा कम हो, स्वाद अच्छा हो, आदि बातों का ध्यान रखने के लिये इन्हें केपसूल, टेबलेट, सीरप या कणों के रूप में नवीन, आकर्षक नाम देकर बेचा जाता है। आइये, यह जानने की कोशिश करें कि इन औषधियों के इस रूप परिवर्तन से रोगियों को क्या मिला है ?

महर्षि चरक ने सूत्र स्थान के पहले अध्याय में कहा है—

तदैव युक्तं मेषज्यं, यदा रोग्याय कल्पते।

स एवं भिषजां श्रेष्ठा, रोगेभ्योय: प्रमोचयेतु ॥ 134 ॥

औषध वही अच्छा है जो स्वास्थ अच्छा करे तथा वैद्यों में उत्तम वही वैद्य है जो रोगों से मुक्ति दिलावे। दूसरी ओर "ड्रग" की परिभाषा देते हुए बताया गया है, यह वह रासायनिक पदार्थ है जो जीवित जीव द्रव्य को प्रभावित कर, रोग के निदान, इलाज, तथा रोग से दूर रहने में प्रयुक्त किया जा सके।"

बहरहाल सामान्य रोगी के लिये चरक के अनुसार दवा वही श्रेष्ठ है जो रोग से उसे मुक्ति दिलावे।

रोग से मुक्ति हेतु पुराने समय में काम मे आने वाली ज्यादातर औषधियाँ पेड़-पौधों से प्राप्त की जाती थीं। जड़ी-बूटियों का ज्ञान प्रत्येक वैद्य को ही नहीं घर के बड़े-बूढ़ों को भी रहता था। वैद्य व उसके सहायक स्वयं बनों से औषधियां लाते थे और रोगों का इलाज करते थे।

लेकिन नागार्जुन ने आयुर्वेदिक रस शास्त्र की नींव डाली जिसमें जड़ी-बूटियों के अलावा धातुओं तथा जीवों और पृथ्वी पर उपलब्ध अन्य औषधियों को भी शामिल किया गया।

लोहा, पारा, गन्धक आदि से बनो आयुर्वेदिक औषधियाँ अत्यन्त लोकप्रिय होने लगीं।

रस चिकित्सा के प्रचलन के सम्बन्ध में नागार्जुन का मत था कि ये औषधियां सभी प्रकार के रोगों पर विजय पाने वाली, पुरुषार्थ देने वाली, बालक, वृद्ध एवं तरुण सभी को अनुकूल लम्बे समय तक गुणकारी, मात्रा में कम, शिशुओं को भी देने में सुलभ एवं जड़ी-बूटियों की अपेक्षा सस्ती हैं। ये रस औषधियां असाध्य रोगों में भी कार्य करती हैं।

धीरे-धीरे इन औषधियों के प्रयोग का आधार रोगों के लक्षण होने लग गये। उस काल में औषधियों को प्रयुक्त

करने के लिए उनका रस निकाल कर कई बार औषधियों का काढ़ा, ठण्डा काढ़ा आदि बना कर देते थे। इसके अलावा सूखी हुई दवाओं का भी प्रयोग होता था। दवाएँ चूर्ण, गोली, चटनी, आसव, घी, तेल, क्षार, क्षारसूत्र तथा भस्मों के रूप में दी जाती थीं।

लेकिन समय के साथ-साथ ज्ञान समाप्त होने लगा और आयुर्वेद विज्ञान में विवादास्पद औषधियों, जड़ी-बूटियों का बाहुल्य होने लगा।

एक ही दवा के अलग-अलग नाम तथा अलग-अलग जड़ी-बूटियों के एक ही नाम वैज्ञानिक समाज को भ्रमित तो करते ही हैं साथ ही इस विज्ञान के प्रति आस्था और श्रद्धा भी कम करते हैं।

अतः इन आयुर्वेदिक औषधियों के प्रमाणीकरण तथा मानकीकरण की ओर ध्यान दिया जाना अधिक उपयुक्त होगा। दवाओं के मानकीकरण के सम्बन्ध में अलग-अलग स्थानों के विशेषज्ञों से जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया।

राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला पूना के डा० डी० डी० नैनावटी लम्बे समय से आयुर्वेदिक जड़ी-बूटियों पर कार्य कर रहे हैं। शरपुंखा (घमासा) पर उनका कार्य उल्लेखनीय रहा है। उसके अनुसार आजकल बाजार में जो औषधियां आ रही हैं, उनके मानकीकरण की व्यवस्था अलग से करनी होगी। औषध-नियन्त्रक तथा राज्य सरकारों को कुछ करना चाहिए, इनके लिए पृथक से औषध अधिनियम विस्तार से बनने चाहिये।

जब मैंने आयुर्वेदिक औषधियों के साथ जुड़ रहे पाश्चात्य ग्लेमर की चर्चा की तो वे कहने लगे "इट इज पाम्प एण्ड शो, वे दवाइयों को बेकार में मँहगी बना रहे हैं।"

इसी सम्बन्ध में आयुर्वेद विश्वविद्यालय जामनगर में भी कार्य हो रहा है। वे अलग-अलग औषधियों के रासायनिक, भौतिक भेषजिकीय तथा वानस्पतिक गुणों का अध्ययन कर रहे हैं। तदुपरान्त वे औषधियों के स्तरीकरण तथा मानकीकरण हेतु निश्चित पैरामीटर बना रहे हैं।

एक प्रसिद्ध औषध निर्माण संस्थान से बताया गया कि

1. उत्तम घटकों का चयन कर निर्माण करते हैं।
2. समय के अनुसार आसानी से रुचिकर आकार में लेने लायक दवाओं को बनाया जाता है।
3. सीरप, कैपसूल व छोटी गोलियों के रूप में दवा बनाने से इनको बनाते समय हाथ से नहीं छूना पड़ता और शुद्धता बनी रहती है। रोगी को लेने में कोई परेशानी नहीं होती तथा उत्तम और आकर्षक स्वरूप होने के कारण पसन्द की जाती हैं।

इसी सन्दर्भ में आधुनिक युग में समय की कमी, स्वाद, मात्रा का कम होना आदि ऐसे कारण हैं जिससे औषधियों को नवीन रूप दिया जाता है। न तो रोगी और न ही वैद्य वनों में जाकर औषधियां ला सकता है तथा बाजार में उपलब्ध कच्ची औषधियों की शुद्धता में सन्देह होता है, न ही कोई रोगी घर पर 2 घन्टे सुबह शाम काढ़ा उबाल कर पीने को ही तैयार मिलता है।

अतः औषधियों को नवीन रूप दिया जा रहा है लेकिन इस नवीनीकरण के नुकसान भी हैं, उदाहरणार्थ अधिकांश औषधियां अगर मौलिक रूप में दी जाती हैं तो वे जबान पर रखते ही अपना प्रभाव दिखाने लग जाती हैं जब कि कैपसूल, टेबलेट या सीरप अपना प्रभाव पेट में पहुँचने के बाद ही दिखा सकते हैं। इसी प्रकार गरम काढ़े का प्रयोग गले को राहत पहुँचाता है लेकिन क्वाथ कणों से यह प्रभाव कम हो जाता है।

अक्सर यह कहा जाता है कि आयुर्वेद औषधियां बहुत धीरे-धीरे असर करती हैं। इनके अन्य खतरनाक प्रभाव नहीं हैं अतः इन्हें धीरे-धीरे पसन्द किया जा रहा है, साथ ही तीव्र प्रभाव वाली आयुर्वेदिक औषधियां भी हैं जो कम प्रयुक्त होती हैं। आयुर्वेद में पौधा या उसके किसी भाग का

उपयोग औषधि के रूप में किया जाता है, जबकि पाश्चात्य चिकित्सा में रासायनिक संगटन में से औषधि के 'ऐक्टिव प्रिन्सिपल' (क्रियाशील घटक) की शोध कर उसका उपयोग किया जाता है।

अतः इन औषधियों के परीक्षण तथा मानकीकरण की विधियां पाश्चात्य दवाइयों के परीक्षण विधियों से सर्वथा अलग होंगी। इसी कारण नवीन परीक्षण विधियों की खोज आवश्यक है। नवीन रूपों में प्रयुक्त औषधियां डाक्टरों द्वारा अधिक पसन्द की जाती हैं, कम्पनी की बिक्री बढ़ती है, इस कारण भी दवाइयां नवीन रूप में दी जाती हैं।

भारतीय चिकित्सा पद्धति एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसन्धान परिषद् की स्थापना के पश्चात् प्रत्येक राज्य में प्राप्त औषधियों के प्रमाणीकरण तथा मानकीकरण हेतु पृथक से इकाइयों की स्थापना की जानी चाहिये।

इसी प्रकार प्रत्येक औषधि को बाजार में भेजने से पूर्व उसके रूप आदि पर सन्तोषजनक शोध अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा दवा नुकसानदेह साबित हो सकती है।

वनोषधियों के लिए प्रत्येक राज्य में औषध खेत (हरबल फार्म्स) व औषध रोपणी (हरबल नरसरी) बनायी जानी चाहिये।

कम मिलने वाली औषधियों के बीज तथा नवपादप उपलब्ध कराये जाने चाहिये। कच्ची औषधियों के भण्डार राजकीय स्तर पर रखे जाने चाहिए। नवीनरूप में औषधियों के प्रयुक्त होने के साथ इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि औषधि आयुर्वेदिक ही रहे, उनके 'ऐक्टिव प्रिन्सिपल' निकाल कर औषध बनाने से औषध का स्वरूप बिगड़ जाने के साथ-साथ औषध के खतरनाक प्रभाव बढ़ जाते हैं।

वर्तमान में औषधियों के पेटेन्ट कराने के क्षेत्र में होड़ मची हुई है। रोगों को दूर करने की दृष्टि से पेटेन्ट दवाइयां ज्यादा लाभकारी साबित नहीं हुई हैं। हाँ औषधियों को घर में रखने में आसानी होती है तथा दवा को खाने में आसानी होती है।

अतः औषधियों के पेटेन्टीकरण से पूर्व औषध की सम्पूर्णरूप से जाँच होना आवश्यक है।

आशा है कि केन्द्रीय सरकार व चिकित्सा परिषद् इन सुझावों पर ध्यान देगी तथा जन-मानस को सस्ती, उपयोगी, हानि-रहित औषधियां दिला कर राष्ट्र के स्वास्थ्य को समुन्नत करेंगी।

[पृष्ठ 19 का शेष]

जाति लगभग 30 फिट लम्बी होती है। गोहों की वर्तमान बड़ी जातियां अधिकतर रेगिस्तानों में पाई जाती हैं व कुछ दलदलों में भी पाई जाती हैं। इनकी दुम बड़ी मजबूत होती है जो शत्रु पर आक्रमण करने में मदद देती है। यह एक तरह से शस्त्र का काम करती है तथा जल में तैरते वक्त तैरने में मदद भी करती है। सभी बड़ी छिपकलियाँ मांसाहारी होती हैं। इनका आहार चिड़ियां और उनके अन्डे, छोटी छिपकलियाँ एवं मेढक आदि छोटे-छोटे जीव हैं। ये घड़ियाल व मगर के अण्डों को भी खा जाती हैं।

यह रही छिपकलियों से आपकी एक छोटी सी मुलाकात और इतना सब कुछ छिपकलियों के विषय में जान लेने के बाद आप इन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं वरन् सहानुभूतिपूर्वक देखेंगे। ये आपको कोई हानि नहीं पहुँचाती हैं। प्रकृति के संतुलन को बनाये रखने में इनका भी योगदान है। आवश्यकता है इनके स्वभाव के और अधिक वैज्ञानिक अध्ययन की।

शनि ग्रह सम्बन्धी नयी खोजें

● नरेश बाली

किसी भी विषय के बारे में अधिक से अधिक जानना प्रारम्भ से ही मानव का स्वभाव रहा है। सौर-मंडल के दो सबसे बड़े ग्रहों बृहस्पति (व्यास 141912 किमी०) तथा शनि की निकट से तथा और अधिक जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से नैशनल ऐरोनॉटिक्स एण्ड स्पेस एडमिनिसट्रेशन (नासा) के कैनेडी स्पेस सेन्टर, फ्लोरिडा (अमरीका) से सन् 1977 में दो मानवरहित अन्तरिक्ष-यानों 'वॉयजर-1' और 'वॉयजर-2' का छोड़ा जाना उसके इसी स्वभाव के अन्तर्गत आता है।

वॉयजर-2 यान 20 अगस्त 1977 को तथा वॉयजर-1 3 सितम्बर 1977 को छोड़ा गया था। बाद में छोड़े जाने के बावजूद वॉयजर-1 योजनानुसार छोटे रास्ते से होता हुआ अपने साथी से कुछ महीने पहले मार्च 1979 में बृहस्पति के पास पहुँचा था। इसी तरह शनि ग्रह के पास भी वह वॉयजर-2 से नौ माह पूर्व ही पहुँच चुका है। अपने हिस्से का काम ठीक-ठाक अंजाम देकर अब वह 57,935 किमी०/ घंटे की गति से सितारों की तरफ बढ़ रहा है।

लगभग सोलह खरब किमी० का सफर तय करके, एक टन भार वाला वॉयजर-1 अन्तरिक्ष-यान तीन साल के बाद पिछले नवम्बर के प्रथम सप्ताह में शनि ग्रह के निकट पहुँचा था। उसके द्वारा पृथ्वी पर भेजे गये चित्रों तथा अन्य जानकारियों से शनि-परिवार के अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन हुआ है।

तीन छोटे उपग्रहों की खोज करके वॉयजर-1 ने शनि के कुल खोजे गये चन्द्रमाओं की संख्या को पन्द्रह तक पहुँचा दिया है तथा इनके अतिरिक्त, इस आश्चर्यजनक ग्रह के और भी अनेक उपग्रह विद्यमान हो सकते हैं। नये खोजे गये इन तीन उपग्रहों में से पहले दो, "एस-10" तथा "एस-11" की खोज वॉयजर-1 ने अक्तूबर में की थी। ये दोनों उपग्रह एक दूसरे से पचास किमी० की दूरी से एक ही परिक्रमा-पथ (orbit) में शनि की प्रदक्षिणा कर रहे हैं। इन पर कई विवर (crater) विद्यमान हैं। एक ही परिक्रमा-पथ में दो उपग्रहों के स्थित होने की यह घटना खगोलशास्त्रियों के लिए एकदम नयी है। वैज्ञानिकों का विचार है कि ये किसी उल्का-आघात के कारण टूटे हुए एक ही उपग्रह के दो टुकड़े हैं।

वॉयजर-1 द्वारा खोजा गया तीसरा चन्द्रमा अभी तक खोजे गये शनि के उपग्रहों में उसके सबसे अधिक निकट है और साथ ही यह काफी छोटा भी है। वॉयजर द्वारा पृथ्वी पर भेजे गये चित्रों में यह शनि की परिक्रमा करते हुए, मोटे, चमकीले 'ए' वलय (Ring) के ठीक बाहर तथा 'एफ' वलय की धूमिल, पतली रेखा के भीतर, चमकते हुए एक बिन्दु की भाँति दिखायी दे रहा है। वैज्ञानिकों का कहना है कि शनि के वलयों में दर्जनों उपग्रह जैसी वस्तुयें हो सकती हैं। शनि का यह पन्द्रहवां उपग्रह 14 घण्टे 20 मिनट में एक बार ग्रह की प्रदक्षिणा करता है तथा अभी तक इसका नामकरण नहीं हुआ है।

इसके अलावा वॉयजर-1 ने माइमास, टेथिस, डायोन तथा रिया के भीतर झांक कर भी देखा था। शनि के इन सभी उपग्रहों की सतह विवरों से ढकी हुई है जोकि खरबों वर्षों से हो रहे उल्कापात का परिणाम हैं।

शनि के सबसे पहले खोजे गये (क्रिश्चियन हायगेन्स द्वारा 1655 में) तथा सबसे बड़े (व्यास 5100 किमी०) उपग्रह टाइटैन के वायुमंडल में मीथेन या प्राकृतिक गैस के

एक प्रतिशत से भी कम की मात्रा में विद्यमान होने की बात ने सभी वैज्ञानिकों को आश्चर्य में डाल दिया है। क्योंकि, पिछले काफी लम्बे समय से इस गैस को टाइटैन के वायुमण्डल का मुख्य घटक समझा जाता रहा है। मीथेन के अतिरिक्त टाइटैन का वायुमंडल एसिटिलीन तथा नाइट्रोजन गैसों से युक्त है। प्रारम्भिक खोजों से पता चला है कि नाइट्रोजन की मात्रा वहां पर 98 प्रतिशत तक हो सकती है जबकि पृथ्वी के वायुमंडल में 78% नाइट्रोजन 21% ऑक्सीजन तथा अन्य कई गैसे अल्प मात्रा में विद्यमान हैं। सौर-मंडल में टाइटैन ही एकमात्र ऐसा उपग्रह है जिसमें वायुमण्डल है।

वॉयजर-1 द्वारा भेजी गई जानकारियों के आधार पर वैज्ञानिकों ने इस बात की सम्भावना व्यक्त की है कि टाइटैन उपग्रह जमी हुई नाइट्रोजन हो सकता है।

प्राप्त प्रमाण के अनुसार टाइटैन का वायुमण्डलीय दबाव पृथ्वी से 2-3/4 गुना अधिक है तथा उसका तापमान —203° सैल्सियस है। कई लाख किमी० मोटे एक वलय के रूप में शनि ग्रह को चारों ओर से घेरे हुए हाइड्रोजन गैस के एक बहुत बड़े बादल की खोज भी वैज्ञानिकों के लिए विस्मयजनक रही है। पहले वैज्ञानिकों का अनुमान था कि यह हाइड्रोजन गैस शनि के चारों ओर एक बहुत ही संकरे वलय के रूप में स्थित है। इस अति विस्तृत बादल में केवल लगभग 25000 टन हाइड्रोजन गैस है।

शनि के चारों ओर का विशाल, चपटा, खूबसूरत वलय प्राचीन-काल से ही वैज्ञानिकों के लिए कौतूहल का विषय रहा है। पिछले नवम्बर के प्रथम सप्ताह में वॉयजर-1 अन्तरिक्ष यान जब शनि के दक्षिणी ध्रुव के पास से गुजरा था और ग्रह के पिछली तरफ गया था तो उसके टेलिविजन कैमरों ने इस रहस्यमय वलय के विभिन्न कोणों से कई चित्र खींचे थे। इन चित्रों तथा भेजी गयी अन्य जानकारियों से पता चला है कि यह वलय, शनि को घेरे हुए पीले, भूरे बादल के शिखरों से अन्तरिक्ष में 400000 किमी० में फैला हुआ है। छोटी-बड़ी चट्टानों, बर्फ तथा धूल से बना हुआ यह वलय सात स्पष्ट छल्लों में विभाजित है तथा इनमें से प्रत्येक, असंख्य पतले वलयों (Ringlets) में बंटा हुआ है। स्पष्ट वलयों में से छः का तो वैज्ञानिकों को पहले से ही पता था और सातवें की खोज वॉयजर-1 द्वारा की गयी है। शनि के वलय-तंत्र (Ring System) के अब कम से कम एक हजार छल्लों का पता लगाया जा चुका है।

एक और वस्तु जोकि वैज्ञानिकों के लिए उत्साहजनक रही है वह है, गुँथे हुए वलयों की खोज। वॉयजर-1 के कैमरे ने जब अपनी नजर शनि के वलय-तंत्र के एक बाहरी भाग पर केन्द्रित की थी तो उसे दो चमकीले किन्तु पहले वलय एक रस्सी की तरह आपस में गुँथे हुए दिखायी दिए थे। इसका कारण शनि पर के वैद्युतचुम्बकीय क्षेत्रों की कोई विचित्र क्रिया हो सकता है।

वॉयजर-2 अन्तरिक्ष-यान के अगले अगस्त में शनि के निकट पहुँचने की आशा है। उम्मीद है कि वॉयजर-1 की भाँति वह भी वैज्ञानिकों को बहुत सी जानकारी उपलब्ध करायेगा। ●

हाइड्रोजन : ऊर्जा का नया विकल्प

● कु० निधि श्रीवास्तव
शिक्षाशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

यह सच है कि औद्योगिक क्रांति ने मनुष्य के लिये सुख और सुविधा के अनेक साधन जुटाये हैं किन्तु यह भी उतना ही सच है कि इस औद्योगिक क्रान्ति के कारण ऊर्जा की खपत बहुत बढ़ गई है। लोगों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि ऊर्जा के स्रोत अनन्त नहीं हैं, इनके उपलब्ध रहने की एक निश्चित अवधि है। विश्व का पेट्रोलियम भंडार समाप्ति की ओर अग्रसर है। कहा जाता है कि अगले 20-30 वर्षों में ऊर्जा-मंडी से पेट्रोलियम विदा हो जायगा। इसलिये अब इस बात पर बहुत बल दिया जा रहा है कि पेट्रोलियम की बचत कार्बनिक रसायन उद्योग के लिये की जानी चाहिये और इसे ईंधन की तरह जला कर नष्ट नहीं करना चाहिये। पर हमारे देश में केवल यातायात में ही कुल पेट्रोलियम खपत का 30% प्रयुक्त हो जाता है। हमारी कुल खपत 250 लाख टन है और इस सदी के अन्त तक इसके 450 लाख टन हो जाने के संकेत मिले हैं। इसलिये ऊर्जा के अन्य नये स्रोतों की खोज जरूरी है।

घरेलू उपयोग के कारण भारत में उपस्थित तेल भंडार के 1990-91 में समाप्त हो जाने की आशंका है और तेल के बढ़ते दामों के कारण निकट भविष्य में उसका आयात भी कठिन दिखाई पड़ता है। व्यावसायिक ऊर्जा की खपत का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि तेल का सबसे अधिक उपयोग घरेलू और यातायात के क्षेत्रों में होता है अतः तेल संकट से सबसे अधिक प्रभावित भी यही क्षेत्र होंगे।

ऊर्जा के नये विकल्प की खोज

विश्व के वैज्ञानिकों ने अब पारम्परिक ऊर्जा के विकल्प ढूँढने प्रारम्भ कर दिये हैं। वास्तव में आवश्यक है ऊर्जा परिवर्तन के लिए नई-नई तकनीकों की खोज की जो असीमित ऊर्जा भंडार से इस्तेमाल के लायक ऊर्जा बना सके। हमारे देश में इसके लिए नये-नये यंत्रों को विकसित किया जा रहा है जो मुख्यतया जीवाश्म ईंधन (fossil fuel) पर निर्भर हैं। साथ ही साथ सौर ऊर्जा के उपयोग के लिये भी सफलतापूर्वक कार्य हो रहे हैं।

हमारे देश में कोयला खदानों का कार्य बड़ी ही प्रारम्भिक अवस्था में है जबकि कोयले के द्रवीकरण और गैसीकरण से प्राप्त ऊर्जा को घरेलू और यातायात के क्षेत्रों में ईंधन के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। कोयला खदानों के कार्य को पूरा करने के लिए शक्ति (hydel energy) का विकास बहुत ही आवश्यक है। ऊर्जा संकट में ईंधन की इस समस्या का एकमात्र समाधान हो सकता है ऐसे पदार्थ की खोज जो वर्तमान ईंधन-तेल का विकल्प बन सके।

एक स्वाभाविक सा प्रश्न उठता है कि ऐसा कौन सा द्रव है जो ईंधन का कार्य कर सके? एक अच्छा ईंधन वही है जिसका पूरा उपयोग हो सके, ऊर्जा क्षमता अधिक हो, वितरण सरल हो, सस्ता हो, संचित किया जा सके, पर्यावरण की दृष्टि से सुविधाजनक और सुरक्षित हो और जिसका स्रोत बहुतायत में उपलब्ध हो।

हाइड्रोजन एक नया विकल्प

इन गुणों को ध्यान में रखते हुए कई ईंधन प्रस्तावित किये गये हैं जिनमें संश्लेषित हाइड्रोकार्बन, मीथेन, मीथेनॉल, इथेनॉल और हाइड्रोजन प्रमुख हैं किन्तु इन सब में हाइड्रोजन के ऊर्जा-विकल्प बनने की सबसे अधिक संभावनायें हैं।

अन्य वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों की अपेक्षा हाइड्रोजन में द्रव्यमान ऊर्जा घनत्व बहुत अधिक है अर्थात् इसका दहन ताप कम है इसलिए इसका पूरा उपयोग हो सकता है और इसकी ऊर्जा क्षमता भी अधिक है। हलका होने के कारण इसे वायुयान-ईंधन के रूप में वरीयता दी जाने लगी है। ब्रिटेन, अमेरिका, पश्चिम जर्मनी और साऊदी अरब ने तो मिलकर इन देशों को जोड़ने वाली हवाई उड़ानों में द्रव हाइड्रोजन को चौड़े ढाँचे वाले जेट विमानों में प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर दिया है।

हाइड्रोजन आसानी से इधर-उधर ले जाई जा सकती है और जहाँ-जहाँ प्राकृतिक गैस के लिए पाइप लगे हैं वहाँ उन्हीं पाइपों से हाइड्रोजन को वितरित किया जा सकता है। साथ ही 300 मील से अधिक की दूरी के लिये तो यह जल ऊष्मीय ऊर्जा से भी सस्ती पड़ती है और अधिक सुविधाजनक भी है। जल ऊष्मीय या ऊष्मीय ऊर्जा को विद्युत में परिवर्तित करके उपभोक्ताओं को वितरित किया जाता है जो रोशनी के साथ अन्य घरेलू कार्यों में प्रयोग में लाई जाती है किन्तु आर्थिक दृष्टि से यह एक मँहगा साधन है।

हाइड्रोजन ऊर्जा की आपूर्ति के लिए पाइपों को भूमि के अन्दर लगाने से अधिक सुरक्षा रहती है और नगर की सुन्दरता भी बनी रहती है जबकि विद्युत वितरण के लिये बिछाये गये तारों का जाल नगर की सुन्दरता में बाधा डालता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसके जलने के बाद केवल पानी बनता है अतः पर्यावरण प्रदूषण का भी भय नहीं है।

हाइड्रोजन को विभिन्न भौतिक अवस्थाओं पर रखा जा सकता है, जैसे साधारण दाब पर गैस, विद्युत ऊष्मा अवरोधी पात्रों में द्रव और धात्विक हाइड्राइडों के रूप में ठोस अवस्था में रखा जा सकता है। यह हाइड्राइड जब और जहाँ आवश्यक हो सीधे हाइड्रोजन में परिवर्तित करके वितरित किये जा सकते हैं। यह संचय हाइड्रोजन के विभिन्न उपयोगों पर निर्भर करता है। जैसे, मोटर-गाड़ियों के लिये धात्विक हाइड्राइड सबसे अधिक सुविधाजनक है तो वायु-चालन के लिए द्रव हाइड्रोजन को अच्छा माना जाता है। इस प्रकार वितरण और उपयोग की दृष्टि से हाइड्रोजन अन्य विकल्पों की अपेक्षा बहुत अधिक सुविधाजनक है।

हाइड्रोजन एक बहुत अच्छा ऊर्जा स्रोत हो सकता है क्योंकि यह पृथ्वी पर जल के रूप में अनन्त मात्रा में उपस्थित है। इस जल से असीमित मात्रा में हाइड्रोजन उत्पादित की जा सकती है। यह उर्वरक-उद्योग में अमोनिया बनाने के लिए काफी मात्रा में उत्पादित की जा रही है। अन्य उद्योगों में भी हाइड्रोजन का उपयोग पर्याप्त मात्रा में होता है। यद्यपि अभी प्रयुक्त होने वाली कुल हाइड्रोजन का 80% उत्पादन तो पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैसों द्वारा ही हो रहा है फिर भी इसके अतिरिक्त अन्य तकनीकें भी उपलब्ध हैं जो कोयला गैसीकरण और जल-विद्युत अपघटन पर आधारित हैं। हाइड्रोजन के जलने से पुनः पानी बन जाता है इसलिए इसके स्रोत के समाप्त होने की आशंका भी नहीं है। आजकल जल से हाइड्रोजन बनाने के लिए सौर ऊर्जा के प्रयोग पर भी कार्य हो रहा है।

बढ़िया ईंधन

ईंधन के रूप में इसके इकाई भार की दहन ऊर्जा किसी भी अन्य ईंधन की अपेक्षा बहुत अधिक है जो एक शुभ लक्षण है। मोटर गाड़ियों में भी इसका प्रयोग बहुत सरल है क्योंकि गैसोलीन की अपेक्षा इसकी शक्ति संभावना ढाई गुना है। वर्तमान आन्तरिक दहन इंजनों में ईंधन के प्रवेश की विधियों में कुछ परिवर्तनों के बाद इसका उपयोग सफलतापूर्वक किया जा चुका है। अमेरिका में तो गैसोलीन चलित मोटरकारों के इंजनों में व्यावसायिक पैमाने पर परिवर्तन किये जा रहे हैं जो हाइड्रोजन को धात्विक हाइड्रा-

इड के रूप में संचित रख सके। अब तो हाइड्रोजन द्वारा चलने वाली कई कारें प्रयोग में लाई जाने लगी हैं। पश्चिम जर्मनी और जापान में भी इस पर अनुसंधान कार्य हो रहे हैं।

हाइड्रोजन तापीय (ऊष्मीय) ईंधन के रूप में प्रयोग की जा सकती है क्योंकि यह रंगहीन गर्म और स्वच्छ ज्वाला के साथ जलती है। इसे प्राकृतिक गैस के स्थान पर उपयोग में लाया जा सकता है। इसके लिए औद्योगिक भट्टी, रसोईघर और गर्म करने वाले अन्य उपकरणों के वर्नर में थोड़ा सा फेर-बदल करना पड़ेगा। उत्प्रेरण द्वारा इसका दहन ज्वालारहित होता है इसलिये इसमें बर्नर के स्थान पर चीनी मिट्टी की एक छिद्रित प्लेट इस्तेमाल की जाती है। इस प्लेट के ऊपरी सिरे पर प्लैटिनम की एक बारीक परत रहती है जो उत्प्रेरक का कार्य करती है। इस परत के सम्पर्क में आते ही हाइड्रोजन का त्वरित दहन हो जाता है और प्लेट गर्म हो जाती है। हाइड्रोजन एक अद्वितीय ऊष्मीय ईंधन है क्योंकि इसमें कोई तेज गन्ध वाली गैस या धुँआ नहीं निकलता इस कारण इसके लिए चिमनी की आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे 40% ईंधन की बचत हो जाती है जो ताप ह्रास के कारण व्यय होता है।

वायुयानों में हाइड्रोजन के दहन की स्थितियों में परिवर्तन करके इसके द्वारा अल्प मात्रा में बनने वाले नाइट्रिक ऑक्साइड के प्रभाव को भी दूर किया जा सकता है। इस विधि में अम्लीय उत्पाद नहीं बनते इसलिये वायुयानों के ईंधनों का जीवन भी बढ़ सकता है और रख-रखाव का खर्च कम हो सकता है।

ईंधन सेलों के द्वारा विद्युत

हाइड्रोजन को ऑक्सीकरण के साथ ईंधन सेल में भी संयुक्त किया जा सकता है जो सीधे विद्युत उत्पन्न कर सके। इस सेल की सम्परिवर्तन क्षमता लगभग 60 प्रतिशत होगी। यह विद्युत उत्पादन और वितरण प्रणाली के लिए एक अच्छा उपयोग होगा। जब विद्युत का उपयोग कम हो रहा हो तो इसे विद्युत अपघटक द्वारा दूसरी दिशा में मोड़ा जा सकता है जो हाइड्रोजन उत्पन्न करके संचित रख सके तथा यह संचित हाइड्रोजन आवश्यकता पड़ने पर ईंधन सेलों में विद्युत उत्पन्न करने के लिये जलाई जा सके। इस प्रकार विद्युत उत्पादन के लिये हाइड्रोजन आर्थिक रूप से एक सहज और सस्ता साधन हो सकती है।

सुरक्षा की दृष्टि से

हाइड्रोजन की ज्वलन सीमा अधिक है और यह आसानी से जलने के साथ-साथ विस्फोटक गुण भी रखती है। अतः रसोई घरों में या अन्य घरेलू साधनों में इसके उपयोग पर सुरक्षा के लिये प्रश्न चिन्ह लगाये जा सकते हैं। पर इस विषय में भी काफी परीक्षण किये गये हैं और यह सिद्ध हो गया है कि यदि उचित सावधानियाँ बरती जायें तो हाइड्रोजन को बिना किसी खतरे के इस्तेमाल किया जा सकता है क्योंकि गैसोलीन या प्राकृतिक गैस को भी सावधानियों के साथ ही साधारण जनता इस्तेमाल करती है। इसके कुछ गुण अन्य ईंधनों की अपेक्षा इसे अधिक सुरक्षित बनाते हैं। जैसे—इसे विस्फोटित होने से बचाया जा सकता है। यह हलकी होने के कारण वायु में तेजी से विसरित हो सकती है जिससे इसके जल उठने की सम्भावना कम हो जाती है जबकि पेट्रोल वाष्प और प्रोपेन क्षैतिज रूप से फैल कर आग लगने के खतरे को बढ़ा देते हैं।

हाइड्रोजन का अर्थशास्त्र

हाइड्रोजन को यदि भविष्य की ऊर्जा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। इसकी बहुत अधिक सम्भावनायें हैं और इन्हीं सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों ने हाइड्रोजन के आर्थिक पहलू पर भी प्रकाश डाला है। निकट भविष्य में जल से हाइड्रोजन बनाने के लिए कुछ सरल तकनीकें खोजी जयेंगी और तब हाइड्रोजन एक सार्वभौम ऊर्जा के रूप में प्रचलित हो जायगी। यह ऊर्जा न केवल सस्ती होगी वरन् वातावरण पर कोई कुप्रभाव न

(शेष पृष्ठ 15 पर)

प्राणि विज्ञान के कुछ वस्तुनिष्ठ प्रश्न-2

● राकेश कुमार पाण्डेय

48. देव-अमीबा का वैज्ञानिक नाम क्या है ?

(अ) आरसेला (ब) पालिस्टोमेला

(स) पेलोमिक्सा (द) गाँडियें

49. संघ पारिफेरा का वर्गीकरण किस पर आधारित है ?

(अ) ओस्कुला की संख्या पर (ब) नालतन्त्र पर

(स) कंकाल पर (द) पोषण पर

50. ल्यूकोसोलेनिया में किस तरह का पाचन होता है ?

(अ) अन्तरा कोशिकी (ब) अन्तः कोशिकी

(स) बाह्य कोशिकी (द) तीनों में से कोई नहीं

51. ल्यूकीसोलेनिया में अलैंगिक प्रजनन कैसे होता है ?

(अ) द्वि भाजन द्वारा (ब) बीजाणुक द्वारा

(स) वाह्य मुकुलन द्वारा (द) पुटी निर्माण द्वारा

52. स्पंजों में बहिर्जात मुकुलन एक प्रकार का अलिंगी प्रजनन है। यह क्या कहलाता है ?

(अ) जेम्यूलेशन (ब) जेमेशन

(स) पुनरुद्भवन (द) ऐम्फीमिक्सस

53. हाइड्रा की मुख्य गुहिका क्या कहलाती है ?

(अ) कोरक गुहा (ब) देह गुहा

(स) जठर संवहनी गुहा (द) रुधिर गुहिका

54. हाइड्रा में एक को छोड़कर सब प्रकार के भोजन का पाचन होता है। वह क्या है जिसका पाचन नहीं होता है ?

(अ) प्रोटीन (ब) वसा

(स) स्टार्च (द) शर्करा

55. हाइड्रा में निम्नलिखित में से कौन सा चलनांग है ?

(अ) कूट पादें (ब) शूकें

(द) स्पर्शकें (द) स्पर्शकें तथा आधार डिस्क

56. 'हाइड्रा' के नामकरण का क्या कारण है ?

(अ) यह जलीय है

(ब) यह अलवणीय जलक पालिप है

(स) यह स्पर्शक रखता है

(द) इसमें अन्दर पुनरुद्भवन की शक्ति है

57. हाइड्रा में सबसे छोटी तथा असशन निमेटोसिस्टस होती है—

(अ) स्टीरोलीन (ब) स्टीनोटील

(स) डेस्पोनीम (द) स्ट्रेप्टोलीन

58. नर एस्कैरिस कैसा होता है ?

(अ) मादा से लम्बा (ब) मादा से छोटा

(स) लम्बाई में बराबर (स) उपरोक्त में से एक भी नहीं

59. निम्नलिखित में से एक निमेटोड में उभयलिंगता एवं युग्मक संलगन पाये जाते हैं। वह कौन सा निमेटोड है ?

(अ) रेबडाइटिस (ब) आँज्यूरिस

(स) ड्रेकनयुलस (स) वाऊचेरिया

60. सामान्य भारतीय केंचुआ का नाम फेरेटिमा पास्थुमा है। इसके शरीर में खण्डों की संख्या लगभग कितनी होती है ?

(अ) 90 (ब) 110

(स) 150 (द) 200

61. केंचुए के कितने जोड़ी नेत्र होते हैं ?

(अ) एक जोड़ी नेत्र (ब) दो जोड़ी नेत्र

(स) चार जोड़ी नेत्र (स) कोई नेत्र नहीं

62. केंचुये में अंडाशय का एक युग्म पाया जाता है जो निम्न में से किन खण्डों के सेप्टम पर स्थित होते हैं ?

(अ) 10/11 में (ब) 11/12 में

(स) 12/13 में (द) 13/14 में

63. केंचुये के शरीर में प्रोफाइरिन का क्या कार्य है ?

(अ) श्वसन में सहायता कार्य

(ब) प्रजनन में सहायता कार्य

(स) प्रकाश की हानिकारक कणों से रक्षा करना।

(द) हानिकारक जीवों से रक्षा करना

64. सामान्य तिलचट्टा को प्राणि विज्ञान की भाषा में क्या कहते हैं ?

(अ) पेरिप्लेनेटा इंडियाना (ब) ब्लेटा इंडियाना

(स) पेरिप्लेटा अमेरिकाना (द) ब्लेटा अमेरिकाना

65. नर तिलचट्टा को मादा तिलचट्टे से कैसे पहचाना जा सकता है ?

(अ) लम्बी श्रृंगिकाओं की उपस्थिति के द्वारा

(ब) पंखविहीन शरीर द्वारा

(स) लम्बे उदर द्वारा

(द) गुदाक्षूक द्वारा

66. तिलचट्टों में लम्बा नलिकाकार हृदय होता है। यह कितने कोष्ठों से संगठित होता है ?

(अ) 4 कोष्ठों से (ब) 7 कोष्ठों से

(स) 11 कोष्ठों से (द) 13 कोष्ठों से

67. एनाफिलीज के अंडे निम्न में से एक की उपस्थिति के कारण पहचाने जाते हैं :—

(अ) सिगराकार (ब) तकुआकार

(स) अन्ड-चाटी (द) पार्श्व-प्लव

68. मधुमक्खियों में भाषा की नियमावली का संसचन विशेष नृत्य द्वारा होता है। इसकी खोज किसने की थी ?

(अ) टी० एच० मोरगन ने (ब) के० वी० फ्रिच ने

(स) राबर्ट कोच ने (द) आई० पावलो ने

69. सिल्क उद्योग क्या कहलाता है ?

(अ) पिसी कल्चर (ब) सेरी कल्चर

(स) एपी कल्चर (द) हार्टी कल्चर

70. निम्न में से कौन सा कीट जापान में मनोरंजन के लिए उपयोग किया जाता है ?

(अ) टिड्डा (ब) झींगुर

(स) मक्खियाँ (द) अग्निकीट

71. मधुमक्खी के समूह के सदस्य एक दूसरे को कैसे पहचानते हैं ?

(अ) गंध द्वारा (ब) दृष्टि द्वारा

(स) नृत्य द्वारा (द) स्पर्श द्वारा

72. जो जन्तु समुद्र में अधिक गहराई में रहते हैं वे क्या कहलाते हैं ?

(अ) एबाइसिल (ब) पैलेजिक

(स) लिथोरल (द) आरबोरियल

73. शशक में दृढ़ रोम वायु गति संवेदी होते हैं। यह कहाँ पाये जाते हैं ?

(अ) पूंछ पर (ब) सिर पर

(स) आंखों पर (द) थूथन पर

74. रतनी में दन्तों की सर्वाधिक संख्या किसमें होती है ?

(अ) मनुष्य में (ब) शशक में

(स) कुत्ते में (द) सूअर में

75. कार्बनिक यौगिकों का टूटना एवं ऊर्जा का मुक्त होना क्या कहलाता है ?

(अ) उपाचय (ब) उपचय

(स) अपचय (द) कैनोबालिज्म

76. ग्लाइकोलाइसिस का कौन का अन्तिम पदार्थ है ?

(अ) ग्लूकोज (ब) ग्लूकोज-6-फास्फेट

(स) पाइरुविक अम्ल (द) लैक्ट्रिक अम्ल

77. निम्न में से किसके आक्सीकरण पर अधिक जल प्राप्त होता है ?

(अ) शर्करा (ब) स्टार्च

(स) प्रोटीन (द) वसा

78. उस शब्द को चिन्हांकित करो जो श्वसन में क्रैब-चक्र से सम्बन्धित न हो।

(अ) ग्लूकोज ब) पाइरुविक अम्ल

(ब) साइट्रिक अम्ल (द) पी० जी० ए०

79. कार्बोहाइड्रेट की पर्याप्त मात्रा प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को क्या खाना चाहिए ?

(अ) गोश्त (ब) चावल

(स) गाजर (द) दाल

80. निम्नलिखित में से कौन विटामिन B_1 है ?

(अ) थायमिन (ब) पेरीडाक्सिन

(स) टोकोफीरोल (द) नियासिन

81. शरीर के प्रोटीन निर्माण के लिए आवश्यक खनिज क्या है ?

(अ) सोडियम (ब) लोहा

(स) सल्फर (द) पोटैशियम

82. मनुष्य की हृदय गति का नियन्त्रण करने हेतु निम्न में से कौन खनिज उत्तरदायी है ?

(अ) सल्फर (ब) सोडियम

(स) लोहा (द) पोटैसियम

83. शरीर में विटामिन A का निर्माण कहाँ होता है ?

(अ) रुधिर में (ब) तिल्ली में

(स) पैनक्रियास में (द) यकृत में

84. काइटिन क्या होता है ?

(अ) कार्बोहाइड्रेट (ब) प्रोटीन

(स) खनिज (द) वसा

85. मानव-फेफडों में वायु कोष्ठकों की संख्या लगभग कितनी होती है ?

(अ) 100,000,000 (ब) 500,000,000

(स) 700,000,000 (द) 725,000,000

86. वह प्रक्रम जिसमें आक्सीजन की उपस्थिति से ऊर्जा बनती है क्या कहलाता है ?

(अ) यूरिया चक्र (ब) क्रैब चक्र

(स) ग्लाइकोजेन चक्र (द) औरनिथिन चक्र

87. रीढ़ रज्जु खोपड़ी के कौन से छिद्र से बाहर निकलती है ?

(अ) अंडाकार रंध्र (ब) मोनरो रंध्र

(स) पेनीजी रंध्र (द) महा रंध्र

88. मानव शरीर में अस्थियों की संख्या कितनी होती है ?

(अ) 106 (ब) 206

(स) 305 (द) 406

89. रुधिर एक योजी ऊतक द्रव है। यह निम्नलिखित में से किससे बना है ?

(अ) प्लाज्मा से (ब) प्लाज्मा तथा तत्वों से

(स) केवल तत्वों से (द) अनेक प्रकार की कोशिकाओं से

90. Rh कारक विशेष एन्टीजन के निर्माण के लिए उत्तरदायी होता है। पति पत्नी में इसको जानना सकुशल होता है। निम्न में से किसका संयोग घातक सिद्ध हो सकता है ?

(अ) Rh—पति तथा Rh—पत्नी

(ब) Rh—पति तथा Rh+पत्नी

(स) Rh+पति और Rh—पत्नी

(द) Rh+पति और Rh+पत्नी

91. प्रोटीन उत्सर्ग का अमोनिया में कहाँ परिवर्तन होता है ?

(अ) वृक्कों में (ब) फेफड़ों में

(स) आँत्र में (द) यकृत में

92. मनुष्य तथा सभी स्तनधारियों में संयोजी ऊतकों की एक मोटी, लम्बी तथा प्रत्यास्थी छड़ होती है जो वृषण नाल से होकर जाती है तथा वृषणों को उदर गुहा से संयोजित करती है। यह क्या कहलाती है ?

(अ) वृषण नाल (ब) वृषण दण्ड

(स) गुवरनेकुलम (द) कंडरा

93. मानव सहित स्तनधारियों के अंडे कैसे होते हैं ?

(अ) लघुपीतक (ब) अतिपीतक

(स) केन्द्र पीतक (द) गोलार्ध पीतक

94. वर्टिब्रेट प्राणियों में केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र किससे अन्तर्निहित करता है ?

(अ) मस्तिष्क (ब) मस्तिष्क तथा मेरुरज्जु

(स) मस्तिष्क तथा कपालीय तन्त्रिकायें

(द) मस्तिष्क, मेरुरज्जु तथा मेरु तन्त्रिकायें

95. सबसे बड़ी कपालीय तन्त्रिका का क्या नाम है ?

(अ) हिक (ब) वेगस

(स) एवडूसिन (द) हाइपोग्लोसल

96. शंकु तथा छड़ कहाँ स्थित होते हैं ?

(अ) नेत्र श्लेष्मला में (ब) दृढ़ पटल में

(स) रक्तक पटल में (द) दृष्टि पटल में

97. कूटे (क्रिसटी) ध्वनिक कटक हैं जो निम्न में से किसमें पाई जाती हैं ?

(अ) तुनिकाओं में (ब) गोणिका में

(स) हृति में (द) अर्ध वृत्तीय नलिकाओं में

98. तंत्रिका ऊतकों की कोशायें क्या कहलाती हैं ?

(अ) न्यूरोन (ब) गैंगलिया

(स) डैन्ड्रोन (द) ऐक्सोन

99. स्नायु तथा तन्तु किसके बने होते हैं ?

(अ) संयोजी ऊतकों के (ब) कंकालीय ऊतकों के

(स) पेशीय ऊतकों के (द) उपकला ऊतकों के

100. लिंगी सहलग्न को छोड़कर अन्य गुण-सूत्र क्या कहलाते हैं ?

(अ) लाइसोसोम (ब) औटोसोम

(स) राइबोसोम (द) साइटोसोम

प्राणि विज्ञान के वस्तुनिष्ठ प्रश्नों (48-100 तक) के उत्तर ।

48 स	55 द	62 स	69 ब	76 द	82 ब	88 ब	94 ब
49 स	56 द	63 स	70 ब	77 द	83 द	89 ब	95 ब
50 ब	57 अ	64 स	71 स	78 द	84 द	90 स	96 द
51 स	58 ब	65 द	72 अ	79 ब	85 द	91 द	97 अ
52 ब	59 अ	66 द	73 द	80 अ	86 ब	92 ब	98 अ
53 स	60 ब	67 द	74 द	81 स	87 द	93 अ	99 अ
54 ब	61 द	68 ब	75 स				100 ब

VISIT

ASIA BOOK Co.

9 UNIVERSITY ROAD, ALLAHABAD

FOR BOOKS ON

CPMT, IIT, ENGINEERING COLLEGE

ADMISSION TEST & LATEST UNIVERSITY

BOOKS ON SCIENCE SUBJECTS

समुद्र से भोजन

गौरांग मित्रा
द्वारा श्री एन०एन० मित्रा
स्टेशन रोड, बाँदा (उ०प्र०)

जनसंख्याविदों का अनुमान है कि सन् 2000 तक दुनिया की आबादी सात अरब पचास करोड़ तक पहुँच जायेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर संसार में मत्स्य उत्पादन दो गुना भी हो जाय, तो भी प्रति व्यक्ति उत्पादन आज के स्तर से अधिक नहीं बढ़ पायेगा।

आज हमें समुद्रों से अपने कुल प्रोटीन का 13.15 प्रतिशत प्राप्त होता है। खाद्य के कैलोरी-मूल्य के अनुसार यह विश्व की सारी आबादी द्वारा खाये जाने वाले खाद्य संसाधनों के सिर्फ एक प्रतिशत के बराबर है। इसके साथ ही भूमि की उत्पादकता में मुश्किल से ही बढ़ोतरी की जा सकती है और कृत्रिम प्रोटीन के उत्पादन की बात अभी बहुत दूर है। भविष्य में समुद्र मानवजाति का, जिसकी संख्या लगातार बढ़ रही है, खाद्य-पदार्थ मुहैया करेगा।

अर्धजलीय पौधे—इस पृथ्वी की अधिकांश वनस्पति जल के नीचे संकेन्द्रित है। अर्धजलीय पादपों की घनता 1500 टन हरित वनस्पति पदार्थ प्रति वर्ग किलोमीटर तक पहुँचती है। भविष्य में समुद्र से ऐसी फसलें उत्पन्न की जायेंगी, जैसी पहले कभी देखी सुनी नहीं गई हैं। हम जितनी जल्दी यह समझ लेंगे कि एल्गी (शैवाल) से तैयार किया गया सलाद और शोरबा स्वादिष्ट होता है उतनी ही जल्दी यह बात सही सिद्ध हो जायेगी। पशुपालन उद्योग में एक क्रान्ति लायी जा सकती है! इस प्रकार समुद्री भूमि पर माँस के उत्पादन को बढ़ाने में सूक्ष्म जल पादपों व अन्य जीवों से निर्मित पदार्थों को आलू, चावल व कुछ सीमा तक खाने की अन्य चीजों के विकल्प के रूप में इस्तेमाल से सहायता मिलेगी।

शैवाल या काई को उगाना आसान होता है। उथले जलाशयों, मनुष्य निर्मित खाइयों और पॉलीएथीलीन से बने ऐसे पाइपों में भी शैवाल उगाया जा सकता है जिनके अन्दर उर्वरक व उपज बढ़ाने वाले अन्य तत्वों को प्रविष्ट कराया जा सके। दुनिया में हजारों किस्म के शैवाल होते हैं और प्रजनन की आधुनिक विधियों से आश्चर्यजनक गुणों वाले शैवालों का विकास किया जा सकता है। सुदूर पूर्व में समुद्री केल, लैमिनेरिया और समुद्री सलाद मुद्दत से उगाया जा रहा है। इन नदियों के तंग उथले मुहानों में गड़े बांस के खोखले डंडों में या किसी एक बाड़ी में जल के नीचे मौजूद रेत के ऊपर फैली लम्बी रस्सियों पर उगाया जाता है।

सोवियत संघ में घोंघे और शम्बर उगाने के जो प्रयोग किए गए हैं वह बहुत ही सम्भावनापूर्ण जान पड़ते हैं। मत्स्य-तालों के निर्माण में सोवियत संघ का अनुभव झींगा मछली के तालाबों की एक सम्पूर्ण प्रणाली के निर्माण में सहायक होगा। इसमें जो खर्च आयेगा वह उत्पादन की पहली खेप से ही पूरा हो जायेगा। परमाणुविक हीटरों की सहायता से तटवर्ती नर्सरियों को गर्म करके सीधे समुद्र में ही झींगा को पाला जा सकता है। मनुष्य निर्मित प्रजनन क्षेत्रों से साल्मन और फ्लैट फिश के भंडारों को कई वर्षों के लिए फिर से भरपूर बनाया जा सकता है। यहां तक कि ट्राउट मछली को भी जिसे अभी तक व्यावसायिक पैमाने पर नहीं पकड़ा जा सकता, समुद्र के शीतल जल में पाला-पोसा जा सकता है।

अगले दशक में हम तट के निकट के इलाकों में 1000 मीटर की गहराई तक पहुँचने तथा कम से कम 300 मीटर की गहराई पर अड्डों की स्थापना कर लेंगे। इस सहस्राब्दि के अन्त तक समुद्र का बसा हुआ क्षेत्र एक किलोमीटर तक पहुँच जायेगा। इस विराट खाद्य-श्रृंखला की हर एक कड़ी सूक्ष्म जीवाणुओं से लेकर तेल मछली तक सोद्देश्य नियन्त्रण में निहित है। इनमें एक प्रकार की सूक्ष्म काई, डायएटम, सर्वाधिक महत्वपूर्व कड़ी है। यह काई जूप्लैंकटॉन को खाद्य पदार्थ मुहैया करती है। जूप्लैंकटॉन पर क्रस्टेशियन प्रजाति के जानवर निर्भर होते हैं, क्रस्टेशियन को मछलियाँ व ह्वेलें खाती हैं। लेकिन जब बहुत छोटा या बहुत बड़ा कोई भी जानवर मृत्यु को प्राप्त होता है तो फिर से उन्हीं डायएटमों का भक्ष्य पदार्थ बन जाता है। यह एक संवृत जैविक चक्र है।

संयुक्त अध्ययन :—हमारे और खास तौर पर भावी पीढ़ी के जीवन में समुद्र के विराट महत्व को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि अनेक क्षेत्रों में काम करने वाले वैज्ञानिकगण इन समस्याओं पर गौर कर रहे हैं और समुद्र को मानवजाति के विराट खाद्य भंडार में परिवर्तन करने की सम्भावनाओं का अध्ययन कर रहे हैं। इस उद्देश्य के लिए कई देशों में विशेषज्ञों के संयुक्त कार्य व सहयोग तथा वैज्ञानिक सूचनाओं के व्यापक आदान-प्रदान के सुफल मिलने लगे हैं।

उदाहरण के लिए वैज्ञानिकगण बहुत समय तक यह पता नहीं लगा पाए कि कामचात्का में पाये जाने वाले केकड़े, कामचात्का कर्कट, की वृद्धि के नियम क्या हैं। अब यह कर्कट एक दुर्लभ जन्तु बन गया है। काफी लम्बे अर्से से इस कर्कट को इस पूर्व-कल्पनानुसार बढ़ते हुए पैमाने पर पकड़ा जाता रहा कि केकड़ों का प्रत्येक झुण्ड एक दूसरे से अलग-अलग रहता है और आप एक झुण्ड को पकड़ने के बाद दूसरे को पकड़ना शुरू कर सकते हैं और इस दौरान तीसरे झुण्ड में छोटे केकड़ों का बढ़ना जारी रहेगा।

लेकिन बाद में ज्ञात हुआ कि वास्तव में यह प्रक्रिया इससे कहीं ज्यादा पेचीदी है। इस समस्या का अध्ययन करते-करते सोवियत जल-वैज्ञानिक यूरी गाल्किन और जापानी समुद्र-वैज्ञानिक मरुकावा ने पता लगाया कि केकड़ों के प्लैंकटॉन लार्वा जिस-जिस जगह पर अंडों से निकलते हैं उसी जगह पर जमे नहीं रहते बल्कि कामचात्का के पश्चिमी तट से, भटकते-भटकते, उत्तर की तरफ चले जाते हैं। उत्तरी भाग में जाने वाले यही केकड़े वापस लौटकर कामचात्का-कर्कटों के झुण्डों की कमी को पूरा करते हैं। कर्कटों की संख्या के बढ़ने-घटने से सम्बन्धित इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राकृतिक प्रक्रिया को सिद्ध करने के लिए सोवियत और जापानी अनुसंधानकर्ताओं ने एक लाख केकड़ों को पकड़कर उन्हें चिह्नित किया और फिर से पानी में छोड़ दिया। इन चिह्नित केकड़ों में से कई हजार को विभिन्न स्थानों में पकड़ा गया। अब उनका सावधानी से अध्ययन किया जा रहा है।

समुद्री घास से बना खाद्य पदार्थ :—इसी तरह अमरायड्सर (समुद्री घास 'अगर-अगर' से बना आहार द्रव्य) सोवियत संघ राष्ट्रीय अर्थतन्त्र के लिए महत्वपूर्ण पदार्थ बन गया है। सोवियत संघ के 150 से अधिक खाद्य-उद्यम इसका इस्तेमाल तरह-तरह की पगी हुई खाद्य वस्तुओं, मुरब्बों, चूसने की सुगन्धित टिकियों और आइसक्रीम बनाने के लिए किया करते हैं। इन सबका कच्चा माल काले सागर में इसका कोई 50 लाख टन का भंडार है। एक अनुमान के अनुसार समुद्र में 30 अरब व्यक्तियों के लिए खाद्य पदार्थ उपलब्ध कर सकने की क्षमता है।

अभी हाल तक समुद्र संसाधनों के सन्दर्भ में जो दृष्टिकोण अपनाया जाता रहा, वह बहुत विवेकपूर्ण नहीं था। आज हम इस तरह की फिजूलखर्ची नहीं कर सकते हैं। अगर हम ऐसा करेंगे तो इन संसाधनों में इस सीमा तक कमी हो जायेगी कि फिर उस कमी को कभी पूरा नहीं किया जा सकेगा। यह अज्ञान की की कीमत है और बहुत भारी कीमत है। इसलिए समुद्री-सम्पदाओं के उपयोग में हमें विवेक से काम लेना होगा। ●

संकलन : प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव
वनस्पति विभाग
सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद

1. मनुष्य के शुक्राणुओं में स्वर्ण (गोल्ड) की खोज

बी० जे० मेडिकल कालेज, अहमदाबाद में फिजियालॉजी के सहायक प्रोफेसर डा० के० पी० स्कन्धन ने यहाँ चिकित्सा विज्ञान की एक अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी में बताया कि मनुष्यों के शुक्राणुओं में सोना विद्यमान होता है। डा० स्कंधन ने "स्पेक्ट्रास्कोपी विधि" द्वारा जितने भी शुक्राणुओं के नमूनों की जाँच की उन सभी में उन्हें सोना मिला। डा० स्कंधन के अनुसंधान से इस बात की भी पुष्टि होती है कि प्राचीन काल में नपुंसक लोगों का इलाज सोने के भस्म द्वारा किया जाता था, वह उचित था। डा० स्कंधन के अनुसार उनके अनुसंधान के दो दूरगामी प्रभाव हैं। एक तो नपुंसकता दूर की जा सकती है और दूसरे इस प्रकार के गर्भ निरोधक बनाये जा सकते हैं जिनके प्रभाव से शुक्राणुओं में सोने की मात्रा को घटाकर परिवार नियोजन किया जा सकेगा।

2. यक्ष्मा (टी० बी०) का इलाज नौ महीनों में

लन्दन के मेडिकल रिसर्च कौंसिल के अनुसार अब टी० बी० का इलाज 6-9 महीनों में सफलतापूर्वक किया जा सकता है जिसमें पहले डेढ़ से दो वर्ष लग जाते थे। वैसे इस विधि की खोज 1972 में ही हो गई थी किन्तु भारत जैसे विकासशील देश में जहाँ टी० बी० रोगियों की संख्या 10 मिलियन है वहां अभी इसका लाभ नहीं मिल पाया है। ग्रेटर बाम्बे म्यूनिसिपल कारपोरेशन ने दो लाख रुपयों की लागत से 100 रोगियों पर जो प्रयोग किए हैं उसके अच्छे परिणाम मिले हैं। महाराष्ट्र सरकार की टी० बी० विरोधी संस्था ने भी चिकित्सा शिविर लगाया और उसके भी सुखद परिणाम प्राप्त हुए हैं।

3. डाइनोसारों के विलुप्त होने का कारण

मिआमी यूनिवर्सिटी के भूगर्भशास्त्र विभाग के अध्यक्ष डा० सेसारे एमिलिआनी ने इ ओ एस (EOS) मैगजीन के जून 1980 अंक में प्रकाशित एक शोधपत्र में बताया है कि डाइनोसारों का विलुप्त होना धरती पर ताप के बढ़ने के कारण था। इनके अनुसार आज से 65 मिलियन वर्ष पूर्व पत्थर और धातु की 7 मील चौड़ी पट्टी समुद्र में गिर गई। इसके कारण पर्याप्त ऊर्जा उत्पन्न हुई और पृथ्वी पर ताप तीव्र गति से बढ़ गया। इसके प्रभाव से डाइनोसारों का सफाया ही हो गया। डा० एमिलिआनी का कहना है कि उन्होंने डा० लुइस अल्वारेज की उस थियरी को और बढ़ाया है जिसका प्रतिपादन 1979 में हुआ था। नोबेल पुरस्कार विजेता भौतिक विज्ञानी डा०. अल्वारेज के अनुसार एक विशाल उल्कापिण्ड अंतरिक्ष से

पृथ्वी पर आ गिरा। इससे धूल का बड़ा बादल छा गया। इस बादल के कारण सूर्य की किरणों के धरती तक न पहुँच सकने के कारण बहुत से पेड़-पौधे नष्ट हो गये। इस प्रकार डाइनोसारों का भोजन समाप्त हो गया। इसके अतिरिक्त पृथ्वी का तापक्रम घट गया। डा० अल्वारेज ने डाइनोसारों के मरने के दो कारण बताये। एक तो भोजन का अभाव और दूसरे ठंड। किन्तु डा० एमिलिआनी इसकी व्याख्या दूसरे तरह से करते हैं। इनके अनुसार डाइनोसार अपने शरीर से जल (पसीना) तेजी से न निकाल सकने के कारण अपना शरीर ठंडा नहीं रख सके। बढ़े हुए ताप के प्रभाव से अन्य पौधों और जन्तुओं का भी सफाया हो गया। छोटे जानवरों की अपेक्षा डाइनोसारों में अधिक गर्मी से बचाव की क्षमता कम होने के कारण डाइनोसार तो मृत्यु को प्राप्त हो गये किन्तु छोटे जानवर बच गये।

4. नवीन जननरोधी यौगिक की खोज

कलकत्ता के इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ एक्सपेरिमेन्टल मेडिसिन (II E M) की दो महिला वैज्ञानिक डा० अणिमा प्रकाशी और डा० चन्द्रिमा साहा ने अरिस्टोलोकिया (Aristolochia indica) नामक पौधे की जड़ से दो ऐसे यौगिक खोज निकाले हैं जिनमें जननक्षमता को रोकने के गुण पाये गये हैं। इसका परीक्षण चूहे पर सफलतापूर्वक किया जा चुका है। डा० प्रकाशी ने दावा किया है कि इस जननक्षमता रोधी कर्मक के सस्ते, निरापद और प्रभावशाली होने की संभावनायें हैं। यह अनुसंधान कार्य इण्डियन कौंसिल आफ मेडिकल रिसर्च द्वारा प्रवर्तित था।

5. जेनेटिक इन्जीनियरी का कमाल

नई दिल्ली स्थित आल इण्डिया इंस्टीट्यूट आफ मेडिकल साइन्सेज (AIIMS) के वैज्ञानिकों के एक दल ने जेनेटिक इंजीनियरी में कमाल कर दिया है। इस दल ने शरीर से बाहर टेस्ट ट्यूब में अलग किस्म की कोशिकाओं के सायुज्य द्वारा एन्टी बाडी (रोग प्रतिकारक) का निर्माण कर लिया है। इस दल के नेता डा० जी० पी० तलवार हैं।

एन्टी बाडी एक प्रकार का विशेष पदार्थ है जिसका निर्माण शरीर रोग के कीटाणुओं (जीवाणुओं) से बचाव के लिए करता है। शरीर के बाहर टेस्टयूब में रोग प्रतिकारक के निर्माण ने चिकित्सा विज्ञान में संभावनाओं के नये द्वार खोल दिये हैं।

6. सिगरेट की अपेक्षा बीड़ी अधिक हानिकर

बम्बई की टाटा मेमोरियल कैंसर रिसर्च सेन्टर की नवीनतम खोज के अनुसार भारतीय सिगरेट की अपेक्षा बीड़ी अधिक हानिकर है। इस केन्द्र के वैज्ञानिकों ने चार ब्रैन्ड (किस्म) की बीड़ियों और आठ किस्म के सिगरेटों के रासायनिक परीक्षण के बाद यह मत व्यक्त किया है कि सिगरेट की अपेक्षा हल्का होने के बावजूद बीड़ी प्रति इकाई भार के हिसाब से भारतीय सिगरेटों की तुलना में अधिक नुकसान पहुँचाती है।

7. गठिया की नयी ओषधि

रीजनल रिसर्च लैबोरैटोरी, हैदराबाद और यूनिकेम लैबोरैटोरीज, बम्बई में आपसी सहयोग द्वारा "ट्रोमारिल" नामक ओषधि तैयार कर लिया है जो गठिया और इससे सम्बन्धित रोगों के लिए लाभदायक है। यह दवा अब बाजार में बिकने लगी है। बम्बई की इस फर्म के अध्यक्ष श्री ए० वी० मोदी के अनुसार इस ओषधि में सूजन या जलन रोधी गुण विद्यमान हैं। इस ओर कई देश आकर्षित हुये हैं और विदेशों में भी इस दवा की मांग है।

8. धान की भूसी से सीमेन्ट

तांजुग-पूल (TANJUG-POOL) की एक रिपोर्ट के अनुसार श्री लंका के सिलोन इंस्टीट्यूट आफ साइन्टिफिक एण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च (CISIR) के खनिज तकनीकी विभाग ने धान की भूसी से सीमेन्ट बनाने की एक नई तकनीक विकसित कर लिया है। इससे श्री लंका की दो समस्याओं-सीमेन्ट की कमी और पर्यावरण संकट का आंशिक रूप से समाधान संभव हो गया है। इस विधि से सीमेन्ट तैयार करने में पारम्परिक रूप से जो सीमेन्ट बनाई

जाती उसकी तुलना में लागत एक तिहाई ही लगती है। इस सीमेन्ट का उपयोग उन सभी भवनों के बनाने में किया जा सकता है जहाँ बहुत अधिक मजबूती की आवश्यकता नहीं है।

भारतीय वैज्ञानिक (इन्जीनियर) श्री पी० के० मेहता ने इसके बहुत पूर्व ही धान की भूसी से सीमेंट बनाने की विधि विकसित कर ली थी। श्री मेहता ने धान की भूसी को जलाकर उसमें चूना मिलाया और नये किस्म का सीमेंट तैयार कर दिया। श्री मेहता के अनुसार भूसी में सिलिका होता है जो जलने के बाद वायु को दूषित कर देता है और सिलिकासिस, सांस के रोग, का कारण बनता है। भूसी से सीमेंट बनाने पर इसकी संभावना नहीं रहती और पर्यावरण प्रदूषित होने से बच जाता है। (देखें, 'विज्ञान' अक्टूबर 1979 अंक)।

9. नीम के तेल के खतरे

कुआलालम्पुर (मलेशिया) के विश्वविद्यालय के अस्पताल में किये गये शोध कार्यों से ज्ञात हुआ है कि "मारगोसा" (नीम के तेल) के सेवन से बच्चों में मस्तिष्क को क्षति पहुँचती और कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। अस्पताल के निदेशक डा० हाजी अब्बास का कहना है कि बच्चों में यकृत, गुर्दा और मस्तिष्क को अत्यधिक हानि होती है। यह अध्ययन डा० सिन्निआह और डा० एस० जी० बस्केरान ने किया। डा० सिन्निआह के अनुसार तेल के वाह्य इस्तेमाल से कोई नुकसान नहीं होता किन्तु खाने में नीम के तेल का प्रयोग बहुत हानिकर है। रोगी बच्चों की जीवोतिपरीक्षा (बायोप्सी) और चूहे पर तेल के प्रभाव के परीक्षण के बाद पता चला कि तेल को खाने के काम में लाने से यकृत, गुर्दा और मस्तिष्क क्षति ग्रस्त हो जाता है। इन वैज्ञानिकों का ऐसा मत है कि मलेशिया के अतिरिक्त भारत, श्री लंका और इण्डोनेशिया, जहाँ तेल का इस्तेमाल खाने में करते हैं, वहाँ रोग की आशंका अधिक है। इस कारण इन देशों में नीम के तेल का भोजन में इस्तेमाल किये जाने पर रोक लगा दी जानी चाहिये।

10. अफीम के पौधों के अपशिष्ट से ओषधि

सेन्ट्रल इंस्टीट्यूट आफ मेडिसिनल एण्ड एरोमैटिक प्लांट्स, लखनऊ के निदेशक डा० अख्तर हुसैन के अनुसार अफीम के पौधे का रद्दी भाग जो फेंक दिया जाता है, उससे औषधि बनाई जा सकती है। इससे विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है। अपने एक शोध पत्र में उन्होंने बताया है कि अफीम के पौधे का पुआल ऐल्केलॉइड्स या क्षारोद का अच्छा स्रोत है। ये क्षारोद मारफीन, पापावैरीन और कोडीन हैं। इन रसायनों की मांग विदेशों में अत्यधिक होने के कारण इससे विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है।

11. मन पसंद बछड़ा या बछिया पैदा कीजिए

नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय दुग्धशाला विकास बोर्ड के अध्यक्ष डा० वी० क्यूरियेन ने बताया कि अमेरिकी वैज्ञानिकों ने पशु अनुसंधान के क्षेत्र में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है। कृत्रिम गर्भाधान द्वारा अब अपनी रुचि के अनुसार बछड़ा या बछिया पैदा कराया जा सकता है। अमेरिकी वैज्ञानिकों ने एक ऐसी तकनीक ढूढ़ लिया है जिसके द्वारा नर और मादा बच्चे पैदा करने वाले शुक्राणुओं को अलग किया जा सकता है और इसके उपयोग से कृषि के लिए बैल या दूध के लिए गाय का चुनाव कर सकते हैं। डा० क्यूरियेन ने इसे पशुपालन के क्षेत्र में ऐतिहासिक घटना कहा और ऐसी आशा व्यक्त की कि अमेरिका से शीघ्र ही यह तकनीक भारत में आ जायेगी।

12. निकट संबंधियों में विवाह के दुष्परिणाम

तमिलनाडु के तंजौर जिले 1-15 वर्ष की वय वाले बच्चों में एक विचित्र प्रकार का मस्तिष्क रोग देखा गया है। इसका संचरण (transmission) आनुवंशिक ढंग का है। तंजौर मेडिकल कालेज हास्पिटल के तंत्रिका चिकित्सक (neurophysician) डा० पी० ए० भास्कर के अनुसार इस रोग में आँख, मस्तिष्क और गुर्दा प्रभावित होता है। जीवन के कुछेक महीनों में ही आँखों में मोतियाबिन्द हो जाना, मस्तिष्क अविकिसित होना, हाथ और

पावों का हिलना (अस्थिर रहना) और मूत्र में ऐमिनो अम्लों का बड़ी मात्रा में निकलना रोग के प्रमुख लक्षण हैं। इस रोग के रोगी बाद की अवस्था में अपंग हो जाते हैं। यह रोग उन परिवारों में अधिक है जहाँ निकट सम्बन्धियों में व्याह रचाये जाते हैं।

13. कार्बन डाइ ऑक्साइड प्रदूषण से कृषि को हानि

भारतीय कृषि अनुसंधान शाला, नई दिल्ली के कृषि वैज्ञानिक प्रोफेसर एस० के० सिन्हा ने स्टाकहोम में एक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी में बोलते हुए बताया कि कार्बन डाइ ऑक्साइड प्रदूषण से भारत और तीसरी दुनिया की फसल की उपज में वृद्धि की संभावनायें तो हैं किन्तु तभी तक जब तक कि इस प्रदूषण से विश्व गर्म न हो जाये। प्रोफेसर सिन्हा 9 फरवरी 1981 को रायल स्वेडिश अकादमी आफ साइन्सेज के सम्मुख 'कार्बन डाइ ऑक्साइड, जलवायु और ऊर्जा' पर बोल रहे थे। प्रोफेसर सिन्हा के अनुसार यह निश्चित है कि विश्व का तापमान सन् 2030 तक 2°C बढ़ जायेगा। इस बढ़े हुए ताप के कारण वाष्पीकरण में वृद्धि होगी और इसका कुप्रभाव चावल और गेहूँ की फसलों पर पड़ेगा। चावल की कुछ किस्मों में, 2-3°C ताप बढ़ जाने से, 25-40 प्रतिशत उपज में कमी होगी। इसी प्रकार गेहूँ की बालियों में दानों की संख्या कम हो जावेगी यदि तापक्रम 20°C से 23°C हो जाये। बढ़े हुए ताप के प्रभाव से नाइट्रोजन एसीमिलेशन (स्वांगीकरण) घट जाता है और दलहनी फसलों में जैविक नाइट्रोजन यौगिकीकरण (biological nitrogen fixation) भी कम होगा। इसके अतिरिक्त बढ़े हुए तापमान और आर्द्रता के कारण फसल रोग ग्रस्त भी हो जावेगी।

प्रोफेसर सिन्हा यह मानते हैं कि प्रदूषण से ताप न बढ़े तो कृषि को लाभ पहुँचेगा। इस प्रकार कार्बन डाइ ऑक्साइड प्रदूषण से कृषि को लाभ की सम्भावना कम किन्तु हानि की आशंका अधिक है। अमेरिकी वैज्ञानिक श्री गुस सेप्थ (Gus Septh) ने प्रोफेसर सिन्हा के विचारों से अपनी सहमति जताई है।

14. 10 वैज्ञानिकों को शान्ति स्वरूप भटनागर पुरस्कार

वर्ष 1980 का शान्ति स्वरूप भटनागर पुरस्कार निम्नलिखित वैज्ञानिकों को प्रदान किया गया है:

1. **भौतिकी विज्ञान**: इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ साइन्स बैंगलोर के प्रो० एन० मिकुन्दा और भाभा एटॉमिक रिसर्च सेन्टर, बम्बई के डा० एन० एस० सत्यमूर्ति।

2. **जीव विज्ञान**: जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली के प्रो० आशीष दत्ता और कुमायूँ विश्वविद्यालय नैनीताल के डा० जे० बी० सिंह।

3. **इन्जीनियरी विज्ञान**: डिफेन्स मेटलर्जिकल रिसर्च लैबोरैटोरी, हैदराबाद के डा० वी० एस० अरुणाचलम।

4. **चिकित्सा विज्ञान**: इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ मेडिकल हेल्थ एण्ड न्यूरो साइन्सेज, बैंगलोर के डा० पी० आर० अदिगा और प्रो० टी० देशिराजु।

5. टाटा इंस्टीट्यूट आफ फंडामेंटल रिसर्च, बम्बई के प्रो० आर० श्रीधरन को **गणित** में, नेशनल जियोफिजिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट, हैदराबाद के डा० जे० जी० नेगी और इण्टियन इंस्टीट्यूट आफ टेक्नोलॉजी, बम्बई के प्रो० बी० के० साहू को **भूविज्ञान** में।

6. 1980 में **रसायन विज्ञान** में किसी को भी पुरस्कार नहीं दिया गया।

फार्म 4/FORM IV

[नियम 8 देखिए/(See Rule 8)]

1.	प्रकाशन स्थान	इलाहाबाद
2.	प्रकाशन अवधि	प्रत्येक मास की 15 दिनांक
3.	मुद्रक का नाम	श्री के० राय
	(क्या भारत का नागरिक है ?)	हाँ
	(यदि विदेशी है तो मूल देश)	
	पता	प्रसाद मुद्रणालय, इलाहाबाद
4.	प्रकाशक का नाम	डा० शिवगोपाल मिश्र
	(क्या भारत का नागरिक है ?)	हाँ
	(यदि विदेशी है तो मूल देश)	
	पता	रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
5.	संपादक का नाम	डा० जगदीश सिंह चौहान
	(क्या भारत का नागरिक है ?)	हाँ
	(यदि विदेशी है तो मूल देश)	
	पता	प्रवक्ता रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद–2

मैं, शिवगोपाल मिश्र एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

शिवगोपाल मिश्र

प्रकाशक के हस्ताक्षर

ता० 2-3-81

प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

मानव एक नंगा कपि है !

● अरविन्द मिश्र
प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद वि०वि०

वर्तमान विश्व के जंगलों में लगभग 193 किस्म के बन्दरों व वनमानुषों या कपियों (ऐप) का अस्तित्व है। इन सभी के शरीर बालों से ढके हैं। परन्तु एक कपि इसका अपवाद है। उसके शरीर पर बाल नहीं के समान हैं। उसका शरीर नंगा है। वह नंगा कपि है। उसने ही स्वयं का नाम 'मानव' रख लिया है। वह सबसे विकसित, बुद्धिमान, सुसंस्कृत व सभ्य किस्म का कपि है। यह बुद्धिमान किन्तु 'नंगा' कपि इस पृथ्वी पर कहाँ से आ गया ? धरा के अन्य जीवों, पशु-पक्षियों से उसका क्या सम्बन्ध है ? वह बुद्धिमान कैसे हुआ ? यही वे प्रश्न हैं, जिन्हें आधार मानकर इस व्याख्यान की पृष्ठभूमि तैयार की गयी है।

मानव की धार्मिक मान्यतायें

अपने विकास के दौरान जब मानव ने पहले-पहल 'चिन्तन' शुरू किया तो उसके मन में यह प्रश्न विशेष रूप से कौंधा कि आखिर वह कौन है और कहाँ से आया है ? अपने जिज्ञासु मन की तुष्टि के लिये ही मानव ने अपने उद्भव के सन्दर्भ में कई रोचक कल्पनायें भी कीं। देवी-देवताओं जैसी "अलौकिक सत्ताओं" की उसने स्वतः खोज कर डाली और उनसे अपने उद्भव, अस्तित्व आदि को संयुक्त कर दिया। अज्ञानवश उसने कई अन्धविश्वासों को भी जन्म दिया। उसने धार्मिक मान्यताओं का भी सृजन किया, अपने सुख-शान्ति और तमाम अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर के लिए। इन्हीं धार्मिक मान्यताओं ने उसे उसके जन्म, मृत्यु सम्बन्धी सभी गूढ़ समझे जाने वाले प्रश्नों का यथोचित उत्तर दिया, जिनका स्पष्टतः कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। अब मानव की जिज्ञासु प्रवृत्ति बहुत कुछ 'शान्त' हो चली थी—वह संतुष्ट हो चला था। अभी पिछली शताब्दी के मध्यकाल तक ऐसा निर्विवाद माना जाता था कि मानव का अलौकिक सृजन हुआ है और पृथ्वी के अन्य पशु-पक्षियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। विश्व के लगभग सभी पौराणिक साहित्य में, मानव के उद्भव को लेकर रोचक कथायें हैं। हमारी प्रसिद्ध पौराणिक मान्यता यही है कि आज का मानव मनु और श्रद्धा दो महामानवों का वंशज है। यह दम्पति पुराणोक्त महाप्रलय में भी बच गया था और तदन्तर इसी ने नयी सृष्टि का संचार किया। प्रसिद्ध ईसाई ग्रन्थ व बाइबिल भी मानव उत्पत्ति के पार्श्व में इसी भाँति साक्ष्य देता है और आदम तथा हौव्वा को आज के मानवों का जनक बताता है। वैसे आज भी विश्व की अधिकांश धर्मभीरु जनता भ्रमवश इन्हीं मान्यताओं में विश्वास रखती है—परन्तु मानवोत्पत्ति को लेकर अब तक की वैज्ञानिक विचारधारा यह रही है कि वह अन्य पशुओं से ही विकसित एक समुन्नत सामाजिक पशु ही है।

मानवीय चिन्तन के इतिहास का वह अविस्मरणीय क्षण

मानव के उद्भव को लेकर जब धार्मिक मान्यतायें अपने चरमोत्कर्ष पर जन मानस को प्रभावित कर रही थीं, मानव चिन्तन के इतिहास में, पिछली शताब्दी के छठवें दशक में एक "धमाका" हुआ। एक तत्कालीन महान विचारक चार्ल्स डार्विन (1809-1882) ने सबसे पहले

अपने अध्ययनों के आधार पर यह उद्घोषणा की कि मानव, जैवीय विकास(Biological evolution) का ही प्रतिफल है और अन्य पशुओं के क्रमानुक्रमिक विकास के उच्चतम बिन्दु पर आता है। इस 'कटु सत्य' का गहरा प्रभाव पड़ा। अनेका धर्मावलम्बियों ने डार्विन को बुरा-भला कहना शुरू किया। सामान्य लोगों की ओर से भी उन्हें अपमान, तिरस्कार एवं उपेक्षा मिली। लोग उन्हें घोर नास्तिक, अहंवादी, भ्रमित व पागल जैसे विशेषणों से विभूषित करने में अघाते न थे। डार्विन इन सबसे यद्यपि मूक द्रष्टा की भाँति तटस्थ से थे, किन्तु फिर भी वे अपने निष्कर्ष पर अडिग थे। डार्विन के विचार तर्कसम्मत, तथ्यपूर्ण एवं प्रमाणसंगत थे। वे इस निष्कर्ष पर वर्षों के शोध व चिंतन से पहुँचे। एच० एम० एस० बीगल पर की गयी अपनी महत्वपूर्ण यात्रा के दौरान उसने कई द्वीपसमूहों (मुख्यतः गैलापैगास द्वीप समूह) पर जाकर पशु-पक्षियों के आकार-प्रकारों, विभिन्नताओं और विकासक्रम का गहन अध्ययन किया था। वे सृष्टि विकास के मर्म को समझ गये थे।

डार्विन ने वर्तमान कपियों और मानवों के बीच की एक विलुप्त हो गयी कड़ी (Missing link) की ओर विचारकों का ध्यान आकर्षित किया था। उस 'लुप्त कड़ी' की खोज जोर शोर से शुरू हो गयी। यह बताना आवश्यक है कि डार्विन ने कभी भी मानव को बन्दरों का सीधा वंशज नहीं कहा था। डार्विन का संकेत बस यही था कि मानव और कपियों के संयुक्त पूर्वज कभी एक थे। कपि जैसे, जिस प्राणी से पहले प्रतिनिधि 'मानव आकृति' का जो स्वरूप उभरा रहा होगा वह विलुप्त हो चुका है और इस बात की पुष्टि के लिए उसकी खोज होनी चाहिए।

पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध और आज तक के मानव विकास सम्बन्धी अवधारणाओं का इतिहास बस उसी 'विलुप्त कड़ी' के लिए सम्पन्न हुई खोजों में प्राप्त बन्दरों, कपियों व मानवों के तरह तरह के जीवाश्मों (Fossil) पर ही आधारित है।

नर-वानर कुल के सदस्य और उनका वैकासिक इतिहास

आधुनिक विकासविदों का मानना है कि आज से लगभग 40 करोड़ वर्ष पूर्व पृष्ठवंशी प्राणियों का उद्भव शुरू हुआ। पहले मछलियों के आदि पूर्वज आये, फिर मछलियाँ जन्मी, मछलियों ने उभयचरों (मेंढक कुल) को जन्म दिया। कालान्तर में इन्हीं उभयचरों की एक शाखा से सरीसृपों (Reptiles) का विकास हुआ। इन्हीं सरीसृपों की एक शाखा से स्तनपायी सरीखे एक सरीसृप 'साइनोग्नैथस' का जन्म हुआ। इसी 'साइनोग्नैथस' से स्तनपोषी प्राणियों का विकास हुआ होगा। यही वह समय भी था जब पक्षी सदृश डायनासोर (सरीसृप) से पक्षियों का भी विकास होना प्रारम्भ हुआ था।

सरीसृप डाल से विकसित हो रहे स्तनपोषियों की एक शाखा ने कीटभक्षी छछूँदर जैसे प्राणियों को जन्म दिया। अपने विकास क्रम में, इन प्राणियों ने जमीन को त्यागकर वृक्षों को अपना आवास बनाया--इनका जीवन 'हवाई' हो गया। यह वही समय था जब स्थल पर खूँखार मांसाहारी स्तनपायी जैसे बिलाव परिवार के सदस्य (बाघ, शेर, चीता, तेन्दुआ) तथा अन्य आक्रामक पशुओं का राज्य था। जमीन पर 'अस्तित्व का संघर्ष' अपना नृशंस रूप धारण कर चुका था। स्थलीय जीवन अब खतरों से भर गया था। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये छछूँदर जैसे स्तनपोषी ने जमीन त्यागकर वृक्षों की शाखाओं पर शरण ली। इनसे ही आधुनिक बन्दरों (नये संसार 'अमरीका' व पुराने 'एशिया और यूरोप' के वर्तमान बन्दर) के आदि पूर्वज का विकास हुआ जो "प्रासिमियन्स" कहलाते हैं। इन्हीं 'प्रासिमियन्स' से दो शाखायें उपजीं, जिनसे आधुनिक बन्दरों से मिलते-जुलते प्राणियों (लीमर, लोरिस व टार्सियस) का विकास हुआ। इनमें मुख्य विशेषता थी, इनकी आँखों का मुखमण्डल पर सामने की ओर आ जाना। ऐसी 'विशिष्टता' पहले के प्राणियों में नहीं थी। यह मस्तिष्क के उत्तरोत्तर विकास का परिणाम था। लोरिस व टार्सियस की दृश्य क्षमता अब, 'त्रिविमदर्शी' नेत्रों (Stereoscopic Vision) के कारण अन्य प्राणियों की
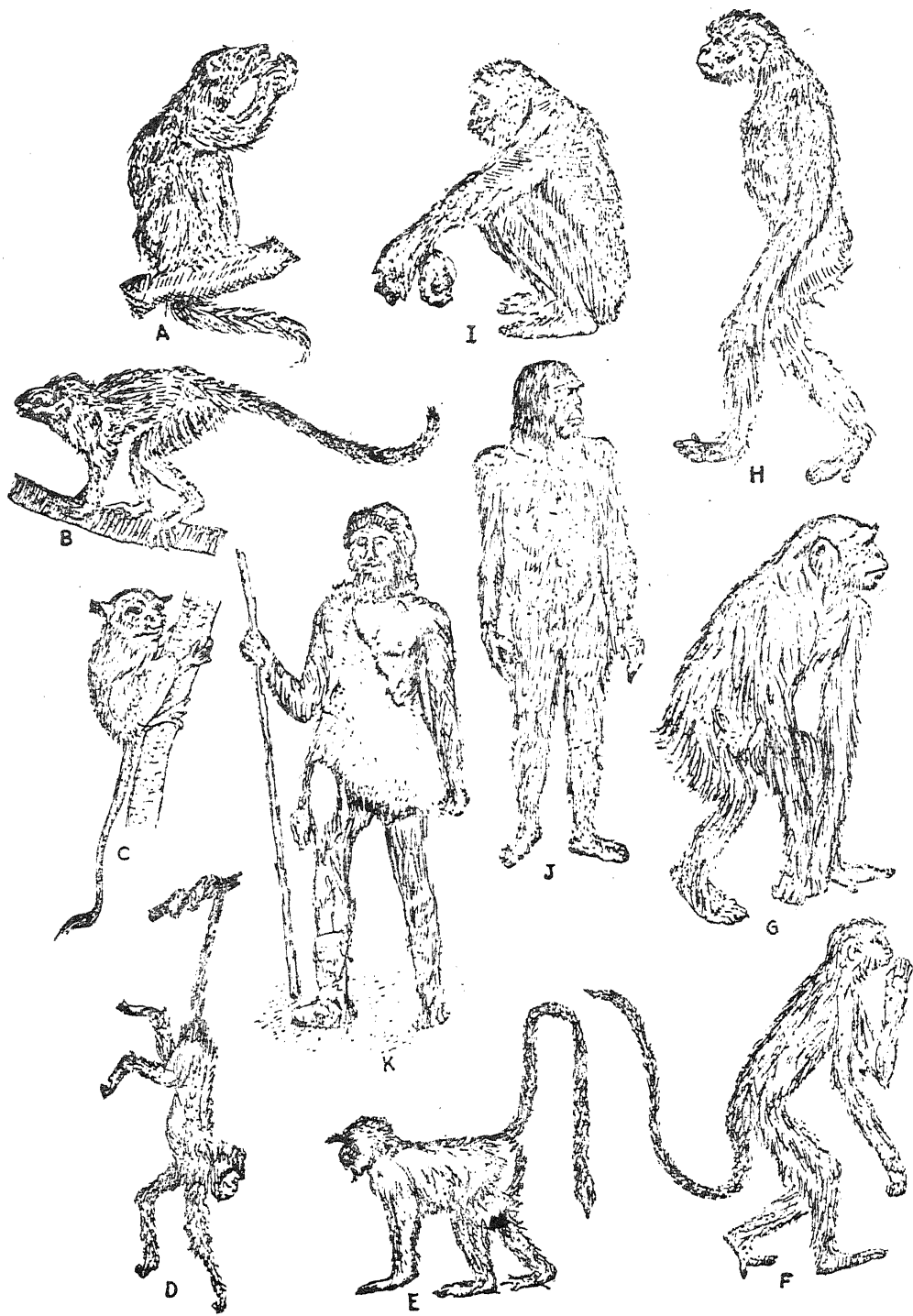
चित्र 1. विकास क्रम की विभिन्न श्रेणियां

तुलना में परिष्कृत हो गयी थी। प्राणी विकास-क्रम में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। लोरिस व टार्सियस के वंशज आज भी अफ्रीकी जंगलों में बहुप्राप्य हैं।

ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि इन वैकासिक प्रक्रियाओं का केन्द्र स्थल अफ्रीका था वहाँ के विराट जंगलों में विकास की एक विराट यात्रा चुपचाप सम्पन्न हो रही थी। आज के विकासविद् अफ्रीका को मानव विकास का पालना मानते हैं। आज से लगभग 7 करोड़ वर्ष पूर्व, आधुनिक लीमर व टार्सियस के संयुक्त पूर्वज 'प्रासिमियन्स' के क्रमानुक्रमिक विकास से जहाँ अफ्रीकी जंगलों में एक ओर बन्दरों का विकास हुआ तो वहीं इनसे ही कालान्तर में कपि सदृश प्राणी 'एनिप्टोपिथेकस' का विकास हुआ। इसी कपि सदृश प्राणी ने आज के वर्तमान कपियों व मानव के संयुक्त पूर्वज "ड्रायोपिथेकस" को विकसित किया। 'ड्रायोपिथेकस' पूरा 'चौपाया' ही नहीं था बल्कि उसके दोनों अग्रिम हाथ कभी-कभी स्वतन्त्र कार्य कर लेते थे, तब वह दो पैरों पर ही खड़ा हो चल लेता था।

प्राणी विकास की दूसरी महान घटना का सूत्रपात 'ड्रायोपिथेकस' के दोनों अग्रिम हाथों के स्वतन्त्र हो जाने से हो गया था। एनिप्टोपिथेकस ड्रायोपिथेकस व अन्य वानर पूर्वजों के जीवाश्म उत्खननों के दौरान प्राप्त हुये हैं। इन्हीं जीवाश्मों के अध्ययन से यह पता चलता है कि 'ड्रायोपिथेकस' के एक शाखा से लगभग 2 करोड़ वर्ष कपियों या वनमानुषों का वंशक्रम चला—जिससे आज के गोरिल्ला, चिम्पान्जी, गिब्बन व ओरंगउटान विकसित हुये। ये सभी झुक कर चलते थे, मुँह सामने न होकर नीचे की ओर झुका सा रहता था। इसका कारण यह था कि इनमें रीढ़ की हड्डी सीधी न होकर झुकी अवस्था में थी।

मानव के आदि स्वरूप, 'रामापिथेकस' का जन्म

'ड्रायोपिथेकस' की दूसरी शाखा से पहली मानव आकृत उभरी—'रामापिथेकस' के रूप में। 'रामापिथेकस' के जीवाश्म अवशेष भारत की शिवालिक पहाड़ियों (चण्डीगढ़) में भी मिले हैं। मानव का आदि स्वरूप लगभग 1½ करोड़ वर्ष पूर्व प्रादुर्भूत हुआ था। यह अपेक्षाकृत सीधा खड़ा हो सकता था। अग्रपाद पूर्णतया स्वतन्त्र होकर 'हाथों' का स्वरूप ले चुके थे। यह अपनी 'टांगों' पर सुगमता से चल सकता था, भाग दौड़ कर सकता था। मस्तिष्क अच्छी तरह विकसित हो गया था। मस्तिष्क जो सोचता था, हाथ उसे क्रियान्वित रूप देने का प्रयास करते थे। मस्तिष्क और स्वतंत्र हाथों के इस संयोजन ने इसे एक अद्‌भुत क्षमता प्रदान कर दी थी, जिसने विकास प्रक्रिया को मानव तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त किया। समय बीतता गया। 'रामापिथेकस' का तन-मन और विकसित तथा अनुकूलित होता गया। इसका ही विकसित स्वरूप 'आस्ट्रैलोपिथेकस' कहलाया। आस्ट्रैलोपिथेकस ने ही आगे चलकर आधुनिक मानवों के सीधे पूर्वजों (होमो इरेक्टस; Homo erectus) को जन्म दिया। 'होमो इरेक्टस' (सीधा मानव) एक लगभग पूरा मानव बन चुका था। यह पूरी तरह से सीधा होकर चलता था, दौड़ता था, झुंडों में जंगली पशु-पक्षियों का आखेट करता था। इसके बहुत से व्यवहार प्रतिरूप हमारे जैसे ही थे। जर्मनी की नियेन्डर्थल घाटी में इनके वंशजों के जीवाश्म मिले हैं जो 'नियेन्डर्थल मानव' के नाम से जाने जाते हैं। होमोइरेक्टस का ही एक पूर्ण विकसित स्वरूप "क्रोमैगनान मानव" कहलाया। क्रोमैगनान मानव (Homo sapiens Jussils) भी आधुनिक मानवों (Homo sapiens; बुद्धिमान मानव) के स्वरूप में अपना भविष्य सुरक्षित करके विलुप्त हो गया। आधुनिक मानव का विकास अभी भी हो ही रहा है—उसके आगामी स्वरूपों का निर्धारण भविष्य करेगा। परन्तु विकास की दृष्टि में, भविष्य, अतीत पर ही अवलम्बित होता है, स्वतंत्र निर्णय की क्षमता उसके वंश की बात नहीं।

आज के विश्व में, होमोसेपियेन्स मानव की कई जातियाँ हैं, जो विभिन्न जलवायुओं, व अन्य भौगोलिक कारकों के प्रभाव में रूप-रंग में भिन्न हैं। प्रमुख मानव जातियाँ (Sub species) हैं—काकेसॉयड, गोरी जाति-(आर्य ?) नीग्रायड (काली जाति) मांगोलॉयड (पांडु रंग वाली मंगोल, साइबेरियन, तिब्बत तथा चीन वासी जाति),

स्तनधारी जैसा सरीसृप (साइनोग्नैथस?)

मानव विकास का लम्बा मार्ग

चित्र 2.
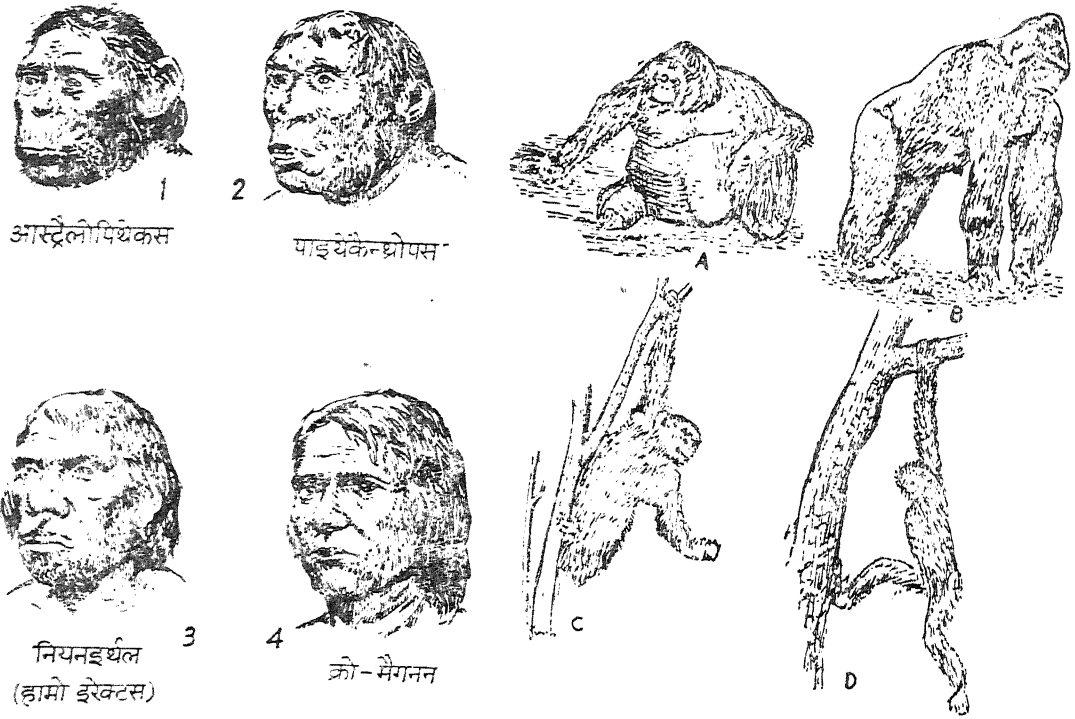
चित्र 3. मानव किमान क्रम की विभिन्न श्रेणीयां

आस्ट्रेलॉयड (भूरी त्वचा वाले आस्ट्रेलियन) आदि। ये सभी प्रजातियाँ, होमोसेपियन्स की ही वंशज हैं। अफ्रीकी मूल का वासी होमोइरेक्टस ही आधुनिक मानव का सीधा आदि पूर्वज जिसके वंशज कालान्तर में विभिन्न मार्गों से, विश्व के कोने-कोने में फैल गये।

मानव व्यवहार का विकास : गुफा जीवन

आज से लगभग दस या पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व का मानव गुफा-कन्दरा वासी था। गुफायें प्राकृतिक रूप से 'वातानुकूलित' होती हैं, शीत ऋतु में गरम व ग्रीष्म में ठंडी। इस तरह, मानव का तत्कालीन गुफा आवास आज के विलासिता पूर्ण भव्य वातानुकूलित भवनों के समतुल्य था। मादायें, अपनी विशिष्ट शारीरिक संरचना एवं क्रियाविधि के कारण गुफाओं तक ही सीमित रहती थीं। बच्चों के लालन-पालन का महत्वपूर्ण जिम्मा भी मुख्यतः उन्हीं पर था। हाँ, आस-पास के साग-सब्जियों को प्रायः चुन लाती थीं। बस उनका यही काम था। गुफाओं के दीवारों पर उनके द्वारा खाली समय में चित्र भी बनाया जाता था—परन्तु इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता कि वे चित्र केवल मादाओं द्वारा ही बनाये गये हों। मादाओं को गुफाओं में छोड़कर 'कबीले' के सभी नर सदस्य झुंडों में बँट कर शिकार करते थे।

आज से लगभग दस लाख वर्ष पूर्व, होमोइरेक्टस अफ्रीकी जंगलों में राज्य करता था। तब मानव आबादी बहुत कम थी—मुश्किल से एक हजार 'होमोइरेक्टस' मानव। संख्या कम होने के कारण उनमें एक दूसरे से सम्पर्क बना रहता था। वह स्थिति एक बृहद 'कबीलाई' परिवार जैसी थी। कबीले के सभी नर सदस्य योजनायें बनाकर, झुंडों में बँटकर शिकार करते थे। शाम तक

'शिकार' होता था। 'शिकार' के उपरान्त वे 'भोजन' को लेकर आपस में उसका 'आदर्श' बँटवारा करते थे। चाहे वह दल का सबसे हृष्ट-पुष्ट बलवान व्यक्ति हो या सबसे कमजोर, सबको बराबर-बराबर 'बाँट' (हिस्सा) मिलता था। शिकार स्थल पर ही वे अपना-अपना हिस्सा उदरस्थ कर लेते थे। तब उन्हें याद आता था कि उनके इन्तजार में कई जोड़ी आँखें उत्सुकता से उनकी राह देखती होंगी। बचे खाने को वे घर पर अपनी भूखी 'मादा' व बच्चों के लिए ले जाते थे। यह नित्यकर्म था। यह उनकी दिनचर्या बन गयी थी।

मानव का तत्कालीन सामाजिक जीवन

मानव मूलतः 'एकपत्नीक' प्रवृत्ति रखने वाला है। इस व्यवहार की नींव भी लाखों वर्ष पूर्व 'होमोइरेक्टस' के युग में ही पड़ गयी थी। समूचा मानव कबीला तभी से कई 'पारिवारिक इकाइयों' (Family unit) में बँटा रहता था। हर छोटे से परिवार के भरण-पोषण का जिम्मा नर पर होता था। साथ ही वह उसे बाहरी आक्रमणों से बचाता था।

अन्य पशुओं के ठीक विपरीत मानव का सेक्स जीवन संयमित हो चला था। एक नर मानव, केवल एक ही मादा से सम्पर्क स्थापित कर सकता था। इस प्रक्रिया के 'स्थायित्व' के लिए यह आवश्यक था कि उनमें कोई विशिष्ट आकर्षण व आसक्ति का भाव उपजे। वे एकनिष्ठ हो जायें और यह आकर्षण व एकनिष्ठता का अभाव दम्पतियों के बीच 'प्रेम' की अनुभूति से दूर हो गया। प्रतिदिन शाम को सभी मादायें अपने-अपने नर सखाओं का बाट आतुर नयनों से जोहती रहती थीं। शिकार व भोजनोपरान्त प्रत्येक नर को भी यह आभास हो जाता था कि कोई उनका इन्तजार कर रहा होगा। बस, मानवीय सन्दर्भ में भावनात्मक प्रेम का एक महत्वपूर्ण अध्याय शुरू होता है। इस व्यवस्था से सभी संतुष्ट थे, 'मादाओं' को लेकर अन्य पशुओं की भाँति मल्लयुद्ध नहीं होता था। इस तरह वे अनावश्यक शारीरिक व मानसिक ऊर्जा के अपव्यय से बच जाते थे। होमोइरेक्टस काल में ही सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए कई सुनहले नियमों (Golden rules) का भी विधान था। नजदीकी रिश्तों (भाई-बहन, माँ-पुत्र, पिता-पुत्री आदि), में सेक्स सम्बन्ध स्थापित नहीं होते थे। ऐसे लोगों में 'अगम्यागमन' वर्जित था। इससे कबीले के दूसरे परिवारों के बीच शादी-व्याह के रिश्तों को बढ़ावा मिलता था।

समूचे प्राणि जगत में केवल मानव ही अकेला प्राणी है, जिसका कोई निश्चित 'प्रणय-काल' नहीं होता। प्रत्येक समूचा वर्ष ही उसका प्रणय काल होता है। इस तरह उसे 'सेक्स' से कहीं विरक्ति न हो जाय, प्रकृति ने मानव नारी पुरुष अंगों को विशेष आकर्षक उभार प्रदान कर यौनक्रीड़ाओं को अत्यन्त सुखमय बना दिया। अस्तित्व संचालन की दृष्टि से यह व्यवस्था आवश्यक थी। कुछ विकासविदों का यही मानना है कि मानव शरीर पर से बाल कालान्तर में इसलिए ही विलुप्त हो गये कि वे 'आकर्षक' शारीरिक अंगों को ढँके रहते थे और प्रणय लीलाओं के दौरान दम्पतियों को त्वचा के 'स्पर्शानुभूति' के सुखमय क्षणों से वंचित रखते थे। नंगा मानव शरीर प्रणय क्रीड़ाओं के लिए प्रतिक्षण आकर्षित करता था। पूरे वर्ष भर दम्पतियों की एकनिष्ठता बनी रहती थी। मानव व्यवहार का यह निश्चित क्रम लाखों वर्षों तक चलता रहा। ये सभी गुण मानव की "आनुवंशिकता" में आ गये। वंशानुगत हो गये।

मानव का सांस्कृतिक विकास

हम नहीं बदले हैं, केवल दृश्य बदल गये हैं। आज भी विश्व में सर्वत्र नारियों का अधिकांश प्रतिशत अपने कुशल पारम्परिक, सर्वकालिक "गृहणी" की ही भूमिका निभा रहा है। बच्चों के लालन-पालन का मुख्य भार आज भी नारियों के जिम्मे हैं। पुरुष वर्ग भी अपनी पारम्परिक भूमिका में ही कार्यरत है। प्राचीन युग के जंगलों का स्थान आज शहरों, उद्योग क्षेत्रों, व कृषि भूमि ने ले लिया है। अपने दिन भर के घोर परिश्रम और सफलतापूर्वक कार्य सम्पन्न करने के पश्चात् सायंकाल वह घर 'कुछ न कुछ'

लेकर लौटता है। वह प्रतिदिन नये उत्साह से अपने कार्य संचालन के लिए घर से निकल पड़ता है—ठीक वही उत्साह जैसा कि उसे अपने शिकारी जीवन के दौरान अनुभूत होता था। वह आज भी हर शाम 'कोई न कोई' 'बड़ा तीर' मारने की फिराक में रहता है। यहाँ तक तो ठीक है, परन्तु मानवीय विकास ने पिछले दशकों में आत्म-घाती रुख अपना लिया है।

मानव का सांस्कृतिक विकास (Cultural evolution) केवल दस हजार वर्ष पूर्व होना शुरू हुआ है। हमारी पुराकथाओं में राजा पृथु को श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने सबसे पहले पृथ्वी पर आवास बनाया और उसका दोहन शुरू किया। जब मानव आबादी बढ़ी तो भोजन को संचित करने की आवश्यकता पर लोगों का ध्यान गया। परन्तु 'मांस' संचित नहीं रखा जा सकता था। मानव का ध्यान, फसलों को उगाने की ओर गया। इस तरह उसने कृषि जीवन भी अपना लिया। एक बार वह पुनः 2-3 करोड़ वर्ष पूर्व के आदिपूर्वज कपियों की भाँति शाकाहारी बन गया था। इस तरह मानव के सांस्कृतिक जीवन में पहला अध्याय 'कृषि क्रान्ति' के रूप में जुड़ा। तदन्तर जनसंख्या के बढ़ने व मानव आबादियों के कई जगह अपने आदिम 'कबीलाई' स्वरूपों में बँट जाने की प्रवृत्ति से 'नागरी सभ्यता' भी लगभग 5 हजार वर्ष पूर्व अस्तित्व में आई, जिसे 'नागरी क्रान्ति' (Urban revolution) का भी नाम देते हैं। अभी पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में मानवीय संस्कृति के इतिहास में एक नया सन्दर्भ जुड़ा, औद्योगिक क्रान्ति (Industrial revolution) के रूप में। इससे मानव का भौतिक जीवन सुखमय हुआ—सामान्य जीवन स्तर सुधरा। पिछले दशकों में, 'हरित क्रान्ति' के नाम से एक बार पुनः 'कृषि क्रान्ति' का श्रीगणेश हुआ। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि मानव के सांस्कृतिक विकास का क्या अभिप्राय है? 'संस्कृति' वास्तव में है क्या? 'संस्कृति और सभ्यता' के वैज्ञानिक मानदण्ड क्या हैं?

'संस्कृति' और 'सभ्यता' क्या है ?

मानवीय संस्कृति के दो प्रारूप हैं—1. भौतिक संस्कृति (materil culture) 2. अभौतिक संस्कृति (non material culture)। मानव को पत्थर के औजार बनाने से लेकर अन्तरिक्ष यानों के बनाने तक के बीच की सभी तकनीकी प्रगति उसके भौतिक संस्कृति के विकास का द्योतक है। साथ ही मानवीय चिन्तन के आरम्भिक स्वरूपों-आध्यात्मिक व कलात्मक अभिरुचियों की अभिव्यक्ति के प्राथमिक प्रयासों; गुफाओं-कन्दराओं में आदिम चित्रकारी, लिपियों के आविष्कार से लेकर कविताओं, कहानियों के सृजन व महान पौराणिक ग्रन्थों व महाकाव्यों तथा आधुनिक काव्यों ग्रन्थों—"इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका" के सृजन तक का मानवीय इतिहास उसके अभौतिक संस्कृति यानी चिन्तन के क्रमानुक्रमिक प्रगति की कहानी कहता है। हमारी आध्यात्मिक, काव्यात्मक तथा कलात्मक सभी अभिवृत्तियाँ सांस्कृतिक विकास के इसी पक्ष को दर्शाती हैं। किसी देश के इन दो संस्कृतियों के विकास की सम्मिलित स्थिति उसके सभ्यता के स्तर का निर्धारण करती थी। इस दृष्टि से कभी भारतीय सभ्यता विश्व की अन्य प्राचीनतम सभ्यताओं से परिष्कृति मानी जाती थी। हमारी प्राचीन मोहन जोदड़ों और हड़प्पा की सैन्धव सभ्यता कभी अन्य सभ्यताओं की अपेक्षा अधिक उन्नत थी। अब स्थिति दूसरी है। आज अमरीका विश्व का सबसे विकसित व सभ्य देश माना जाता है। मेरे इस कथन पर विवाद हो सकता है परन्तु उपर्युक्त आधारों पर इस बात की सार्थकता परखी जा सकती है। आज का मानव प्रस्तर युग, तथा कांस्य युग से होता हुआ लौह युग 'स्टील युग' (?) या अन्तरिक्ष युग में प्रवेश कर गया है। परन्तु क्या वह अपने आदिम संस्कारों, पशु-प्रवृत्तियों से पूर्णतया मुक्त हो सका है?

सम्पूर्ण प्राणी जगत में जहाँ अन्य पशु-पक्षियों का केवल जैवीय विकास (Biological evolution) हुआ है, मानव का जैवीय और सांस्कृतिक दो तरह का विकास हुआ है और यह प्रक्रिया चलती जा रही है। परन्तु, जैवीय विकास की तुलना में सांस्कृतिक विकास अभी बिल्कुल नया है। हमारा जैवीय मन अभी भी हम पर दबंग है—हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक विकास का ढाँचा, जैवीय आधारों पर

ही टिका है। कहीं-कहीं, मानव की संस्कृति और सभ्यता ने, अपने जैवीय संस्कारों को ही उभारने का यत्न किया है। हमारी आदि जैवीय 'एक पति-पत्नी निष्ठता' का संदर्भ अब आधुनिक, सामाजिक परिवेश में वैवाहिक संस्कारों से दृढ़ बना दिया जाता है। आज की कुशल 'गृहणी' की आवधारणा की जड़ें हमारे जैवीय अतीत में टिकी हुई हैं। परन्तु साथ ही कई संदर्भों में हमारी सांस्कृतिक प्रगति ने, जैवीय प्रवृत्तियों के विपरीत भी पेंगे बढ़ायी हैं। यही आत्मघाती प्रवृत्ति है। हम अपने जैवीय मन को इतने शीघ्र तो बदल नहीं सकते, क्योंकि इनके पार्श्व में 'जीनों' (Genes) की अभिव्यक्ति है। लाखों वर्षों के विकास के उपरान्त कहीं जा कर जीनों में कोई परिवर्तन आता है। हमारी संस्कृति और सभ्यता के तो बस केवल दस हजार वर्ष ही बीते हैं। आज भी हम पर हमारी जैवीय विरासत हावी है।

स्त्री-पुरुष क्षेत्रों का बंटवारा

आज भी नारियों की "गृह स्वामिनी" की भूमिका प्रकृति सम्मत है। वह उससे सर्वथा विमुख रहकर न तो स्वयं को और ना ही अपने परिवार को सुख-शांति प्रदान कर सकती है। आधुनिक बाह्य कार्यक्षेत्रों (जो प्राचीन शिकार क्षेत्रों के समतुल्य हैं) में नारियों का आना वर्जित होना चाहिये क्योंकि इन कार्य क्षेत्रों में पुरुषों की टोलियों (प्राचीन नर शिकारी झुण्ड) का भ्रमण ही प्रकृतिसम्मत है। परन्तु पिछले दशकों से स्थिति तेजी से ठीक इसके विपरीत होती जा रही है। पुरुषों के आधुनिक 'शिकार क्षेत्रों' में नारियों की भी घुसपैठ होने लगी है। यह स्वयं नारियों, उनके परिवार और अन्ततः मानव समुदाय के लिए घातक होगा। इन्ही परिस्थितियों में हमारे जैवीय और सांस्कृतिक 'मनों' में जोरदार संघर्ष होता है। मानव मन 'व्यथित' हो उठता है। वह सुख और शांति के बारे में नये सिरे से विचार करने लगता है——उससे कहाँ भूल हो गयी है? इस प्रश्न पर उसका ध्यान नहीं जाता। सचमुच यदि हमें सुख और शांति से रहना है तो अपने जैवीय एवं सांस्कृतिक संस्कारों में तालमेल बिठाना होगा, सामंजस्य लाना होगा नहीं तो आधुनिक प्रगति का रास्ता हमें विनाश के गर्त में ढकेल सकता है।

आज की दिन बदिन बढ़ती सामाजिक असंगतियों, बुराइयों के पार्श्व में मानव का अपने 'पशु मन' को ठीक से समझ कर उसके अनुरूप कार्य न कर पाने की असमर्थता ही है। बाह्य आवरणों, कपड़ों से शरीर भर ढँक लेने तथा सुख-ऐश्वर्य की चमक-दमक में हम अपनी मौलिक अभिव्यक्ति नहीं भूल सकते। आज के मानवीय समाज में बलात्कारों (पशु बलात्कार नहीं करते?), तलाकों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। ऐसा नारियों का, पुरुषों के आदिम अधिकार क्षेत्र में घुसपैठ का नतीजा है। आज की अत्याधुनिकाओं व तथाकथित आदर्शवादियों का यह नारा कि नारी हर क्षेत्र में पुरुष से 'कन्धा से कन्धा' मिलाकर चले सर्वथा अजैविकीय, अप्राकृतिक है। प्रकृति ने तो दोनों के कार्यक्षेत्रों का बँटवारा स्वयं कर रखा है। एक 'घर' की 'स्वामिनी' दूसरा घर के बाहर का 'स्वामी'— यही व्यवस्था प्रकृति सम्मत रही है, वर्तमान में है और कम से कम एक लाख वर्ष के पहले नहीं जा सकती। यदि इस 'व्यवस्था' को छिन्न-भिन्न करने के प्रयास वर्तमान गति से चलते रहे तो, जनसंख्या वृद्धि, प्रदूषण आदि मानव जनित समस्याओं के अपने घातक रूप दिखाने के पहले ही हमारे भविष्य का कोई न कोई निर्णायक फैसला हो जायेगा।

यदि हमें सुख-चैन से इस धरा पर रहना है, अपना सफल वंशानुक्रम चलाना है तो अपने 'जैवीय' मन के अनुरूप ही कार्य करना होगा। आज का वैज्ञानिक चिंतन हमें यही मार्ग सुझाता है। विश्व के दार्शनिकों, आम बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों तथा समाज सुधारकों को इन बातों को गम्भीरता से देखना-समझना होगा क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के संचालन का भार मुख्यत: उन्हीं के कन्धों पर रहता है। वैज्ञानिक अपने जीवनकाल में प्राय: लोकप्रिय नहीं हुआ करते। वे केवल सुझाव दे सकते हैं। उसे व्यवहार में लाना दुर्भाग्य से उनके स्वयं के वश में नहीं हो पाता।

(चित्रों के लिए लेखक श्री कौशल किशोर सिन्हा, प्राणि विज्ञान विभाग; इलाहाबाद विश्वविद्यालय का आभारी है)।

प्रकाश विद्युत सेल तथा इसके उपयोग

निकुंज कुमार अग्रवाल
ई०सी०सी०, इलाहाबाद

विश्व की सभी वस्तुयें छोटे-छोटे कणों से मिलकर बनी हैं। प्रत्येक कण परमाणु से मिलकर बना है। प्रत्येक परमाणु प्रोटॉन, न्यूट्रान तथा इलेक्ट्रान से मिलकर बना होता है। ये इलेक्ट्रान ही आधुनिक यंत्रों की जान हैं। इलेक्ट्रानों की बदौलत ही हमें "प्रकाश विद्युत सेल" नामक अद्भुत यंत्र की प्राप्ति हुई है। इसे हम "विद्युत् आँख" भी कह सकते हैं। प्रकाश विद्युत् सेल ने आज की दुनिया में तहलका मचा दिया है। प्रकाश विद्युत सेल के कारण ही बड़े-बड़े पूंजीपति चैन की नींद सोते हैं। कोई चोर उनके घर या दुकान या मिल में घुसने का दुःसाहस नहीं करता है।

इस अद्भुत यंत्र के सम्बन्ध में सबसे पहले हालवॉश ने यह पता लगाया था कि यदि ऋणविद्युत् आवेश युक्त जस्ते की प्लेट पर प्रकाश की किरणें फेंकी जायें, तो प्लेट का विद्युत् आवेश लुप्त हो जाता है। बाद में यह सिद्ध किया जा सका कि इस धातु पर जब कभी प्रकाश की किरणें गिरती हैं, तो उसके परमाणुओं से तुरंत इलेक्ट्रान निकलते हैं। इस नवीन खोज को "प्रकाश विद्युत् प्रभाव" का नाम दिया गया। इस खोज के आधार पर ही प्रकाश विद्युत् सेल का निर्माण किया गया। इसके अन्दर से उस समय विद्युत् धारा बहती है जबकि सेल पर प्रकाश की किरणें गिरती हैं। प्रकाश की तीव्रता के अनुपात में ही विद्युत-धारा की प्रबलता भी बढ़ती है। इलेक्ट्रान-निस्सरण, जो कि प्रकाश द्वारा होता है, का गुण कैल्सियम (Ca), पोटैशियम (K), सोडियम (Na) तथा सीजियम (Cs) धातुओं में भी प्रचुर मात्रा में मौजूद पाया जाता है। अतः प्रकाश विद्युत सेल में वक्रतल की चांदी की एक प्लेट लेते हैं, जिसकी भीतरी सतह पर CaO की कलई की हुई रहती है अथवा सतह पर अन्य किसी प्रकाश-सांवेदनिक धातु की तह चढ़ाई गई रहती है। प्लेट के सामने ही धातु का एक पतला तार लगा रहता है, जो ऐनोड का काम करता है। प्लेट को बैटरी के ऋण-सिरे से तार द्वारा जोड़ देते हैं और ऐनोड़ को बैटरी के धन-सिरे से जोड़ते हैं। इस कैथोड़-प्लेट तथा ऐनोड को काँच के वायुरोधी बल्ब में बन्द कर बल्ब की लगभग सारी हवा पम्प द्वारा बाहर निकाल दी जाती है। अब सामान्यतः इस परिपथ में विद्युत-धारा का प्रभाव नहीं होगा, क्योंकि प्लेट और ऐनोड एक दूसरे से पृथक् हैं। किन्तु प्लेट पर ज्योंही प्रकाश की किरणें गिरती हैं, त्योंही उससे इलेक्ट्रान बाहर निकलते हैं। जब ऐनोड द्वारा आकृष्ट होने के कारण ये उस पर पहुँचते हैं, तो परिपथ में इलेक्ट्रान या विद्युत धारा का प्रवाह होने लगता है (देखिये चित्र नं० 1)।

ज्योंही प्रकाश-किरणों का प्लेट तक पहुँचना रुकता है, धारा का प्रवाह भी बन्द हो जाता है। प्रकाश विद्युत् सेल केवल दृश्य प्रकाश से ही नहीं प्रभावित होती हैं वरन् अदृश्य प्रकाश (इन्फ्रारेड-किरणों या अल्ट्रा-वायलेट किरणों) द्वारा भी उसमें विद्युत्-धारा उत्पन्न की जा सकती है।

प्रकास विद्युत् सेल के अनेक उपयोग हैं। आइये कुछ उपयोगों की चर्चा यहाँ करें।
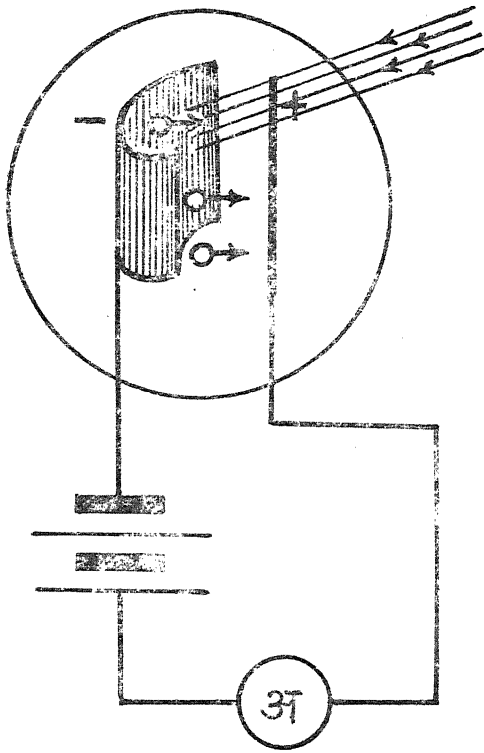
चित्र न० 1

1. चोर-अलार्म : प्रायः बैंकों के तहखाने में प्रकाश विद्युत् सेल द्वारा परिचालित चोर-अलार्म फिट किये जाते हैं। रात के अंधेरे में यदि चोर भवन में प्रवेश करता है तो इस यन्त्र के सामने से गुजरते ही खतरे की विद्युत-घण्टी तुरंत बजने लगती है और आसपास के लोग या पहरेदार सचेत हो जाते हैं। तहखाने के दरवाजे के सामने बगल में इन्फ्रारेड प्रकाश देने वाला लैम्प रखा होता है और दूसरी ओर प्रकाश विद्युत् सेल रहती है। यंत्र में इस बात का प्रबन्ध रहता है कि इन्फ्रारेड प्रकाश के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली विद्युत-धारा बाल्व द्वारा प्रवर्द्धित होकर एक विद्युत-चुम्बक के कुण्डल में प्रवाहित होती रहे। इस विद्युत चुम्बक के सामने ही लोहे की एक पत्ती लगी रहती है। जब तक प्रकाश विद्युत सेल में धारा बहती रहती है, तब तक चुम्बक भी क्रियाशील रहता है और यह पत्ती इस चुम्बक से चिपकी रहती है। ज्योंही प्रकाश की किरण के मार्ग में कोई रुकावट आती है, त्योंही धारा रुक जाती है। फलतः चुम्बक अपना चुम्बकत्व खो देता है और पत्ती अलग हट कर विद्युत् घण्टी और बैटरी का परिपथ पूरा कर देती है अतः अलार्म घण्टी बजने लगती है। [परिपथ के लिये देखिये चित्र नं० 2]
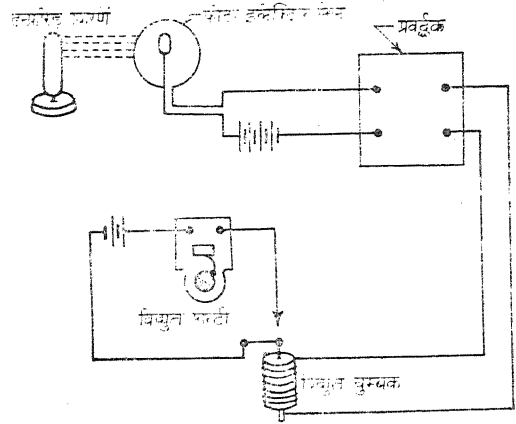
चित्र न०

2. स्वचालित स्विच-यंत्र : बड़े शहरों में प्रकाश विद्युत् सेल की सहायता से इस बात का प्रबन्ध कर लेते हैं कि दिन छिपते ही सड़क के सभी विद्युत् लैम्प अपने आप जल उठें तथा दिन निकलने पर वे स्वयं बुझ जायें। इसके लिए भी प्रकाश विद्युत् सेल की धारा को परिलक्षित करके ऐसे विद्युत चुम्बक में ले जाते हैं, जिसके सामने लोहे की पत्ती लगी रहती है। अंधेरा होने पर प्रकाश विद्युत् सेल की धारा जब रुक जाती है, तो पत्ती भी विद्युत्-चुम्बक की पकड़ से छूट कर सड़क के लैम्पों के परिपथ को पूरा कर देती है और लैंप जल उठते हैं। दिन के प्रकाश में जब प्रकाश विद्युत् सेल की धारा पुनः बहने लगती है, तो विद्युत-चुम्बक पत्ती को अपनी ओर खींचकर विद्युत लैम्पों के परिपथ को तोड़ देता है और विद्युत लैम्प बुझ जाते हैं।

3. दरवाजों के लिये स्वचालित यंत्र : बड़े होटलों या जलपान-गृहों में प्रायः बैरे दोनों हाथों में थाल या ट्रे

लेकर बार-बार आते जाते हैं और हर बार दरवाजे को खोलने-बन्द करने में इन्हें असुविधा होती है। अतः इन होटलों में प्रकाश विद्युत् सेल वाले ऐसे यंत्र लगाये गये हैं कि बैरा ज्योंही दरवाजा के सामने पहुँचे, त्योंही दरवाजा अपने आप खुल जाये और कमरे में प्रवेश करते ही वह पुनः बन्द हो जाये।

इसके लिए दरवाजे के सामने एक ओर दर्पण लगा रहता है और दूसरी ओर लैम्प तथा प्रकाश विद्युत् सेल। प्रकाश की किरण दर्पण से परावर्तित होकर सेल पर पड़ती है, तो सेल की धारा परिप्लावित होकर विद्युत चुम्बक में पहुँचती है। इस समय विद्युत चुम्बक से लोहे की पत्ती चिपकी रहती है। दरवाजे के निकट ज्योंही कोई व्यक्ति पहुँचता है, त्योंही प्रकाश किरण के मार्ग में रुकावट आ जाती है और सेल की धारा बन्द हो जाती है। तभी विद्युत चुम्बक से पत्ती अलग हटकर एक अन्य विद्युत परिपथ को पूरा कर देती है, जो अन्य विद्युत-यन्त्र में धारा बहाकर उस यन्त्र को चालू कर देता है। यह यन्त्र दरवाजे को खोलता है। इस यन्त्र में यह भी आयोजन रहता है कि कमरे में प्रवेश करते ही दरवाजा अपने-आप बन्द हो जाये।

4. प्रकाश विद्युत गणक : फैक्टरियों में प्रायः इस बात का लेखा रखना आवश्यक होता है कि कितनी चीजें दिन में तैयार हुईं। इसके लिए प्रकाश विद्युत गणक बनाये गये हैं। सेल पर प्रकाश की किरणें गिरती हैं और इस किरण के मार्ग से जब कोई वस्तु गुजरती है, तो क्षणिक देर के लिए धारा रुक जाती है। फलस्वरूप गणक यन्त्र में हरकत होती है और डायल पर सामने अगला अंक आ जाता है। इस प्रकार एक-एक करके उन सभी वस्तुओं की गिनती हो जाती है, जो किरण के मार्ग से होकर गुजरती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रकाश विद्युत सेल एक है परन्तु इसके कार्य अनेक हैं।

With the Best Compliments from :

54292
Phone : 52089

SCIENCE CORPORATION

104, Leader Road, Allahabad

Dealers in : Laboratory Chemicals, Scientific Instruments, Microscope, Glasswares etc.

Authorised Stockist :

B. D. H. ; S. M. ; E. Merck ; I. D. P. L. ; LOBA ; Ranbaxy : S. R. L. Chemical ; GETNER Instruments, Sigcol Glasswares, Blue Star Slides & Cover Glasses.

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के 75 वर्ष

डा० सरजू प्रसाद पाठक
उपनिदेशक भूमि परीक्षण, आगरा

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ की लगभग 80 प्रतिशत जनता का मुख्य व्यवसाय कृषि है। स्वतन्त्रता से पूर्व यहाँ कृषि लगभग 5,000 वर्ष पुरानी विधियों से ही की जाती थी। परिणामस्वरूप औसत उपज बहुत कम थी। खाद्यान्न की पैदावार इस देश की जनता के भरण-पोषण के लिए भी पर्याप्त न थी तथा खाद्यान्न का आयात किया जाता था। स्वतन्त्रता से अब तक भारत की जन-संख्या लगभग दोगुनी हो गई है। यदि औसत उपज पूर्ववत् ही रही होती तो यह अन्दाजा लगाना कठिन है कि भारत की आज क्या दशा होती।

भारत को खाद्यान्न में स्वावलम्बी बनाकर निर्यात की स्थिति में लाने में भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान, नई देहली का बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान है। लगभग गत 10 वर्षों में इस संस्थान द्वारा गेहूँ की 20 नई प्रजातियाँ विकसित की गईं जिसके परिणामस्वरूप गत वर्ष 350 लाख टन गेहूँ का रिकार्ड उत्पादन सम्भव हो सका। उक्त अनु-सन्धान संस्थान का संक्षिप्त परिचय इस लेख के माध्यम से दिया जा रहा है।

आज से 75 वर्ष पूर्व सन् 1905 में उत्तरी बिहार के पूसा नामक नगर में अमेरिका के एक परोपकारी व्यक्ति मि० हेनरी फिप्प (Mr. Henry Phipps) द्वारा लार्ड कर्जन को दिये गये 30,000 डालर के अनुदान से अनुसंधान संस्थान की स्थापना की गई जो कि भारत में इस प्रकार का प्रथम संस्थान था। इस संस्थान के संस्थापकों को इसका आभास लेशमात्र भी न था कि इस संस्थान का एक दिन विश्व में अपना विशेष स्थान होगा तथा इसकी उप-लब्धियों से भारत की कृषि के इतिहास में आमूल परिवर्तन आवेगा। वर्ष 1934 में एकाएक भूकम्प से पूसा विनष्ट हो गया अतः 1936 में इसका स्थानान्तरण दिल्ली में कर दिया गया किन्तु नाम वही रहने दिया गया। आज यद्यपि भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (IARI) के नाम से यह संस्थान प्रसिद्ध है लेकिन अब भी 'पूसा गेट' स्मृति के रूप में शेष है।

भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ ही सन् 1947 में कृषि के आधुनकीकरण पर भी विचार किया गया परन्तु सन् 1960 से पूर्व इस क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हुई। भारत सरकार ने बढ़ती हुई जनसंख्या के कारणों एवम् खाद्यान्न संकट का गहराई से अध्ययन किया तथा 5,000 वर्ष पुरानी कृषि प्रणाली में आमूल परिवर्तन लाने पर विचार किया। भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान का कृषि की नवीन तकनीक विकसित करने में सन् 1960 से पूर्व एवं बाद के दो दशकों के योगदान का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार दिया जा रहा है।

इस संस्थान का सबसे महत्वपूर्ण योगदान स्नातकोत्तर शिक्षा के माध्यम से सुयोग्य, कुशल एवं प्रशिक्षित जन समुदाय को जन्म देना है। स्नातकोत्तर शिक्षा सन् 1923 से प्रारम्भ हुई। इसका प्रमुख उद्देश्य प्रान्त के कृषि विभागों हेतु कुशल एवं प्रशिक्षित जन समुदाय को उपलब्ध कराना था जिससे कि प्रान्तों की कृषि प्रणाली में विकास सम्भव हो सके। प्रारम्भ में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में एसोसिएट डिप्लोमा (Associate diploma) केवल प्रमुख 5 विषयों में ही दिया जाता था। सन् 1958 में स्नात-

कोत्तर कालेज की स्थापना हुई। स्नातकोत्तर कालेज ने गत 22 वर्षों में 1317 पी०एच०डी० तथा 1267 एम० एस०सी० की उपाधि विभिन्न विषयों में प्रदान की हैं। इस कालेज से शिक्षा प्राप्त अनेक स्नातक आज उच्च पदों पर आसीन हैं। गत दो दशकों में भारत में 21 कृषि विश्व-विद्यालयों की स्थापना में इस संस्थान का प्रमुख योगदान रहा है। इसी प्रकार अनेक राष्ट्रीय स्तर की अनुसन्धान संस्थाओं की स्थापना में इस संस्थान का सराहनीय योग रहा है - उदाहरणार्थ—केन्द्रीय आलू शोध संस्थान, शिमला, भारतीय ईख अनुसन्धान संस्थान, कोयम्बटूर, भारतीय तम्बाकू अनुसन्धान संस्थान, राजामुन्द्री, भारतीय लाख अनुसन्धान संस्थान, राँची तथा भारतीय दुग्ध अनुसन्धान संस्थान, करनाल आदि।

इस संस्थान द्वारा कृषि सम्बन्धी जो तकनीक विकसित की गई, उसके लिये किसी विभाग विशेष को ही श्रेय देना उचित न होगा। इस कार्य में सभी विभागों का सामूहिक योगदान रहा है। उदाहरणार्थ किसी नई प्रजाति के विकसित करने में आनुवंशिकी, शस्य, मृदा, कवक एवं कीट विज्ञान विभागों का अपना-अपना अलग योगदान होता है जिसके फलस्वरूप ही प्रजाति विशेष हेतु कृषि विधियों का विकास होता है। यहाँ यद्यपि विभागवार अनुसन्धान कार्य की समीक्षा की जा रही है फिर भी एक विभाग के शोध कार्य का दूसरे से सम्बन्ध है। प्रत्येक विभाग के अनुसन्धान कार्य का क्षेत्र विशाल है। इस लेख में उसके कुछ ही अंशों का उल्लेख किया जा रहा है।

1. आनुवंशिकी विभाग (Division of Genetics) : पूसा (बिहार) में 75 वर्ष पूर्व जब इस संस्थान की स्थापना हुई थी उस समय यह विभाग "Section of the Imperial Economic Botanist" के नाम से पुकारा जाता था। तबसे इस विभाग का पर्याप्त विस्तार हुआ है तथा इसके कई सह-विभागों की स्थापना हुई। ये सह-विभाग हैं - पादप कायिकी, बीज तकनीकी, उद्यान, शाक-भाजी एवं पुष्पोत्पादन तथा पादप परिचय (Plant introduction)। अन्तिम विभाग ने तो बाद में संस्थान का रूप धारण कर लिया जो कि "National Bureau of Plant Genetics Resources" के नाम से प्रसिद्ध है।

इस संस्थान के कार्य को सर्वाधिक मान्यता, इसके द्वारा विकसित गेहूँ को पूसा प्रजातियों से मिली। यह प्रजातियाँ प्रारम्भ में हावर्ड्स ने तथा बाद में बी॰ पी॰ पाल ने विकसित की थीं। गेहूँ की नई पूसा प्रजातियाँ एन पी-4, एन पी-52, एन पी 80-5, एन पी 165 तथा अनेक एन पी-700 तथा एन पी-800 श्रेणी भारत में ही विख्यात नहीं हैं अपितु इनकी कई विदेशों में भी सराहना की गई।

अधिक उपज देने वाली प्रजातियों का विकास—गेहूँ की बौनी-प्रजातियाँ भारत में सर्वप्रथम (1962-63) इस संस्थान के वैज्ञानिकों द्वारा ही उत्पन्न की गईं। इस कार्य में नोबेल पुरस्कार विजेता डा॰ नार्मन बोर्लाग का सहयोग विशेष सराहनीय है। प्रजातियों के विकास के साथ ही साथ इनके लिये कृषि तकनीक का विकास इस संस्थान के विभिन्न विभागों द्वारा किया गया। कुछ प्रजातियाँ हैं :— अर्जुन, एच डी 2177, एच डी 2204, एच डी 2189, नीलगिरी, एच डी 1999, गिरजा, शैलजा तथा एस एच-86 आदि।

धान—धान पर अनुसन्धान कार्य मुख्यतया केन्द्रीय धान-अनुसन्धान संस्थान, कटक तथा धान प्रोजेक्ट निदेशालय, हैदराबाद पर किया गया। गत कुछ वर्षों में शासन से धान के निर्यात के उद्देश्य से सुगन्धित धान (बासमती) पर अनुसंधान कार्य करने हेतु निर्देश प्राप्त हुए। इस क्षेत्र के अनुसन्धान के परिणामस्वरूप साबरमती, विकसित साबरमती तथा पूसा 33 का विकास हुआ। उक्त प्रजातियाँ यद्यपि पर्याप्त लोकप्रिय हुईं लेकिन गुणों में बासमती के समकक्ष न थीं। तत्पश्चात् महीन धान की पूसा 150 एवं पूसा 167 प्रजातियाँ विकसित हुईं जो बासमती के समान ही अधिक महीन हैं, साथ ही साथ उपज अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त होती है। कृषकों ने इन प्रजातियों को अधिक पसन्द किया है।

दलहन एवं तिलहन की फसलें—अधिक ठण्डक के कारण अरहर की फसल अधिकांशतः क्षतिग्रस्त हो जाती है। परिणामस्वरूप इसकी खेती का क्षेत्र कम होने लगा। इस संस्थान द्वारा शीघ्र पकने वाली प्रजातियाँ विकसित की गईं जिससे इस महत्वपूर्ण दलहनी फसल की खेती का अवसर बढ़ गया। अब अरहर-गेहूँ फसल चक्र सम्भव हो गया है जो पूर्व में सम्भव न था। शीघ्र पकने वाली प्रजातियों के विकास से अब अरहर की खेती हरियाणा, पंजाब एवं राजस्थान में भी होने लगी है।

इस अनुसन्धान संस्थान द्वारा चना की प्रजातियाँ बंगाल ग्राम, रेड ग्राम व ग्रीन ग्राम आदि का विकास किया गया। ये प्रजातियाँ बहुफसली खेती के लिए भी उपयुक्त पाई गईं। इस संस्थान द्वारा ग्रीष्म ऋतु में मूँग की खेती की तकनीक का विकास किया गया जिसके फलस्वरूप रबी की खेती के उपरान्त मूँग की फसल लेना सम्भव हो सका। तिलहन की उन्नत प्रजातियों का विकास हुआ है। लाही एवं सरसों की प्रजातियों एवं उनके लिये सस्य विधियों के विकास से अब असिंचित दशा में भी 25·0 कु० / है० की उपज प्राप्त की जा सकती है जबकि राष्ट्र की ओसत उपज लगभग 6·0 कु० / है० ही है।

मक्का, ज्वार एवं बाजरा की प्रजातियों का विकास—इन प्रजातियों के विकास में इस संस्थान के वैज्ञानिकों को राकफेलर के वैज्ञानिकों से विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। इन फसलों पर शोध कार्य सन् 1960 में विशेष रूप से किया गया। अनुसन्धान के परिणामस्वरूप मक्का की "गंगा" तथा ज्वार की CSH- प्रजातियाँ विकसित की गईं जो देशी जातियों की तुलना में कई गुना अधिक उपज देती हैं।

हरे चारे की फसलें : प्रक्षेत्र एवं दुधारू पशुओं हेतु हरे चारे की प्रजातियों का भी विकास किया गया जिनमें पूसा जाइन्ट-नेपियर तथा पूसा जाइन्ट बरसीम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार सन् 1974 में पूसा चरी-1 एवं सन् 1979 में पूसा चरी-6 विकसित की गई। पूसा चरी-6, पूसा चरी-1 से 50 प्रतिशत अधिक उपज देती है। साथ ही साथ 60 प्रतिशत बीज भी अधिक प्राप्त होता है। चरी की उक्त दोनों प्रजातियों की एक ही बार कटाई होती है। इसी प्रकार की अन्य प्रजातियाँ चरी-7, 8, 9 एवं चरी-11 हैं। एक से अधिक बार कटाई वाली प्रजातियाँ पूसा चरी-21, 28, 29 तथा 40 हैं।

असिंचित दशा में खेती : भारत के एक बड़े भू-भाग में सिंचाई के साधन उपलब्ध न होने के कारण कृषि अब भी असिंचित दशा में की जाती है। असिंचित दशा में अच्छी उपज प्राप्त करने हेतु उन्नत जातियाँ एवं सस्य क्रिया विकसित की गई। ज्वार, दलहन एवं तिलहन की शीघ्र पकने वाली प्रजातियों के विकास से उन क्षेत्रों में जहाँ वर्षा 50 से०मी० अथवा अधिक होती है, दो फसलें असिंचित दशा में लेना सम्भव हो सका है। मूँग-सरसों के फसल चक्र से गेहूँ अथवा जौ की फसल की अपेक्षा अधिक लाभ होता है।

2. शाक-भाजी एवं पुष्पोत्पादन विभाग (Division of vegetable crops and floriculture)—इस संस्थान में शाक-भाजी पर अनुसन्धान कार्य मार्च 1940 से प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में इस विभाग का प्रमुख कार्य देशी प्रजातियों का संग्रह एवं परीक्षण था। दूसरी पंचवर्षीय योजना में उद्यान विभाग की स्थापना की गई। सन् 1970 में इस विभाग का कार्यक्षेत्र का विस्तार हुआ तथा इसे दो भागों में बाँटा गया।

(1) उद्यान एवं फल तकनीकी विभाग (Division of Horticulture and Fruit Technology).

(2) शाक भाजी एवं पुष्पोत्पादन विभाग :—इस विभाग में निम्न बिन्दुओं पर शोधकार्य होता है :—

अ—अधिक उपज देय एवं शीघ्र पकने वाली प्रजातियों का विकास।

ब—संकरण। हेटेरोसिस प्रजनन (Heterosis breeding)।

स—अवरोधी प्रजातियों का प्रजनन ।

द—रसायन एवं पादप नियामक (regulators) के प्रयोग से उपज में वृद्धि करना ।

इस संस्थान द्वारा शाक-भाजी की लगभग 80 उन्नतशील प्रजातियाँ खेती हेतु प्रस्तावित की गई हैं ।

3. **उद्यान एवं फल तकनीकी विभाग** (Division of Horticulture and Fruit Technology) : इस विभाग की स्थापना सन् 1958 में की गई तथा अनुसन्धान का कार्यक्षेत्र मुख्यतया नवीन प्रजातियों का प्रजनन, फलों की कुरूपता, आम की फसल में दो वर्ष में फल आना तथा निम्बु वर्ग में पेड़ों में कणिकायन था । उत्तरी भारत की आम की दशहरी तथा दक्षिणी भारत की नीलम प्रजाति से दो संकर प्रजातियाँ विकसित की गई । सन् 1971 में मलिका प्रजाति विकसित की गई । यह बौनी जाति है जिसमें प्रतिवर्ष फल आते हैं । फल बड़े एवं अच्छी किस्म के होते हैं । दूसरी प्रजाति आम्रपाली है जो सन् 1979 में निकाली गई । इसमें फल प्रतिवर्ष आते हैं । फल छोटे एवं खाने में स्वादिष्ट होते हैं ।

निम्बु वर्ग के पेड़ों पर मई के तृतीय सप्ताह में 0·15 प्रतिशत लेड आर्सीनेट के छिड़काव से फसल 6 सप्ताह पूर्व में ही पक जाती है तथा अम्लीयता में भी कमी पाई गई है । 2-4 डी के 8-20 अंश प्रति दश लक्षांश (पी पी एम) का छिड़काव फलों को पकने से पूर्व गिरने से रोकता है । फल एवं उनके रस के संरक्षण करने पर भी शोधकार्य हुआ है ।

4. **कवक एवं पादप रोग विज्ञान विभाग** (Division of Mycology and Plant Pathology)—इस विभाग में कवकीय रोग जीवाणु या बैक्टीरिया रोग एवं विषाणु रोग पर शोधकार्य होता है । भारत की कवक वनस्पति (Fungal Flora of India) नामक सूचना सर्वप्रथम सन् 1931 में प्रकाशित हुई । तत्पश्चात् इसमें कई बार संशोधन किया गया । इस समय 230 वंश के 2,000 से अधिक कवक कल्चर विभाग में रखे हैं । इसके अतिरिक्त जीवाणु एवं विषाणु कल्चर भी तैयार किये गये हैं । विभिन्न प्रकार के रोगनाशक रसायन भी प्रस्तावित किए गए हैं ।

5. **कीट विज्ञान विभाग** (Division of Entomology) —इस विभाग का प्रारम्भ से ही यह प्रयास रहा है कि कृषि को क्षति पहुँचाने वाले कीड़े-मकोड़ों से किस प्रकार रक्षा की जाय । कृषि को क्षति पहुँचाने वाले कीड़ों को पकड़कर अध्ययन किया गया । इस समय इस विभाग में 4,000 से अधिक वंश तथा लगभग 16,000 जातियों के कीड़े-मकोड़े उपलब्ध हैं ।

जीवनाशी (Pest) नियन्त्रण की जैविक विधि पर अनुसंधान कार्य हुआ । 80 से अधिक परोपजीवियों का वर्णन किया गया । भारी संख्या में परोपजीवी पालने की विधि भी विकसित की गई । इस विधि से 60,000 शलभ (moths) को वातानुकूलित दशा के बिना 60·0 कि०ग्राम ज्वार के दानों पर पालने का प्रबन्ध है । पाइरिल्ला का भी जैविक नियन्त्रण सम्भव हो सका है ।

उक्त के अतिरिक्त चिड़ियों पर अध्ययन (Ornithology) तथा मधुमक्खी पालन (Apiculture) पर भी शोधकार्य हुआ है ।

6. **मृदा विज्ञान एवं कृषि रसायन विभाग** (Division of Soil-Science and Agriculture Chemistry) — इस विभाग द्वारा भारत की मृदाओं का वर्गीकरण किया गया । मृदा परीक्षण योजना के श्रीगणेश (1954-55) का श्रेय इसी विभाग को है । इसी विभाग द्वारा परीक्षण विधियाँ प्रमाणित की गई तथा विभिन्न उर्वरता की मृदाओं हेतु उर्वरक संस्तुतियों का विकास किया गया । एक रेडियो-ट्रेसर प्रयोगशाला की स्थापना की गई जो इस प्रकार की भारत में प्रथम प्रयोगशाला है । 'स्वायल टेस्ट-क्राप रेसपांस' प्रयोगों के द्वारा विभिन्न उर्वरता की मृदाओं हेतु उपयुक्त उर्वरक संस्तुत करना सम्भव हो सका है । अब लक्षित उपज की गणना भी सरलता से की जा सकती है ।

सर्वप्रथम इस संस्थान के वैज्ञानिकों ने भारत का मृदा सर्वेक्षण मानचित्र सन् 1940 में प्रकाशित किया, फिर सन् 1954 में विस्तृत मानचित्र उपलब्ध कराया जिसमें 19 मृदा समूह दर्शाए गए। सन् 1971 में अधिक विस्तृत मानचित्र 26 मृदा समूह युक्त प्रकाशित किया गया।

गोबर गैस : बायोगैस तकनीक का विकास इस संस्थान में सन् 1939 में (देसाई तथा विश्वास द्वारा) हुआ। तदुपरान्त इसमें बराबर सुधार होता रहा। गैस बनने की गति में वृद्धि गोबर में पशुमूत्र, यूरिया अथवा कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट की थोड़ी मात्रा मिलाने से होती है। जलकुम्भी तथा गोबर 1:3 मिश्रण से गोबर की अपेक्षा अधिक गैस बनती है। फास्फेटिक उर्वरक को बायोगैस की स्लरी से लेपन करने के उपरान्त प्रयोग करने से इसकी फलोत्पादन क्षमता बढ़ जाती है।

7. **सस्य विज्ञान विभाग** (Division of Agronomy)––विभिन्न फसलों हेतु सस्य क्रियायें विकसित करने में इस विभाग का बड़ा योगदान रहा है। उदाहरणार्थ–गेहूँ की बौनी प्रजाति के लिये बुवाई की गहराई तथा प्रथम सिंचाई की तिथि बहुत ही महत्वपूर्ण है। अधिक उपज देय प्रजातियों के लिये संतुलित आहार भी आवश्यक है। नाइट्रोजन एक गतिशील पोषक पदार्थ है। इसकी क्षति "N–Serve" नामक पदार्थों के प्रयोग से कम की जा सकती है। नीमकेक का यूरिया पर लेपन करने से नाइट्रोजन का ह्रास कम होता है। नीम केक के लेपन से धान में 24% की वृद्धि देखी गई है।

बहुफसली खेती (Multiple Cropping) : बहुफसली खेती पर प्रयोग सन् 1966 में इस विभाग में प्रारम्भ हुए थे। इन प्रयोगों के फलस्वरूप विभिन्न जोत एवं आर्थिक स्थिति के कृषकों हेतु एक ही खेत से वर्ष में दो, तीन व चार फसलें लेने की तकनीक विकसित की गई। बहुफसली तकनीक के फलस्वरूप एक वर्ष में एक हैक्टर जोत से 100 से 170 कुन्तल खाद्यान्न प्राप्त करना सम्भव हो सका है। इसके लिए पानी एवं पोषक तत्वों की पूर्ति समय से करना अत्यावश्यक है। इसी प्रकार एक फसल के बीच दूसरी फसल लेने (Inter-Cropping) की सफल तकनीक विकसित की गई।

8. **सूक्ष्मजीव विज्ञान** (Division of Microbiology)––इस विभाग की स्थापना सन् 1961 में हुई। इस विभाग में निम्न अनुभाग हैं :—

(i) मृदा सूक्ष्मजीव विज्ञान (Soil Microbiology)

(ii) सूक्ष्मजीव विज्ञान (Microbiology)

(iii) जीवाणु कार्यिकी (Bacterial Physiology)

(iv) शैवाल विज्ञान (Algology)

(v) स्नातकोत्तर शिक्षण एवं शोधकार्य

इस विभाग द्वारा राइजोबियम का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया जिसके फलस्वरूप विभिन्न जलवायु में राइजोबियम की स्थिति का ज्ञान सम्भव हो सका तथा विभिन्न दलहनी फसलों का राइजोबियम मानचित्र बनाया गया। विभिन्न दलहनी फसलों हेतु कल्चर विकसित किए जिनके प्रयोग से पौधे की नाइट्रोजन की पूर्ति कुछ अंशों में होने के अतिरिक्त खेत की उर्वरता में वृद्धि होती है। असहजीवी जीवाणु (Non-Symbiotic) पर भी शोध कार्य हुआ है जो कि खाद्यान्न फसलों के साथ नाइट्रोजन स्थिरीकरण करते हैं। अभी हाल में ज्ञात हुआ है कि एजोस्पाइरीलम (Azospirillum) जीवाणु में ज्वार के साथ पर्याप्त नाइट्रोजनी स्थिरीकरण की क्षमता है तथा ज्ञात हुआ है कि इसके प्रयोग से उपज में वृद्धि 40 किलो / हैक्टर नाइट्रोजन के प्रयोग के समकक्ष प्राप्त होती है। जीवाणुओं के प्रयोग से कम्पोस्ट शीघ्र एवं अच्छे किस्म की बनती है तथा यह देखा गया है कि कम्पोस्ट चार सप्ताह पूर्व ही तैयार हो जाती है।

राइजोबियम का एक स्ट्रेन (Strain) जो कि 45°C पर जीवित रह सकता है, अंडमन के 38 वर्ष पुराने मृदा

नमूने से प्राप्त किया गया। गमला प्रयोग में इस स्ट्रेन से मूंग की उपज में 80 प्रतिशत की वृद्धि देखी गई है। धान की फसल हेतु नीलहरित शैवाल (Blue-green-algae) की तकनीक का विकास किया गया। धान में 10-15 प्रतिशत की वृद्धि केवल उक्त शैवाल के प्रयोग से प्राप्त की जा सकती है। मोटे तौर पर गणना करने से ज्ञात हुआ है कि नील-हरित-शैवाल से 25-30 किलोग्राम नाइट्रोजन / हैक्टर प्राप्त होती है। विभिन्न प्रान्तों में किये गये प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि लगभग एक-तिहाई (1/3) भाग उर्वरक नाइट्रोजन की बचत शैवाल के प्रयोग से की जा सकती है। साथ ही साथ इसके प्रयोग से मृदा के भौतिक गुणों में वृद्धि होती है।

9. **कृषि अभियन्त्रण विभाग** (Division of Agricultural Engineering)—इस विभाग की स्थापना यद्यपि सन् 1945 में हुई थी परन्तु इसका कार्य मुख्यतया सर्विस विभाग के रूप में ही था। परन्तु सन् 1967 में इसका विकास हुआ तथा शिक्षण एवं शोधकार्य प्रारम्भ हुआ। इस विभाग द्वारा कृषि यन्त्र, शक्ति चालक यन्त्र तथा संसाधन रचना पर शोध कार्य होता है। छोटी जोत के कृषकों हेतु साधारण एवं कम लागत के कृषि उपकरणों का भी विकास किया जाता है। अनाज सुखाने हेतु सौर ऊर्जा के प्रयोग से एक उपकरण बनाया गया है जिससे 1·5 कुन्तल अनाज की नमी में 20 से 22 प्रतिशत की कमी तीन घण्टा में हो जाती है। इसके अतिरिक्त भण्डारण सम्बन्धी एवं गोबर गैस के तकनीक के विकास पर भी कार्य होता है।

10. **जल तकनीकी केन्द्र** (Water Technology Centre)—जल-तकनीकी केन्द्र की स्थापना अप्रैल 1970 में हुई। जल प्रयोग एवं जल प्रबन्ध के विभिन्न पहलुओं पर शोध एवं स्नातकोत्तर शिक्षण का कार्य इस केन्द्र द्वारा किया जाता है।

उक्त के अतिरिक्त अन्य भी कई विभाग हैं जिनमे कृषि सम्बन्धी महत्वपूर्ण अनुसन्धान कार्य होता है।

स्पष्ट है कि 75 वर्ष के जीवनकाल में अकेले एक कृषि संस्थान ने भारत भर की कृषि को उन्नत बनाने में बहुआयामी योगदान दिया है। ऐसे संस्थान हमारे वैज्ञानिक तीर्थों से कम नहीं हैं।

VISIT

ASIA BOOK Co.

9 UNIVERSITY ROAD, ALLAHABAD

FOR BOOKS ON

CPMT, IIT, ENGINEERING COLLEGE

ADMISSION TEST & LATEST UNIVERSITY

BOOKS ON SCIENCE SUBJECTS

प्राणि विज्ञान के कुछ वस्तुनिष्ठ प्रश्न-2

राकेश कुमार पाण्डेय

1. पृथ्वी पर उत्पन्न प्रथम जीव, पादपों से अधिक समानता रखते थे क्योंकि;

(अ) पादप सरल होते हैं (ब) पादप संख्या में अधिक होते हैं

(स) पादप प्रकाश संश्लेषी होते हैं (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

2. जीव विज्ञान में विकास शब्द का अर्थ है,

(अ) जीवाश्म पुरातन होते हैं (ब) जीवोत्पत्ति सागर में हुई

(स) जीवों में चिर परिवर्तन होते हैं (द) मनुष्य कपियों से विकसित हुआ है।

3. लेमार्क के उपार्जित लक्षण वंशागत नहीं होते तथा विकास में उनका कोई महत्व नहीं होता। यह किसने बताया ?

(अ) चार्ल्स डारविन (ब) क्यूवैवर

(स) वीजमैन (द) हीकल

4. विकास निम्न में से किस के कारण अग्रसर होता है ?

(अ) पीढ़ियों में अनुकूलन (ब) वातावरण में परिवर्तन

(स) जीवन संग्राम (द) जीवाश्मी भवन

5. सबसे बड़ा सरीसृप जीवाश्म है ,

(अ) पोडोकीसौरस (ब) ब्रोन्टीसौरस

(स) जाइजेन्टोसोरस (द) स्टीगोसौरस

6. मेढक में ब्राउन चिन्ह है,

(अ) नासिका का अवशेष (ब) मध्य नेत्र का अवशेष

(स) प्रकाश संवेदी चिह्न (द) तैरने हेतु संवेदी चिन्ह

7. स्वतः उत्पत्ति के विचार का खण्डन सर्वप्रथम किसने किया ?

(अ) एफरेडी ने (ब) ल० स्पैन्जैनी ने

(स) लुई पॉश्चर ने (द) एस०मिलर ने

8. जीवोत्पत्ति के समय निम्न में से एक कौन स्वतन्त्र अवस्था में नहीं था ?

(अ) अमोनिया (ब) ऑक्सीजन

(स) मेथेन (द) हाइड्रोजन

9. टी०एम०वी० शब्द किससे सम्बन्धित है ?

(अ) जीवोत्पत्ति (ब) हार्मोन

(स) श्वसन (द) वाइरस

10. निम्न में से एक कौन सर्वाधिक समर्थन करता है कि 'वाइरस' संजीवी है ?

(अ) यह रसायनों के बने होते हैं (ब) यह रोगों का प्रसारण करते हैं

(स) यह स्वयं का द्विगुणन करते हैं (द) यह कोशिका भित्ति में प्रवेश करते हैं

11. पृथ्वी पर जीवोत्पत्ति का संकेत किससे मिलता है ?

(अ) दूसरे ग्रह से आये सूक्ष्मजीवों से

(ब) आदि पृथ्वी पर कुछ रसायनों के निर्माण से

(स) ईश्वरीय इच्छा से

(द) प्रोटिस्टा से

12. "कार्बनिक पदार्थ जीवन का आधार है"—यह प्रयोग किसके द्वारा किया गया ?

(अ) ओपैरिन (ब) मिलर

(स) मैल्विन (द) फॉक्स

13. "अनुरूप जन्म देता है अनुरूप को" यह एक महत्वपूर्ण सार्वत्रिक घटना है। यह किसके कारण होता है ?

(अ) आनुवंशिकी के कारण (ब) वंशागति के कारण

(स) सृजनिकी के कारण (द) प्रभाविकता के करण

14. जी०के० मेन्डेल प्रसिद्ध है ?

(अ) उपार्जित लक्षण-वाद के लिए (ब) कोशिकावाद के लिए

(स) म्यूटेशनवाद के लिये (द) आनुवंशिकता के नियमों के लिये

15. लिंगी सहलग्न को छोड़कर अन्य गुणसूत्र क्या कहलाते हैं ?

(अ) लाइसोसोम्स (ब) ऑटोसोम्स

(स) राइबोसोम्स (द) साइटोसोम्स

16. निम्न में से कौन सा एक लिंगी सहलग्न लक्षण है ?

(अ) अंधापन (ब) बहरापन

(स) हीमोफीलिया (द) मिक्सोडिया

17. मनुष्य के जीनी गुणों के सुधारने का सर्वप्रथम उपाय क्या है ?

(अ) विवाह रोकथाम (ब) वंध्यकरण

(स) आप्रवासन की रोकथाम (द) संदोषियों का लिंगी पृथक्करण

18. लिंगी सहलग्न जीन्स किन गुणसूत्रों में ले जाये जाते हैं ?

(अ) X में (ब) Y में

(स) X तथा Y में (द) उपरोक्त में कोई नहीं

19. ह्यूगोडीवरीज में गहन स्थिति विभिन्नताओं का क्या नाम दिया ?

(अ) साल्टेशन (ब) म्यूटेशन

(स) स्पोर्टस (द) मोनोस्ट्रोसिटीस

20. म्यूटेशन निम्न में से एक किसके लिए अति आवश्यक है ?

(अ) सामान्य वृद्धि के लिये (ब) जैविक विकास के लिये

(स) अनुवंशीय जैनिक सूचना के लिये (द) कोशिकाभाजन के लिये

21. यदि एक वर्णान्ध स्त्री एक सामान्य पुरुष से विवाह करती है तो संतान कैसी होगी ?

(अ) सामान्य लड़के तथा लड़कियाँ

(ब) सामान्य लड़के तथा वाहक लड़कियाँ

(स) वर्णान्ध लड़के तथा सामान्य लड़कियाँ

(द) वर्णान्ध लड़के तथा लड़कियाँ

'विज्ञान' का प्रदूषण विशेषांक

विज्ञान परिषद की मासिक पत्रिका 'विज्ञान' के 'प्रदूषण विशेषांक' का विमोचन वाराणसी में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के समारोह के दौरान हुआ, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आज के युग में बिगड़ती पारिस्थितिकी की ओर संकेत करने के लिए यह सत्प्रयास रहा। पत्रिका के 78 पृष्ठों में विभिन्न विषयों पर प्रदूषण सम्बन्धी सामग्री दी गई है और तत्सम्बन्धी रिक्तियों के पूरने का यत्न किया गया है जैसा कि डा० जगदीश सिंह चौहान के सम्पादकीय में झलकता है, कि इस विशेषांक ('विज्ञान' दिसम्बर 1980 अंक) की तैयारी में डा० शिव गोपाल मिश्र, श्री प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव, डा० प्रेम चन्द्र मिश्र और श्री अरविन्द मिश्र का विशेष हाथ रहा है। ऐसे काम मिले-जुले प्रयत्नों से ही पूरे हो पाते हैं। इसमें अच्छे लेखकों का योगदान है। विभिन्न शीर्षकों को देखने से पता चलता है कि अनेक पहलुओं को समाविष्ट करने की चेष्टा की गयी है। 'पर्यावरण प्रदूषण : प्रकृति की घातक परिघटना' से लेकर वायुमण्डल, प्रदूषण ईंधनजन्य प्रदूषण, स्थल प्रदूषण, जीवनाशियों से उत्पन्न पर्यावरण संकट, प्रकृति से छेड़छाड़, जल प्रदूषण, शोर प्रदूषण, आहार संदूषण, औद्योगिक प्रदूषण, ताजमहल का कैंसर, पर्यावरणीय युद्ध, बच्चे और प्रदूषण, शहरी कचरा, ऋणात्मक प्रदूषण, गाँवों में प्रदूषण, जनसंख्या दबाव, प्रदूषण की रोकथाम, प्रदूषण रहित प्रगति आदि विषयों तक अंक की सामग्री व्याप्त है। ऐसे विशेषांकों का उद्देश्य निश्चय ही धनात्मक होगा। विशेषांक की प्रस्तुति के लिए सम्पादक तथा सम्बद्ध सहयोगी व्यक्ति निश्चय ही साधुवाद के पात्र हैं।

प्रेमानन्द चन्दोला
ई 1, साकेत, एम० आई० जी० फ्लैट्स
नई दिल्ली 17

'विज्ञान' का प्रदूषण विशेषांक (समीक्षा)

आधुनिकता और विकास-स्पर्धा की देन, हमारा स्वनिर्मित नवोपहार-प्रदूषण वो आभूषण है जो जहाँ पहनिये, चुभन करेगा, छेदन करेगा; यहाँ तक कि एक स्वर्ण कटार की भाँति हमारे ही पेट की शल्यक्रिया कर देने में नहीं हिचकेगा। सच; सोचा था क्या, क्या हो गया। इसी प्रदूषण पर किसी ने इधर, किसी ने उधर कलम चलायी, जहाँ तहाँ संगोष्ठियाँ हुयीं, चर्चाओं के बाजार गर्म रहे परन्तु काफी कुछ बिखरा-बिखरा सहेजकर रखने, सावकाश पठन, मनन करने योग्य बहुत कम हाथ लगा।

आपके विशेषांक ने उल्लेखनीय कार्य एक यह तो किया ही है कि विभिन्न रूप रूपाय प्रदूषण को एक सूत्र में पिरोकर रखा है। सीमित कलेवर में जल, थल और वायु (गनीमत है, चौथा स्थल ही नहीं मानव के लिए!) के प्रदूषणों पर संक्षिप्त वर्णनों, चर्चाओंयुक्त जो सामग्री दी है, वह पठनीय तो है ही यत्र तत्र रोचक भी। समूचे अंक का पठन अनेक भ्रान्तियों का निवारण तथा वस्तुस्थिति की अनेकांगी यथार्थता का भी बोध करा जाता है। 'जीवनाशियों से . . .' लेख मानो प्रदूषण-समस्या का केन्द्र भाग है क्योंकि जल, थल और वायु प्रदूषण में इन्हीं का सर्वाधिक योग प्रतीत होता है। स्थल, खाद्य और शोर प्रदूषणों पर कुछ अधिक सामग्री की अपेक्षा तो रही परन्तु सीमित कलेवर में कदाचित् यह संभव न था। 'प्रदूषण रहित प्रगति' भी ध्यानाकर्षक है, ठीक उतना ही जितना

यह कि भारत की अपेक्षा विदेशों के परिपेक्ष्य की सामग्री ने अंक पर विशेषाधिपत्य कर रखा है। संकलन एवम् सम्पादन का कौशल विशेषांक में स्पष्ट लक्षित है, तदर्थ अभिनन्दन।

श्याम सरन अग्रवाल 'विक्रम'
बसंत ट्रेडर्स 8, कटरा अनूप सिंह
नयी सड़क, दिल्ली–110006

प्रदूषण विशेषांक-मार्गदर्शक

'प्रदूषण विशेषांक' को पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। इसके सामयिक सम्पादन के लिए धन्यवाद। इस समय जब सभी लोग 'प्रदूषण' से होने वाली दिक्कतों को ध्यान में रखकर एकजुट होकर, उससे निपटने के लिए प्रयत्नशील हैं उस समय आपकी परिषद् 'प्रदूषण विशेषांक' का संपादन लोगों के लिए मार्गदर्शक के रूप में काम करेगा। इसका हिन्दी में संपादन आम जनता के लिए भी बहुत लाभकर सिद्ध हुआ है।

डा० कृष्णानन्द पाण्डेय
कृषि संकाय
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

प्रदूषण विशेषांक : प्रशंसनीय प्रयास

'विज्ञान' का प्रदूषण विशेषांक पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। इसमें प्रदूषण के लगभग सभी पहलुओं को उठाया गया है। इसे पढ़कर जनसाधारण भी प्रदूषण कम करने की दिशा में प्रयास कर सकते हैं। प्रदूषण की समस्या विश्व-व्यापी समस्या है। इसका निराकरण तो तभी संभव है जब प्रत्येक व्यक्ति इसके बारे में सोचे-समझे। बढ़ते हुए प्रदूषण को देखते हुए आपका प्रयास सराहनीय है। प्रदूषण विशेषांक के सुन्दर व ज्ञानवर्धक प्रकाशन हेतु बधाई स्वीकार करें।

कु० ममता कौशिक
23/308 आर्य समाज
रोड केसरगंज, अजमेर-305001

गोरखप्रसाद पुरस्कार 1980

वर्ष 1980 में 'विज्ञान' में प्रकाशित लेखों में से तीन लेखाकों को पुरस्कृत किया गया है।

प्रथम – डा० प्रेमचन्द्र मिश्र : शोर प्रदूषण दिसम्बर 1980

द्वितीय – कु० रुचि श्रीवास्तव : कैंसर मृत्यु का पर्याय नहीं अगस्त 1980

तृतीय – श्री रमेश दत्त शर्मा : प्रकृति से छेडछाड क्यों दिसम्बर 1980

● संकलन : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
वनस्पति विभाग
सी०एम०पी डिग्री कालेज, इलाहाबाद

1 मानव जाति को खतरा

अमेरिकी 'नेशनल एरोनाटिक्स एण्ड स्पेस एड-मिनिस्ट्रेशन (NASA) नामक संस्था ने पिछले दिनों एक चौंकाने वाली बात बताई। अंतरिक्ष में तेजी से घूमती हुई 800 के लगभग ग्रहिकाओं (Asteroids) में से कोई एक भी यदि पृथ्वी से टकरा जाय तो इस धरती से मानव जाति ही नष्ट हो जावेगी। छोटे अंतरिक्षीय पिण्डों या उल्काओं (Meteors) से बड़े नगर नष्ट हो सकते हैं। नासा के अनुसार ऐसा होने पर आणविक युद्ध के अचानक प्रारंभ होने का आभास हो सकता है और विश्व युद्ध की संभावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस कारण ग्रहिकाओं और उल्काओं पर नज़र रखनी होगी। बहुत से वैज्ञानिक ऐसा मानने लगे हैं कि आज से 650 लाख वर्ष पूर्व डाइनोसारों के धरती से विलुप्त होने का कारण धरती-ग्रहिका टकराव रहा होगा।

2 हिम-युग के विशालकाय हाथी (जॅम्बो) के फिर से पैदा होने की संभावना

सोवियत रूस के विज्ञान अकादमी की संस्था लेनिनग्राद इंस्टीट्यूट आफ़ साइटोलोजी के वैज्ञानिक जेनेटिक इंजीनियरी की दुनियां में एक नया कीर्तिमान स्थापित करने जा रहे हैं। रूसी वैज्ञानिकों ने सुदूर उत्तरी बर्फीले भाग से जॅम्बो हाथी के अवशेष प्राप्त किये हैं और अब उनका इरादा अवशेष कोशिकाओं को प्रयोगशाला में कृत्रिम माध्यम में जीवित रखने और संवर्धित करने का है। इन वैज्ञानिकों की योजना के अनुसार संवर्धित जीवित कोशिका को भारतीय हथिनी की लिंग-कोशिका (Sex cell) से परखनली में संयोजन कराकर जॅम्बो हाथी का बच्चा बनाया जा सकेगा। ऐसा करने के लिये लिंग-कोशिका के न्यूक्लियस को एक्स-किरणों (X-rays) द्वारा पहले ही नष्ट कर दिया जायेगा और फिर उचित माध्यम में 18-20 माह की अवधि में बच्चे का जन्म संभव हो जायेगा।

हिम-युग का जॅम्बो हाथी भारतीय हाथी से काफी मिलता-जुलता सा था। केवल एक विशेष असमानता थी और वह यह कि जॅम्बो हाथी का शरीर घुंघराले लाल-भूरे रोओं से आच्छादित था और काले लम्बे केश थे जिनके कारण ठंड से यह अपनी रक्षा करने में सक्षम था। इसके दाँत लहरदार (मुड़े हुये) और 12 फीट तक लम्बे थे।

3 द्रव उर्वरक नांगल में तैयार

पंजाब के नांगल (रोपड़) स्थित राष्ट्रीय फर्टिलाइजर्स लिमिटेड द्वारा तैयार की गयी एक नये किस्म की द्रव खाद शीघ्र ही 'अंकुर' नाम से बाज़ारों में बिकने के लिये आ जायेगी। कारखाने के मैनेजर बी०एस० कक्कड़ ने बताया कि अब तक भारतीय किसान नाइट्रोजन युक्त खाद ठोस के रूप में इस्तेमाल करते आये हैं। ये उर्वरक आमतौर से यूरिया, कैल्सियम-अमोनियम नाइट्रेट और अमोनियम सल्फेट हैं। किन्तु अब नाइट्रोजन को घोल के रूप में प्रयुक्त किया जाना संभव हो गया है। अन्य नाइट्रोजन उर्वरकों की अपेक्षा द्रव नाइट्रोजन से अधिक लाभ है। इसे एक वर्ष तक बिना किसी हानि के स्टोर किया जा सकता है, रख रखाव में कम कठिनाई है और इससे नाइट्रोजन

तुरन्त मुक्त होता है। इस प्रकार निकट भविष्य में इस नये द्रव नाइट्रोजन उर्वरक का लाभ निश्चय ही कृषकों को मिलेगा।

4 गठिया के रोगियों के लिये नयी आशा

बुखारिस्ट म्यूनिसिपल अस्पताल के एक चिकित्सक निकोलस एफटिमस्कु ने एक ऐसे टीके (वैक्सीन) की खोज कर ली है जिससे गठिया (Rheumatism) के रोगियों का इलाज सफलतापूर्वक किया जा सकेगा। डा० निकोलस एफटिमस्कु का कहना है कि उनका टीका इस थ्योरी पर आधारित है कि गठिया का कारण एक विशेष प्रकार के जीवाणु (बैक्टीरिया), स्टैफाइलोकोकस हैं जो रक्त नलिकाओं पर आक्रमण करते हैं। नये टीके से रोग का इलाज 6 सप्ताहों में किया जा सकता है।

5 कैंसर अनुसंधान की एक और उपलब्धि

ब्रिटेन के इम्पीरियल कैंसर रिसर्च फण्ड के इपीडेमियालोजी यूनिट के अध्यक्ष प्रोफेसर सर रिचर्ड डोल के अनुसार उन पुरुषों में कैंसर रोग से ग्रसित होने की आशंका में 40 प्रतिशत की कमी पायी गई है जो नियमित रूप से औसत मात्रा से अधिक विटामिन ए का सेवन करते हैं।

इस प्रयोग के दौरान यह भी ज्ञात हुआ कि रसायनों द्वारा कैंसर का उपचार करते समय सिर का बाल झड़ जाता है। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि इलाज के समय चाँद (सिरोवल्क) को ठंडा रखने से बाल झड़ना कम हो जाता है या बिल्कुल ही रुक जाता है। यह परीक्षण लन्दन के रायल मार्सडन अस्पताल के कैंसर के 31 रोगियों पर किया गया जिसमें 29 महिलायें और 2 पुरुष थे। इन सबकी उम्र 27-73 वर्ष के बीच थी। महिलायें स्तन कैंसर और पुरुष ट्यूमर से ग्रसित थे। सिरोवल्क को ठंडा करने से 28 रोगियों को कोई हानि नहीं हुई। इनमें से 22 के सिर के बाल या तो बिल्कुल ही नहीं झड़े या बालों का झड़ना नगण्य था।

6 मृदा प्रदूषण में वृद्धि

इण्डियन कौंसिल आफ मेडिकल रिसर्च के महानिदेशक डा० रामालिंगास्वामी के अनुसार मृदा प्रदूषण का कारण जीवाणु (बैक्टीरिया) हैं। मृदा प्रदूषण मनुष्यों के मल के निपटान के अभाव के कारण होता है और जन स्वास्थ्य के लिये ख़तरा बढ़ता जा रहा है। शहरी क्षेत्रों में तेज़ी से आबादी के बढ़ने के कारण मनुष्यों के मल के निपटान के लिये भूमि का अभाव बढ़ता जा रहा है। पुराने तरीके के शौचालयों के कारण शहरों और कस्बों में मृदा प्रदूषण बढ़ रहा है। ये शौचालय मक्खियों के प्रजनन के स्थान हैं जिनके कारण मनुष्यों में अनेक रोग संचारित होते हैं। मृदा प्रदूषण से होने वाले रोगों से बचाव का सबसे अच्छा तरीका नये ढंग के शौचालयों का निर्माण है जिसमें मनुष्यों के मल के निपटान की उचित व्यवस्था रहती है।

7 चाय और काफी के उद्दीपन की खोज

जोन्स हापकिन्स यूनिवर्सिटी स्कूल आफ मेडिसिन के निदेशक डा० सोलोमन एच० स्नाइडर ने न्यूयार्क में न्यूरोसाइन्स (तंत्रिका-विज्ञान) की एक गोष्ठी में बोलते हुये बताया कि उन्होंने चाय, काफी या कोला में पाये जाने वाले स्फूर्तिदायक (उत्तेजक) तत्व को खोज लिया है। इनमें पाया जाने वाला 'कैफीन' अवसाद उत्पन्न करने वाली प्राकृतिक प्रक्रिया को नष्ट कर देता है। उन्होंने यह भी बताया कि कैफीन किस प्रकार काम करता है, कैफीन के निकट संबंधी एक रसायन, 'थियोफिलीन' को और उन्नत करके दमा का इलाज सफलतापूर्वक किया जा सकेगा। कैफीन अत्यधिक इस्तेमाल में आने वाला मनोसक्रिय (Psychoactive) पदार्थ है जो काफी, चाय, चाकलेट और अन्य बहुत से अमादक पेयों में पाया जाता है। इसके उपयोग से जागते रहने के लिए, सर्दी-खाँसी के लिये और दर्द से छुटकारा दिलाने वाली अनेक औषधियाँ तैयार की जाती हैं। डा० सोलोमन के अनुसार कैफीन एडिनोसीन के प्रभाव को कम करता है। एडिनोसीन जेनेटिक पदार्थ डी एन ए (DNA) को बनाने वाले पदार्थों में से एक है। एडिनोसीन सक्रियता को कम करके अवसाद उत्पन्न करता है। इस प्रकार कैफीन उस पदार्थ के प्रभाव को कम करता है जो प्राकृतिक रूप से निष्क्रियता लाता है।

सांस्कृतिक विकास में प्रबुद्ध-वर्ग की भूमिका—एक विश्लेषण

● डा० चन्द्र मोहन भण्डारी,
भौतिकी विभाग, इलाहाबाद वि० वि०

किसी समाज के सांस्कृतिक विकास के स्तर एवं चरित्र को निर्धारित करने का और उसके वैज्ञानिक विश्लेषण का कोई सरल तरीका नहीं है। ऐसे जटिल निकाय का विश्लेषण उसका एक अत्यन्त सरलीकृत प्रारूप लेकर ही करना सम्भव है। इस प्रकार प्राप्त निष्कर्ष एक प्रकार का सांख्यिकीय-माध्य तो निर्धारित कर सकता है पर किसी व्यक्ति विशेष या इकाई विशेष के व्यवहार का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। इसके बावजूद भी जिस प्रकार किसी द्रव्य की आधारभूत इकाइयों (अणु या परमाणु) के विषय में सूक्ष्म-व्यवहार को जाने बिना द्रव्य के स्थूल गुणों का अध्ययन सम्भव है कुछ-कुछ उसी प्रकार समाज के संदर्भ में भी इस प्रकार का अध्ययन सुविधाजनक हो सकता है और कुछ सीमाओं में उपयोगी भी।

यहां पर हम अध्ययन करेंगे उन स्थितियों व परिस्थितियों के विश्लेषण का जो एक परिवेश से जन्मने वाली और उसी से पोषित एक संतत, सृजनात्मक-श्रृंखला-प्रक्रिया को जन्म देती हैं। यह श्रृंखला धनात्मक पुनः निविष्ट प्रक्रिया (feedback process) द्वारा स्वयं को आवर्धित करती रहती है। जब-जब ऐसी श्रृंखला का अस्तित्व संभव हो पाता है तो एक-दो नहीं सैकड़ों प्रतिमायें खिल उठती हैं फिर चाहे वह कला या साहित्य में हों, विज्ञान में हों या दर्शन में। सामूहिक सृजनशीलता का यह विशेष आयाम ऐसा है जो परिवेश से प्रेरणा प्राप्त कर स्वयं उसे प्रेरित एवं समृद्ध करता है और कालान्तर में एक विचलन-आवर्द्धनकारी-प्रक्रम (deviation amplifying device) को जन्म देता है जो स्वयं में एक साध्य है, और साधन भी श्रृंखला-प्रक्रियाओं की निरंतरता को बनाये रखने का। किसी समाज के सांस्कृतिक विकास में यह क्रान्तिक-अवस्था तभी प्राप्त होती है जब कुछ विशेष सामाजिक-अवस्था-चर कतिपय विशिष्ट सामाजिक-अवस्था-समीकरणों को संतुष्ट करते हों।

वे परिस्थितयां जो किसी क्षेत्र में सृजनशीलता की संतत-श्रृंखला-प्रक्रिया को पोषित कर सकती हैं मुख्यतः निम्न चरों पर निर्भर करती हैं।

(1) सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवेश

(2) धार्मिक और पारम्परिक मान्यतायें

(3) बुद्धिजीवी वर्ग का आकार

(4) बुद्धिजीवी वर्ग का चरित्र

स्थूल दृष्टि से ये अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हुए भी कतिपय सूक्ष्म चर (microscopic variables) अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकते हैं जो कुछ विशेष व्यक्तियों के व्यक्तिगत प्रयासों द्वारा नियंत्रित होते हैं और साधारणतया परिवेश से सीधे प्रभावित नहीं होते। ऐसी स्थितियों का यहाँ हम वर्णन नहीं करेंगे।

उपरोक्त चर एक दूसरे से स्वतंत्र होते हुये भी कुछ बातों में एक दूसरे पर आधारित हो सकते हैं और एक में होने वाले परिवर्तन दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं पर सरलता के लिये, हम उन्हें स्वतंत्र चरों के ही रूप में लेंगे एवं सबसे अधिक महत्व जिसे देंगे वह है बुद्धिजीवी वर्ग का

चरित्र। चरित्र का प्रयोग यहां उसके व्यापक रूप में किया गया है। दार्शनिकों, लेखकों, वैज्ञानिकों एवं पत्रकारों का बड़ा प्रतिशत इसी वर्ग से संबन्ध रखता है और इसलिये इस वर्ग का चरित्र सांस्कृतिक विकास के सम्पूर्ण नहीं तो भी अधिकांश आयाम तो निश्चित करता ही है।

बुद्धिजीवी समुदाय का एक विशेष अंग एक माध्यम की तरह काम करता है और इस माध्यम से होकर वैचारिक-तरंगों का संचरण (भौतिकीय संदर्भ में नहीं) उक्त माध्यम की विशिष्टता एवं क्षमता का परिचायक है। जिस प्रकार अधिक तरंग लम्बाई की रेडियो तरंगें वाहक का कार्य करती हैं और इनकी सहायता से ध्वनि-तरंगों का विद्युत-रूपान्तर सुदूर स्थानों तक सुगमता से प्रेषित किया जा सकता है कुछ उसी प्रकार वैचारिक स्तर पर होने वाले विस्थापन सशक्त प्रबुद्ध वर्ग की सहायता से संचारित किये जा सकते हैं। संचार क्षैतिज अक्ष पर हो सकता है या ऊर्ध्वाधर अक्ष पर या समय के सापेक्ष। इन सबमें माध्यम (उक्त उदाहरण में वाहक) अत्यन्त महत्वपूर्ण है और कोई भी संचारण उसकी अपूर्णता के कारण अपनी प्रभावोत्पादकता खो बैठता है। एक प्रबुद्ध वर्ग—प्रबुद्ध पाठक वर्ग इस माध्यम का कार्य करता है समाज के सांस्कृतिक विकास में फिर चाहे वह साहित्य से सम्बन्धित हो, कला से हो या विज्ञान से। एक सुगठित पर वैविध्यपूर्ण, अनुशासनबद्ध पर स्वस्थ-आलोचनारत प्रबुद्ध वर्ग कितना प्रभावकारी हो सकता है यह बात अनेक उदाहरणों से सहज ही समझी जा सकती है। उन्नीसवीं सदी में यूरोप में कीर्केगार्द, कार्ल-मार्क्स और उनके बाद के अनेक चिन्तक अपने जीवनकाल में अधिक समझे और सराहे नहीं गये पर काफी सीमा तक एक प्रबुद्ध पाठक-वर्ग और उन्हीं में से प्रस्फुटित स्वस्थ-लेखन और आलोचना की परम्परा ने चिन्तन की इन धाराओं के उत्तरोत्तर विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया जिसके अभाव में इन दार्शनिक-लेखकों को शायद विस्मृति के गर्त में विलीन होना पड़ता।

हिन्दी भाषा और उसके स्वातंत्र्योत्तर विकास पर ध्यान दें तो कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। हिन्दी जगत में एक बड़ा पाठक वर्ग एक सशक्त माध्यम की तरह काम नहीं कर पाया है या यों कहें कि भाषा के भौगोलिक एवं सांख्यिक विचार को देखते हुये यह किसी सीमा तक प्रभावहीन है तो अतिशयोक्ति न होगी।

कौन है यह वर्ग और क्या शर्तें हैं उसके सशक्त माध्यम की तरह कार्य करने की? क्या यह सब समाज के विकास के चरण पर निर्भर नहीं करता? निश्चय ही आंशिक रूप से यह सही है और एक सीमा तक समाज का कोई भी वर्ग उसके सांस्कृतिक-विकास के स्तर को प्रतिबिम्बित करता है पर यह केवल आंशिक रूप से ही सही है। किसी समाज के प्रबुद्ध वर्ग का चिन्तन एक सीमा तक समाज के चिन्तन स्तर का दर्पण हो सकता है पर केवल दर्पणमात्र नहीं हो सकता। आवश्यकता पड़ने पर यह समाज के चिन्तन को अपने विचारों के अनुरूप ढाल सकता है। यह उसके आगे रहता है पीछे नहीं, किसी अंश तक समाज की अच्छाइयों और बुराइयों का प्रतिनिधित्व करते हुये भी इसमें निर्णय लेने की और मौलिक सूझबूझ की क्षमता है, यदि ऐसा न हो तो वैचारिक स्तर पर कोई परिवर्तन या कोई क्रान्ति कभी सम्भव ही न होती।

हिन्दी भाषी समाज में एक सशक्त प्रभावकारी पाठक वर्ग की अनुपस्थिति का एक कारण है हिन्दी समाज में व्याप्त अपनी भाषागत क्षमता और मौलिकता के विषय में तर्कहीन पूर्वाग्रहों की परम्परा। एक बहुत बड़ा भाग हीन भावना से ग्रस्त है और एक अपेक्षा छोटा भाग श्रेष्ठता की भावना से अभिभूत। स्वस्थ और सहज चिन्तन के लिये दोनों ही हानिकारक हैं पर यह निर्विवाद है कि हममें से अधिकांश इन ध्रुवों पर ही टिके प्रतीत होते हैं।

जैसा पहले वर्णन किया गया है एक सीमा तक पाठक वर्ग का चरित्र और स्तर लेखन के चरित्र और स्तर का निर्धारण करता है। एक परम्परावादी संकीर्ण प्रबुद्ध-वर्ग किसी भी मौलिक विचार प्रक्रिया को जन्म देने में सफल होगा इसकी सम्भावनायें काफी कम हैं और यदि एक 'जीनियस' अपनी बात कहना भी चाहे तो शायद उसे कोई सुनेगा नहीं क्योंकि आलोचना और तर्कसंगत चिन्तन की वह परम्परा विद्यमान ही नहीं है। कोई शृंखला-प्रक्रिया चिन्तन के स्तर पर पोषित नहीं हो सकेगी और कालान्तर

में वह 'जीनियस' विस्मृति के गर्त में विलीन हो जायेगा। एक व्यक्ति भुला दिया गया या पहचाना ही नहीं गया यह दुःखद है पर इससे भी अधिक दुःखद है एक चिन्तन-प्रक्रिया को समझे और परखे जाने का अवसर ही नहीं दिया जाय। वस्तुतः कुछ इने गिने नामों को छोड़कर अधिकांश 'तथा-कथित जीनियस' भी परिवेश की देन होते हैं और परिवेश की सबसे महत्वपूर्ण इकाई प्रबुद्ध वर्ग ही है जिसका आकार और चरित्र जीनियस के 'जन्म' और पोषण साथ ही विचारों की शृंखला-प्रक्रिया के स्वरूप को भी निर्धारित करता है।

यह शृंखला-प्रक्रिया साहित्य से संबंधित हो या व्यापक सांस्कृतिक विकास से या विज्ञान से—हर स्थिति मे प्रबुद्ध वर्ग का स्वरूप अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उपरोक्त तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ उदाहरण लेंगे।

परिवेश जैसा भी हो कुछ विशिष्ट व्यक्ति परिवेश से असम्पृक्त अपना वैचारिक धरातल स्वयं निर्धारित कर सकते हैं। ऐसा ही एक विशिष्ट व्यक्तित्व पूरे तीस वर्षों तक इस देश के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में छाये रहने के बावजूद भी अस्पृश्यता जैसी घृणित पद्धति को दूर न कर सका। यह कहना अनुचित होगा कि गांधी के प्रयत्नों ने इस दिशा में कोई ठोस कार्य नहीं किया। इस दिशा में काफी कुछ हुआ है और आज एक बड़ा शिक्षित वर्ग सिद्धान्त रूप में एक उदारवादी दृष्टिकोण की आवश्यकता मानने लगा है भले ही आज भी वह व्यक्तिगत जीवन में इस उदार दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर पाया। अनेक अन्य क्षेत्रों में गांधी का व्यक्तिगत दृष्टिकोण जो भी रहा हो इस समस्या के मामले में वह सुलझा हुआ और दूरदर्शी था पर उस चिन्तन प्रक्रिया को महज नारे के रूप में स्वीकार कर भारतीय शिक्षित वर्ग ने उसको विकासशील बनाने का प्रयत्न नहीं किया इसलिये क्योंकि सदियों की परम्परा उसके तर्क पर हावी हो गई थी और अब भी है। परिणाम एक ही हो सकता था शृंखला-प्रक्रिया की समाप्ति जो थोड़ा-बहुत जड़ें ग्रहण कर ही रही थी।

अब एक दूसरा उदाहरण लें। स्वतंत्रता प्राप्त हुये तीस वर्षों से अधिक का समय बीत चुका है। यह समय किसी राष्ट्र के जीवन में बहुत तो नहीं है पर इसे नगण्य भी नहीं कह सकते। इस अन्तराल में हम शिक्षा जैसे महत्व-पूर्ण विषय में कोई प्रभावकारी एवं उद्देश्यपूर्ण व्यापक दीर्घकालीन 'पॉलिसी' विकसित न कर सके। आज हमारे बड़े और छोटे शहरों में माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध काफी सीमा तक ईसाई मिशनरी संगठनों के द्वारा हो रहा है और यहाँ का प्रबुद्ध वर्ग अपनी सन्तानों को ऐसे स्कूलों में भेजकर गर्व अनुभव करता है जहाँ भाषा, आचार-व्यवहार और तकनीक तीनों ही विदेशी प्रभाव से मुक्त न हो पाये हों। आपत्ति अंग्रेजी के पठन-पाठन में नहीं है अंग्रेजियत को फूहड़ ढंग से लादे जाने पर है। यह एक स्वतंत्र राष्ट्र की तसवीर तो नहीं ही है। स्वतंत्रता का लबादा ओढ़े एक आत्मसम्मानरहित, पतनशील समाज की तस्वीर है। वे सब जो इसका समर्थन करते हैं और वे भी जो कारणों की तह तक गये बिना इसका विरोध करते हैं दोनों ही बराबर के अपराधी हैं।

एक उदाहरण लेना उपयोगी होगा जो उपरोक्त तथ्य को स्पष्ट करता है। 1961 के आंकड़ों के अनुसार हिन्दी में एक उपन्यास या गल्पसाहित्य से सम्बन्धित विषयों में पुस्तक की अधिकतम 8000 प्रतियां बिक पाती थीं। हिन्दी भाषी प्रदेशों की कुल आबादी 15 करोड़ ली जाय और साक्षरता का प्रतिशत 20 प्रतिशत लिया जाय तो भी तीन करोड़ हिन्दी भाषी साक्षर रहे होंगे और कम से कम 50 हजार व्यक्ति मैट्रिक स्तर तक पढ़े होंगे। यदि इस संख्या का मात्र 20 प्रतिशत पुस्तक खरीद सकने की स्थिति में हो तो भी लगभग 10 लाख व्यक्ति पुस्तक पढ़ सकने और खरीद सकने की स्थिति में होंगे। किसी एक विधा में 10 में से 1 ही व्यक्ति की रुचि ली जाय तब भी 1 लाख पुस्तकें बिक पाना कोई अस्वाभाविक नहीं था। जबकि आंकड़ों के अनुसार यह संख्या 8000 थी। निश्चय ही यह उन पुस्तकों का हाल था जिनके प्रकाशन और वितरण में कोई महत्वपूर्ण अवरोध नहीं आये होंगे। अनेक मौलिक रचनाओं की स्थिति इससे काफी खराब रही होगी। अधिकांश स्थितियों में पुस्तकों की 3000 से अधिक प्रतियां नहीं बिक पातीं।

दूसरी ओर अंग्रेजी समझने वालों का प्रतिशत कम होते हुये भी अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकें अधिक बिकती हैं और हिन्दी समझने पढ़ने वाले लोग भी अपनी व्यक्तिगत लाइब्रेरी में अंग्रेजी की पुस्तकों का ही संकलन करते हैं। निश्चय ही इसका एक कारण है कि इस भाषा में सभी विद्याओं में श्रेष्ठ पुस्तकें उपलब्ध हैं। पर हिन्दी में प्रकाशित वे पुस्तकें भी जो उच्च-स्तर की हों अधिक नहीं बिक पातीं। आखिर स्तर का निर्धारण भी तो तभी हो सकता है जब उसे पढ़ा जाय, उस पर मनन किया जाय और आलोचना भी होती रहे। स्वीकृति या अस्वीकृति तो बिना पढ़े नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त यह भी उतना ही सही है कि भारत में गम्भीर विषयों पर लिखी गयी पुस्तकें पढ़ने वाले लोग गिने-चुने हैं। अंग्रेजी साहित्य में रुचि रखने वाले लोग भी साधारणतया कुछ अधिक चर्चित और फैशनेबल नामों से ही अधिक प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। यहाँ पर यह पुनः बता देना आवश्यक है कि कुछ व्यक्ति इसके अपवाद अवश्य हैं और पठन व लेखन के उच्चतम मानदण्डों को अपनाकर चलते हैं पर वे किसी सामूहिक मानसिकता या चरित्र का प्रतिनिधित्व नहीं करते। अन्य विकसित देशों में भी ऐसा वर्ग पूरे समाज का एक अत्यन्त छोटा अंग होता है पर फिर भी वह सामूहिक चेतना और मानदण्डों का निर्धारण करने में सक्षम है।

एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि पुस्तकों के पढ़े जाने के लिये उनका बिकना क्या आवश्यक है? लेखन एवं लेखक के अस्तित्व के लिये निश्चित ही यह आवश्यक है। लेखक शून्य में अस्तित्व नहीं रख सकता और स्तरीय लेखन को तब तक सही प्रोत्साहन नहीं मिल ससकता जब तक पाठक वर्ग का आकार और चरित्र लेखक को एक सम्मान-पूर्ण जीवन जीने में सहयोग न दे। निश्चय ही हिन्दी में सस्ते साहित्य की पुस्तकें विशेषकर पॉकेट बुक सीरीज में खूब बिकती हैं। इसी तरह कोर्स की पुस्तकें बहुत बड़ी संख्या में बिक जाती हैं। पर गम्भीर और स्तरीय लेखन के सम्बन्ध में बात कुछ और है और इस विषय में पाठक-वर्ग का व्यवहार किसी भी शृंखला-प्रक्रिया को पोषित करने में असमर्थ रहा है। गम्भीर साहित्य का अध्ययन जब हम करते भी हैं तो अंग्रेजी ही हमारा माध्यम होती है और मात्र मनोरंजन के लिये हिन्दी साहित्य की ओर दृष्टि-पात करते हैं या फिर डिग्री हासिल करने के लिये। वर्तमान पृष्ठभूमि में अंग्रेजी आज हमारे जीवन का महत्वपूर्ण अंग हैं और राष्ट्रीय स्तर पर एक तरह की अनिवार्यता है पर यह पूरी कहानी नहीं है। यूरोप के सभी देशों में, जापान में या अनेक अन्य देशों में अंग्रेजी की अनिवार्यता को नकारा नहीं जाता। विज्ञान, तकनीकी से सम्बन्धित लगभग हर व्यक्ति अंग्रेजी का आवश्यक ज्ञान रखता है पर वहाँ का प्रबुद्ध और शिक्षित व्यक्ति अपनी विशिष्टता को अंग्रेजी के ही माध्यम से बनाये रखने का प्रयत्न नहीं करता। हमारे देश में इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये यह जानना आव-श्यक है कि यहाँ प्रबुद्ध वर्ग द्वारा अपनाये गये सामाजिक मूल्य क्या है? यहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग के लिये शिक्षा का उद्देश्य क्या है?

प्रेस की कठिनाइयों के कारण वाध्य होकर यह अंक संयुक्तांक के रूप में निकाला जा रहा है। पाठक इस असुविधा के लिये हमें क्षमा करेंगे—सम्पादक

संसार की महान वैज्ञानिक महिलायें

1. हायपातिया

● गुणाकर मुले
नई दिल्ली

['विज्ञान' के पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि प्रसिद्ध लेखक श्री गुणाकर मुले ने 'विज्ञान' के लिये 'संसार की महान वैज्ञानिक महिलायें' नामक लेखमाला देने की कृपा की है। इस श्रृंखला का प्रथम पुष्प महान महिला गणितज्ञा **हायपातिया** से प्रारम्भ हो रहा है।]

पुरातन काल में, जब अभी पितृसत्ता के युग का आरम्भ नहीं हुआ था, नारी ने मानव-जीवन के उन्नयन में निश्चय ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। बच्चों की परिवरिश की जिम्मेदारी उसके ऊपर थी, इसलिये शिशु रोगों के कई सारे परम्परागत इलाज उसी ने खोजे हैं। संभवतः आग की भी खोज उसी ने की है। पाककर्म उसी के जिम्मे था। उसने न केवल तरह-तरह की भोज्य वस्तुओं का चयन किया, बल्कि आरम्भ में मिट्टी के अनगढ़ बर्तन और टोकरियाँ भी उसी ने बनाई होंगी। रसायन शास्त्र को नींव नारी ने ही डाली है। मध्ययुग के कीमियागरों का कीमिया-कर्म नारी के सहयोग के बिना अधूरा ही समझा जाता था। कृषिकर्म की जननी नारी ही है।

आरम्भिक ऋग्वैदिक समाज को अभी अपनी आदिम साम्यवादी कबीलाई व्यवस्था का स्मरण था, इसलिये नारी को अभी काफी आजादी थी। ऋग्वेद में घोषा, विश्ववारा, लोपमुद्रा आदि अनेक ऋषिकाओं के नाम मिलते हैं। इन महिलाओं ने ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की रचना की है। लेकिन बाद में यह स्थिति नहीं रही। नारी जाति के लिये ज्ञान-विज्ञान के दरवाजे एक प्रकार से बन्द हो गये। प्राचीन भारत में कई रानियाँ हुईं, वीरांगनायें हुईं, सन्त कवियित्रियाँ हुईं, पर प्राचीन भारत की किसी वैज्ञानिक महिला के बारे में कहीं कोई जानकारी नहीं मिलती।

नारी के मामले में लगभग यही स्थिति पितृसत्ताप्रधान प्राचीन यूनानी समाज की भी थी। देमोक्रितस, अफलातून (प्लेटो), अरस्तू, आर्किमिदीज, यूक्लिद आदि महान वैज्ञानिकों को जन्म देने वाली उत्कर्षकालीन यूनानी संस्कृति ने किसी भी महिला वैज्ञानिक को पैदा नहीं किया। ईसा की चौथी सदी में जब यूनानी विज्ञान लगभग पूर्णतः निष्प्राण हो चुका था, तब एक अन्तिम लौ के रूप में हमें सिकन्दरिया के यूनानी विद्याकेन्द्र में एक महिला वैज्ञानिक के दर्शन होते हैं। वह थी **हायपातिया**, एक वैज्ञानिक पिता की पुत्री, एक गणितज्ञा, सत्रहवीं-अठारवीं सदी के उसके एक जीवनीकार जोन तौलांद के शब्दों में कहें तो, "एक सर्वाधिक सुन्दर, सर्वाधिक सदाचारी . . . और सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न महिला।"

यूनानी विज्ञान के इतिहासकार हायपातिया का, उसके कृतित्व का, उल्लेख करना नहीं भूलते। इसलिए भी नहीं भूलते कि उसकी जीवनकथा बड़ी कारुणिक है। सिकंदरिया के ईसाइयों ने हायपातिया की घोर नारकीय तरीके से हत्या कर दी थी। यह 415 ई० की घटना है। हायपातिया की हत्या के साथ प्राचीन यूनानी ज्ञान-विज्ञान का पूर्णतः अवसान हो जाता है।

हायपातिया का जन्म 370 ई० के आसपास मिस्र देश के प्रख्यात नगर सिकंदरिया में हुआ था। उसके पिता,

सिकंदरियावासी थिओन, उच्चकोटि के गणितज्ञ थे। यूनानी ज्यामितिकार यूक्लिद और ज्योतिषी तालेमी के नाम से विज्ञान के सभी विद्यार्थी परिचित हैं। यूक्लिद ने 300 ई० पू० के आस-पास सिकंदरिया के प्रख्यात विद्या-केन्द्र में ही अपने महान ग्रन्थ "ज्यामिति के मूलतत्व" की रचना की थी। ज्योतिषी तालेमी ईसा की दूसरी सदी के मध्यकाल में हुए। उन्होंने अपने प्रख्यात ज्योतिष-ग्रन्थ को, जिसका अरबी नाम 'अल्मजिस्ती' है, रचना सिकंदरिया में ही की थी।

हायपातिया के पिता थिओन ने यूक्लिद के 'मूलतत्व' का सम्पादन करके एक नया संस्करण तैयार किया था। उनके इस संस्करण की जो हस्तलिपियाँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यूक्लिद के "मूलतत्व" का प्रामाणिक पाठ तैयार करने में आधुनिक विद्वानों को बड़ी मदद मिली है। इसी प्रकार, थिओन ने तालेमी के ज्योतिष-ग्रन्थ का भी सम्पादन किया था। इसके अलावा, उन्होंने स्वयं भी कुछ ग्रन्थ लिखे थे। उन्होंने षाष्ठिक भिन्नों से वर्गमूल ज्ञात करने का तरीका खोज निकाला था।

ऐसे गणितज्ञ पिता की पुत्री थी हायपातिया। गणित की शिक्षा उसने अपने पिता से ही प्राप्त की थी। यहाँ हम एक गणितज्ञ पिता की गणितज्ञा पुत्री की चर्चा कर रहे हैं, तो हमें प्रख्यात भारतीय गणितज्ञ भास्कराचार्य (1150 ई०) और उनकी "लीलावती" का सहज स्मरण हो आता है। भास्कराचार्य ने अपनी अंकगणित की पुस्तक को 'लीलावती' नाम दिया है। पर लीलावती क्या सचमुच उनकी पुत्री का नाम था? अकबर के शासनकाल में जब फैजी ने 'लीलावती' का फारसी में अनुवाद किया, तो यह किस्सा भी गढ़ दिया कि लीलावती भास्कर की पुत्री थी। किस्से में सच्चाई भी हो सकती है, पर लीलावती के गणित सम्बन्धी कृतित्व के बारे में कहीं कोई जानकारी नहीं मिलती।

हायपातिया अपने पिता की तरह उच्चकोटि की गणितज्ञा थी। पता चलता है कि उसने सिकंदरिया के अंतिम महान गणितज्ञ डायोफैंटस की एक कृति पर टीका लिखी थी। डायोफैंटस ईसा की तीसरी सदी के उत्तरार्द्ध में हुए, यानी हायपातिया के जन्म के करीब सौ साल पहले। हम जानते हैं कि यूनानी गणितज्ञों ने ज्यामिति का काफी अधिक विकास कर लिया था, वे बीजगणित के सवालों को भी ज्यामितीय विधियों से ही हल करते थे। डायोफैंटस ने बीजगणितीय अध्ययन की नींव डाली, नये चिन्हों का प्रयोग किया, और एक विशेष प्रकार के अनिर्धार्य समीकरणों को हल करने की विधि प्रस्तुत की। यूनानी विज्ञान-क्षेत्र में नये अनुसंधान के दिन कभी के लद चुके थे, डायोफैंटस के पहले ही टीकाओं का युग शुरू हो गया था। यही कारण है कि डायोफैंटस के मौलिक कृतित्व के महत्व को समझ पाना यूरोप में सोलहवीं सदी में ही संभव हो सका। ऐसे इस महान गणितज्ञ की एक कृति पर हायपातिया ने टीका लिखी थी।

डायोफैंटस के जीवन के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती, पर उनके जीवन से सम्बन्धित एक दिलचस्प सवाल गणित के इतिहास में काफी मशहूर है। डायोफैंटस की समाधि पर उत्कीर्ण यह सवाल है: "हे पथिक! डायोफैंटस के जीवन का छठा भाग बचपन में गुजरा; बारहवां भाग गुजरने पर उसकी दाढ़ी निकल आई, सातवां भाग और बीतने पर उसका विवाह हुआ; पांच साल और गुजरने पर उसके बेटा हुआ, लेकिन वह पिता की आधी आयु होने तक ही जीवित रहा; बेटे की मृत्यु के चार साल बाद पिता की भी मृत्यु हो गई। तो बताओ, डायोफैंटस कितने साल जीवित रहे? (उत्तर 84 साल)।

महान भारतीय गणितज्ञ आर्यभट (जन्म: 476 ई०) डायोफैंटस के करीब दो सौ साल बाद हुए। उनकी 'आर्यभटीय' कृति में हमें पहली बार सरल अनिर्धार्य वर्ग समीकरण का हल देखने को मिलता है। फिर ब्रह्मगुप्त (628 ई०) ने अनिर्धार्य वर्ग समीकरणों का विशद विवेचन किया। उस समय बीजगणित के इस विषय को 'कुट्टक' के नाम से जाना जाता था। भारतीय गणितज्ञों ने बीजगणित का खूब विकास किया।

जानकारी मिलती है कि हायपातिया ने सिकंदरिया के महान गणितज्ञ एपोलोनियस (लगभग 220 ई० पू०) की एक पुस्तक पर टीका लिखी थी। एपोलीनियस ने शांक्व गणित की नींव रखी थी। यदि एक शंकु को विभिन्न प्रकार से काटा जाए तो हमें वृत्त, दीर्घवृत्त, परवलय और अतिपरवलय वक्र प्राप्त होते हैं। एपोलीनियस ने इन्हीं वक्रों का गणित प्रस्तुत किया था। अफलातून का मत था कि वृत्त एक आदर्श वक्र है, कि सभी खगोलीय पिण्ड दरअसल वृत्तीय कक्षाओं में ही परिभ्रमण करते हैं। यह मान्यता गलत थी, परन्तु करीब डेढ़ हजार साल तक इस मान्यता को चुनौती देने वाला कोई गणितज्ञ यूरोप में पैदा नहीं हुआ, एपोलीनियस की दीर्घवृत्त, परवलय आदि वक्रों की खोज उपेक्षित पड़ी रही। इस खोज का उद्धार किया केपलर (1571-1630) ने, और सिद्ध किया कि सौर-मण्डल के सभी ग्रह-उपग्रह वृत्तीय कक्षाओं में नहीं, बल्कि दीर्घवृत्तीय कक्षाओं में परिक्रमा करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डायोफैंटस और एपोली-नियस जैसे महान गणितज्ञों की कृतियों पर टीकायें लिखने वाली हायपातिया निश्चय ही एक प्रतिभाशाली गणितज्ञा थी। इतना ही नहीं, वह सिकंदरिया के नवप्लातोनी शिक्षाकेन्द्र की प्राचार्या भी थी।

चूँकि हायपातिया और उसके गणितज्ञ-ज्योतिषी पिता का सम्बन्ध सिकंदरिया के महान विद्याकेन्द्र से था, इस लिए इसके बारे में कुछ बातें जानना उपयोगी होगा। मिस्र में इस नगर की स्थापना सिकंदर (मृत्यु : 323 ई० पू०) ने की थी। उसके एक सेनापति तालेमी-सौतेर ने मिस्र का शासन सँभाला, और एक नये राजवंश की स्थापना की। मिस्र की प्रख्यात रानी क्लिओपेत्रा इसी राजवंश की अंतिम शासिका थी। तालेमी-सौतेर ने सिकंदरिया में एक संग्रहालय की स्थापना की। लेकिन यह आज की तरह का संग्रहालय नहीं था, यह एक विद्यापीठ था, शोध संस्थान था। यहाँ विद्वानों को सभी प्रकार की सुविधायें उपलब्ध थीं, यहाँ एक वेधशाला थी, एक उपवन था, और सबसे बड़ी बात यह थी कि यहाँ एक बहुत बड़ा ग्रन्थागार था। पता चलता है कि ईसा पूर्व पहली सदी में सिकंदरियाके इस ग्रन्थागार में पेपीरस-कागज और चर्मपटों पर लिखे गये करीब सात लाख ग्रन्थों का संग्रह था। अतः यूक्लिद, आर्किमिदीज, एपोलीनियस, इराटोस्थनीज, तालेमी, हैरोन, मेनेलोस, पाप्पुस, डायोफैंटस, थिओन और हायपातिया-जैसे महान यूनानी वैज्ञानिकों का सम्बन्ध सिकंदरिया के इसी महान विद्याकेन्द्र से था, तो इसमें हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

पता चलता है कि ज्यूलियस सीजर ने क्लिओपेत्रा के शासन काल में जब मिस्र पर आक्रमण किया था तो उस समय सिकंदरिया के इस महान ग्रन्थालय को काफी क्षति पहुँची थी। बाद में यहाँ के अनेक ग्रन्थ रोम में ले जाये गये। परन्तु इस ग्रन्थागार को सर्वाधिक क्षति पहुँचाई ईसाइयों ने। हायपातिया के समय तक रोमन सम्राटों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था। उस समय सिकंदरिया का आर्चबिशप थिओफिलस था। उसे देवपूजकों को यातनायें देने में, उनके स्मारकों को नष्ट करने में, बड़ा मजा आता था। पता चलता है कि उसी ने 390 ई० में सिकंदरिया के विशाल ग्रन्थागार को नष्ट कर देने का आदेश दिया था; हायपातिया ने उस विनाशलीला को अपनी आँखों से देखा होगा। कहा जाता है कि सिकंदरिया के ग्रन्थागार को अरबों ने नष्ट किया, परन्तु इस कथन में सच्चाई नहीं है, क्योंकि इस्लाम के उत्थान के समय तक यह संग्रहालय लगभग नष्ट हो चुका था।

ऊपर हम बता चुके हैं कि हायपातिया सिकंदरिया के नवप्लाटोनी शिक्षाकेन्द्र की प्राचार्या थी। थीओसोफी से मिलती-जुलती इस रहस्यवादी-चैतन्यवादी विचारधारा का उदय रोमन साम्राज्य के अवसानकाल में ईसा की तीसरी सदी में हुआ था, सर्वप्रथम सिकंदरिया में। अफलातून के 'भाव' को सर्वाधिक प्रधानता देने वाली इस विचारधारा ने विभिन्न सम्प्रदायों की आराधनाओं को अपने में समेट लिया था। अपने प्रभाव के कारण यह विचारधारा उदीय-मान ईसाई धर्म की जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी थी और, ईसा की चौथी सदी के अंतिम वर्षों में हायपातिया इस नवप्लातोनी

विचारधारा से प्रभावित सिकंदरिया के विद्याकेन्द्र की अध्यक्षा थी। ईसाई तब उसे भला कैसे सहन करते? सिकंदरिया के आर्चबिशप थिओफिलस के भतीजे साइरिल ने हायपातिया की हत्या करने के लिए ईसाइयों को भड़काया। 415 ई० में ईसाइयों की एक भीड़ ने इस विदुषी महिला की हत्या कर डाली। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को नारकीय यातनायें देकर जिंदा मार डालने के कई तरीके ईसाइयों ने खोज लिये थे। जानकारी मिलती है कि ईसाई साधुओं की भीड़ ने तेज धारवाली बड़ी-बड़ी सीपियों से उसके शरीर का मांस काट-काटकर उसे मार डाला। ईसाइयों ने बाद में साइरिल को एक संत घोषित कर दिया।

हायपातिया ने निश्चय ही अनेक योग्य शिष्य पैदा किए होंगे। इनमें सिरीने-निवासी साइनेसियस नामक उसके शिष्य ने सर्वाधिक ख्याति अर्जित की। जानकारी मिलती है कि उसने एस्ट्रोलैब नामक ज्योतिष-यन्त्र का आविष्कार किया। दिलचस्प बात यह है कि हायपातिया का यह शिष्य एक योग्य बिशप बना। इस प्रकार शनैः-शनैः नवप्लातोनी विचारधारा अन्त में ईसाई धर्म में प्रविष्ट हो गई। बाद में इस विचारधारा ने अरबी दार्शनिक-वैज्ञानिकों को भी काफी प्रभावित किया।

आधुनिक युग में अंगरेजी व जर्मन भाषाओं में हायपातिया पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। वाल्तेयर ने अपने दार्शनिक विश्वकोश में हायपातिया के बारे में जानकारी दी है। 'ईसाई समाजवादी' अंगरेज साहित्यकार चार्ल्स किंग्स्ले ने तो हायपातिया की जीवन कथा के आधार पर एक उपन्यास (1853 ई०) ही लिखा है।

हायपातिया प्राचीन यूनानी विज्ञान की अंतिम दीप्ति थी। उसके बलिदान के साथ यूनानी विज्ञान का अवसान हो जाता है, यूरोप में स्वतन्त्र चिंतन की परम्परा लुप्तप्राय हो जाती है। 1600 ई० में एक महान वैज्ञानिक-प्रचारक की हत्या के बाद, ईसाइयों द्वारा ज्योर्दानो ब्रूनो को जिंदा जला दिये जाने के बाद, यूरोप में आधुनिक विज्ञान के युग का आरम्भ होता है।

(अगले अंक में : एमिली, मार्की दु शेतल)

With the Best Compliments from :

Phone : 54292
52089

SCIENCE CORPORATION

104, Leader Road, Allahabad

Dealers in : Laboratory Chemicals, Scientific Instruments, Microscope, Glasswares etc.

Authorised Stockist :

B. D. H. ; S. M. ; E. Merck ; I. D. P. L. ; LOBA ; Ranbaxy : S. R. L. Chemical ; GETNER Instruments, Sigcol Glasswares, Blue Star Slides & Cover Glasses.

नींद की बीमारी और खूनी मक्खी

• प्रेमानन्द चन्दोला
ई-1 साकेत, एम० आई० जी० फ्लैट्स
नई दिल्ली

हमारी यह दुनिया बड़ी विचित्र है और यह विचित्रता है इसमें पाये जाने वाले विचित्र प्राणियों व उनकी हरकतों के कारण। जितने प्राणी उतनी विचित्रतायें। अनेक प्राणी तो अनेक रोग। आदमी कहाँ तक बचे इन खतरनाक प्राणियों से। बड़े प्राणी तो बड़े मियां और छोटे प्राणी सुबाहन अल्ला। जन्तु जितने ही छोटे, करतब उनके उतने ही खोटे। मक्खी, मच्छर की ही बिरादरी की एक मक्खी होती है जिसे 'सी-सी मक्खी' (या सेट्सी फ्लाइ) कहते हैं। यह मक्खी एक रोग का कारण है जिसे 'निद्रालु रोग' या नींद की बीमारी (स्लीपिंग सिक्नेस) कहते हैं। आकार में यह मक्खी घरेलू मक्खी से बड़ी होती है और बड़ी खतरनाक भी।

सी-सी मक्खी अँधेरे महाद्वीप अफ्रीका में बहुतायत से होती है। अफ्रीका के अँधेरे महाद्वीप होने के कई कारण हैं। एक तो, यहाँ बहुत घने जंगल हैं और पौधे इतने सटे-सटे तथा पत्तियाँ छितराये हुए उगते हैं कि चारों ओर घटाटोप अंधेरा छाया रहता है। क्या मजाल कि रोशनी की एक भी किरण अन्दर झाँक ले। दूसरे, दलदल, नम मिट्टी और पत्तियों आदि के सड़ने-गलने के कारण यहाँ तीखी व जहरीली गैस भरी रहती है जिसके कारण सारा वातावरण जहरीला बना रहता है। तीसरे, अंधेरा कहलाये जाने का कारण यह भी है कि विषम परिस्थितियों की वजह से कुछ भाग पूरी तरह से खोजे नहीं गये हैं क्योंकि वहाँ मानव प्रवेश ही नहीं कर पाया है।

नम, दलदली तथा सड़ते-गंधाते पदार्थों वाली यह अंधेरी भूमि जहरीले व रोग फैलाने वाले घातक जन्तुओं की शरणस्थली है। इनके कारण यहाँ रोगों का प्रकोप रहता है।

यह सी-सी मक्खी मध्य अफ्रीका के अधिकांश भाग को ग्रस्त किए हुए है। इससे मानव ही नहीं बल्कि वहाँ के पशु भी त्रस्त हैं। जब यह मक्खी काटती है तो रोगी
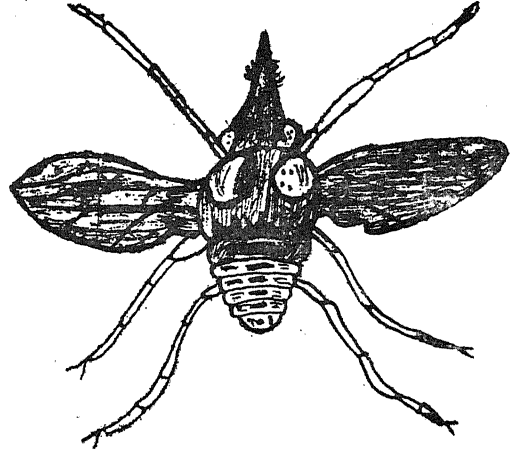
सी–सी मक्खी

परेशान होकर सुस्त और निर्जीव-सा हो जाता है और ऊँघते हुए केवल सोते रहने की इच्छा करता है। शरीर में खून के बहाव के साथ अंततः जब मक्खी का बिष मस्तिष्क या रीढ़ रज्जु के तरल पदार्थ तक पहुँचता है तो उस विषम उत्तेजना के कारण रोगी अपनी चेतना खो बैठता है और आखिरकार हाय! यह निद्रालु रोग उसे हमेशा की नींद में सुला कर उसकी जान ही ले डालता है। तभी रोगी को इस रोग से मुक्ति मिल पाती है।

रोग के अन्य लक्षण हैं—कँपकँपी वाला बुखार, दुर्बलता, खून की कमी, मानसिक उद्विग्नता, पीड़ा व बेचैनी, नाड़ी का तेज चलना, लसीका–ग्रंथियों (लिम्फ ग्लैन्ड) की सूजन आदि। रोग की बिल्कुल शुरू की अवस्था

में ही यानी जब तक विष-मस्तिष्क व रीढ़रज्जु तक नहीं पहुँचता तभी यदि उपचार हो जाय तो रोगी का जीवन बचाया जा सकता है वरना तो रोग असाध्य और घातक बन जाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की सूचना के अनुसार प्रति वर्ष 7,000 लोग इसकी लपेट में आते हैं और इनमें से करीब 350 मौत के मुँह में चले जाते हैं।

लेकिन इस रोग में दोष केवल सी-सी मक्खी का ही नहीं है। इसमें एक और सूक्ष्म जन्तु का भी हाथ है जो इस मक्खी के शरीर में पनपता है। यह सूक्ष्म जन्तु या रोगकारी परजीवी (पैरासाइट) मक्खी के खून में ही बसेरा करता है। इस रोगकारी जन्तु का नाम है 'ट्रिपेनोसोम' और इसके कारण इस रोग को 'ट्रिपेनोसोमिएसिस' भी कहते हैं। ये जन्तु प्राणियों के 'प्रोटोजोआ' (आदि जन्तु) समूह में आते हैं जिनका प्रतिनिधि जन्तु 'अमीबा' है।

ट्रिपेनोसोम आकार में नोकीले, घुंघराले, पत्ती–जैसे, बहुत छोटे और एककोशीय होते हैं जो केवल सूक्ष्मदर्शी (खुर्दबीन) से ही देखे जा सकते हैं। इनमें अगले सिरे पर एक डोरी-जैसी रचना होती है जिसके आधार से एक
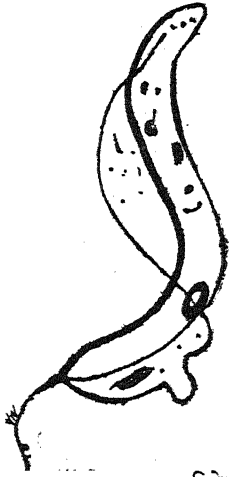
ट्रिपेनोसोम

झिल्ली निकलती है और जो पिछले सिरे तक फैली होती है। इस डोरी और झिल्ली की गति से ही इनका चलना–फिरना होता है। इनमें मुँह या मलद्वार की तरह का कोई छेद नहीं होता, शरीर की सतह से ही तरल भोजन सोखा जाता है और सांस लेने तथा मल–मूत्र त्यागने की क्रियायें भी शरीर की सतह से ही होती हैं।

ये ट्रिपेनोसोम सी-सी मक्खी के अलावा अन्य कीटों, पौधों, तथा कुछ रीढ़ वाले प्राणियों के शरीर में भी पाये जाते हैं। लेकिन अपने इन पोषकों को ये कोई नुकसान नहीं पहुँचाते। पोषकों पर इनके जहर का कोई असर नहीं पड़ता।

अफ्रीका के ऐसे क्षेत्रों में लगभग हर शिकार वाले जानवर के खून में ये ट्रिपेनोसोम पाये जाते हैं। इन पशुओं के शरीर में पलकर ही ये मक्खियों द्वारा इधर-उधर ले जाये जाते हैं। जब कोई सी-सी मक्खी हिरन सरीखे जंगली पशु या किसी रोगी मनुष्य का खून चूसती है तो खून के साथ ये ट्रिपेनोसोम भी उसकी आँत में चले जाते हैं। मक्खी की आँत में पहुँचने पर इनमें कई परिवर्तन होते हैं। आँत में पहुँचने के तीन-चार हफ्ते बाद ये उसकी लार-ग्रंथियों में पहुँच जाते हैं, जहाँ उनमें और भी कई बदलाव तथा बढ़ोतरी होती है। इस अवस्था में जब मक्खी किसी नीरोग मनुष्य को काटती है तो उस जगह जलन होने लगती है और वहाँ पर बटन के बराबर गहरे लाल रंग का चकत्ता बन जाता है। इस तरह डंक मारते ही ढेर सारे ट्रिपेनोसोम लार के साथ मनुष्य के खून में पहुँच जाते हैं। सी-सी मक्खी के ठंडे खून में कुछ अवस्थायें बिताने के बाद मनुष्य के गर्म खून में ये बड़ी तेजी से संख्या में बढ़ते जाते हैं और खून के बहाव में इधर-उधर बहते चले जाते हैं।

कभी-कभी तो मक्खी के काटने के बाद कई हफ्तों क्या कई महीनों तक बुखार नहीं आता, जब तक कि ये सैकड़ों की संख्या में पैदा नहीं हो जाते और जहर उत्पन्न नहीं करते। लेकिन फिर बुखार का प्रकोप होने पर रोग के कई लक्षण प्रकट होने लगते हैं और रोगी यातना से बुरी तरह से छटपटाने लगता है।

उपाय : मक्खी के साथ सफाया जंगलों का

ब्रिटिश समाचार पत्र 'ऑब्जर्वर' के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के में खाद्य एवं कृषि संगठन अन्तर्गत जो सी-सी मक्खी के उन्मूलन का कार्यक्रम है उससे जंगलों के अस्तित्व को भी खतरा है। यह कार्यक्रम भी छोटा-मोटा नहीं, बहुत बड़ी लागत वाला कार्यक्रम है। अभी तक योरप और संयुक्त राज्य अमरीका में पर्यावरणी कारणों से डी०डी०टी० सरीखे तेज कीटनाशी और पीड़कनाशी रसायनों के प्रयोग पर प्रतिबंध है लेकिन इस कार्यक्रम से सम्बद्ध फैक्टरियों में फिर से जान आ जाएगी और वे फिर उपयोग के लिए रसायन उगलने लगेंगी।

इन रसायनों के अंधाधुंध प्रयोग से सी-सी मक्खी और उसके अन्दर के रोगकारी ट्रिपेनोसोमों को मारा जाएगा और गोश्त (मांस) प्रदान करने वाले पशुओं के उत्पादन पर अधिक ध्यान दिया जाएगा ताकि गोश्त बहुतायत से मुहैया किया जा सके। ये बात दूसरी है कि यह गोश्त अफ्रीका के निवासियों को उपलब्ध न होकर संसाधित करके जहाजों द्वारा पश्चिमी देशों को भेजा जाएगा। वैसे जरूरत तो अफ्रीकावासियों को है क्योंकि उनके आहार में प्रोटीन की बहुत कमी होती है और इस दृष्टि से वे कुपोषण से पीड़ित हैं। पर यह जरूर है कि वहाँ की पैसे की कमी तो पूरी हो जाएगी।

ऐसे कार्यक्रम के अंतर्गत जंगल की भूमि नष्ट होकर चरागाहों में बदल जाएगी। लेकिन इससे क्या होगा कि भूमि के टूटने-बहने की सम्भावना रहेगी और मानसूनी वर्षा पर भी कुप्रभाव पड़ेगा। इस तरह के प्रयासों और जंगलों का सफाया करने से पारिस्थितिकीय और पर्यावरणीय असंतुलन की अवस्था से जलवायु सम्बन्धी कुप्रभाव भी सामने आयेंगे। इस प्रकार यह ऐसी अवस्था है जिसमें विवेक के आधार पर और सोच-विचार कर ही कदम उठाने होंगे।

[पृष्ठ 12 का शेष अंश]

जानकारियाँ भी इस राडार की सहायता से मिल सकेंगी। इस राडार में लगा हुआ बहुआवर्ती सूक्ष्मतरंगी चित्र लेने वाला एक रेडियोमापी बादलों के पार या बारिश के समय भी समुद्र या स्थल के चित्र ले सकता है। एक लेसर (Laser) दूरीमापी द्वारा इस राडार द्वारा दी गई जानकारियों की परीक्षा की जायेगी ताकि किसी भी स्तर पर गलती की सम्भावना न रहे। आयनोस्फियर व ट्रापोस्फियर में वैद्युतीय, गैसीय या जल वाष्पीय परिवर्तनों का अनुमापन विलक्षण ध्वनि यंत्रों द्वारा किया जा सकेगा।

यद्यपि इन विशेष प्रकार के उपग्रहों को अंतरिक्ष में भेजने की योजना का कार्यान्वियन अभी पूर्ण नहीं हुआ है फिर भी इसी तरह के थल सर्वेक्षण उपग्रहों द्वारा दिये गये समुद्र व थल सम्बन्धी कुछ आँकड़े अत्यधिक उत्साह-वर्धक हैं। नये खनिज क्षेत्रों, पादप व्याधियों, भौगोलिक व समुद्र सम्बन्धी कई ऐसी महत्वपूर्ण जानकारियाँ इन उपग्रहों द्वारा प्राप्त हुई हैं जो कि केवल अंतरिक्ष से ही प्राप्त हो सकती थीं। आने वाले समय में मौसमसम्बन्धी भविष्यवाणियों के साथ-साथ प्रदूषण सम्बन्धी सूचनायें भी हमें समय से पहले मिल जायेंगी तथा प्रदूषण निदान सम्बन्धी तैयारियाँ समय रहते की जा सकेंगी। इस प्रकार उपग्रहों द्वारा प्रदूषण अनुमापन ने सम्भावनाओं के अनेक द्वार खोल दिये हैं। इनके उपयोग निश्चय ही मानवता के हित में होंगे।

उपग्रहों द्वारा प्रदूषण अनुमापन

● डा० हेम चन्द्र जोशी
केन्द्रीय मत्स्यकी अनुसंधान संस्थान,
बैरकपुर (प० बंगाल)

वैज्ञानिक रोमांच पर दाँतों तले उंगली दबाने वाली बात अब नहीं रही। आज के अंतरिक्ष युग में मानव की चन्द्रमा तक उड़ान तथा अंतरिक्षयानों की मंगल, शनि तक की यात्राओं से अब हर कोई परिचित है। लेकिन इन अंतरिक्ष उड़ानों का उद्देश्य केवल इन ग्रहों तक पहुँचना तथा ब्रह्माण्डीय गुत्थियों को समझना ही नहीं, अंतरिक्ष में प्रतिपल क्रियाशील उपग्रहों के कुछ और भी उद्देश्य हैं। पृथ्वी की खनिज क्षमता, पारिस्थितिकी व सामरिक महत्ता का मानचित्र इन उपग्रहों की सहायता से मानव के मस्तिष्क में समा गया है। पृथ्वी के गर्भ में छिपा एक-एक रहस्य अब मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र से बाहर नहीं है। अत: प्रदूषण जैसी व्यापक समस्या भी अब उपग्रह तकनीक का लक्ष्य बन चुकी है। अमेरिका के राष्ट्रीय सामुद्रिक एवम् वातावरण प्रशासन ने विश्वव्यापी प्रदूषण के अनुमापन के लिए 'निम्बस' श्रेणी के उपग्रह छोड़ने की योजना बनाई है। प्रथम चरण में उपग्रह का कार्य क्षेत्र होगा, समुद्र, समुद्री तरंगें, ऊपरी सतह से लेकर धरातल तक का पूरा चित्र, विभिन्न क्षेत्रों की मात्स्यकीय क्षमता, ज्वार-भाटा, प्रदूषण व कटिबन्धीय उत्खनन इत्यादि। अब समुद्र सम्बन्धी जानकारियाँ विस्तृत रूप से मालूम हो सकेंगी। द्वितीय चरण में स्थल व वातावरण में व्याप्त पारिस्थितिकीय असंतुलन का अध्ययन ही इसका प्रमुख लक्ष्य होगा। वातावरण में कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा, ओजोन सतह की गहराई, सरिता प्रदूषण, मृदा उत्खनन, जंगलों का विनाश, भूकम्प इत्यादि की जानकारियाँ, विस्तृत रूप में मिल सकेंगी। भावी योजना इन जानकारियों के मिलने के बाद ही बनेंगी।

इन उपग्रहों में कौन से उपकरण लगाए जाएँगे यह भी निश्चित हो गया है। समुद्री सर्वेक्षण के लिए एक स्कैनिंग कैमरा लगा रहेगा जो कि चौबीसों घंटे समुद्री सतह के लघुतरंगीय व साधारण चित्र लेने में सक्षम होगा, इन चित्रों से शीत व उष्ण तापीय जल तरंगों का अवलोकन हो सकेगा। मछलियाँ, झींगा व शैवाल समूहों का अवलोकन भी इन चित्रों की सहायता से सुगम हो जाएगा, समुद्र में तैरती बर्फीली चट्टानों, समुद्र में व्याप्त प्रदूषण व समुद्री सतह पर जहाजी यातायात द्वारा फैले तेल की भी जानकारी इन चित्रों से मिल सकेगी। समुद्री सतह से उपग्रह की दूरी मापने के लिए एक दूरीमापक राडार उपकरण लगा रहेगा। इससे समुद्री सतह में होने वाली तरंग गतिविधि, ज्वार-भाटा, तूफान इत्यादि का निरन्तर पता लगता रहेगा। इन जानकारियों को प्रतिपल समुद्र में तैरते जहाजों तक पहुँचाया जा सकता है जिससे उनकी यात्रा सुगम की जा सकती है। इस दूरबीन के अतिरिक्त यान के एक ओर एक अन्य राडार का भी प्रावधान है। यह राडार विभिन्न कोणों के सूक्ष्म तरंगों की सहायता से समुद्री सतह की सही-सही अवस्था की जानकारी देगा। ये आँकड़े इतने सटीक होंगे कि इनकी सहायता से समुद्र में विचरते जहाजों, हिमखण्डों तथा शैवाल व मत्स्य समूहों की लम्बाई, चौड़ाई व ऊँचाई का भी ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है। समुद्री तूफान, तैल प्रदूषण इत्यादि

[शेष पृष्ठ 11 पर]

नये दशक की वैज्ञानिक क्षमता के दुरुपयोग की आशंका*

डा० कृष्ण बहादुर
रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

विज्ञान तीव्र गति से प्रगति कर रहा है। इस गति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि प्रति 10 वर्षों में विज्ञान का ज्ञान प्राय: दुगना हो जाता है। विज्ञान के इस विस्तार द्वारा मानव को विभिन्न प्रकार की सुविधायें मिलती जा रही हैं, तीव्र गति से चलने वाले विमानों ने दुनिया की दूरी कम कर दी हैं, संचार ने तो इतनी प्रगति की है कि कुछ ही मिनटों में पृथ्वी के किसी भाग की खबर दूसरे छोर तक पहुँचाई जा सकती है, परमाणु शक्ति पर काबू पाने के बाद बड़ी मात्रा में ऊर्जा मनुष्य को उपलब्ध हो गयी और नई-नई दवा की जानकारी बढ़ने के कारण बहुत सी बीमारियाँ जो प्राणघातक थीं आज सरलता से अच्छी की जा सकती हैं।

जहाँ इन नवीन खोजों से मानव जीवन सुखमय बनता जा रहा है वहीं इन खोजों के दुरुपयोग से मनुष्य को उतनी ही हानि पहुँचने की सम्भावना भी बढ़ती जा रही है जैसे तेज चाकू रखने वाला लापरवाही में अपना हाथ भी काट सकता है। उदाहरणत: तीव्रगामी हवाई जहाज थोड़े ही समय में बहुत से योद्धाओं और युद्ध सामग्री को एक स्थान पर लाकर किसी भी छोटे युद्ध को विशाल रूप दे सकते हैं, गलत संचार से मनुष्य में डर और आशंका निर्माण हो सकता है, परमाणु शक्ति का उपयोग करके सम्पूर्ण मानव को नष्ट किया जा सकता है और विषैली गैस तथा उससे भी भीषण हानिकारक बैक्टीरिया बम से करोड़ों लोगों को थोड़े समय में मारा जा सकता है। इन संभावनाओं के अतिरिक्त वैज्ञानिक क्षमता के कुछ ऐसे भी दुरुपयोग सम्भव हैं जिन्हें दुर्घटना कह सकते हैं और उनसे मानव को इसी दशक में भीषण हानि पहुँच सकती है।

इनमें से प्रथम खतरा परमाणु शक्ति से है। वर्तमान दुनिया की राजनीति देखते हुए यह कहना मुश्किल है कि इस दशक में परमाणु युद्ध न होगा। वैसे परमाणु युद्ध न हो जाय इसके लिये दुनिया के प्राय: सभी राष्ट्र प्रयत्नशील हैं परन्तु परमाणु शक्ति के दो प्रकार के दुरुपयोग की आशंका बढ़ती जा रही है। विश्व के छोटे-छोटे राष्ट्र प्राय: लड़ते रहते हैं। यदि इनमें से किसी ने परमाणु या हाइड्रोजन बम बना लिया तो कोई आश्चर्य नहीं। इनके बनाने की तकनीक अब सर्वविदित है। इसमें केवल धन की आवश्यकता है। यदि किसी छोटे, गैरजिम्मेदार लडाकू राष्ट्र ने यह बम बना लिया तो इसमें शक नहीं कि वह इसका उपयोग अपने शत्रु पर कर देगा। तब क्या होगा? हाइड्रोजन बम के उपयोग से न केवल उस स्थान के सैकड़ों किलोमीटर आसपास के स्थान का सब कुछ नष्ट हो जायेगा वरन् इसके कारण उत्पन्न रेडियोएक्टिविटी से आसपास के हजारों किलोमीटर के जीवों में आनुवंशिक या जेनिटिक परिवर्तन हो जायेगा। इस जेनिटिक परिवर्तन का अर्थ यह है कि वर्तमान जीवों द्वारा जो जीव जन्म लेंगे वे अपने माता-पिता से विभिन्न आकार और गुण के होंगे। ऐसे अधिकांश जीव तो मर जायेंगे परन्तु जो जीवित बचेंगे वे सम्पूर्ण जगत का संतुलन नष्ट कर देंगे और इससे सम्पूर्ण मानवों के नष्ट होने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

*आकाशवाणी द्वारा प्रसारित।

नये दशक की वैज्ञानिक क्षमता के दुरुपयोग की आशंका*

डा० कृष्ण बहादुर
रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

विज्ञान तीव्र गति से प्रगति कर रहा है। इस गति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि प्रति 10 वर्षों में विज्ञान का ज्ञान प्राय: दुगना हो जाता है। विज्ञान के इस विस्तार द्वारा मानव को विभिन्न प्रकार की सुविधायें मिलती जा रही हैं, तीव्र गति से चलने वाले विमानों ने दुनिया की दूरी कम कर दी हैं, संचार ने तो इतनी प्रगति की है कि कुछ ही मिनटों में पृथ्वी के किसी भाग की खबर दूसरे छोर तक पहुँचाई जा सकती है, परमाणु शक्ति पर काबू पाने के बाद बड़ी मात्रा में ऊर्जा मनुष्य को उपलब्ध हो गयी और नई-नई दवा की जानकारी बढ़ने के कारण बहुत सी बीमारियाँ जो प्राणघातक थीं आज सरलता से अच्छी की जा सकती हैं।

जहाँ इन नवीन खोजों से मानव जीवन सुखमय बनता जा रहा है वहीं इन खोजों के दुरुपयोग से मनुष्य को उतनी ही हानि पहुँचने की सम्भावना भी बढ़ती जा रही है जैसे तेज चाकू रखने वाला लापरवाही में अपना हाथ भी काट सकता है। उदाहरणत: तीव्रगामी हवाई जहाज थोड़े ही समय में बहुत से योद्धाओं और युद्ध सामग्री को एक स्थान पर लाकर किसी भी छोटे युद्ध को विशाल रूप दे सकते हैं, गलत संचार से मनुष्य में डर और आशंका निर्माण हो सकता है, परमाणु शक्ति का उपयोग करके सम्पूर्ण मानव को नष्ट किया जा सकता है और विषैली गैस तथा उससे भी भीषण हानिकारक बैक्टीरिया बम से करोड़ों लोगों को थोड़े समय में मारा जा सकता है। इन संभावनाओं के अतिरिक्त वैज्ञानिक क्षमता के कुछ ऐसे भी दुरुपयोग सम्भव हैं जिन्हें दुर्घटना कह सकते हैं और उनसे मानव को इसी दशक में भीषण हानि पहुँच सकती है।

इनमें से प्रथम खतरा परमाणु शक्ति से है। वर्तमान दुनिया की राजनीति देखते हुए यह कहना मुश्किल है कि इस दशक में परमाणु युद्ध न होगा। वैसे परमाणु युद्ध न हो जाय इसके लिये दुनिया के प्राय: सभी राष्ट्र प्रयत्नशील हैं परन्तु परमाणु शक्ति के दो प्रकार के दुरुपयोग की आशंका बढ़ती जा रही है। विश्व के छोटे-छोटे राष्ट्र प्राय: लड़ते रहते हैं। यदि इनमें से किसी ने परमाणु या हाइड्रोजन बम बना लिया तो कोई आश्चर्य नहीं। इनके बनाने की तकनीक अब सर्वविदित है। इसमें केवल धन की आवश्यकता है। यदि किसी छोटे, गैरजिम्मेदार लडाकू राष्ट्र ने यह बम बना लिया तो इसमें शक नहीं कि वह इसका उपयोग अपने शत्रु पर कर देगा। तब क्या होगा? हाइड्रोजन बम के उपयोग से न केवल उस स्थान के सैकड़ों किलोमीटर आसपास के स्थान का सब कुछ नष्ट हो जायेगा वरन् इसके कारण उत्पन्न रेडियोएक्टिविटी से आसपास के हजारों किलोमीटर के जीवों में आनुवंशिक या जेनिटिक परिवर्तन हो जायेगा। इस जेनिटिक परिवर्तन का अर्थ यह है कि वर्तमान जीवों द्वारा जो जीव जन्म लेंगे वे अपने माता-पिता से विभिन्न आकार और गुण के होंगे। ऐसे अधिकांश जीव तो मर जायेंगे परन्तु जो जीवित बचेंगे वे सम्पूर्ण जगत का संतुलन नष्ट कर देंगे और इससे सम्पूर्ण मानवों के नष्ट होने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

*आकाशवाणी द्वारा प्रसारित।

और क्या यह सम्भव नहीं कि कोई छोटा राष्ट्र किसी विकसित राष्ट्र के परमाणु बम के शस्त्रागार से एक दो बम चुरा लें ? इस युग में मनुष्य की नैतिकता का जो ह्रास हुआ है उसमें यह नामुमकिन नहीं। फिर परमाणु बम कभी दुर्घटना-वश लुप्त भी हो सकते हैं और वह गैरजिम्मेदार राष्ट्र के हाथ लग सकते हैं। कुछ वर्ष पूर्व ऐसी एक घटना घटी जब अमरीका का एक हाइड्रोजन बम लदा विमान टूट कर समुद्र में गिर गया। भगवान की कृपा से वह मिल गया। नहीं तो किसी लड़ाकू राष्ट्र के हाथ कहीं लग जाता तो भयंकर स्थिति पैदा हो सकती थी।

परमाणु शक्ति का एक खतरा परमाणु शक्ति द्वारा बिजली पैदा करने वाले कारखाने में दुर्घटना होने से पैदा हो सकता है। पिछले वर्षों में कई ऐसी दुर्घटनायें हुईं और इनका रेडियोएक्टिव पदार्थ निकल कर वायुमंडल में आ गया। ऊर्जा के इस भीषण संकट काल में सब देश परमाणु शक्ति से बिजली बनाने के कारखाने लगा रहे हैं। ऐसे जितने ही अधिक संख्या में कारखाने बनेंगे उतनी अधिक दुर्घटना की सम्भावनायें बढ़ जायेंगी। यहाँ तक कि अब कई विकसित राष्ट्रों में ऐसी संस्थायें बन गई हैं जो इस बात का विरोध करती हैं कि उनके देश में परमाणु शक्ति से बिजली बनाने के नये कारखाने न खोले जायँ।

मगर पेट्रोलियम की घटती मात्रा के कारण दूसरा रास्ता ही क्या है ? ऐसा अनुमान है कि इस दशक के समाप्त होते-होते पेट्रोल का मूल्य लगभग 30 रु० प्रति लीटर हो जायेगा। यदि इसी दशक में पेट्रोल के स्थान पर उपयोग करने का कोई ईंधन न ढूँढ़ लिया गया तो इस दशक में ही बहुत से परमाणु शक्ति से बिजली बनाने के कारखाने बन जायेंगे और उनमें होने वाली दुर्घटना द्वारा मानव मात्र को भयंकर संकट पैदा हो सकता है।

विश्व में पेट्रोल से चलने वाले इंजन इतनी अधिक मात्रा में बन रहे हैं कि इनसे पेट्रोल और डीजल शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा। कुछ वैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि विश्व का सम्पूर्ण पेट्रोलियम 20 वर्षों में समाप्त हो जायेगा। इसका क्या प्रभाव होगा ? यही नहीं कि मोटर तथा हवाई जहाजों का चलना बन्द हो जायेगा, हमारे कृत्रिम खाद बनाने के कारखाने भी बन्द हो जायेंगे क्योंकि आज जो नाइट्रोजन की खाद बनाई जा रही है उसके बनाने के लिये हाइड्रोजन नेप्था से प्राप्त किया जाता है। यह नेप्था पेट्रोलियम से मिलता है। हाइड्रोजन को सस्ते रूप से प्राप्त करने कोई उपाय नहीं। जब पेट्रोलियम समाप्त हो जायेगा तो न नेप्था होगा न नाइट्रोजन की कृत्रिम खाद। फिर क्या हालत होगी ?

पहिले जिस एकड़ भूमि में 10 क्विंटल अनाज होता था आज कृत्रिम नाइट्रोजन खाद से उसकी उपज 40 क्विंटल हो गई है। बिना नाइट्रोजन खाद के हमारी उपज $\frac{1}{4}$ हो जायेगी। जनसंख्या यदि न भी बढ़े तो घटने की कोई आशा नहीं। फिर खाया क्या जायेगा ? इस भीषण स्थिति की कल्पना से भी डर लगता है।

विज्ञान से इस दशक में दूसरी आशंका फिनोजेनिक इंजीनियरिंग के दुरुपयोग की है। फिनोजेनिक इंजीनियरिंग क्या है ?

प्रत्येक जीव के कोशिका में एक विशेष प्रकार का न्युक्लिक अम्ल होता है। यह न्युक्लिक अम्ल उस प्रकार के समस्त जीवों में प्रायः समान होता है और जीव के शरीर में विभिन्न समय आवश्यक प्रोटीन का संश्लेषण उस जीव का आकार-प्रकार, उसके शरीर की समस्त क्रिया प्रक्रिया इस न्युक्लिक अम्ल द्वारा ही निश्चित होती है। आम के पेड़ में आम ही फलता है केला नहीं और आदमी आदमी को जन्म देता है कुत्ते को नहीं क्योंकि उनके शरीर के न्युक्लिक अम्ल विशिष्ट हैं। इनमें यह विशिष्टता उनमें उपस्थिति न्युक्लिक अम्ल क्षार की क्रमबद्धता है। न्युक्लिक अम्ल में एडिनिन, ग्वानिन, साइटोसिन और थायमिन केवल चार क्षार हैं। इनके विभिन्न क्रमबद्ध व्यवस्था के कारण ही उस जीव की एक विशेष जीव क्रिया होती है।

अब यह सम्भव है कि न्यूक्लिक अम्ल क्षार की एक इच्छानुसार क्रमबद्ध शृंखला वाली कड़ी संश्लेषित की जाय और किसी जीव के कोशिका के न्युक्लिक अम्ल से उसको जोड़ा जाय। यही नहीं, यह भी देखा गया कि उसी

जीव के किसी दूसरी कोशिका से उसका न्युक्लिक अम्ल निकाल कर उसको इस संश्लेषित कड़ी जुड़े न्युक्लिक अम्ल से विस्थापित किया जा सकता है। देखा गया कि कोशिका इस नये न्युक्लिक अम्ल को ग्रहण कर लेती है। अगर यह कोशिका किसी बैक्टीरिया की हुई तो क्या होगा? वह नये किस्म का बैक्टीरिया बन जायेगा जिसकी जीवन क्रिया पुराने बैक्टीरिया से भिन्न होगी। अर्थात् आपने एक प्राकृतिक जीव को बदल कर एक नया जीव बना दिया। इस प्रकार नये-नये बैक्टीरिया बनाये जा रहे हैं। हमारी दुनिया के जीव इसमें उपस्थिति जीवों के साथ संतुलित अवस्था में हैं। नये बने जीव इस संतुलन को नष्ट कर देंगे। फिर नतीजा क्या होगा? एक नया जीव संतुलन निर्माण होगा। उसमें मनुष्य तथा वर्तमान अन्य जीवों का क्या स्थान होगा यह कहना कठिन है। उदाहरणतः यदि मनुष्य को हानि पहुँचाने वाले बैक्टीरिया बन गये जो आज के किसी ऐण्टीबायोटिक या दवा से नष्ट न हों तो लाखों-करोड़ों लोगों की जान जा सकती है।

अभी कुछ ही हफ्ते पहिले एक खबर थी कि रूस के उत्तरी ध्रुव क्षेत्र में "मेमथ" का बर्फ से ढका पूरा शरीर मिला। यह एक प्रकार का हाथी है जो लाखों वर्ष पूर्व उत्तर ध्रुव क्षेत्र में रहता था और कई लाख वर्षों से अब लुप्त हो गया है। इसके शरीर में बड़े बड़े बाल थे और कई फिट लम्बे मुरेड़दार दाँत थे। जम जाने के कारण उसके शरीर का न्युक्लिक अम्ल अभी नष्ट नहीं हुआ है। इसको निकाल कर भारतवर्ष के एक हाथी के ओवम (डिम्ब) के न्यूक्लिक अम्ल से बदल दिया जायेगा। फिर इस 'ओवम' को हाथी के गर्भ में रख दिया जायेगा। यदि ऑपरेशन सफल रहा तो 18 माह के हाथी के गर्भ काल के बाद एक 'मेमथ' हाथी पैदा होगा। अर्थात् वह जीव जो आज से लाखों वर्ष पूर्व समाप्त हो गया था पुनः प्रकट कर लिया जायेगा।

विभिन्न प्रकार के नये बैक्टीरिया इस विधि द्वारा बनाये जा रहे हैं जिनका उपयोग लाभदायक औद्योगिक रसायन बनाने में हो सकता है। पिछले सप्ताह अमेरिका के उच्चतम न्यायालय (U.S.A. की सुप्रीम कोर्ट) ने इन कृत्रिम जीवों का पेटेंट देने की बात मान ली। परन्तु इन नये जीवों को बनाने में सम्भव है कि हानिकारक बैक्टीरिया का निर्माण हो जाय। यह अभी पूर्णरूप से ज्ञात नहीं है कि न्युक्लिक अम्ल क्षार के किस क्रम से क्या परिणाम होते हैं। न्युक्लिक अम्ल का अणु इतना बड़ा है और इसमें इतने अधिक न्युक्लिक अम्ल क्षार के क्रम हैं कि इसका पूरा अध्ययन करने में अभी 20 वर्षों से भी अधिक समय लगेगा। पर तुकबन्दी के आधार पर नये जीव बनाये जा रहे हैं और इस प्रयास में कोई उपयोगी बैक्टीरिया बना तो वह पेटेंट होगा और यदि कोई अत्यन्त भयंकर निकला तो? कोशिश यह होगी कि उसे मार दिया जाय। यह सम्पूर्ण क्रियायें मामूली प्रयोगशाला में की जा सकती हैं और और उसे बनाने में परमाणु शक्ति की प्रयोगशाला बनाने जैसा बहुत धन नहीं लगता। यदि जेनिटिक इंजीनियरिंग की प्रयोगशाला से दुर्घटनावश भी कोई घातक नवीन बैक्टीरिया बाहर निकल आया तो सम्पूर्ण जीव मात्र को भयंकर संकट पैदा हो सकता है।

पहिले तो कुछ लोगों का यह प्रत्यन्त था की इस प्रकार के प्रयोग दुनिया भर में बन्द कर दिये जाँय। परन्तु ज्ञान और सत्य के लिए ऐसा करना ठीक नहीं समझा गया। "ऐसे प्रयोग बड़े नियंत्रण में किये जाँय" इतना कह कर ही बात टल गई। ये प्रयोग सरल हैं, साधारण प्रयोगशाला में इन्हें किया जा सकता है। यदि ऐसी कोई प्रयोगशाला में दुर्घटना हो जाय या किसी वैज्ञानिक के पागलपन से ही ऐसे घातक बैक्टोरिया प्रयोगशाला से बाहर निकल गये तो ऐसी स्थिति निर्मित हो सकती है जो सम्भवतः परमाणु शक्ति के युद्ध से भी भयंकर होगी।

कृषि और परमाणु ऊर्जा

डा० महेश कुमार मिश्र
कृषि महाविद्यालय, रायपुर

वर्तमान वैज्ञानिक युग में कृषि तथा उससे सम्बन्धित व्यवसायों में परमाणु-ऊर्जा का उपयोग आशा की नई किरण लेकर आया है। 'देखन में छोटे लगे घाव करें गम्भीर',— उक्ति परमाणुओं के साथ एकदम सही उतरती है। सूक्ष्मतम कण अपने में विशाल क्षमता को संजोएहुए है। परमाण्विक ऊर्जा के विकास के बाद अनेक क्षेत्रों में चमत्कारिक उपयोग हुए, किन्तु कृषि के क्षेत्र में इस ऊर्जा का उपयोग अपेक्षाकृत नया ही कहा जाएगा। कृषि में इसके उपयोग की संभावनाओं को देखते हुए विश्व-पोषण की समस्या का हल निकल आने की पूर्ण आशा बंधती है। जनसंख्या के विस्फोट के संदर्भ में, खाद्य समस्या का जो भयावह चित्र खींचा जाता है, उस भय से निस्संदेह ही मुक्ति मिलेगी।

उत्परिवर्तनों की गति में तीव्रता : रेडियोधर्मी पदार्थों से विशिष्ट किरणें विकरित होती रहती हैं। बीजों या पौधों पर इन किरणों को विकरित करने पर, वे पौधों के वंशानुगत गुणों में परिवर्तन करके नई किस्में तैयार कर देती हैं। इन नई किस्मों के परिवर्तित गुण एक पीढ़ी से दूसरी में भी आ जाते हैं। ऐसे परिवर्तनों को उत्परिवर्तन कहते हैं। अमरीकी वैज्ञानिक केल्विन को-जेक ने जई पर विकिरण करके जई की ऐसी किस्म प्राप्त की जो गेरुआ रोग प्रतिरोधी है। इस किस्म को प्राप्त करने में मात्र डेढ़ वर्ष की अवधि लगी। प्रजनन के पारंपरिक तरीके से गेरुआ प्रतिरोधी किस्म पैदा करने में कम-से-कम 10 वर्ष और काफी धन की आवश्यकता पड़ती। मक्का की अंगमारी प्रतिरोधी जाति विकसित करके एक वर्ष से कम समय में ही परीक्षण के लिए प्रस्तुत किया जा सका। मक्के के बीजों पर विकिरण करने से इस प्रकार की किस्म पैदा की जा सकी। प्राकृतिक रूप से रोग-प्रतिरोधकता पौधों में उत्पन्न होती है किन्तु यह अत्यन्त मन्द प्रक्रिया है। विकिरण के द्वारा इसे कम समय में प्राप्त किया जा सकता है। उत्परिवर्तनों में तीव्रता लाने से कृषि में नई किस्मों के विकास से नये युग का प्रादुर्भाव हुआ है।

रोग प्रतिरोधकता के अलावा पौधों में ऐसे गुणों का समावेश भी सम्भव है जिससे अधिक उपज मिले। मूँगफली की ऐसी किस्म उत्पन्न की जा सकी है जो सामान्य जाति से 30 प्रतिशत अधिक उपज देती है। इतना ही नहीं, उनकी फलियों के आकार में इस प्रकार परिवर्तन किया गया कि वे कटाई मशीनों के अनुकूल हों।

गामा क्षेत्र : रेडियोधर्मी पदार्थों से गामा किरणें निकलती हैं। पौधों पर इन किरणों को विकरित करने पर कई उत्परिवर्तन प्राप्त होते हैं। लाभकर उत्परिवर्तनों को लक्ष्य करके उन पौधों से प्राप्त बीजों अथवा अन्य वानस्पतिक प्रजनन तरीकों से नई किस्में तैयार की जाती हैं। गामा किरणें प्राप्त करने के लिए रेडियोधर्मी कोबाल्ट-60 का उपयोग किया जाता है। इसी कोबाल्ट-60 का उपयोग कैन्सर के उपचार तथा उद्योगों में रेडियम तथा एक्स-किरणों के लिए भी किया जाता है। तीन से दस एकड़ क्षेत्र को प्रतिबन्धित कर लिया जाता है। स्टेनलेस इस्पात की नली में अल्प मात्रा में कोबाल्ट-60 रख कर इस नली को फसल के मध्य में रख दिया जाता है। खेत के किनारे बने नियंत्रण कक्ष से इस नलिका को नियंत्रित किया जाता है। जब तक प्रयोग चलता रहता है, उस क्षेत्र में प्रवेश निषेध रहता है,

क्योंकि विकिरण से मनुष्य व पशुओं को क्षति हो सकती है। प्रयोग समाप्ति पर रेडियोधर्मी पदार्थ को सीसे की खोल में रख कर गहरे गाड़ दिया जाता है।

चिन्हित परमाणु : रेडियोधर्मी पदार्थ अपने विकिरण के कारण अपनी उपस्थिति दर्शाते हैं। जिस प्रकार सफेद भेड़ों के झुंड में एक या दो काली भेड़ों की उपस्थिति आसानी से लक्षय की जा सकती है, ठीक उसी प्रकार रेडियोधर्मी परमाणु सामान्य परमाणुओं के बीच अपने विकिरण के कारण अलग से पहचाने जा सकते हैं। इनकी उपस्थिति का अनुसरण ट्रेसर यन्त्रों की सहायता से आसान है। सामान्यतः रेडियोसमस्थानिकों को चिन्हित (Labelled) परमाणु के रूप में उपयोग किया जाता है। किसी तत्व के भिन्न रूपों को समस्थानिक कहते हैं। नाभिक में न्यूट्रानों की विभिन्न संख्या के कारण समस्थानिक बनते हैं। इन रेडियोधर्मी समस्थानिकों की अल्प मात्रा उर्वरकों या खाद्य पदार्थों में मिला देने से उक्त पदार्थ का उपयोग पौधे या जीव किस प्रकार कर रहे हैं, ट्रेसर यन्त्रों के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया में पौधे जल, कार्बन डाइ ऑक्साइड और सौर ऊर्जा से खाद्य बनाते हैं। कार्बन-14 का चिन्हित परमाणु के रूप में कार्बन डाइ ऑक्साइड में उपयोग करके प्रकाश संश्लेषण की पूरी प्रक्रिया जिस प्रकार संपन्न होती है, ज्ञात की जा सकी है। चिन्हित कार्बन-14 अपने विकिरण के कारण अपनी उपस्थिति को पौधे में कहां और किस यौगिक में है, दर्शाता रहता है। कार्बन डाइ आक्साइड पौधे में प्रवेश करने के दो सेकंड बाद ही कुछ रासायनिक पदार्थों का निर्माण कर लेती है तथा एक मिनट के अन्दर ही इससे लगभग 50 अन्य पदार्थों का निर्माण हो जाता है।

कीड़ों को चिन्हित परमाणु का खाद्य या पेय खिला कर उनकी गतिविधियों का अनुसरण आसानी से किया जा सकता है। उनके शरीर में प्रविष्ट चिन्हित-परमाणु अपने विकिरण से उन कीड़ों को पहिचानने में मदद करते हैं। उनकी आदतों तथा गतिविधियों का अनुसरण करने का यह एक कारगर तरीका है। कुछ मक्खियों को रेडियोधर्मी फास्फोरस दिया गया ताकि वे चिन्हित की जा सकें। विभिन्न दूरियों पर जाल से पकड़ी गई मक्खियों में ये चिन्हित मक्खियां भी पकड़ी गई। छोड़े गए स्थान में लगभग 28 मील दूर तक ये मक्खियां पाई गईं।

चिन्हित परमाणुओं को औषधियों में उपयोग करके उनकी औषधिजन्य क्षमता का पता लगाया जा सकता है। डिजीटाक्सीन जो हृदय-रोग की एक महत्वपूर्ण औषधि है, को चिन्हित परमाणुओं से संलग्न करके उसका शरीर पर प्रभाव देखा गया तो पाया गया कि इसका प्रभाव शरीर में 40 से 60 दिन तक रहता है। चूँकि इतनी लम्बी अवधि तक इस औषधि का शरीर में रहना उचित नहीं है, औषधि की खुराक को परिमार्जित करके, सही खुराक तय करने में डाक्टर अब समर्थ हैं।

कीड़ों और पशुओं पर विकिरण का उपयोग : स्क्रू वर्म नामक मक्खियों की मादा पशुओं के घावों और खरोचों में अंडे देती हैं। अंडे से निकली इल्ली मांस खाती है जिससे घाव बड़े हो जाते हैं। कभी-कभी पशु मर भी जाते हैं। विकिरण के द्वारा नर मक्खी को बन्ध्य किया जा सकता है। चूँकि मादा मक्खी जीवन में एक बार सहवास करती है, अतः बन्ध्य नर से सहवास होने पर अनुर्वर अंडे पैदा होंगे, जिनसे मक्खियां पैदा नहीं होंगी। इस तरह इनकी संख्या नियंत्रित की जा सकती है।

मुर्गियों और सुअरों में मांस की वृद्धि करके उन्हें मोटा बनाने से अधिक मांस के उत्पादन की संभावनाएँ अब फलीभूत होने लगी हैं। विशेष आहार खिलाकर पशुओं की थाँयराइड ग्रंथि की क्रिया मन्द करने से पशु मोटे हो जाते हैं। विशेष खाद्य की उपयोगिता जानने के लिए उसमें चिहिन्त परमाणुओं का समावेश किया गया। अध्ययन से ज्ञात हुआ कि विशेष आहार की क्रिया के फलस्वरूप पशुओं से प्राप्त मांस निरापद है और उक्त विशेष आहार का पशुओं पर हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी प्रकार गायों की थायराइड ग्रन्थि की क्रिया मन्द करने से वे शान्त हो जाती हैं जिससे अन्य कार्यों में क्षीण होने वाली शक्ति का

[शेष पष्ठ 20 पर]

जंगल नहीं तो मंगल नहीं

विजय 'देहाती'
जवाहर कालेज, जारी, इलाहाबाद

1951 की वन नीति विषयक प्रस्ताव में देश के लिये 33 प्रतिशत वन क्षेत्र आवश्यक माना गया। प्रस्ताव के अनुसार पहाड़ी क्षेत्र की 60 प्रतिशत व मैदानी क्षेत्र की 20 प्रतिशत भूमि अर्थात् पूरे देश की कुल भूमि की 33 प्रतिशत वनों से ढकी होनी चाहिये। इसी तरह 1952 में पहली बार केन्द्रीय वानिकी बोर्ड ने अलग-अलग कारणों से कटने वाले वनों पर अपनी चिन्ता व्यक्त की, और यह सुझाव दिया कि विभिन्न परियोजनाओं में जितने जंगल साफ किये जायें उतना भूभाग वन विभाग को वनीकरण के लिये मिलना चाहिये। सन् 51 से 81 के बीच 30 वर्ष का लम्बा समय बीत गया। लेकिन वन क्षेत्र बढ़ने को कौन कहे लगातार घटता जा रहा है। इस समय हमारे देश में कुल 7·4 करोड़ हैक्टेयर जमीन पर वन हैं। लेकिन उनका इतना दोहन किया गया है कि स्वस्थ जंगल केवल 3 करोड़ हैक्टेयर पर ही माने जा सकते हैं। यदि सभी जंगलों को भी लिया जाय तब भी देश के क्षेत्रफल के 10 प्रतिशत पर ही वन हैं जब कि होना चाहिये कम से कम 33 प्रतिशत।

जंगलों की अंधा धुन्ध कटाई ने देश के सामने गम्भीर समस्यायें खड़ी कर दी हैं। जंगलों के कटने का पर्यावरण पर जो कुप्रभाव पड़ रहा है वह तो है ही इसके अलावा हर साल आने वाली भयंकर बाढ़ों ने देश के सामने जो तबाही पैदा कर दी है वह किसी से छिपी नहीं है। केवल बाढ़ के कारण हर वर्ष औसतन 300 करोड़ रुपये व्यय होते हैं। वनों में वर्षा के जल को रोकने का प्राकृतिक गुण होता है। वनों में वर्षा का पानी सीधे जमीन पर न गिरकर पहले बड़े पेड़ों पर फिर छोटे पेड़ों पर और छनते-छनते भूमि की सतह पर उगी हुई घासों तक आता है। भूमि लगातार पत्तियों के सड़ने के कारण प्राकृतिक रूप से सोख्ते के समान हो जाती है जो पानी को अपने अन्दर देर तक रख सकती हैं। इस तरह वनों से भूक्षरण भी नहीं होता है, वर्षा का पानी एकाएक नदियों में नहीं पहुँचता है तथा नदियों में मिट्टी नहीं पहुँचती है। आजकल अधिकांश बाढ़ें जो आ रही हैं उनका मुख्य कारण यही है कि बहुत सारी मिट्टी नदियों में पहुँचकर उनकी सतह को ऊपर कर दिया है जिससे नदियों की गहराई कम हो गई है। भूमि की ऊपरी सतह हजारों वर्षों में तैयार होती है। वन भूमि की ऊपरी सतह को सुरक्षित रखते हैं। वनों की कटाई के फलस्वरूप भूमि की ऊपरी सतह नंगी हो जाती है। फलतः वर्षा ऋतु में बहुत सारी उपजाऊ भूमि नदियों व समुद्रों में बह जाती है। कृषि मंत्रालय के आंकड़ों के हिसाब से देश भर में 95 लाख हैक्टेयर भूमि की ऊपरी सतह या तो कट चुकी है या कटने की तैयारी में है। कृषि मंत्रालय ने इस भूक्षरण से होने वाले नुकसान का आंकड़ा भी प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार प्रति वर्ष 6000 लाख टन उपजाऊ भूमि की सतह कटकर बह रही है। इसके कारण हम 5 लाख टन एन० पी० के० जैसे पोषक तत्वों से हाथ धो रहे हैं। इन पोषक तत्वों को पुनः धरती में पहुँचाने के लिये करीब 1000 करोड़ रुपया लगाना पड़ेगा।

अभी तो मैदानी क्षेत्रों में वनों के नष्ट होने के प्रत्यक्ष नुकसान लोग नहीं समझ पा रहे हैं। लेकिन पहाड़ी क्षेत्रों में तो वनों की कटाई ने जो कहर ढाना शुरू कर दिया है उससे पहाड़ों के निवासी काफी मुसीबत में पड़ चुके हैं।

1970 की अलकनंदा की बाढ़ ने 6 मोटर पुल, 15 पैदल पुल 30 बसें व कार तथा अनेक जानें लेकर पहाड़ के लोगों को जगाने का प्रयास किया था। इसी तरह सन् 77 में चमोली जिले के गौना ताल ने जो प्रलय लीला दिखाई उससे पहाड़ के लोग बौखला उठे। यही कारण है कि वनों की कटाई के खिलाफ सारा उत्तराखण्ड एकजुट होकर खड़ा हो गया।

उत्तराखण्ड के निवासियों के आक्रोश का नतीजा है 'चिपको आन्दोलन'। भूस्खलन संघर्ष समिति तथा उत्तराखण्ड संघर्ष वाहिनी के नौजवान उत्तराखण्ड में गाँव-गाँव घूम रहे हैं जन-जन से सम्पर्क स्थापित कर रहे हैं, सभी को वे पेड़ पौधों व वनों का महत्व बताते हैं। सरकार द्वारा नीलाम किये गये वनों को बचाने के लिये इन लोगों ने बड़ा अच्छा ढंग निकाला है। जब ठेकेदारों के मजदूर कुल्हाड़ी लेकर पेड़ों के पास पहुँचते हैं तो गाँव के लोग, स्त्रियां व पुरुष पेड़ों से लिपट जाते हैं। वे कहते हैं कि पहले कुल्हाड़ी मेरे शरीर पर चलेगी। इस तरह चिपको आंदोलन सशक्त होता गया और आज स्थिति यह है कि आन्दोलनकारियों की आवाज को अनसुनी करना सरकार के वश में भी नहीं है।

चिपको आन्दोलनकारी, केवल आन्दोलन तक ही सीमित नहीं हैं। वे स्वयं नंगे पहाड़ों व घाटियों को हरा-भरा करने के लिए वनीकरण के काम में जुटे हुए हैं। चमोली का गौना ताल जहाँ कभी 300 फीट गहरा पानी था आज पत्थर की चट्टानों का श्मशान बना हुआ है। इस प्रलय को देखकर और इस ताल को पुनः हरा-भरा करने के लिए आन्दोलनकारी मंजनू नामक झाड़ी कश्मीर से खोज कर लाये। तिरही नदी के किनारे-किनारे इन युवकों ने करीब 3000 मंजनू की कलमें रोपीं। मंजनू में नदी के किनारों को बाँध रखने की विलक्षण शक्ति होती है। सर्वोदय कार्यकर्त्ता सुन्दरलाल बहुगुणा ने तो अपने को वनों के लिए ही समर्पित कर दिया है।

आजकल वनीकरण के नाम पर यूकलिप्टस और कहीं-कहीं चीड़ के वृक्षों का रोपण हो रहा है। यूकलिप्टस विदेशी मूल का वृक्ष है जो कि दलदली स्थानों को सुखाने के लिए अमेरिका, कैनाडा, स्विट्जरलैंड, इंग्लैंड, हालैंड आदि देशों में लगाया जाता है। न फल होता है न छाया। मात्र तेल और कागज बनाने में इसका उपयोग किया जाता है। हमारे देश के कागज के कारखानों में अधिकांश विदेशी पूँजी लगी है। ऐसी हालत में देश की पर्यावरण संबन्धी समस्याओं और आवश्यकताओं को अनदेखा करके यूकलिप्टस लगना उचित नहीं है।

इसी तरह विश्वबैंक व भारत के सहयोग से बस्तर के जंगलों को साफ करके चीड़ रोपण किया जा रहा है। उद्देश्य है कि क्षेत्र के विकास के लिए चीड़ पर आधारित कागज के कारखाने खोलना। हिमालयी चीड़ से भिन्न यहाँ के लिए एक विशेष प्रजाति का चयन किया गया है जो यहाँ के जलवायु के उपयुक्त भी है और कागज भी अच्छा बनेगा। बस्तर के वनस्पतिज्ञों ने भावी आशंका भाँपकर इसका विरोध शुरू कर दिया है। उनका तर्क है कि जंगल आज साफ कर दिये जायेंगे, और चीड़ तैयार होगा 10-15 वर्षों बाद। इस बीच बनवासी जो पूर्णरूपेण वनों पर निर्भर हैं क्या करेंगे, कहाँ जायेंगे? किसी के पास इसका उत्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त बनवासियों का एक तर्क यह भी है कि जिन आदिवासी क्षेत्रों को साफ करके बड़े उद्योग स्थापित किये गये वहाँ आदिवासियों की हालत क्यों बेहतर नहीं हुई?

चाहे चीड़ हो या यूकलिप्टस ये वनों का विकल्प कभी नहीं हो सकते। बनों में विशाल पेड़ों के आश्रय में हजारों छोटे-बड़े पेड़-पौधे पनपते हैं जिससे विभिन्न जीव-जन्तुओं व पक्षियों को प्राकृतिक संरक्षण प्राप्त होता है। फिर नंगी जमीन का वनीकरण किया जाय तो बात कुछ समझ में आती भी है। लेकिन एक जंगल को काटकर दूसरे किस्म का जंगल तैयार करने में बुद्धिमानी नहीं है।

देश में कुल वन उत्पादन का 57 प्रतिशत अंश जलावन की लकड़ी के रूप में है, शेष 43 प्रतिशत उत्पादन से रेल के तख्ते, फर्नीचर, कागज, खेल के सामान आदि की जरूरतें पूरी होती हैं। अब तक वानिकी शोध का अधिकांश

व समय इसी 43% के लिए खर्च हुआ है। जब तक वनों के इस 57 प्रतिशत पर ध्यान नहीं दिया जाता यह 43 प्रतिशत भी खतरे में रहेगा। जगह-जगह वनवासियों के विरोध का कारण भी यही है कि केवल 43 प्रतिशत के लिए ही सारी योजनायें बनती हैं। यही कारण है कि जब छोटा नागपुर क्षेत्र में प्रशासन ने स्थानीय वनवासियों की आवश्यकताओं को अनदेखा करके साल के पेड़ों को लगाया तो स्थानीय वनवासियों ने उन पेड़ों को नुकसान पहुँचाना शुरू कर दिया।

वानिकी जैसा महत्वपूर्ण विषय अभी भी विश्वविद्यालयों में स्थान नहीं प्राप्त कर पाया है। विश्वविद्यालयों व वन-क्षेत्रों की शिक्षण संस्थाओं में तो यह विषय अनिवार्य होना चाहिए। तभी युवा पीढ़ी वनों के महत्वपूर्ण योगदान को समझ पायेगी और देश में वनों के बचाने का वातावरण बन पायेगा, अन्यथा जंगल नहीं रहेंगे तो इस धरती से जीव-जन्तुओं और मनुष्यों का भी लोप हो जायेगा।

[शेष पृष्ठ 17 का]

उपयोग दूध बनाने में होता है। परिणामस्वरूप गायें अधिक दूध देती हैं।

परीक्षण : आलुओं पर रेडियोधर्मी पदार्थों के विकिरण से उनको लम्बी अवधि तक सुरक्षित रखा जा सकता है। विकरित आलू दो वर्ष तक बिना खराब हुए भंडारित किए जा सके हैं। दुकानों में बिक्री के लिए रखे गये मांस को 4 से 15 दिन तक बिना खराब हुए रखा जा सकता है यदि उसे विकरित कर दिया जाए। विकिरण के द्वारा निर्जर्मीकरण एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। ओषधियों एवं खाद्य पदार्थों के संग्रहण में सामान्य निर्जर्मीकरण की क्रिया कष्टसाध्य एवं लम्बी होती है। परमाणु ऊर्जा के उपयोग ने इस समस्या के हल के लिए नये आयाम खोले हैं।

परमाणवीय ऊर्जा कृषि के क्षेत्र में कई चमत्कारिक खोजों की संभावनाओं को प्रश्रय देती है। मौसम के सही पूर्वानुमानों से लेकर विश्व के मौसम को नियंत्रित करने तक की योजना अब असंभव नहीं दीखती।

जन्तुओं का जीववैज्ञानिक नामकरण : इतिहास और आवश्यकता

● आनन्द कक्कड़
सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद

आज हमारे चारों ओर का वातावरण जीव जन्तुओं से भरा पड़ा है। विश्व के सभी देशों में बहुत से जन्तु पाये जाते हैं जिनको वहाँ की भाषा के अनुसार पृथक-पृथक नाम दिये गये हैं।

विभिन्न देशों के निवासी अपनी-अपनी सुविधा अनुसार अपने देश में पाये जानें वाले जन्तुओं का नामकरण करते हैं किन्तु इन नामों द्वारा दूसरे देश के उसी जीव के विषय में जानने में कठिनाई होती है क्योंकि उस देश के अनुसार उस जन्तु का नाम कुछ और ही होता है। उदाहरणस्वरूप हम आप "गोरैया" नामक चिड़िया से भली-भाँति परिचित हैं। इसी गौरैया के विभिन्न देशों के नाम क्या-क्या हैं जरा देखिये—

देश	गोरैया का नाम उस देश में
स्वीडन	हुसपार्फ (Hussparf)
डेनमार्क और नार्वे	ग्रास पुर्व (Graaspurv)
हौलैंण्ड	मस्क (Musch)
जर्मनी	हाँस्परलिंग (Haussperling)
स्पेन	गोरिआन (Gorion)
पुर्तगाल	पार्डाल (Pardal)
अमेरिका	इंग्लिश स्पैरो (English sparrow)
इंगलैण्ड	हाउस स्पैरो (House sparrow)
फ्रांस	मोंइन्यू डोमेस्टिका (Moineau domestique)
इटली	पैसेरा ओल्ट्रामोंन्टाना (Passera-oltramantana)

इस प्रकार एक ही जीव को हर देश में अलग-अलग नामों से जाना जाता है। इससे कई बार बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। संभवत: इसी कारण एक ऐसी नामकरणपद्धति विकसित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयुक्त किया जा सके। इस प्रकार जन्तुओं का वैज्ञानिक नाम निर्धारित किया गया, तथा द्विनाम पद्धति का विकास हुआ।

स्वीडेन के विख्यात जीवविज्ञानी कार्ल लीनियस (1707-1778) ने अपनी पुस्तक सिस्टेमा नैचुरी ("Systema Naturae") में जीव जन्तुओं का नामकरण एक नई विधि से किया। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक जन्तु के प्राय: दो नाम दिये जाते हैं। इसके प्रथम अंश को वंशीय या जेनेरिक (Generic) तथा दूसरे भाग को जातीय या स्पेसिफिक (Specific) नाम कहते है। वंशीय नाम का पहला अक्षर बड़ा (कैपिटल लेटर) लिखा जाता है पर जातीय नाम को छोटे अक्षर (स्माल लेटर) से प्रारम्भ किया जाता है। जैसे मनुष्य को उन्होने "होमोसैपियन्स'(Homo sapiens), कुत्ते को "कैनिस फैमिलिएरिस (Canis-familiaris) आदि नाम दिये। नामकरण को इस पद्धति को द्विनाम पद्धति कहा गया। आजकल इसी पद्धति का उपयोग सारे संसार के वैज्ञानिकों द्वारा किया जा रहा है।

सन् 1889 में पेरिस में सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय जन्तु विज्ञान कांग्रेस का सम्मेलन हुआ, दूसरा सम्मेलन 1892 में व तीसरा सम्मेलन 1895 में लीडन में हुआ। इस तीसरे सम्मेलन की समिति ने कुछ नियम बनाये। सन् 1901 में बर्लिन में हुए चौथे सम्मेलन में इन नियमों को अंतिम रूप दिया गया और 1904 के सम्मेलन में इन नियमों को लागू किया गया जो आज भी लागू है।

आधुनिक वैज्ञानिक नामकरण हेतु 1958 में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसकी सिफारिशों को 1961 में अंतिम रूप प्रदान किया गया। वैज्ञानिक नामकरण निम्न नियमों पर आधारित है—

(1) पादपों व जन्तुओं के नाम पृथक-पृथक होने चाहिए यद्यपि दोनों के वंशीय और जातीय नाम होते हैं।

(2) प्राणि जगत में कोई भी दो जातियों व उपजातियों के नाम एकसमान नहीं हो सकते।

(3) लीनियस के द्वारा प्रतिपादित नामों के पहले के नामों का कोई अस्तित्व नहीं।

(4) वंशीय नाम एक शब्द का होना चाहिये तथा उसका प्रथम अक्षर कैपिटल या बड़ा होना चाहिए।

(5) जातीय नाम साधारण शब्द हो सकता है तथा उसकी शुरूआत स्माल या छोटे अक्षर द्वारा होनी चाहिए।

(6) यदि किसी वैज्ञानिक को किसी जन्तु के वैज्ञानिक नाम से कुछ आपत्ति है तो उसे नये नामकरण के प्रमाण में अपने अध्ययनों के परिणाम इस संस्था के समक्ष रखने होंगे।

(7) यदि किसी नये जन्तु को खोज की गई तो उसके नामकरण के पूर्व उसके विभिन्न गुणों का पूर्ण अध्ययन किया जाना आवश्यक है।

(8) यदि एक से ज्यादा वैज्ञानिक किसी जाति विशेष को भिन्न नाम देते हैं तो प्रथम वैज्ञानिक द्वारा प्रस्तावित नाम ही मान्य होगा।

इस प्रकार नामकरण की समस्या सरल हो गई।

उदाहरण के लिये यहाँ कुछ जन्तुओं के जन्तुवैज्ञानिक नाम प्रस्तुत हैं :—

जन्तु	जन्तुवैज्ञानिक नाम
(1) कुत्ता (Dog)	केनिस फैमिलिएरिश (Canis familaris)
(2) बिल्ली (Cat)	फेलिश डोमेस्टिकस (Felis domesticus)
(3) बकरी (Goat)	कैप्रिस इन्डिका (Capris indica)
(4) गाय (Cow)	बास इन्डिका (Bas indica)
(5) नाग (Cobra)	नाजा बंगैरस (Naja bungarus)
(6) गौरैया (House sparrow)	पैसर डोमेस्टिकस (Passer domesticus)

कुछ जातियों की परस्पर असमान आबादियों में वातावरण की भिन्नता या अन्य कारणों से कुछ असमानता हो जाती है तो उन्हें उपजातियाँ मान लेते हैं। प्रत्येक जाति के लिए एक नया नाम निर्धारित करके इसे जाति के नाम के आगे जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार की पद्धति को त्रिनाम पद्धति (Trinomial nomenclature) कहते हैं।

उदाहरण स्वरूप कौवे (Crow) का जन्तुवैज्ञानिक नाम कैरस स्प्लेन्डेंस (Carous splendens) है। यह भारत, लंका व बर्मा में पाया जाता है। तीनों देशों के कौवों में कुछ अन्तर होता है। अतः भारतीय कौवों को कैरस स्प्लेंडेंस (Carous splendens splendens), बर्मा के कौवों को कैरस स्प्लेंडेंस इन्सोलेंस (Carous splendens insolens) तथा लंका के कौवों को कैरस स्प्लेंडेंश प्रोटेगैटस (Corous splendens protegatus) उपजातीय (Subspecific) नाम दिये गये हैं।

अतः हम जन्तुवैज्ञानिक नाम द्वारा किसी भी देश के जन्तु का आसानी से अध्ययन कर सकते हैं और एक देश के विज्ञान को दूसरे देश के लोग आसानी से ग्रहण कर सकते हैं। ●

गणित के मनोरंजक प्रश्न

1. एक दाना चावल

● **काशी नाथ केसरी, बी० एस-सी०**

चौगाई, भोजपुर (विहार)

एक कंजूस सेठ को अपने गृह मंदिर में पूजा करने के लिए एक पुजारी की जरूरत थी। इसलिए सेठ ने एक पुजारी से मिलकर उसका मासिक वेतन पूछा। पुजारी ने कहा—"मेरा मासिक वेतन कुछ नहीं, मैं जिस दिन से आपके काम पर उपस्थित हो जाऊँगा उस दिन अपने वेतन के रूप में सिर्फ चावल का एक दाना लूँगा। दूसरे दिन दो दाना, तीसरे दिन चार दाना, इसी तरह प्रतिदिन पहले दिन का दुगना करते हुए पूरे माह केवल चावल का दाना ही लूँगा।"

पुजारी की बात सुनकर सेठ के अन्य कर्मचारीगण हँस पड़े और कहने लगे कि पुजारी पागल है। एक दाना चावल से तो इसका खुद अपना भी पेट नहीं भरेगा तो अपने बाल बच्चों को क्या खिलायेगा ?

कंजूस सेठ तो मन ही मन अति प्रसन्न हुआ और पुजारी को काम पर रख लिया।

पहले दिन संध्या के समय पुजारी जब सेठ से चावल का एक दाना मांगने गया तो सेठ बिगड़ कर बोला, "मुझे इतना फुर्सत नहीं कि तुम्हें प्रतिदिन एक-दो-चार चावल गिनता रहूँ। पूरे माह के जितने भी चावल के दाने होंगे जोड़ कर महीने के अन्त में ले लेना।" पुजारी ने इसी को एक कागज पर लिखवाकर सेठ को कानूनन बंधन में बांध लिया।

30 दिनों के उपरांत पुजारी ने सेठ से अपना हिसाब मांगा तो सेठ ने पुजारी को मुनीम के पास भेज दिया। मुनीम ने पुजारी को चावल के दाने दे दिया क्या ? नहीं। हिसाब के अंत में मुनीम के माथे पर पसीना आ गया क्योंकि चावल के 1073741823 दाने हुए जिसका वजन 162966.124 कि० हुआ।

यह सुनकर सेठ को बहुत दुःख हुआ और पुजारी का हिसाब चुकाकर अपने काम से अलग कर दिया। सेठ को सम्भवतः यह मालूम नहीं था कि पुजारी के रूप में एक शिक्षित बेरोजगार गणितज्ञ काम कर रहा है।

बनाये गये हिसाब का प्रमाण :

$\because$ श्रेणी निम्न होगी

$1+2+4+8+16+\ldots$ 30 पदों तक

यहाँ उभयनिष्ट अनुपात$=2, =\frac{4}{2}=2$ या $\frac{8}{4}=2,$

प्रथम पद $=1.$

$\therefore$ योग $=\frac{a(r^n-1)}{r-1}$ यहाँ $a=1, r=2, n=30$

$$=\frac{1(2^{30}-1)}{2-1}=2^{30}-1$$

$\therefore$ योगफल$=1073741823$

हम जानते हैं कि

8 खसखस $=1$ चावल

8 चावल $=1$ रती

8 रती $=1$ माशा

12 मासा $=1$ तोला

80 तोला $= 1$ सेर

$\therefore$ 1 सेर $= 8 \times 8 \times 12 \times 80 = 61440$ चावल

$\therefore$ 1073741823 चावल $= \frac{1073741823}{61440}$ सेर

1073741823 चावल $= 17476{\cdot}266$ सेर

$\because$ 40 सेर $= 37.3$ कि० ग्राम

$\because$ 1 सेर $= \frac{37{\cdot}3}{40}$ कि० ग्रा०

$\therefore$ 17476·296 सेर $= \frac{37{\cdot}3 \times 17476{\cdot}266}{40}$ कि० ग्रा०

$= 162966{\cdot}124$ कि० ग्रा०

$\therefore$ 1073741823 चावल $= 162966{\cdot}124$ कि० ग्रा०

2. लगातार संख्याओं का योगफल

● अखिलेश्वर नाथ
सरेंजा, भोजपुर (बिहार)

एक धनवान व्यक्ति था और एक लॉटरीवाला। दोनों में एक शर्त तय हुई। धनवान व्यक्ति ने लॉटरी वाले को एक पैसा, चार पैसा, आठ पैसा · · · अर्थात् हर दिन पिछले दिन का दुगना पैसा दिया करेगा और इसके बदले में लॉटरी वाला उनको प्रतिदिन साढ़े तीन लाख रुपये इनाम दिया करेगा और यह क्रम एक माह (30 दिन) तक चलेगा। क्या आप बता सकते हैं कि कौन घाटे में रहा ?

आपकी इच्छा अंशतः शान्त करने के लिए बता दूँ कि धनवान व्यक्ति को 237418 रुपये 23 पैसे घाटा हुआ। आप अवश्य आश्चर्य करेंगे कि पैसा और लाख रुपये में तो राई और पर्वत जैसा अन्तर प्रतीत होता है। तो आइये, पहले इस तरह की श्रेणी का योगफल निकालने का तरीका जानें। एक से ही नहीं बल्कि किसी भी संख्या से आरम्भ होने वाली किसी भी पद-अनुपात (अगला पद-पिछला पद) वाली श्रेणी के मनचाहे पदों का योगफल निकालें।

'ऐसी श्रेणी जिसमें प्रत्येक पद ठीक पिछले पद को एक नियत संख्या (पद-अनुपात) से गुणा करने से प्राप्त होता है **गुणोत्तर श्रेणी** (Geometrical Progression) कहलाती है यथा;

अ, अ.ब, अ.ब², . . . , अ.ब$^{स-2}$, अ.ब$^{स-1}$

श्रेणी में आरम्भिक पद 'अ' और पद अनुपात 'ब' है।

यदि श्रेणी का सवाँ पद 'प' हो तो प $=$ अ·ब$^{स-1}$

तथा ब^{स} $=$ प/अ ब

यदि गु० श्रेणी के स पदों तक का योगफल 'य' हो तो

य $=$ अ $+$ अ.ब $+$ अ.ब² $+ \ldots +$ अ.ब$^{स-2}$ $+$ अ.ब$^{स-1}$

श्रेणी में पद-अनुपात 'ब' से दोनों तरफ गुणा करने पर

य.ब $=$ अ.ब $+$ अ.ब² $+ \ldots +$ अ.ब$^{स-2}$ $+$ अ.ब$^{स-1}$, $+$ अ.ब^{स}

एक दूसरे को घटाने पर

यदि ब > 1

यब $-$ य $=$ अ.ब^{स} $-$ अ

$\therefore$ य $= \frac{अ(ब^{स} - 1)}{ब - 1}$

या ब^{स} का मान रखने पर

या $= \frac{प.ब - अ}{ब - 1}$

यदि ब < 1

तो य $= \frac{अ(1 - ब^{स})}{1 - ब}$

या

$= \frac{1 - प.ब}{1 - ब}$

अतः साधारणतः 2 प्रकार से गु० श्रेणी का योगफल निकाला जा सकता है—

(क) आरम्भिक पद, पद-अनुपात और पदों की संख्या मालूम रहने पर—ब > 1 और ब < 1 की स्थिति में क्रमशः

$$\frac{(\text{पद अनुपात})^{\text{पदों की संख्या}} - 1}{\text{पद-अनुपात} - 1}$$

और

$$\frac{1 - (\text{पद अनुपात})^{\text{पदों की संख्या}}}{1 - \text{पद अनुपात}}$$

के मान और आरम्भिक पद का गुणनफल।

(ख) आरम्भिक पद, पद-अनुपात और अंतिम पद मालूम रहने पर—ब$>$1 और ब$<$1 की स्थिति में क्रमशः

$$\frac{\text{अंतिम पद} \times \text{पद-अनुपात} - \text{आरम्भिक पद}}{\text{पद-अनुपात} - 1}$$

और

$$\frac{\text{आरम्भिक पद} - \text{अंतिम पद} \times \text{पद अनुपात}}{1 - \text{पद-अनुपाद}}$$

उदाहरण—

$$2 + 6 + 18 + 54 + 162 + 489 + 1458 =$$

(यहाँ ब$>$1)

(क) की सहायता से $\frac{3^7 - 1}{3 - 1} \times 2 = 2186$

(ख) की सहायता से $\frac{1458 \times 3 - 2}{3 - 1}$

$$16 - 8 + 4 - 2 + 1 - \frac{1}{2} + \frac{1}{4} - \frac{1}{8}$$

(यहाँ ब$>$1)

(क) की सहायता से $\frac{1 - (-\frac{1}{2})^8}{1 - (-\frac{1}{2})} \times 16 = 10\frac{5}{8}$

(ख) की सहायता से $\frac{16 - \{(-\frac{1}{2})(-\frac{1}{8})\}}{1 - (-\frac{1}{2})} = 10\,\frac{5}{8}$

गु० श्रेणी का मुख्य उपयोग आवर्त दशमलव को भिन्न रूप बदलने में किया जाता है। पद-अनुपात$<$1 की स्थिति में यदि पदों की संख्या अनन्त हो तो अंतिम पद 'प' शून्य के काफी निकटस्थ होगा। फलतः प$\times$ब शून्य के निकटतम होगा। इस तरह इस स्थिति में

$$\text{योगफल} = \frac{\text{अ}}{1 - \text{ब}}$$

उदाहरण—

$0{\cdot}454$

$= 0{\cdot}454545454545\cdots$

$= 0.4 + 0{\cdot}054 + 0.00054 + 0.0000054 + \cdots$

$= 0.4 + \frac{0.054}{1 - 0.01}$

$= \frac{5}{11}$

अतः आवर्त दशमलव को भिन्न में बदलने के लिए 'अंश स्थान पर' पूर्ण संख्या-अनावर्त संख्या और 'हर स्थान पर' आवर्त अंक के बराबर नौ और अनावर्त अंक के बराबर शून्य से बनी सबसे बड़ी संख्या लिखते हैं, यथा;

उपर्युक्त संख्या में अनावर्त अंक 'एक' और आवर्त अंक 'दो' हैं तो नियमानुसार

$$0.454 = \frac{454 - 4}{990}$$

$$= \frac{5}{11}$$

परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में भारतीय उपलब्धियाँ

कु० मन्जू सक्सेना

शोध छात्रा, प्रतिरक्षा अध्ययन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सृष्टि के आदि काल से मनुष्य अपने अनवरत प्रयत्नों द्वारा जीवन निर्वाह के साधनों और अपने पर्यावरण में परिवर्तन लाता रहा है। उसने पहले पेड़ों और झाड़ियों को काट कर अथवा उनमें आग लगाकर खेती योग्य भूमि तैयार की। तब से आज तक प्रकृति पर नियन्त्रण और अधिकार प्राप्त करने का क्रम जारी है। लगभग छत्तीस वर्ष पहले परमाणु बम के रूप में नाभिकीय विस्फोट हुआ। नाभिकीय विस्फोटक के रूप में मनुष्य को शक्ति का अतुलनीय भन्डार प्राप्त हुआ है। हिरोशिमा और नागासाकी पर नाभिकीय विस्फोट की लीला, अमेरिकन अणुबम की सफलता के साथ ही तेलयुग का अन्त और परमाणु युग का प्रारम्भ हुआ। शनैः-शनैः परमाणु बम एक ऐसी महान शक्ति के रूप में प्रमाणित हुआ जिसने हथियारों एवं सैनिकों दोनों की महत्ता को गौण बना दिया। फलस्वरूप प्रभुता-सम्पन्न राष्ट्रों ने अधिकाधिक शक्तिशाली बनने के लिये तथा विश्व रंगमंच पर अपनी प्रभुता की धाक जमाने के लिए अणुबम निर्माण की होड़ प्रारम्भ कर दी। रूस, ब्रिटेन और फ्रांस के अणु विस्फोटों के बाद चीन भी अणु विस्फोट कर एशिया में प्रथम और विश्व की तृतीय महाशक्ति के रूप में उदित हुआ। इतना ही नहीं एशियाई शक्ति सन्तुलन को बिगड़ते देख भारत भी 18 मई, 1974 को अणु विस्फोट करने के लिए विवश हुआ। भारत ने परमाणु परीक्षण करके विश्व के कुछ देशों का परमाणु एकाधिकार तोड़ दिया है और आज वह विश्व नाभिकीय क्लब का छठा सदस्य भी बन गया है।

भारत में पिछले तीन दशकों से परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में कार्य हो रहा है। द्वितीय महायुद्ध के अन्त में जब अधिकांश देश परमाणु ऊर्जा को एक विनाशकारी शक्ति समझते थे, भारत के वैज्ञानिक केवल शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए परमाणु ऊर्जा का उपयोग करने के बारे में सोचने लगे थे।

भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र : मार्च सन् 1944 में ही डा० होमी भाभा ने उस समय की कल्पना कर ली थी "जब बिजली उत्पादन के लिए अणु ऊर्जा का सफलता से प्रयोग होने लगेगा" और उन्होंने आशा प्रकट की कि यदि अभी से आणुविक क्षेत्र में अनुसंधान का कार्य हाथ में ले लिया गया तो उचित समय पर भारत को विशेषज्ञों के लिए विदेशों का मुँह नही ताकना पड़ेगा और वे देश में ही उपलब्ध होंगे। इसी आधार पर उन्होंने सर दोराब जी टाटा ट्रस्ट से एक अनुसंधान केन्द्र खोलने का अनुरोध किया था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त सन् 1948 में भारत सरकार ने परमाणु ऊर्जा आयोग की स्थापना की। सन् 1954 में इस कार्य की देखभाल के लिए केन्द्रीय सचिवालय में एक परमाणु ऊर्जा विभाग स्थापित किया। परमाणु ऊर्जा आयोग ने सन् 1954 में यह निर्णय दिया कि परमाणु अनुसंधान से सम्बन्धित सभी प्रयोगशालाओं को ट्राम्बे में एक ही स्थान पर केन्द्रित किया जाये। सन् 1957 में परमाणु ऊर्जा प्रतिष्ठान का उद्घाटन औपचारिक रूप से

हुआ। तत्पश्चात जनवरी 1967 में डा० होमी भाभा की स्मृति में इस प्रतिष्ठान का नाम भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र रखा गया। यह बम्बई नगर के पूर्वोत्तर में लगभग पच्चीस किमी० दूर ट्राम्बे में स्थित है। भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र केन्द्र परमाणु ऊर्जा सम्बन्धी अनुसंधान तथा विकास कार्य का राष्ट्रीय केन्द्र है। यह भारत का सबसे बड़ा वैज्ञानिक प्रतिष्ठान है। इसी केन्द्र से सारे कार्य संचालित होते हैं। भाभा अनुसंधान केन्द्र निम्नलिखित अनुभागों, प्रभागों और वर्गों में पुनः संगठित किया गया है।

1. भौतिकी वर्ग 2. धातुकी वर्ग 3. रसायनिक वर्ग 4. विश्लेषण वर्ग 5. रियेक्टर परिचालन एवं अनुरक्षण वर्ग 6. आइसोटोप वर्ग 7. जैव चिकित्सा वर्ग 8. इलेक्ट्रानिक वर्ग 9. इलेक्ट्रानिकी एवं यन्त्रीकरण वर्ग 10. रिऐक्टर वर्ग 11. इंजीनियरी वर्ग 12. इंजीनियरी सेवायें वर्ग 13. परमाणु ईंधन 14. सिविल इंजीनियरी प्रभाग 15. स्थापत्य अनुभाग 16. दृश्य भूमि एवं अंग रोग, अनुरक्षण अनुभाग 17. कार्मिक प्रभाग 18. लेखा प्रभाग

इस केन्द्र में अब तक चार परमाणु रिएक्टर स्थापित किये जा चुके हैं। इनके नाम हैं—

1. **अप्सरा** : एशिया में यह प्रथम रिऐक्टर 4 अगस्त 1956 में चालू किया गया। यह एक तरण ताल (swimming pool) किस्म का रियेक्टर है। इसमें ईंधन (fuel) के रूप में यूरेनियम प्रयोग किया जाता है। इसके अभिकल्पन, निर्माण तथा संचालन का पूरा कार्य भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा किया गया। इसकी क्षमता 400 किलोवाट है।

2. **साइरस (कनाडा इंडिया रियेक्टर यूटिलिटी सर्विस)** : यह कनाडा के सहयोग से सन् 1960 में स्थापित किया गया था। इसने पूर्ण क्षमता अक्टूबर 1963 में प्राप्त की। इसकी क्षमता चालीस हजार किलोवाट है। यह संसार में अपने किस्म के सबसे बड़े रिऐक्टरों में से एक है। प्राकृतिक यूरेनियम ईंधन के रूप में, भारी पानी मंदक के रूप में और हल्का पानी शीतक के रूप में प्रयोग किया जाता है।

3. **जर्लीना** : इसका अभिकल्पन यन्त्र चालन तथा निर्माण कार्य भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा किया गया था। इसकी स्थापना सन् 1961 में की गई थी तथा यह अत्यन्त अल्प ऊर्जा वाला (एक सौ वाट क्षमता का) रिएक्टर है। इससे अलग–अलग प्रकार के परमाणविक ईंधनों के गुणों एवं ज्यामितियों का अध्ययन करने तथा रिऐक्टर क्रोड़ों (cores) के बारे में भौतिकी के क्षेत्र में परीक्षण करने में सहायता मिलती है।

4. **पूर्णिमा** : अप्सरा और जर्लीना की भाँति इसका निर्माण भी ट्राम्बे के भारतीय वैज्ञानिकों ने सन् 1972 में किया। इसे जीरो इनर्जी फास्ट रिऐक्टर कहते हैं। इसमें प्लूटोनियम का प्रयोग किया जाता है।

इनके अतिरिक्त एक अन्य रिएक्टर एक सौ मेगावाट का भी निर्माणाधीन है।

भाभा अनुसंधान की विस्तृत क्षेत्रीय अनुसंधानिक गतिविधियाँ : सन् 1964 में ट्राम्बे में एक प्लूटोनियम संयंत्र चालू किया गया। प्लूटोनियम एक अत्यन्त सक्रिय तत्व है जिसे सुन्दर नियन्त्रण से संचालित अति आधुनिक सिस्टम से चलाया जाता है। इस यन्त्र की अभिकल्पना और निर्माण भी ट्राम्बे वैज्ञानिकों और इंजीनियरों ने किया और जब इसे चालू किया गया उस समय यह विश्व के पाँच छः संयंत्रों में से एक था। इस केन्द्र में सन् 1955 में एक थोरियम संयंत्र स्थापित किया गया जिसमें थोरियम सान्द्रों को संशोधित करके थोरियम नाइट्रेट और यूरेनियम फ्लूओराइड तैयार किये जाते हैं। सन् 1958 में स्थापित एक यूरेनियम धातु संयंत्र अति शुद्ध यूरेनियम धातु बनाता है तथा सन् 1959 में स्थापित की गई एक ईंधन तत्व निर्माण सुविधा है जो रिऐक्टरों के लिए ईंधन छड़े तैयार करती है। भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र में 350 तरह के रेडियोआइसोटोप और चिन्हित यौगिक बनाये जाते हैं। ट्राम्बे में चिकित्सा उत्पादों को विकिरण से प्रभावित करने के लिए एक संयंत्र लगाया गया है। इस संयंत्र की उत्पादन क्षमता तैंतीस हजार घनमीटर तक होगी।

भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र के चार बड़े कार्य

1. थोरियम संयंत्र की स्थापना
2. न्यूक्लीय ईंधन तत्वों का उत्पादन
3. अनुसंधान रिऐक्टर अप्सरा की स्थापना
4. प्लूटोनियम संयंत्र की स्थापना

इस केन्द्र ने अनेक प्रकार के अत्यन्त ही परिष्कृत इलेक्ट्रानिक उपस्कर बनाये हैं जिनमें न्यूट्रान मणिभ वर्ण-क्रम मापी तथा आँकड़ों के संसाधन के काम में आने वाला 400 चेनल युक्त फेराइट क्रोड़मय स्पंद ऊँचाई विश्लेषक शामिल है। यहाँ इलेक्ट्रानिक संगणकों तथा परीक्षण उपस्करों के अतिरिक्त परमाणु बिजलीघरों के लिए रिऐक्टर नियंत्रण पद्धतियों का भी विकास किया जा रहा है। इन महत्वपूर्ण कार्यों के अलावा इस केन्द्र ने मौलिक विज्ञान के क्षेत्र में व्यापक स्तर पर अनुसंधान किये हैं।

टाटा मूल अनुसंधान संस्थान : इस संस्थान की स्थापना जून 1943 में की गई थी। यह न्यूक्लीय विज्ञान तथा गणित में शोध करने वाला भारत सरकार का राष्ट्रीय केन्द्र है। यहाँ उपलब्ध विशिष्ट सुविधाओं में एक राष्ट्रीय संगणन केन्द्र, गुब्बारों का उत्पादन करने वाले तथा उनके उड़ाने के काम आने वाली एक सुविधा, रेडियो कानून की जाँच करके पुरातत्वीय महत्व की सामग्री का काल निर्धारण करने वाली प्रयोगशाला, जलविज्ञान सम्बन्धी अध्ययनों के लिए एक ट्रीशियन प्रयोगशाला, इलेक्ट्रान वोल्ट शक्ति का इलेक्ट्रान लीनियर एक्सिलरेटर, कई एक्सरे यूनिट, एक विद्युत चुम्बकीय द्रव्यमान पृथक्कारक तथा तरल नाइट्रोजन और तरल हीलियम तैयार करने वाले संयंत्र शामिल हैं।

टाटा स्मारक केन्द्र बम्बई : इसके अन्तर्गत टाटा स्मारक अस्पताल तथा कैंसर अनुसंधान संस्थान हैं।

रिऐक्टर अनुसंधान केन्द्र : इस केन्द्र की स्थापना तमिलनाडु राज्य के कलपक्कम (Kalpakkam) नामक स्थान पर मद्रास परमाणु बिजलीघर के समीप की गई है। फास्ट ब्रीडर टेस्ट रिऐक्टर इस केन्द्र में उपलब्ध सबसे महत्वपूर्ण सुविधा होगी। इस फास्ट ब्रीडर टेस्ट रिऐक्टर की स्थापना मूल रूप से फ्रांस के कैडगरो नामक स्थान पर स्थित रेप सोडाई रिऐक्टर के समरूप ही है। किन्तु इसकी विद्युत शक्ति पैदा करने वाली प्रणाली में एक स्टीम जेनरेटर तथा एक टर्बो जेनरेटर लगाकर सुधार किया गया है। इस कार्य में फ्रांस के परमाणु ऊर्जा आयोग के अतिरिक्त वहाँ की कई औद्योगिक कम्पनियों से सहायता ली गयी है। रिऐक्टर सम्मिश्र का निर्माण कार्य सन् 1972 में आरम्भ हुआ था। इस रिऐक्टर में प्रयुक्त ईंधन का तीस प्रतिशत भाग प्लूटोनियम है तथा शेष सत्तर प्रतिशत अंश यूरेनियम-235 है। इस रिऐक्टर की ऊष्मा शक्ति 40 मेगावाट है।

रिऐक्टर अनुसंधान केन्द्र में एक अनुसंसाधान प्रक्रिया विकास प्रयोगशाला स्थापित की गई है। फास्ट ब्रीडर टेस्ट रिऐक्टर में किरणीयित हुए ईंधन तथा अन्य पदार्थों की जाँच करने के लिए विकिरण धातु कर्म विज्ञान प्रयोगशाला स्थापित की गई है। इसी कार्य के लिए एक रेडियो रसायन-विज्ञान प्रयोगशाला का भी निर्माण हुआ है। ठोस अवस्था भौतिकी तथा द्रव्य विज्ञान में अनुसंधान के लिए यहाँ एक पल्स्ड फास्ट रिऐक्टर भी बनाया गया है। फास्ट रिऐक्टरों के बारे में सुरक्षा सम्बन्धी अनुसंधान करने का एक दीर्घकालीन कार्य क्रम बनाया गया है। दी न्यूयार्क टाइम्स ने नवम्बर 1974 को कहा कि कलपक्कम ब्रीडर रिऐक्टर की सफलता से U-233 थोरियम से प्राप्त कर एक बड़े पैमाने पर भारत U-233 के व्यापार में प्रवेश कर सकता है।

साहा न्यूक्लीय भौतिकी अनुसंधान संस्थान : यह संस्थान कलकत्ता में स्थित है। इसका उद्घाटन औपचारिक रूप से 1950 में किया गया था। यहाँ पर इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोपी, ई० पी० आर० स्पेक्ट्रोस्कोपी, द्रव्यमान पृथक्करण, सूक्ष्मतरंग, निवेश स्पेक्ट्रोस्कोपी, आण्विक जीव विज्ञान, एन० एम० आर० स्पेक्ट्रोमापी-न्यूक्लीय अभि-क्रियायें, रेडियो रसायन संरचनात्मक क्रिस्टल विज्ञान-

[शेषांश पृष्ठ 31 पर]

परिषद् का पृष्ठ

कैंसर का शतप्रतिशत इलाज संभव

इलाहाबाद, 29 मार्च । कैंसर उतना खतरनाक नहीं है, जितना इसके बारे में प्रचार किया जाता है । यदि रोग की शुरूआत में ही रोगी कुशल चिकित्सक के पास पहुँच जाय तो उसे शत प्रतिशत रोग मुक्त किया जा सकता है । लेकिन ऐसा होता नहीं । अस्पतालों में कैंसर के जितने भी मरीज आते हैं उनमें 80 प्रतिशत का रोग आखिरी चरण में पहुँच गया होता है इसलिए उनकी जान बच पाना मुश्किल हो जाता है ।

इलाहाबाद स्थित कैंसर सोसायटी के दो युवा चिकित्सकों डाक्टर अनुराग और डा० वी० के० सिंह ने कल विज्ञान परिषद् के समाकक्ष में 'कैंसर-कारण और निदान' विषय पर आयोजित गोष्ठी में ये विचार व्यक्त किये ।

कैंसर होने के कारणों को स्पष्ट करते हुए डा० बी० के० सिंह ने कहा कि कुछ अज्ञात कारणों से शरीर की सामान्य कोशिकाएँ ही कैंसर कोशिकाओं में बदल जाती हैं और वे अबाध रूप से विकसित होने लगती हैं । इनका विभाजन कभी रुकता नहीं है, जब कि सामान्य कोशिकाएँ एक वय सीमा के बाद सिर्फ ऊतक मरम्मत के अतिरिक्त और कभी विभाजित नहीं होतीं ।

उन्होंने बताया कि कैंसर होने में भौगोलिक, व्यावसायिक अचार-विचार और आर्थिक कई कारण सहयोगी होते हैं । आमूमन कैंसर अधिक उम्र वालों को होता है जिनके शरीर की प्रतिरोधक क्षमता कम हो गयी होती है, लेकिन कुछ किस्म के कैंसर जन्म के बाद ही हो सकते हैं जैसे नेत्र पटल का कैंसर । उन्होंने बताया कि भारत में 40 प्रतिशत कैंसर मुँह और गले के होते हैं । इसी तरह चीन में नाक और गले, जापान में पेट, आस्ट्रेलिया में त्वचा और अमेरिका में स्तन का कैंसर अधिक होता है । कुछ व्यवसाय विशेष के लोगों को अंग विशेष का कैंसर होता है ।

डाक्टर अनुराग ने बताया कि कैंसर भारत में मौत का आठवां कारण है क्योंकि लोगों में अभी तक इस रोग के प्रति जागरूकता नहीं आयी है । वे अस्पतालों में उस समय पहुँचते हैं जब रोग असाध्य स्थिति में पहुँच जाता है । उन्होंने कहा कि कैंसर के इलाज की कई विधियां हैं लेकिन सफल विधि वही होती है जहां पूरे शरीर की चिकित्सा की जाय । यदि शल्य चिकित्सक कैंसर ट्यूमर को काट कर अलग कर देता है तो वह पूरा इलाज नहीं हुआ क्योंकि जिन कारणों से वह ट्यूमर बनता है, वे तो शरीर में बने ही रहते हैं ।

उन्होंने बताया कि यदि कैंसर शुरू होते ही उसका पता चल जाय तो रोग को बढ़ने के पहले ही समाप्त किया जा सकता है । अमरीका जैसे सम्पन्न देशों में हर व्यक्ति की जांच होती है जिससे यह पता चल जाता है कि उसे कैंसर होने का खतरा है कि नहीं । उन्होंने बताया कि

विकिरण विधि से कैंसर के प्रारम्भिक चरण में ही उसका पता लगाया जा सकता है। उन्होंने कहा कि लोगों में कैंसर के खतरे के प्रति जागरूकता पैदा करने के साथ ही चिकित्सा सुविधा को सुदूरवर्ती क्षेत्रों तक पहुँचाने की भी जरूरत है। उन्होंने कहा कि लोग यह जानते हुए भी कि सिगरेट, पान, तम्बाकू, सुर्ती से कैंसर होता है उनका व्यवहार करते हैं।

उन्होंने बताया कि कैंसर की अत्यन्त प्रभावकारी औषधियां ढूँढ़ ली गयी हैं लेकिन उनका कभी-कभी पश्च परिणाम (साइड इफेक्ट) भी देखने को मिलता है क्योंकि ये दवाएँ हर विभाजित होने वाली कोशिकाओं को नष्ट कर देती हैं, इससे बाल गिरना, रक्ताल्पता जैसे लक्षण दिखाये दे सकते हैं जिसकी दोबारा चिकित्सा की जा सकती हैं।

डाक्टर अनुराग ने बताया कि आजकल शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाकर कैंसर रोकने और उसे समाप्त करने के भी सफल प्रयोग किये गये हैं। रक्त की श्वेत रक्त कणिकाएँ कैंसर कोशिकाओं को नष्ट कर देती हैं यदि उनकी संख्या बढ़ा दी जाय तो शरीर की प्राकृतिक शक्ति कैंसर का खुद इलाज कर सकती है।

अन्त में डा० अनुराग ने श्रोताओं के कई रोचक और जिज्ञासा भरे प्रश्नों का सार्थक उत्तर दिया। प्रारम्भ में विज्ञान परिषद् के प्रधानमन्त्री डा० शिवगोपाल मिश्र ने डाक्टरद्वय का परिचय दिया।

(अमृत प्रभात से साभार)

ट्यूमर चिकित्सा में अल्ट्रा साउण्ड उपयोगी

इलाहाबाद, 12 अप्रैल। ट्यूमर को चिकित्सा में आल्ट्रासाउन्ड हाइपर थर्मिया का उपयोग अत्यन्त लाभकर सिद्ध हुआ है। यदि इसे किसी अन्य चिकित्सा पद्धति के साथ सहायक विधि के रूप से इस्तेमाल किया जाय तो लाभ और अधिक होने की आशा रहती है।

सी० एम० पी० महाविद्यालय रसायन विभाग के प्रवक्ता डा० ओमप्रकाश ने विज्ञान परिषद में ट्यूमर चिकित्सा में अल्ट्रासाउन्ड का उपयोग विषय पर आयोजित व्याख्यान में कहा कि अल्ट्रासाउन्ड चिकित्सा पद्धति अभी शैशवावस्था में है क्योंकि इस दिशा में विधिवत प्रयास 1970 के बाद ही शुरू हुए लेकिन परिणामों को देखते हुए इसका भविष्य सुनहला लगता है।

उन्होंने बताया कि इस चिकित्सा पद्धति में शरीर के ताप की सामान्य 37 डिग्री सेंटीग्रेड से अधिक लगभग 43 डिग्री तक बढ़ाया जाता है और ट्यूमर की चिकित्सा की जाती है। उन्होंने कहा कि इस विधि की कुछ कठिनाइयाँ हैं-जैसे इसका प्रभाव शरीर में सिर्फ तीन चार इंच गहरे तक ही हो सकता है और वायु से भरे अंगों जैसे फेफड़े और जल से भरे अंगों में इसका प्रभाव नहीं हो पाता। लेकिन इन सबका समाधान ढूंढने का प्रयास किया जा रहा है।

प्रारम्भ में विज्ञान परिषद के प्रधानमन्त्री डा० शिवगोपाल मिश्र ने वक्ता का परिचय दिया। अन्त में स्वामी सत्य प्रकाश ने आशीर्वाद दिया।

(अमृत प्रभात से साभार)

सोसाइटी अगेन्स्ट कैंसर : उद्देश्य और लक्ष्य

इलाहाबाद मेडिकल कालेज के युवा चिकित्सकों ने कैंसर की विभीषिका को देखते हुए आम जनता के हित को ध्यान में रखते हुए एक सोसाइटी बना लिया है। इस संस्था के उद्देश्य और लक्ष्य के विषय में जानकारी दे रहे हैं मेडिकल कालेज के युवा और समर्पित चिकित्सक डा० वी० के० सिंह। कैंसर के विषय में अधिक जानकारी के लिए पाठक इस संस्था से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं।

—संपादक

इस संस्था की स्थापना का मूल उद्देश्य कैंसर सम्बन्धी प्रामाणिक जानकारी को जन सामान्य तक पहुँचाकर उनमें जागृति पैदा करना है ताकि इसके सम्बन्ध में व्याप्त

भ्रान्तियाँ दूर हो सकें। इस तरह प्रारम्भिक अवस्था में ही कैंसर का इलाज अधिक प्रभावी ढंग से किया जा सकता है। यही नहीं, कैंसर फैलने के कारणों से जनता को अवगत करा देने से इससे बचाव एवं रोकथाम की दिशा में सफलता प्राप्त करना भी हमारा एक उद्देश्य है।

कैंसर से पीड़ित निर्धन रोगियों की चिकित्सा आदि के प्रबन्ध के लिए धन संग्रह तथा समाज के विभिन्न वर्गों से उनके लिए सहायता प्राप्त करने का भी हमारा लक्ष्य है। हम स्वयं को यहीं तक सीमित न रखकर कैंसर- शोध के क्षेत्र में अपना योगदान देने और कैंसर चिकित्सा का अधुनातन औषधियों, विधियों को भी सर्वसुलभ कराने की दिशा में सतत् प्रयत्नशील हैं।

[शेष पृष्ठ 28 का]

तकनीकी भौतिकी तथा सैद्धान्तिक न्यूक्लीय भौतिकी आदि विषयों पर अनुसंधान किया जाता है।

गौरीविद्नूर भूकम्पमापी केन्द्र : इस केन्द्र की स्थापना ब्रिटिश परमाणु ऊर्जा प्राधिकरण के सहयोग से सन् 1965 में की गयी थी। यह स्थान बेंगलौर से अस्सी किलोमीटर उत्तर में स्थित है। यहाँ भूकम्पों और भूमिगत परमाणु विस्फोटों का पता लगाने के लिए पच्चीस किमी० लम्बे और पच्चीस किमी० चौड़े वर्गाकार क्षेत्र में बीस सेंसर लगाये गये हैं। ये सेंसर भूमिगत नाभिकीय विस्फोटों का पता लगाने तथा उनकी शक्ति और विस्फोट केन्द्र के सम्बन्ध में सूचना एकत्र करते हैं। भूकम्प मापी केन्द्र पर माइक्रोबेरोग्राफ संयंत्र निरंतर कार्य करते रहते हैं।

(क्रमशः)

VISIT

ASIA BOOK Co.

9 UNIVERSITY ROAD, ALLAHABAD

FOR BOOKS ON

CPMT, IIT, ENGINEERING COLLEGE

ADMISSION TEST & LATEST UNIVERSITY

BOOKS ON SCIENCE SUBJECTS

विज्ञान वार्ता

संकलनः डा० रमेश चन्द्र श्रीवास्तव
भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण, इलाहाबाद

1. औद्योगिक प्रदूषण जनित अम्ल-वर्षा से जन्तुओं एवं वनस्पतियों का विनाश

अमेरिका की औद्योगिक इकाइयों द्वारा किये गये प्रदूषण के फलस्वरूप होने वाली अम्ल-वर्षा से कनाडा की नदियों और झीलों में पाए जाने वाले जन्तु और वनस्पतियों का बड़ी संख्या में विनाश हो रहा है। अमेरिका में 'सिटी आफ बफैलो' में हुई 'पर्यावरण समस्याओं पर अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी' में कनाडा ने इस मसले की गम्भीरता पर प्रकाश डाला। कनाडा में ओन्टोरियो से क्यूबेल तक के राज्यों तथा मैरीटाइम राज्य तक की हजारों झील और नदियाँ जल में तेजाब की मात्रा अधिक होने से झील के जन्तुओं और वनस्पतियों की मृत्यु हो गयी है। इससे कनाडा के जीव जन्तुओं और वनस्पतियों (पेड़–पौधों) को भयंकर खतरा उत्पन्न हो गया है।

2. पर्वतारोहियों के लिये शुभ समाचार

बवेरिया के वनपाल यंसिफ होहेनेस्टर ने पी० वी० सी० नायलन कपड़े से गेंदनुमा एक ऐसा एयरबैग बनाया है जिसे आवश्यकता के समय मात्र तीन सेकेन्ड में फुलाया जा सकता है। यह पर्वतारोहियों या स्कीइयरों को हिम-स्खलन में फँस जाने पर उन्हें सुरक्षित रखती है। यह दो प्रकार के माडलों—**'बैकपैक'** एवं **'पाकेटमाडल'** में उपलब्ध है। इस जीवन रक्षक 'एयर बैग' से निश्चय ही पर्वतारोही लाभान्वित होंगे।

3. फूलों की ताजगी बनाए रखने वाला बाक्स

जर्मनी के वैज्ञानिकों ने एक ऐसा बाक्स तैयार कर लिया है जिसमें फूलों को अधिक समय तक ताजा बनाये रखने की क्षमता है। इस बाक्स को 'फ्लोरिडा बाक्स' का नाम दिया गया है। इसमें फूलों को रखकर 'फ्लोरियल' छिड़क दिया जाता है तथा बाक्स को तीन दिनों तक बन्द रखा जाता है। इससे फूलों में से नमी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार गुलाब, आर्किड जैसे अनेक किस्म के महीनों तक ताजा एवं सुरक्षित रखा जा सकता है।

4. एक अनूठा लैम्प

अंगूठी के आकार के इस जर्मनी निर्मित लैम्प क ''प्रभामंडल'' उपनाम दिया गया है। इसमें सर्कोलेक्स और केवल 25 वाट बिजली का प्रयोग करके 75 वाट के वल्ब के बरावर प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है। बिजली सामान्य बल्बों की तुलना में इसकी जीवन-अवधि छह गुनी अधिक है।

5. बैटरी से चलने वाली कारें

वर्तमान पंचवर्षीय योजनाकाल (1981-85) में सोवियत आटोडिजाइनर ऐसी मशीनों का निर्माण करेंगे जो पर्यावरण के लिए कम से कम हानिकार होंगी। यह बात आटोमोबाइल उद्योग के उपमन्त्री अलेग्जान्देर बोर्जूनोव ने एक संवाद-दाता सम्मेलन में कही। उन्होंने बताया कि शीघ्र ही बैटरी से चलने वाली कारों और बिजली मोटरों

वाली बसों का निर्माण आरम्भ हो जायेगा। परिवहनों में पेट्रोल के स्थान पर तरलीकृत गैस का प्रयोग होगा जो कम हानिकर है और इससे परम्परागत आन्तरिक कम्बशन इंजनों में भी सुधार होगा। गत वर्ष निर्मित परिवहन-वाहनों ने 1975 में निर्मित वाहनों के मुकाबले 45 प्रतिशत कम हानिकर पदार्थों को वायु में छोड़ा।

6. समुद्र के जल को शुद्ध करने का संयन्त्र

लेनिनग्राद के विशेषज्ञों ने अप्राकृतिक शीत का प्रयोग कर समुद्र के जल को परिशुद्ध करने के संयंत्र का डिजाइन तैयार किया है। सागर जल को जब बर्फ के रूप में जमा दिया जाता है तब स्वच्छ जल तथा नमक के कण बन जाते हैं। इस "बर्फ काकटेल" को अलग करने के लिए एक सेपरेटर में भर दिया जाता है। यह नया संयंत्र परम्परागत परिशुद्ध तरीके से अधिक कुशलतापूर्वक काम करता है और इसमें अधिक विद्युत शक्ति का भी खर्च नहीं होता इस संयंत्र का उपयोग औद्योगिक कचरे के इस्तेमाल के लिए भी किया जायेगा।

7. रासायनिक द्रव्य और शोर

वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि रासायनिक प्रदूषकों और शोर के कारण ही 70 प्रतिशत स्त्रियाँ हृदय रोगों का शिकार हो जाती हैं।

सोवियत वैज्ञानिक इसका भी अध्ययन कर रहे है कि शोर और कार्बन-डाइ-आक्साइड का बच्चों पर क्या प्रभाव पड़ता है। यह सिद्ध हो चुका है कि यदि लगभग 60-65 डेसिबल शोर की सघनता हो तथा वायु में प्रति घनमीटर लगभग दो मिलीग्राम कार्बन-डाइ-आक्साइड की मिलावट हो तो छोटे शिशुओं में रोग-प्रवणता बढ़ जाती है। वैज्ञानिकों द्वारा इन दुष्प्रभावों की रोकथाम की विधियों पर और अधिक अध्ययन किया जा रहा है।

परा-बैंगनी विकिरण के सम्बन्ध में भी रोचक तथ्यों का पता लगाया गया है। यह पता चला है कि अगर प्रयोग के लिए उपयोग में आने वाले जीवों को परा-बैंगनी किरणों के कृत्रिम विकिरण प्रभाव में स्थायी रूप से रखा जाए तो वे रासायनिक द्रव्यों के प्रति प्रतिरोध क्षमता उत्पन्न कर लेते हैं। मनुष्य के स्वास्थ्य को सुदृढ़ बनाने के लिए इस तथ्य का व्यापक उपयोग किया जा सकता है।

8. इनफ्लूएंजा का कारगर टीका

इनफ्लुएंजा बहुत बड़े जनसमुदाय के लिए ख़तरनाक व असाध्य रोग है। इसकी महामारियां बार-बार फैलती हैं और उनका मुकाबला करना आसान नहीं होता। भारत जैसे सघन आबादी वाले देश का इससे खास सम्बन्ध है। लेनिनग्राद के वैज्ञानिकों के एक दल ने फ्लू को क्रियाहीन टीके का विकास किया है और उसे व्यवहार में भी लाया गया है। यह टीका फ्लू की महामारी को रोकने में बहुत कारगर सिद्ध हुआ है।

फ्लू के टीके का एक और महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इससे कोई जटिलता पैदा नहीं होती। फलतः इसे बूढ़े और बच्चों के लिए इस्तेमाल करना भी निरापद है। नई पद्धति विषाणुओं की अन्य प्रजातियों के वास्ते टीके बनाने में भी सहायक होगी। बर्तानिया, जर्मन जनवादी गणतन्त्र, अमरीका, फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया सहित कई देशों ने इस टीके के पेटेंट लिए हैं।

9. एक अनूठा मोम पंकज-कोयले से निर्मित मोम

दुनिया में पंकज-कोयले का एकमात्र शैक्षिक संस्थान सोवियत संघ में है। इस संस्थान ने एक ऐसा अनूठा मोम तैयार किया है जो भूरे कोयले से तैयार किये जाने वाले तथा सार्वभौमिक रूप से पाये जाने वाले मधुमक्खी के छत्ते के मोम से किसी भी हालत में निम्नकोटि का नहीं है। पंकज-कोयले से निकाले गये इस मोम में नमनशीलता, कड़ापन और चमक है तथा यह एक अर्धतरल, तैलोद, का रूप ग्रहण कर लेता है और वायुमंडलीय व बैक्टीरिया से इस पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता है।

पंकज-कोयले से निर्मित मोम के तैलोद बनने की क्षमता से वैज्ञानिकों को उससे एक ऐसा मलहम बनाने की सूझी जिसे विभिन्न प्रकार के संश्लेषित पदार्थों का आधात्री से चिपकना बन्द किया जा सके। इसके उपयोग से वह चिपकने वाला पोलीयूरेथीन भी कार-निर्माताओं के लिए उपयोगी बन गया है जिसे इस्तेमाल करने में बहुत कठिनाई होती थी।

एमिली, मार्की दु शेतल

गुणाकर मुले
नई दिल्ली

वर्तमान सदी के आरंभिक दशकों में जब आइंस्टाइन ने अपना आपेक्षिकता का सिद्धान्त प्रकाशित किया तो एकाएक उनका नाम सारी दुनिया में फैल गया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि आइंस्टाइन के सिद्धान्त को समझना सभी के लिए सहज संभव है। दूसरी तरफ, यह भी सच नहीं है कि आरंभ में यूरोप के केवल एक दर्जन वैज्ञानिक ही इस सिद्धान्त को समझने में समर्थ थे। सन् 1921 में मेघनाद साहा और सत्येन बोस ने मिलकर मूल जर्मन से आइंस्टाइन के प्रबंधों का अंग्रेजी में अनुवाद किया था एवं कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इसे प्रकाशित किया था।

एमिली, मार्की दु शेतल (1706-1749)

विज्ञान के आम पाठकों के लिए आपेक्षिकता के सिद्धान्त को समझने में बाधक बनता है इसका अत्यन्त जटिल गणितीय ढाँचा। आर्थर एडिंगटन और बर्ट्रण्ड रसेल-जैसे कुछ वैज्ञानिकों ने जब सरल ढंग से आपेक्षिकता-सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की, तभी इसकी जानकारी आम प्रबुद्ध पाठकों को प्राप्त हुई। दिलचस्प बात यह है कि आइंस्टाइन के सिद्धान्त को सर्वाधिक प्रसिद्धि दिलायी एडिंगटन-जैसे आंग्ल वैज्ञानिकों ने, जबकि आरंभ में जर्मनी में इसका काफी विरोध हुआ; तत्कालीन नाज़ी शासन, न केवल इस सिद्धान्त का, बल्कि आइंस्टाइन की जान का भी दुश्मन बन गया।

न्यूटन की प्रसिद्धि का हाल भी कुछ-कुछ आइंस्टाइन-जैसा ही है। न्यूटन का लैटिन भाषा में लिखा गया प्रख्यात ग्रन्थ 'प्रिंसिपिया', जिसमें उन्होंने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को और कलन-गणित को प्रस्तुत किया है, 1687 ई० में प्रकाशित हुआ। निश्चय ही, उस समय इस ग्रन्थ को समझ पाना बहुत-से वैज्ञानिकों के लिए भी संभव नहीं था। आज के गणित के अध्येता भी न्यूटन की इस महान कृति को, इसके अंग्रेजी अनुवाद को, नहीं पढ़ते। कालेजों के ग्रन्थालयों में इस कृति की कोई प्रति मुश्किल से ही देखने को मिलेगी।

परन्तु जब पहली बार कुछ छोटे आकार की, करीब पाँच सौ पृष्ठों की, और नौ शिलिंग मूल्य की यह कृति प्रकाशित हुई थी तो इंग्लैण्ड एक में तहलका मच गया था। इसके पहले संस्करण की प्रतियाँ हाथोंहाथ बिक गईं। यहाँ तक कि अन्त में कुछ लोगों ने तिगुना-चौगुना दाम

देकर इसकी प्रतियाँ प्राप्त कीं। और, प्रति न मिलने पर कुछ लोगों ने तो इस कृति की हस्तलिपियाँ ही तैयार कर ली थीं!

सर्वसाधारण को भौतिक जगत की वास्तविकताओं से, विश्व की भौतिक रचना के ज्ञान से, दूर रखकर मायावादी बनाने के चाहे लाख प्रयत्न किए जाएँ, गीता व बाइबिल की चाहे लाखों प्रतियाँ मुफ्त बाँटी जाएँ, परन्तु जब भी जानकारी मिलती है कि किसी वैज्ञानिक ने भौतिक विश्व की रचना के बारे में कोई नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, तो चहुँओर खलबली मच जाती है। आइंस्टाइन के सिद्धान्त के बारे में यही हुआ, न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के बारे में भी यही हुआ था। न्यूटन के देशवासियों ने उन्हें, एक गणितज्ञ-वैज्ञानिक को, बिना ताज का बादशाह बना दिया। न्यूटन के सिद्धान्त की समुचित व्याख्या का, इसके प्रचार-प्रसार का और इसके विकसित एवं परिष्कृत करने का काम किया प्रमुख रूप से फ्रांस के विचारकों ने, वैज्ञानिकों ने। देखिए बर्ट्रेण्ड रसेल क्या लिखते हैं:

"न्यूटन की मृत्यु के बाद ही, और वह भी प्रमुखतः वाल्तेयर की 'दार्शनिक पत्रावली' के बाद, न्यूटन लोकप्रिय हुए, उनकी लोकप्रियता चरम सीमा पर पहुँच गई। दरअसल, आगे की पूरी सदी में, नैपोलियन के पतनकाल तक, मुख्य रूप से फ्रांसीसियों ने ही न्यूटन के कृतित्व को संवर्धित किया है। देशाभिमान के कारण अंग्रेजी विचारक न्यूटन की विधियों के दलदल में फँस गए, जबकि लाइबनिट्ज की विधियाँ बेहतर थीं। परिणामतः न्यूटन की मृत्यु के बाद करीब सौ साल तक इंग्लैण्ड में गणित के क्षेत्र में नहीं के बराबर कार्य हुआ।"

वास्तविकता यह है कि 'प्रिंसिपिया' के प्रकाशन के बाद स्वयं न्यूटन रहस्यवाद के चक्कर में, कीमियागरी के प्रयोगों में, उलझ गए थे और उनके देशवासी समझ बैठे थे कि गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त ईश्वर का अंतिम विश्व-विधान है। परिणामतः, जे० ब्रोनोवस्की के शब्दों में, 'अठारवीं सदी में न्यूटन के कृतित्व को संवर्धित किया गया फ्रांस में, न कि इंग्लैण्ड में। वाल्तेयर ने इस सिद्धान्त को बिना ईश्वर के ही ग्रहण किया।"

वाल्तेयर वैज्ञानिक नहीं था, फिर भी गणित के इतिहास में उसका नाम न्यूटन के नाम के साथ जुड़ता है, तो इसका कारण यह है कि इंग्लैण्ड के बाहर यूरोप के देशों में न्यूटन के सिद्धान्त को प्रसिद्ध करने में सर्वाधिक योग उसी ने दिया है। लेकिन इस काम में वह अकेला नहीं था। इस कार्य में उसे सर्वाधिक सहयोग मिला उसकी प्रेमिका मार्की दु शेतल, एमिली दे ब्रेतेयू से। वाल्तेयर ने न्यूटन के सिद्धान्त का दार्शनिक विवेचन किया, एमिली ने न्यूटन की 'प्रिंसिपिया' का लैटिन से फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया।

वाल्तेयर (1694-1778 ई०) अपनी व्यंग्य रचनाओं के लिए प्रसिद्ध है। अपनी इन व्यंग्य रचनाओं के कारण उसे कई बार जेल भी भुगतनी पड़ी। 1726 में उसे इस शर्त पर बास्तील के कारावास से रिहा कर दिया गया कि वह फ्रांस छोड़कर इंग्लैण्ड चला जाएगा। वाल्तेयर ने 1726 से 1729 तक के तीन साल इंग्लैण्ड में गुजारे।

न्यूटन की मृत्यु (20 मार्च, 1727) के समय वाल्तेयर लन्दन में मौजूद था; वह न्यूटन के अंतिम संस्कार में सम्मिलित हुआ था। उसने बड़े गर्व से लिखा है कि, 'कुछ अरसा मैंने एक ऐसे देश में गुजारा है जहाँ गणित के एक प्रोफेसर को एक प्रजाहितकारी राजा की तरह दफनाया गया है।'

कथा मशहूर है कि न्यूटन एक दिन एक सेब के पेड़ के नीचे बैठे थे, एक सेब टूटकर उनके सिर पर गिरा और उन्हें गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त सूझ गया। यह किस्सा, जिसके लिए कोई प्रामाणिक सबूत नहीं है, वाल्तेयर ने ही फैलाया है। न्यूटन के जीवन के अंतिम वर्षों में उनकी देखभाल उनकी बहन की पुत्री कैथरीन बार्टोन ने की है। न्यूटन की मृत्यु के बाद वाल्तेयर इस फैशनपरस्त महिला से मिला था, और उसी से सेब वाला यह किस्सा उसे सुनने को मिला था। न्यूटन के बारे में यह भी एक मनगढंत ही किस्सा है कि उसके एक पालतू कुत्ते ने उसकी मेज पर जलती मोमबत्ती गिरा दी, जिससे उनके कई सारे कागज जल गए।

वाल्तेयर ने जिस न्यूटनीय दर्शन का प्रतिपादन किया उसमें उसकी प्रेमिका एमिली, मार्की दु शेतल का बहुत

बड़ा हाथ है। फ्रांस में दकार्त का ईश्वरीय भंवरों का सिद्धान्त मान्य था। उस समय फ्रांस और इंग्लैण्ड में भौतिक जगत की रचना को लेकर जो मतभेद थे, उन्हें वाल्तेयर ने बड़ी खूबी से स्पष्ट किया है :

"एक फ्रांसवासी के लन्दन पहुँचने पर वह देखेगा कि, दूसरी सभी चीजों की तरह दर्शन भी यहाँ बदल गया है। फ्रांस में वह जगत को 'परिपूर्ण' देखता है; यहाँ वह देखता है कि जगत् 'निर्वात' है। पेरिस में वह देखता है कि विश्व ईश्वरीय भंवरों से व्याप्त है; लेकिन यहाँ उसी दिक में अदृश्य शक्तियां काम करती हैं। दकार्त के अनुयायी दबाव के जरिए सभी घटनाओं की व्याख्या करते हैं; न्यूटन के अनुयायी आकर्षण के जरिए इसे स्पष्ट करते हैं। अन्त में, पेरिस में पृथ्वी को अण्डे की तरह ध्रुवक्षेत्रों में उठी हुई समझा जाता है; लेकिन यहाँ इसके ध्रुवक्षेत्र कुम्हड़े की तरह धँसे हुए माने जाते हैं।'

वाल्तेयर तीन साल इंग्लैण्ड में रहकर फ्रांस लौटा, और अपने साथ ऐसी काफी सामग्री भी ले आया जो फ्रांस-वासियों को बौखला देने वाली थी। 1734 में उसकी 'आंग्ल पत्रावली' प्रकाशित हुई तो फ्रांस में तहलका मच गया। उसे पेरिस से भाग जाना पड़ा। इस बीच 1733 में वाल्तेयर ने एमिली, मार्की द् शेतेल के साथ अपने कोमल संबंध स्थापित कर लिए थे। 1734 में उसने पेरिस से पलायन किया तो वह एमिली को भी साथ ले भागा।

एमिली का जन्म एक धनाढ्य कुल में 17 दिसम्बर, 1706 में पेरिस में हुआ था। उसने अपने पिता बैरन दे ब्रेतेय्रू से लैटिन, ग्रीक और इतालवी भाषाएँ सीखी थीं। बाद में उसने गणित और भौतिक विज्ञान का गहन अध्ययन किया, यूक्लिड और न्यूटन का भी उसने गहन अध्ययन किया। मोपेर्त्यू (1698-1750) और कोएनिंग-जैसे तत्कालीन प्रसिद्ध गणितज्ञों से उच्च गणित का ज्ञान प्राप्त किया था। एमिली न केवल एक प्रतिभासम्पन्न महिला थी, वह काफी खूबसूरत भी थी।

उन्नीस साल की आयु में मार्की दु शेतल-लेमों के साथ एमिली का विवाह हुआ। फिर भी वाल्तेयर को अपना सर्वस्व समर्पण करने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। 1734 में वाल्तेयर को जब पेरिस से भाग जाना पड़ा तो वह एमिली को साथ लेकर शेम्पेन के निकट के सिरे स्थान के एमिली के ही एक भव्य आवास में रहने लगा। यहाँ दोनों ने चौदह साल गुजारे। दोनों ने मिलकर अध्ययन किया, लेखन-कार्य किया, प्यार किया, और दोनों में झगड़ा भी हुआ। यहाँ वाल्तेयर ने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें एक है 'न्यूटनीय दर्शन का सारतत्व'। विज्ञान के इतिहास के प्रख्यात लेखक चार्ल्स सिंगर ने लिखा है कि, 'वाल्तेयर के मनमोहक और सुस्पष्ट विवेचन (1737-38) के कारण ही न्यूटनीय दर्शन को वास्तविक विजय मिली, और अरस्तू के दर्शन को अन्तिम रूप में दफना देना संभव हुआ।'

वाल्तेयर के इस महती कार्य में उसकी प्रेमिका एमिली का बहुत बड़ा हाथ है। वाल्तेयर ने न्यूटन के सिद्धान्त की व्याख्या की तो एमिली ने न्यूटन की महान कृति 'प्रिंसिपिया' का लैटिन से फ्रांसिसी में अनुवाद किया। यह कार्य कितना जटिल था, इसका अंदाजा वे थोड़े से गणितज्ञ ही लगा सकते हैं जिन्होंने मूल या अनुवाद में 'प्रिंसिपिया' का अध्ययन किया है। एमिली द्वारा किया गया 'प्रिंसिपिया' का यह अनुवाद उसकी मृत्यु के दस साल बाद 1759 में पेरिस से प्रकाशित हुआ। एमिली ने भौतिक-विज्ञान के बारे में भी एक पुस्तक लिखी।

चौदह साल साथ गुजारने के बाद वाल्तेयर और एमिली के रास्ते अलग-अलग हो गए। 1746 में वाल्तेयर पेरिस लौट आया, और दरबारी जीवन में रम गया। अगले वर्ष एमिली ने भी एक अन्य व्यक्ति को अपने जीवन में जगह दी। परन्तु 'प्रिंसिपिया' के अनुवाद कार्य को उसने जारी रखा जो मृत्यु के कुछ ही पहले पूरा हुआ। अन्त में, 43 वर्ष की आयु में, 10 सितम्बर, 1749 को एमिली की मृत्यु हुई। प्रसिया के सम्राट फ्रेडरिक महान के आमंत्रण पर वाल्तेयर 1750 में बर्लिन चला गया। कहते हैं कि फ्रेडरिक महान ने एमिली के समाधिलेख के लिए सूक्ति सुझाई :

'यहाँ वह चिरनिद्रा में सो रही है जिसने एक अभागे शिशु को जन्म देने में और एक दार्शनिक कृति को प्रस्तुत करने में अपने जीवन की आहुति दी।'

यहाँ एक दार्शनिक कृति की प्रस्तुति का अर्थ है न्यूटन की अमर कृति 'प्रिंसिपिया' का अनुवाद-कार्य! ●

आधुनिक युग के कल्पवृक्ष-उष्णकटिबंधीय पाइन

राधाकृष्ण चौधरी
देहरादून, उ० प्र०

भारतीय संस्कृति में मानव का वृक्ष एवं वनों से नाता आदि काल से जुड़ा हुआ है। हिमालय क्षेत्रों में पाये जाने वाले सूचिपर्ण-वृक्षों का सौन्दर्य तथा महिमा महाकवि कालिदास के मेघदूत में कई स्थानों पर पाई जाती है। अथर्व वेद में इन वृक्षों तथा वनस्पतियों से मानव जाति के उपयोग में आने वाली अनेक ओषधियों तथा अन्नोपयोगिता का भी विवेचन है। अनुमान है कि हिमालय क्षेत्र में कुल 49 लाख हेक्टेयर में सूचिपर्ण वन हैं जिनसे प्रति वर्ष लगभग 13 लाख घनमीटर की मृदुकाष्ठ प्रजाति की लकड़ी प्राप्त होती है। इस लकड़ी का उपयोग कागज-उद्योग तथा वनोपज आधारित अन्य उद्योगों में बहुतायत से किया जाता है। सड़क और इतर यातायात साधनों का अभाव और आधे से अधिक क्षेत्र का अत्यन्त दुर्गम होने तथा पारिस्थितिकी नाजुक होने के कारण यहाँ के बहुतांश वनों में से लकड़ी नहीं निकाली जा सकती। अतएव हमारी मृदुकाष्ठ लकड़ी की आवश्यकता का 50 प्रतिशत से भी कम भाग इन वनों से मिलता है, फलस्वरूप अनेक वनोद्योग अपनी क्षमता से कम काम कर रहे हैं जैसा कि तालिका 1 में दर्शाया गया है।

तालिका 1—कुछ चुने हुए वनोद्योगों का उत्पादन-स्तर

क्र० सं० उद्योग	कुल इकाइयाँ	परिमाण	उत्पादन क्षमता	वास्तविक उत्पादन	
				1973	1974
1. कागज की लुगदी	4	हजार मेट्रिक टन	140.0	96.4	139.7
2. अखबारी कागज	1		75 0	43.9	54.8
3. कागज और पुट्ठे	59		797.2	837.0	
4. प्लाइवुड	32	हजार घन मीटर	172.0	135.0	143.0
5. पार्टिकिल और फाइबर बोर्ड	12	हजार मेट्रिक टन	85.4	35.6	31.3
6. सघन काष्ठ उद्योग	1		1.2	0 6	0.8

देश की वर्तमान औद्योगिक स्थिति तथा आर्थिक विकास के साधनों की दृष्टि से उक्त परिस्थिति अत्यन्त असंतोषजनक है।

भारतीय वनशास्त्रियों ने उपर्युक्त मृदु-काष्ठ तथा औद्योगिक व दैनिक उपयोग की लकड़ियों की आपूर्ति के लिए हिमालय के तराई क्षेत्र तथा देश के अन्य भागों में काफी बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण किया हुआ है। यह वृक्षारोपण करीब 34 लाख हेक्टेयर (भारत के सम्पूर्ण

वनों का साढ़े आठ प्रतिशत) भूमि में किया गया है। लगाए गये वृक्षों में मुख्यतः सागौन, युकेलिप्टस, बांस तथा मृदुकाष्ठ प्रजातियों के वृक्ष इत्यादि सम्मिलित हैं। वृक्षारोपण हेतु वृक्ष प्रजातियों के चुनाव में आर्थिक पक्ष तथा वृक्षों की वार्षिक वृद्धि के प्रश्न के अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि वृक्षारोपण से पारिस्थितिकी एवं सामाजिक जीवन पर कोई भी प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। मृदुकाष्ठ प्रजातियों के वृक्षारोपण में उष्णकटिबंधीय पाइन वृक्षों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हिमालय के वनों में 4 प्रजातियों के उष्णकटिबंधीय पाइन वृक्ष पाये जाते हैं, जबकि सम्पूर्ण पृथ्वी पर इसकी कुल 110 प्रजातियाँ हैं। इन 110 प्रजातियों में से भारत सदृश जलवायु क्षेत्रों जैसे मैक्सिको, द० पू० अमेरिका, मध्य अमेरिका, द० अमेरिका का उत्तरी भाग, अफ्रीका के केनिया और मलावी क्षेत्र, एशिया का द० पू० भाग तथा फीजी और आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड के पूर्वी भागों में पाई जाने वाली पाइन जातियों के वृक्षों का प्रयोगात्मक परीक्षण भारत में वैज्ञानिक दृष्टि से 1958 से किया जा रहा है। इन प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकला है कि भारत के लिए कुछ पाइन जातियां सर्वथा उपयुक्त हैं जिनका वर्णन तालिका 2 में किया हुआ है।
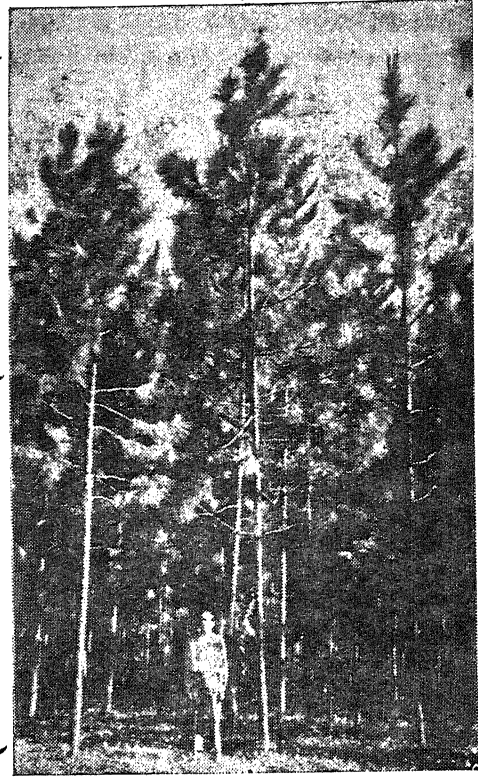
पाइनस के वृक्ष

तालिका 2—भारत के विभिन्न प्रदेशों में किया गया उष्ण कटिबंधीय चीड़ का वृक्षारोपण

प्रदेश	वृक्षारोपण का क्षेत्र	लगभग वन क्षेत्र जो चीड़ वृक्षारोपण के लिए उपयुक्त हैं	जातियाँ जो उक्त प्रदेशों के लिए उपयुक्त हैं
आन्ध्रप्रदेश	270	श्रीकाकुलम्, विशाखापटनम् और पूर्व गोदावरी जिलों में 10,000 हेक्टेयर।	पाइनस कैरिबिया, पाइनस केसिया, पाइनस उकार्पा
मध्यप्रदेश	700	बस्तर, अमरकंटक, और जशपुर भागों में 100,000 हे०।	,, ,,
उड़ीसा	120	कोरापुर और फुलबानी जिलों में 50,000 हेक्टेयर हे०।	,, ,,
तमिलनाडु	2000	गुडालर, पेरूमलमलई, नीलगिरी और मदुराई जिलों में 10,000 हे०।	पाइनस पेटुला, पाइनस कैरिबिया, पाइनस उकार्पा
उत्तर प्रदेश	50	देहरादून और उत्तर के पहाड़ी जिलों में 24,000 हे०।	,, ,,
पश्चिम बंगाल	50	दार्जिलिंग, कलिमपोंग और बक्सा जिलों में 20,000 हे०।	,, ,,

इस तालिका से यह स्पष्ट होता है कि भारत में 1979 तक करीब 3,100 हेक्टेयर क्षेत्र पर केवल प्रयोगात्मक वृक्षारोपण हुआ है तथा भारत के उक्त राज्यों में करीब 2,14,000 हेक्टेयर ऐसे क्षेत्र हैं, जिन पर यह वृक्षारोपण किया जा सकता है। हमारी सामाजिक तथा औद्योगिक उपयोग की लकड़ी की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय कृषि आयोग ने 1976 की अपनी रिपोर्ट में अगले 20 वर्ष के लिए प्रतिवर्ष 20 हजार हेक्टेयर क्षेत्र में इस प्रकार का वृक्षारोपण करने की सिफारिश की है।

पाइन वृक्षारोपण ही क्यों ?

भारत में पाई जाने वाली पाइन जातियों के साथ चुनी गई पाँच छह विदेशी पाइन जातियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए किये गये प्रयोगों से विदित हुआ है कि विदेशी पाइन जातियों की वृद्धि दर हमारे देश में पाये जाने वाले वृक्षों से 6 से 10 गुनी अधिक है जैसा कि निम्न तालिका 3 से स्पष्ट है।

तालिका 3 – उष्णकटिबंधीय चीड़ पाइन के साथ कुछ विदेशी जातियों का तुलनात्मक अध्ययन

जाति	स्थान	प्रदेश	रोपवन की उम्र	औसत ऊँचाई मीटर में	औसत व्यास से० मी० में	प्रतिशत
	अराकू	आंध्र प्रदेश	7.0	7.6	12.0	*
पाइनस	कोडाई कनाल	तमिलनाडु	10.0	15.9	15.9	76
कैरिबिया	काल्किा	उ० प्रदेश	15.5	10.0	14.0	*
	लाल कुआ	उ० प्रदेश	8.0	10.4	15.3	25.9
	कोरापुट	उड़ीसा	9.5	7.1	4.4	60
	मारेडुमिल्ली	आंध्रप्रदेश	4.0	3.0	6.7	*
पाइनस	उटी	तमिलनाडु	10.4	9.0	10.7	50
उकार्पा	सुखीडांग	उ० प्रदेश	6.5	3.1	5.1	*
	कोरापुट	उ० प्रदेश	5.5	3.5	4.8	52
	कोडाई	तमिलनाडु	10.0	6 5	8.8	40
पाइनस	कनाल	आंध्रप्रदेश	5.0	6.7	10.8	*
केसिया	लालकुवा	उ० प्रदेश	8.0	4.0	8.6	40.7
	दारिंगवाडी	उ० प्रदेश	10.5	10.2	6.5	92
	कालिका	उ० प्रदेश	10.0	14.6	16.6	*
पाइनस	मारेडुमिली	आंध्रप्रदेश	6.0	8.8	11.8	*
पैटुला	रिभबिक	पं० बंगाल	10.0	8.6	*	*
	कोडाईकनाल	तमिलनाडु	10.0	13.5		94
	पोहांगी और मालीपुर	उ०	8.5	11.7	12.6	76
	देहरादून	उ० प्रदेश	5.5	4.36	8.4	88
पाइनस	नहान डिवी०	हि० प्रदेश	5.5	3.7	6.8	100
राक्स-	पर्वती घाटी	हि० प्रदेश	5.5	3.3	6.9	96
बर्घीआई	कोरापुट	उ० प्रदेश	5.5	0.9	2.6	57
(देशीचीड़)	,,	उ० प्रदेश	14.5	4.5	9.8	79

* जानकारी उपलब्ध नहीं।

यह वृक्ष कागज की लुगदी बनाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है और कुछ प्रकार के कागज के निर्माण हेतु इन वृक्षों की लकड़ी का अन्य प्रकार की लकड़ियों के साथ लुगदी बनाने के लिए मिश्रण करना आवश्यक है। मिश्रण के लिए अगर पाइन की लकड़ी उपलब्ध न हो तो बांस का प्रयोग हो सकता है, किन्तु भारत में पाये जाने वाले बांस के उत्पादन क्षेत्रों का क्रमशः ह्रास होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त बांस का उपयोग गाँवों में चटाई, टोकरियाँ इत्यादि बनाने में व्यापक रूप से होता है, जिससे कागज बनाने के लिए उसकी आपूर्ति उतने परिमाण में नहीं हो पाती जितनी कि हमारे कागज उद्योग की माँग है। बाँस का वृक्षारोपण करने का प्रयत्न भी हमारे वन विज्ञानियों ने किया है, किन्तु इन प्रयोगों से उत्साहवर्धक परिणाम सामने नहीं आ रहे हैं। नैसर्गिक बाँस वनों में प्रत्येक 30-40 वर्ष में फूल आते हैं, जिसके बाद ये वन नष्ट हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में कागज उद्योग के लिए बाँस के वैकल्पिक कच्चे माल के स्रोतों की खोज बहुत आवश्यक है और यहाँ पाइन का स्थान काफी महत्वपूर्ण है, जैसा कि तालिका 4 से स्पष्ट है।

तालिका 4—कागज की लुगदी बनाने के लिए कुछ वृक्ष जातियों का तुलनात्मक अध्ययन

विशिष्ट गुण धर्म	बाँस	पाइन	युकेलिप्टस
1—मोटे तौर से विश्लेषण			
लिग्निन	26	27	25
पेन्टोसान	15	9	20
अल्फा सेलुलोस	40	41	44
पल्प	3	0.3	0.5
2—तन्तु विस्तार			
तन्तु की लम्बाई (मि० मी० औसत)	2.7	5.6	1.2
तन्तु का व्यास (औसत माइक्रोन)	15	40	24
3—अविरंजित लुगदी के गुण (क्राफ्ट प्रोसेस)			
तन्तु टूटने की लम्बाई (मीटर में)	5700	6900	6500
स्फोटक कारक	42	57	50
विदारण भार	110	160	75
चादर तत्व	0.6	0.68	0.69

पाइन की लकड़ी अन्य उद्योगों, जैसे प्लाइवुड, हार्ड-बोर्ड निर्माण तथा चिरान लकड़ी के कुछ उद्योगों के लिए भी अत्यन्त उपयुक्त है। इन वृक्ष जातियों में से कई जातियों से लीसा भी प्रचुर मात्रा में मिलता है जिससे पेंट, वार्निश इत्यादि उद्योगों के लिये कच्चे माल की आपूर्ति हो सकती है।

पाइन वृक्षारोपण से आर्थिक एवं सामाजिक लाभ

पाइन वृक्षारोपण से लाभ-हानि की आर्थिक समीक्षा करने से पता चलता है कि एक हेक्टेयर के वृक्षारोपण से स्थानीय लोगों को प्रतिवर्ष 1,500 रु० की मजदूरी प्राप्त होती है। यदि 6 रु० दैनिक मजदूरी मानी जाये तो 250 मानव दिवस के रोजगार की उपलब्धि होगी। विस्तृत भाग में वृक्षारोपण के बाद अनेक वन उपज पर आधारित उद्योग धंधों को भी इन क्षेत्रों में स्थापित किया जा सकता है, जिससे इन क्षेत्रों का आर्थिक और औद्योगिक विकास भी शीघ्र गति से हो सकेगा।

कागज की लुगदी के लिये यह पाइन रोपवन 10 से 15 वर्ष की अवधि में ही परिपक्व हो जायेंगे। चिरान हेतु और इतर प्रकार की प्रजातियाँ लगाने पर पाइन रोपवन लगभग 25 वर्षों में उपयोग के लिए परिपक्व होकर अपेक्षित लकड़ी प्रदान करेगा। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि हमारे देश में पाये जाने वाले पाइन जातियों के वृक्षारोपण की परिपक्वता के लिए 60 से 80 वर्ष की अवधि आवश्यक है।

पाइन वृक्षारोपण का पारिस्थितिकी पर प्रभाव

बस्तर के 22 हजार वर्ग किलोमीटर के वनों में केवल 2 वर्ग किलोमीटर वन क्षेत्र पर पाइन वृक्षारोपण करने तथा उससे होने वाले कथित कुपरिणामों की काफी आलोचना की जा रही है। केवल शासकीय दृष्टि से देखा जाये तो पाइन वृक्षों का, जलवायु तथा मृदा पर कोई विपरीत प्रभाव पड़ता नजर नहीं आता। हिमालय जैसे नाजुक प्राकृतवास में हजारों वर्ग किलोमीटर पर नैसर्गिक रूप से उगे पाइन वृक्ष पाये जाते हैं, जिनका पारिस्थितिकी पर कोई भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है। अतएव बस्तर

जैसे क्षेत्र में, जहाँ की पारिस्थितिकी दूसरे भागों से काफी अच्छी है, किन्हीं कुपरिणामों की आशंका करना असंगत है। बस्तर की जलवायु की विशेषता के कारण वहाँ वृक्षों के कटान के पश्चात् प्रचुर मात्रा में नैसर्गिक वनस्पति आ जाती है और वह भी इतनी मात्रा में कि वृक्षारोपण के पश्चात बारंबार निराई करनी पड़ती है। इस प्रकार वहाँ मृदा के ऊपर वनस्पति का आवरण सदैव बना रहता है तथा भूस्खलन नहीं हो पाता। पाइन की पत्तियाँ सदैव हरीभरी होने के कारण उन वृक्षों का वहाँ के प्राकृतिक पतझड़ी वृक्षों की अपेक्षा जलवायु पर अधिक अनुकूल प्रभाव होगा। इसके अतिरिक्त जिन समतल मैदानों में संभव है, वहाँ वृक्षारोपण के उपरान्त वृक्ष पंक्तियों की बीच की भूमि में 5 वर्ष तक खेती हो सकती है जिसमें अरहर, तिलहन, अंबाड़ी इत्यादि फसलें भी प्राप्त की जा सकती हैं। रहा मृदा की उर्वरता का प्रश्न, तो यह भी उपयुक्त मात्रा में प्राकृतिक तथा रासायनिक खाद के प्रयोग से हल किया जा सकता है। अत: यह कल्पना और भय कि पाइन वृक्षारोपण से आसपास की पारिस्थितिकी और स्थानीय समाज पर दुष्परिणाम होंगे, निराधार और तर्कहीन है।

उपसंहार

हमारे देश में कृषि क्षेत्र में संकरित बीजों, रासायनिक खादों तथा सिंचाई के साधनों के विकास के बाद ही हरित-क्रांति सफल हुई है। वन क्षेत्रों में भी इसी प्रकार की हरित-क्रांति लाने के प्रयासों के अन्तर्गत भारतीय वन विज्ञानियों द्वारा पाइन और अन्य उपयोगी वृक्ष जातियों का वृक्षारोपण किया जा रहा है। हमारे नैसर्गिक वनों की उत्पादन क्षमता बहुत कम हो गई है, और यदि पाइन और इतर वृक्ष बढ़ाने का प्रयत्न शीघ्र नहीं हुआ तो हमारी वन संपदा क्रमश: नष्ट होती जायेगी। वन संपदा विनाश के दुष्परिणाम कई क्षेत्रों में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हिमालय के निचले पहाड़ी भाग इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वहाँ बाढ़ तथा भूस्खलन बहुत तीव्र गति से हो रहे हैं। इस विनाश को रोकने के लिए पाइन तथा अन्य जातियों के वृक्ष लगाने की नितान्त आवश्यकता है। इस संबंध में विस्तृत क्षेत्रों में वृक्षारोपण करने की राष्ट्रीय कृषि आयोग की सिफारिश की अवहेलना करने से भविष्य में पारिस्थितिकी का संतुलन हमारी कृषिव्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था का संतुलन बिगड़ जायेगा। ●

VISIT

ASIA BOOK Co.
9 UNIVERSITY ROAD, ALLAHABAD
FOR BOOKS ON
CPMT, IIT, ENGINEERING COLLEGE
ADMISSION TEST & LATEST UNIVERSITY
BOOKS ON SCIENCE SUBJECTS

With the Best Compliments from :

54292
Phone : 52089

SCIENCE CORPORATION
104, Leader Road, Allahabad
Dealers in : Laboratory Chemicals, Scientific Instruments, Microscope, Glasswares etc.
Authorised Stockist :
B. D. H. ; S. M. ; E. Merck ; I. D. P. L. , LOBA ; Ranbaxy :
S. R. L. Chemical ; GETNER Instruments, Sigcol Glasswares,
Blue Star Slides & Cover Glasses.

कृत्रिम रक्त

डा० रजनीकान्त मालोत
8 मोहन कालोनी; बांसवाड़ा, राजस्थान

कई बार रोगी गम्भीर अवस्था में होता है, तब उसे रक्त देने की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन समय पर आसानी से रक्त उपलब्ध न होने पर बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, ऐसी परिस्थितियों में वैज्ञानिकों का ध्यान कृत्रिम रक्त के निर्माण की ओर गया और इसमें बहुत हद तक सफलता प्राप्त हुई।

सरकार ने रक्त की कमी को पूरा करने के लिये "ब्लड बैंक" की स्थापना की, लेकिन समस्या का स्थायी सामाधान नहीं प्राप्त हो सका, इस कारण से भी कृत्रिम रक्त का प्रयोगशाला में निर्माण आवश्यक हो गया।

रक्त से ही शरीर में जीवन का संचार होता है, लेकिन ऑपरेशन के दौरान रक्तस्राव, बीमारियों, दुर्घटनाओं आदि से शरीर में रक्त की मात्रा में बहुत कमी आ जाती है और शरीर में रक्त के यकायक अभाव से रोगी की मृत्यु तक हो जाती है। इस समस्या से निवारण के लिए प्रारम्भ में 'प्लाज्मा सब्स्टीट्युट्स' का प्रयोग होने लगा जिनमें डेक्स्ट्रान, पी० वी० पी० तथा जिलेटीन आदि प्रमुख हैं। रोगी को बचाने और गम्भीर अवस्था में जीवित रखने में प्लाज्मा सब्स्टीट्युट्स का बहुत बड़ा योगदान रहा है, लेकिन प्लाज्मा सब्स्टीट्युट्स और अन्य रासायनिक पदार्थों पर स्थायी रूप से निर्भर नहीं रहा जा सकता। वैसे इन पदार्थों का प्रमुख उद्देश्य रक्त परिसंचरण में रक्त की मात्रा को बराबर बनाये रखना है। हमारे शरीर में रक्त की चार से पाँच लीटर मात्रा होती है। रक्त की मात्रा में यकायक कमी आ जाने पर व्यक्ति को शाक (धक्का) लगता है तथा उसका असामयिक निधन हो जाता है।

पिछले वर्ष जापान के फ़ुकुशिमा मेडिकल सेंटर में 65 वर्षीय कैंसर के रोगी का आपरेशन किया गया। ऑपरेशन के दौरान रोगी के शरीर से घातक रक्तस्राव हो गया, जिससे उसके शरीर में एकाएक रक्त की कमी आ गई। रोगी को देने के लिए उसके ग्रुप का रक्त उस समय कहीं उपलब्ध न हो सका। इस विकट स्थिति में रोगी के सर्जन केन्जीहोंडा ने रोगी को एक लिटर फ्लुरोकार्बन का घोल रक्त के बदले दे दिया और रोगी की जान बच गई। इसके पश्चात् कई डाक्टरों ने कई रोगियों में रक्त की कमी को पूरा करने के लिये इस पदार्थ का उपयोग किया। यही समय था जब फ्लूरोकार्बन को कृत्रिम रक्त के रूप में विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त हो गई।

रक्त का सबसे प्रमुख काम शरीर में ऑक्सीजन को प्रत्येक अंग तक पहुँचाना तथा वहाँ पर इकट्ठी हुई कार्बन डाईआक्साइड को फेफड़ों तक लाना है। प्रोफेसर क्लार्क ने फ्लुरोकार्बन की शरीर में ऑक्सीजन और कार्बनडाइ-आक्साइड ले जाने की क्षमता का अध्ययन किया। उनके अनुसार 100 मिली फ्लुरोकार्बन 50 मिली ऑक्सीजन को घोलकर शरीर में प्रभावित हो सकता है। फ्लुरोकार्बन की शरीर में आक्सीजन ले जाने की क्षमता रक्त में दो से ढाई गुना अधिक है।

फ्लोरीन और कार्बन तत्वों के संयोग से विभिन्न संरचना के फ्लुरोकार्बन यौगिक बनते हैं, कृत्रिम रक्त इसी प्रकार के फ्लुरोकार्बन यौगिकों का सम्मिश्रण है। कृत्रिम रक्त के प्रमुख रूप से दो दोष हैं, पहला यह कि इसमें शरीर में रक्त के साथ घुलने की पूर्णरूप से क्षमता नहीं है, लेकिन हाल ही में दो अमेरिकी वैज्ञानिकों ने इस

[शेष पृष्ठ 12 पर]

क्वार्क : अस्तित्व की चुनौती

राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप

शिक्षा शास्त्र विभाग, ए० पी० एन० डिग्री कालेज, बस्ती

प्रकृति की रहस्यमयता ने मानव को सदैव ही चमत्कृत किया है और साथ ही साथ वह उसे इस रहस्यमयता का आवरण हटाने और वास्तविकता को जानने को प्रेरित करती रही है। आदि काल से मानव प्राकृतिक घटनाओं के कारण जानने का प्रयत्न करता रहा है। इस क्रम में उसने उपकल्पनाएँ बनाईं, प्रयोगों द्वारा इनका परीक्षण किया और सिद्धान्त स्थिर किये—फिर भी कोई अन्तिम सिद्धान्त—जिससे सब कुछ व्याख्यायित हो सके—अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। सम्पूर्ण वैज्ञानिक उपलब्धि इसी दिशा में मानवीय प्रयत्नों के मुख्य बिन्दुओं का लेखा-जोखा है।

इसी क्रम में, प्रकृति की निर्माता इकाइयाँ कौन सी हैं यह चिंतन भी है। सहस्रों वर्ष पूर्व अनाक्सीमीनस ने जब यह उपकल्पना प्रस्तुत की थी कि वायु ही सम्पूर्ण सृष्टि को निर्मित करती है तो उसने इसी दिशा में एक प्रयास किया था। एम्पीडोक्लीज का विश्वास था कि पृथ्वी, वायु, अग्नि और जल के चार तत्वों से यह सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित हुयी है। भारतीय चिंतन में भी पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु को सृष्टि की निर्माण-इकाइयाँ स्वीकारा गया था।

उन्नीसवीं शताब्दी तक इन कल्पनाओं के आपसी द्वन्द्व और उपरोक्त प्रत्येक वस्तु में अनेकों विभिन्न वस्तुओं की उपस्थिति के निरीक्षण ने परमाणु की अवधारणा को निश्चित करने में सहायता दी। अलग-अलग भौतिक और रासायनिक गुणों के वर्गीकरण के आधार पर प्रत्येक तत्व को ऐसे अविभाजित परमाणुओं को निर्मित स्वीकार किया गया जो रासायनिक क्रियाओं में भाग ले सकते थे परन्तु अधिकांश स्थितियों में स्वतन्त्र अस्तित्व रखने में सक्षम नहीं थे।

परमाणु भार के आधार पर तत्वों का वर्गीकरण करते हुये वैज्ञानिक मेंडेलीव ने ज्ञात तत्वों के आधार पर नवीन अज्ञात तत्वों के गुणों के संबंध में भविष्यवाणियाँ कीं और ऐसा लगा कि मेण्डेलीव की आवर्त सारिणी में सृष्टि का रहस्य भेदन करने की कुंजी मिल गई है।

बीसवीं शताब्दी में परमाणु के संबंध में जो अवधारणा उभरी, उसके अनुसार परमाणु के मध्य में अत्यन्त भारी सूक्ष्म धनावेशित केन्द्रक होता है और उसके चारों ओर गणितीय-निश्चित कक्षाओं में इलेक्ट्रान नामक ऋणावेशित कण गतिशील होते हैं। किसी परमाणु में स्थित ऋणावेशित इलेक्ट्रानों की संख्या या केन्द्र में धनावेशित प्रोटानों की संख्या 'परमाणु संख्या' कहलाती है और तत्व का वैशिष्ट्य निर्धारित करती है। तत्व के परमाणु भार और परमाणु संख्या का अंतर, केन्द्रक के अनावेशित, प्रोटान के तुल्य भारी न्यूट्रानो की संख्या बताता है। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में प्रोटानों, इलेक्ट्रानों और न्यूट्रानों की इस सृष्टि का आधार-भूत कण स्वीकार कर लिया गया था और इनकी उपस्थिति की पुष्टि भी हो गई थी।

परन्तु अंतरिक्ष में किये गये कास्मिक-किरण प्रयोगों और प्रयोगशाला के केन्द्रक संघात प्रयोगों ने कुछ और आधारभूत कणों की उपस्थिति ज्ञात की। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि छठे दशक के अन्त तक लगभग सौ आधारभूत कणों की सूची बनाई जा चुकी थी। तब ऐसा लगा कि इन कणों से भी सूक्ष्मतर कण होने चाहिए। कैलीफोर्निया इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालाजी के प्राध्यापकों—गेलमैन और ज्वीग—ने गणितीय आधारों पर तीन आधारभूत कणों की कल्पना की और इनके द्वारा सभी ज्ञात कणों की निर्मिति

की व्याख्या कर डाली। आज इन काल्पनिक कणों की संख्या 5 है और इन्हें 'क्वार्क' संज्ञा दी गयी है।

जिस तरह व्याख्या की सुविधा के लिये और गणितीय फलनों की समझ के लिये इलेक्ट्रानों तथा अन्य कणों के लिये गुण-व्याख्या 'स्पिन', 'मिरर', 'इमेज' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया था, उसी प्रकार क्वार्कों के गुणों की व्याख्या 'चार्म' 'फ्लेवर' 'ट्रुथ' और 'ब्यूटी' की शब्दावली के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया। यह स्वाभाविक ही है कि क्वार्कों के संदर्भ में चर्चा करते समय इन शब्दों का अर्थ सामान्य अर्थ से भिन्न होगा। गेलमैन ने तीन प्रकार के (उन्होंने 'फ्लेवर' शब्द का प्रयोग किया) क्वार्कों की कल्पना की थी—ऊर्ध्व (अप), निम्न (डाउन) और विचित्र (स्ट्रेंज)। चूंकि प्रत्येक कण का एक प्रतिकण भी होता है अतः प्रति-ऊर्ध्व, प्रति निम्न और प्रति-विचित्र क्वार्कों का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया। क्वार्क-कण आपस में संयोजित होकर अन्य कण निर्मित करते हैं, उदाहरण के लिये प्रोटान कण की दो ऊर्ध्व और एक निम्न प्रकार के क्वार्कों की सम्मिलित स्थिति माना जा सकता है। जितने भी ज्ञात मेसान और बेरयान कण हैं उन्हें इन क्वार्कों के संयोग से समझाया जा सकता है। इतना ही नहीं कुछ ऐसे आधारभूत कणों के संबंध में भविष्यवाणी भी की जा सकती है, जो ज्ञात नहीं हैं। उदाहरण के लिये, गेलमैन ने तीन विचित्र प्रकार के क्वार्कों के संयोग से एक अज्ञात कण के संबंध में भविष्यवाणी करते हुए उसे 'ओमेगा-ऋण' संज्ञा दी थी, जिसकी पुष्टि न्यूयार्क की ब्रुकहुवेन नेशनल प्रयोगशाला में की गई। इसीलिए 1969 में गेलमैन को नोबुल पुरस्कार भी प्रदान किया गया। परन्तु क्वार्क अभी भी वैज्ञानिकों के जटिल उपकरणों की संवेदनशीलता को चकमा देता रहा था, और प्रायोगिक रूप से यह निश्चित कह पाना कठिन है कि क्वार्क का अस्तित्व वास्तव में है भी अथवा यह केवल एक गणितीय कल्पना है।

1970 में प्रोटानों पर इलेक्ट्रान-किरणों की बौछार के प्रयोगों में यह देखा गया कि जहाँ अधिकांश इलेक्ट्रान-प्रोटान की ओर तीव्र गति से जाकर विलुप्त हो गये, वहीं कुछ इलेक्ट्रान विभिन्न कणों पर परावर्तित भी हुये—सूक्ष्म अध्ययन से अनुमान लगाया गया कि प्रोटान की आकर सीमा के भीतर छोटे-छोटे अन्य कण तैर से रहे हैं। अन्य प्रयोगों के परिणामों से भी प्रोटान के भीतर सूक्ष्म कणों की उपस्थिति का अनुमान लगाया गया है।

भौतिक शास्त्रियों ने अब क्वार्क को अपने उपकरणों की सहायता से खोजने और इसका अस्तित्व सिद्ध करने के प्रयत्न प्रारम्भ किये। परन्तु वह कौन सा गुण है जिसके आधार पर क्वार्क को पहचाना जा सकता है। वास्तव में क्वार्क सम्बन्धी उपकल्पना में क्वार्क कण पर इलेक्ट्रान के वैद्युतिक आवेश का तिहाई आवेश स्वीकार किया गया था। इलेक्ट्रान के आवेश की गणना तो मिलिकन के प्रयोग के द्वारा की जा चुकी थी जिसमें तेल की बहुत छोटी, घर्षण के कारण आवेशित बूंदों को एक वैद्युतिक क्षेत्र के परिवर्तन के द्वारा स्थिर करने का प्रयास किया जाता था। क्वार्क के आवेशयुक्त होने के कारण उसी प्रकार का प्रयोग अधिक जटिलता और संवेदनशीलता के साथ दुहराया गया।

फेयरबैंक का प्रयोग—मिलिकन के प्रयोग में तेल की बूंदों का प्रयोग किया गया था। स्टैन्फोर्ड विश्वविद्यालय के विलियम फेयरबन्क और सहयोगियों ने नायोबियम (परमाणु सं० 41, परमाणुभार 92.61) के ·0001 व्यास के गेंद का उपयोग किया। इस गेंद को परम तापक्रम (—273°C) के निकट तक ठंडा करने के पश्चात् इसे तांबे की दो आवेशित प्लेटों, जिनका सम्बन्ध विद्युत्
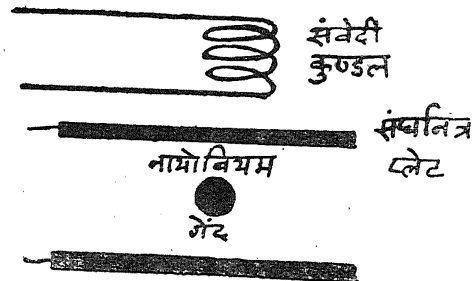
फेयरबैंक के प्रयोग का सैद्धांतिक रेखाचित्र

स्रोत से होता है, के बीच में रखा जाता है। इस स्थिति में यह धातु-गेंद अतिचालक के रूप में व्यवहार करता है और चुम्बकीय धाराओं के बीच तैरने सा लगता है क्योंकि इसका वैद्युतिक प्रतिरोध शून्य हो जाता है। नायोबियम गेंद पर किसी भी विद्युत आवेश की स्थिति में ताँबे की प्लेटों के वैद्युतिक आवेश के कारण (आवेश के समानुपाती रूप में) खिचाव उत्पन्न होता है जिससे गेंद ऊपर-नीचे गति करती है। गति के परिमाण से आवेश की गणना कंप्यूटर द्वारा की जाती है। वास्तव में समस्या की जटिलता इस तथ्य से बढ़ जाती है कि क्वार्क कण का आवेश, इलेक्ट्रान आवेश (1.60×10^{-19} कूलम्ब, या 4.80×10^{-10} ई० एस० यू०) का तिहाई मात्र है।

1977 में ही इस विधि के उपयोग से फेयरबैंक और उनके सहयोगियों ने क्वार्क की उपस्थिति का प्रमाण प्राप्त करने का दावा किया था परन्तु उनकी इस घोषणा को वैज्ञानिकों का समर्थन नहीं मिला। अप्रैल 1981 में फेयरबैंक ने पुन: अपने परिष्कृत प्रयोगों के आधार पर यह विश्वास व्यक्त किया है—इस बार उन्होंने 21 नायोबियम गेंदों से प्रयोग किये हैं और चार गेंदों के प्रयोगों में उन्हें क्वार्क-आवेश परिणाम प्राप्त हुये हैं—परन्तु वैज्ञानिकों की प्रतिक्रिया अभी भी उनके परिणाम के सम्बन्ध में सकारात्मक नहीं है।

बाहर स्वतन्त्र क्वार्क के न प्राप्त होने की घटना को 'परिरोध' से समझाने का प्रयत्न किया गया है—इसके अनुसार क्वार्क कणों की निकटता की स्थिति में उनके बीच कार्य करने वाला आकर्षण बल अत्यन्त न्यून होता है, परन्तु जैसे ही दूरी बढ़ती है यह बल अत्यधिक बढ़ जाता है। अत: एक क्वार्क को दूसरे क्वार्क अथवा प्रति-क्वार्क से अलग करने में अत्यधिक ऊर्जा की आवश्यकता पड़ेगी। यह ऊर्जा इतनी अधिक होती है कि इस प्रक्रिया में क्वार्क का एक नवीन युग्म उत्पन्न हो जाता है।

क्वार्क-कणों की खोज विश्व में अन्य वैज्ञानिकों द्वारा भी की जा रही है। इटली में गियाकामो मारपुरगो लोहे के छोटे बेलनों से और वर्जीनिया विश्वविद्यालय के क्लाउस जियूक स्टेनलेस स्टील की गेंदों से, फेयरबैंक से मिलते-जुलते उपकरणों द्वारा क्वार्क की उपस्थिति की पुष्टि करने को प्रयत्नशील हैं। इसी प्रकार लारेन्स बर्कले प्रयोगशाला में ग्रेग हर्श और उनके साथी जेट-स्प्रे तकनीक का प्रयोग करके क्वार्क की तलाश में लगे हैं। देखें कौन वैज्ञानिक क्वार्क के अस्तित्व को अपने वैज्ञानिक उपकरणों की संवेदनशीलता की पकड़ में लाने में सफल होता है! ●

[पृष्ठ 9 का शेषांश]

समस्या का हल ढूंढ़ निकाला है। उन्होंने एक विशेष प्रकार के फ्लुरोकार्बन का निर्माण किया है जो रक्त में पूर्णरूप से घुलनशील है और जिसे पर-फ्लुरोकेमिकल्स कहते हैं।

फ्लुरोकार्बन का दूसरा प्रमुख दोष यह है कि यह पदार्थ शरीर में जिगर, तिल्ली आदि अंगों में जमा होने लगता है, जिससे इन अंगों की सामान्य उपापचय क्रिया को बहुत प्रभावित करता है।

पिछले वर्ष जापान के एक व्यक्ति ने प्रयोग रूप में अपने शरीर में 50 मिली० फ्लुरोकार्बन प्रवाहित किया, इसके पश्चात् कई व्यक्तियों ने स्वयं अपने शरीर में फ्लुरोकार्बन प्रवाहित करवाया। जानवरों पर भी कृत्रिम रक्त के प्रयोग बहुत सफल सिद्ध हुए। यह भी देखने में आया कि उनके शरीर और स्वास्थ्य पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ा।

अमेरिका की एक कम्पनी ने ऐसा कृत्रिम रक्त तैयार किया है, जिसे दोषरहित बताया जाता है। इस कृत्रिम रक्त को फ्लुओसोल-डी० ए० के नाम से जाना जाता है। फ्लुओसोल डी० ए० मुख्य रूप से फ्लुरोकार्बन और पर-फ्लुरोकेमिकल्स का सम्मिश्रण है, जो 65 दिनों के भीतर पसीने और श्वसन क्रिया द्वारा शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है।

कृत्रिम रक्त को सुरक्षित रखने के लिये किसी तरह के विशेष वातावरण की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसके विपरीत रक्त को सुरक्षित रखने के लिये विभिन्न उपायों और उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है।

आशा की जाती है कि आने वाले समय में कृत्रिम रक्त से रक्त की कमी को पूरा किया जा सकेगा। साथ ही युद्ध के दौरान सैनिक स्वयं की जीवन रक्षा हेतु कृत्रिम रक्त का उपयोग कर सकेंगे। हो सकता है कि भविष्य में कृत्रिम रक्त साधारण दवाओं की तरह आसानी से उपलब्ध होने लगे और इसका उपयोग आम बात हो जाये। ●

वृक्ष का मूल्य

प्रो० टी० एम० दास

बोटैनिकल सर्वे आफ इण्डिया, कलकत्ता

मनुष्य के दैनिक जीवन की अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति तो पौधों द्वारा होती ही है इसके साथ ही साथ पर्यावरण को शुद्ध रखने में भी वृक्षों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। परन्तु अभी तक जो मूल्य एक वृक्ष का हम जानते हैं वह उसके मूल्य से बहुत ही कम होता है। वस्तुत: वृक्षों का सही मूल्यांकन अभी तक नहीं किया जा सका है। हमारी यह भूल केवल वृक्षों के सही मूल्य को कम नहीं करती वरन उनके विनाश के लिए भी उत्तरदायी है।

आश्चर्य तो तब होता है जब कि एक बैल का मूल्य आंकते समय हम उसके जीवन काल में उससे प्राप्त सेवाओं का भी मूल्यांकन करते हैं परन्तु वहीं पर हम वृक्षों के संबंध में केवल प्राप्त लकड़ी, फल या कुल 'बायोमास' का ही मूल्यांकन करते हैं। क्या यह अनुचित नहीं है? यदि हम एक वृक्ष के जीवन काल में उससे प्राप्त अन्य उपलब्धियों को भी ध्यान में रखें तो एक वृक्ष का मूल्य उसके वर्तमान आंके गए मूल्य से 300 गुना अधिक होगा।

वृक्षों को निम्न तीन समूहों में बांटा जा सकता है :

1. छोटे पेड़ जिनका कुल भार (जड़, तना, शाखाएँ व पत्तियाँ मिलाकर) 5 टन तक होता है।

2. मध्यम आकार के वृक्ष जिनका भार 5 से 50 टन तक होता है।

3. बड़े पेड़ जिनका कुल भार 50 टन से अधिक होता है। सबसे बड़े पेड़ (सिकोया जाइगेन्शिया—Sequoia gigantia) का वजन 6,167 टन मापा गया है।

आइए, हम देखें कि एक मध्यम आकार के वृक्ष का जो 50 वर्ष के अपने जीवन काल में 50 टन भार प्राप्त करता है, वास्तविक मूल्य क्या होगा ?

(i) **आक्सीजन का उत्पादन :** पौधों में भोजन बनाने या "फोटोसिन्थेसिस" की प्रक्रिया के फलस्वरूप ग्लूकोज (शर्करा) के एक अणु की रचना के साथ 6 अणु प्राणवायु (ऑक्सीजन) के निकलते हैं। इस ऑक्सीजन का कुछ भाग पौधे द्वारा प्रयोग कर लिया जाता है, परन्तु ऑक्सीजन के उत्पादन की दर पौधे के उपयोग की दर से बहुत अधिक होती है जो कि वातावरण में एकत्र होती रहती है। यही ऑक्सीजन जन्तुओं द्वारा सांस लेने में उपयोग की जाती है।

इस प्रकार एक औसत 50 टन के वजन वाले पेड़ से कम से कम 1 टन (पौधे की जाति और वातावरण के आधार पर) आक्सीजन का उत्पादन प्रतिवर्ष होता है। आक्सीजन की इस मात्रा का मूल्य (पाँच रुपए प्रति कि० ग्राम की दर से) लगभग 5000 रुपए होता है। इस प्रकार एक वृक्ष अपने औसत 50 वर्ष के जीवन काल में कुल 2,50,000 रुपये मूल्य की प्राणवायु का उत्पादन करता है। इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि हम अभी तक इतने बड़े स्तर पर ऑक्सीजन का उत्पादन करने में सक्षम नहीं हैं। यदि हमें यह ऑक्सीजन क्रय करनी होती तो शायद अपनी संपूर्ण आय का भुगतान करके भी हम अपनी आवश्यकता के अनुरूप ऑक्सीजन प्राप्त न कर पाते।

(ii) **वायु प्रदूषण का निवारण :** अभी तक वायु प्रदूषण के निवारण के लिए मुख्यतया हमें वृक्षों पर ही

निर्भर रहना पड़ता है। यदि कृत्रिम ढंग से यह कार्य हम संपादित करना चाहें तो कम से कम 10,000 रुपया प्रति वृक्ष, प्रतिवर्ष की दर से 50 वर्ष की आयु वाले एक वृक्ष से कुल 5,00,000 रुपए की बचत होती है। वायु प्रदूषण के निवारणार्थ लगाए जाने वाले कृत्रिम संयंत्रों से किसी न किसी दूसरे प्रकार के प्रदूषण की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है।

(iii) **भूमि के कटाव व उर्वरक तत्वों की रक्षा :** एक औसत वृक्ष अपनी जड़ों के द्वारा लगभग 100 वर्गमीटर की मिट्टी को कटाव से रोकता है। इसके अतिरिक्त पत्तियों इत्यादि द्वारा कार्बनिक तत्व प्रदान कर भूमि की उपजाऊ शक्ति को भी बढ़ाता है। वृक्षों के अभाव में कटाव के कारण तमाम मिट्टी नदियों की तह में जमा होकर उनको छिछला बना देती हैं, जिसके फलस्वरूप बाढ़ का प्रकोप और भी भयंकर हो जाता है। इस कार्य के लिए कम से कम 5000 रुपए प्रतिवर्ष के हिसाब से 50 साल में 2,50,000 रुपए व्यय होना है।

(iv) **जल प्रतिचक्रण तथा आर्द्रता को नियन्त्रित करना :** पौधों द्वारा जल की एक बहुत बड़ी मात्रा अबाध रूप प्रतिचक्रित होती रहती है। एक ग्राम शुष्क पदार्थ के उत्पादन में 300 से 1000 ग्राम तक भूगर्भीय जल पत्तियों की सतह से उत्स्वेदित होता है। जल की यह मात्रा जमीन की सतह पर वृक्ष के आधार के क्षेत्र से निकाली गई जल की मात्रा से कहीं अधिक होती है। इस उत्स्वेदित जल से आर्द्रता में वृद्धि होती है तथा वातावरण का तापमान घटता है। यही बादल के बनने व जल वृष्टि का कारण भी होता है।

पौधों की अनुपस्थिति में अगर यह कार्य हम स्वनिर्मित मशीनों की सहायता से करना चाहें तो प्रारंभिक लागत को छोड़कर मात्र कार्य संपादित कराने का कुल खर्च लगभग 6000 रुपया प्रतिवर्ष के हिसाब से 50 वर्ष में 3,00,000 रुपया होता।

(v) **पक्षियों व अन्य जीवजन्तुओं की सुरक्षा :** औसत रूप से 10 जोड़े चिड़ियों, 6 जोड़े गिलहरियों, अनेकों कीड़े-मकोड़ों तथा निम्न वर्ग के पौधों जैसे शैवाल, कवक, लाइकेन्स आदि एक मध्यम श्रेणी के वृक्ष के नीचे शरण पाते हैं। यदि हमको इन जन्तुओं को कृत्रिम ढंग से पालना होता तथा पौधों को उगाना होता तो व्यय लगभग 5000 रुपया प्रतिवर्ष के हिसाब से 50 साल में कुल खर्च लगभग 2,50,000 रुपया होता।

(vi) **प्रोटीन का रूपान्तरण :** एक मध्यम वृक्ष से औसत रूप में दो बच्चों की दैनिक भोज्य सामग्री का उत्पादन होता है। ये बच्चे औसतन साल के अंत में 25 किलोग्राम के होंगे। इस प्रकार उनके शरीर में औसत मांस का मूल्य 400 रुपया होता है। अर्थात् हरे पदार्थ का रूपान्तरण जीव प्रोटीन में करके पौधे ने 400 रुपए प्रतिवर्ष की बचत की। इस प्रकार पौधे ने 50 वर्ष में कुल 20,000 रुपए की बचत की।

इस प्रकार औसतन 50 टन भार वाले एक वृक्ष द्वारा जिसकी औसत आयु 50 वर्ष की हो, समाज को कुल लाभ (लकड़ी, फल, इत्यादि छोड़कर) लगभग 15,70,000 रुपये होता है।

यह गणना एक औसत वृक्ष के हिसाब से है। यूं तो वृक्ष बहुधा 100 से 200 वर्ष तक जीवित रहते हैं। कुछ वृक्ष 400-500 वर्ष तक और **सिकोया जाइगेन्सिया** (रेड-उड) नामक पौधे तो 2000-3000 वर्ष तक जीवित रहते हैं।

आज के बाजार भाव के हिसाब से एक औसत वृक्ष का अधिक से अधिक मूल्य 5000 रुपए होता है, जो कि उसके वास्तविक मूल्य का 0.3 प्रतिशत है। एक वृक्ष को काटने से हुई क्षति एक ऐसी क्षति होती है जिसकी पूर्ति नहीं की जा सकती है।

परन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी बढ़ गई हैं कि यह विनाश लीला दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है। हाल ही में आई० यू० सी० एन० के आँकड़ों के अनुसार लगभग 20,000-30,000 जातियाँ (कुल पौधों की जातियों का 10 प्रतिशत) लुप्त होने की दिशा में हैं। मिसूरी बोटैनिक गार्डेन, अमेरिका के निदेशक, डा० पी० एच० रावेन के अनुसार वृक्षों की एक लुप्त होने वाली जाति के साथ 10-30 तक अन्य आश्रित जन्तुओं की जातियाँ लुप्त हो जाती हैं।

● (**अनुवादक : डा० रमेश चन्द्र श्रीवास्तव**
बोटैनिकल सर्वे आफ इण्डिया, सेन्ट्रल सर्किल, इलाहाबाद)

न्यूट्रान बम

गुणाकर मुले
दिल्ली

अमेरिका द्वारा न्यूट्रान बम बनाने की घोषणा के बाद सम्पूर्ण विश्व में इसकी तीखी आलोचना हुई है। विरोध का स्वर मुखर करने वाले देशों में रूस अग्रणी रहा, किन्तु रीगन सरकार की ज़िद पर अड़े रहने के कारण रूस ने भी न्यूट्रान बम बनाने का निर्णय किया है। मानव के इतिहास का वह सबसे दुर्भाग्यपूर्ण दिन होगा जिस दिन युद्ध में न्यूट्रान बम का उपयोग किया जावेगा। मानवता के हित में हम इसका कड़ा विरोध करते हुये यह आशा करते हैं कि अंततः मानव की विवेकबुद्धि इसके संभावित खतरे को देखते हुये ऐसा नहीं करने देगी। —संपादक

परमाणु की धारणा 2500 वर्ष पुरानी है परन्तु न्यूट्रान की खोज को अभी पचास साल भी पूरे नहीं हुए। 1902 में सर्वप्रथम अँग्रेज़ी वैज्ञानिक विलियम सुथरलैंड ने अपने लेख में 'न्यूट्रान' शब्द का प्रयोग किया था, परन्तु परमाणु के नाभिक के भीतर न्यूट्रान की खोज 1932 में ही सम्भव हो पाई। अंग्रेजी वैज्ञानिक जेम्स चैडविक को इस खोज के लिए नोबेल पुरस्कार मिला।

वस्तुतः न्यूट्रान की खोज के बाद ही नाभिकीय ऊर्जा के युग का उद्घाटन हुआ और एक नया विज्ञान अस्तित्व में आया जिसे **न्यूट्रान भौतिकी** कहते हैं। न्यूट्रान कणों से ही परमाणु के नाभिक को भेदना सम्भव हुआ—पहले 'एटम बम' और बाद में 'हाइड्रोजन बम' का निर्माण सम्भव हुआ। न्यूट्रानों के द्वारा ही परमाणु भट्ठियों में नाभिकीय ऊर्जा पैदा होती है और फिर यह ऊर्जा बिजली में रूपान्तरित की जाती है। न्यूट्रानों के कारण ही हमें विविध प्रकार के रेडियमऐक्टिव तत्व प्राप्त होते हैं। संक्षेप में, न्यूट्रान कण ही परमाणु ऊर्जा के स्रोत के जनक हैं।

और अब बड़े पैमाने पर ऐसे नाभिकीय युद्धास्त्र तैयार किये जावेंगे जो भारी मात्रा में विशुद्ध न्यूट्रान कण उत्पन्न करेंगे। अब एक और हथियार अस्तित्व में आ गया है जिसका नाम है न्यूट्रान बम। इससे न केवल मानव जाति के विनाश का खतरा है वरन् धरती के समूचे जीव जगत का नामोनिशान मिट सकता है। नाभिकीय युद्धास्त्रों ने समूची मानव जाति को महाविनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। अनेक वैज्ञानिकों का तो यहाँ तक मत है कि अब तक जितने नाभिकीय युद्धास्त्रों का परीक्षण हो चुका है और जितनी रेडियमऐक्टिवता फैली है, वही अन्ततोगत्वा समूची मानवजाति के लिए एक भयंकर खतरा सिद्ध होकर रहेगी।

न्यूट्रान क्या है?

यों तो परमाणु के भीतर बहुत सारे कण खोजे गये हैं पर इनमें तीन मुख्य कण हैं—प्रोटान, न्यूट्रान और इलेक्ट्रान इनमें से प्रोटानों तथा न्यूट्रानों से परमाणु का नाभिक बनता है। यदि दस करोड़ परमाणुओं को एक पंक्ति में रखा जाय तो उस पंक्ति की लम्बाई एक सेंटी-

मीटर से अधिक नहीं होगी। परमाणु के भीतर उसका नाभिक बहुत कम स्थान घेरता है, परमाणु का विस्तार उसके नाभिक से करीब दस हजार गुना अधिक होता है। अतः हम सहज ही अंदाज लगा सकते हैं कि न्यूट्रान या प्रोटान कितने सूक्ष्म कण हैं।

परमाणु के भीतर अधिकांश कण या तो धनावेशी हैं या ऋणावेशी। न्यूट्रान न तो धनावेशी है, न ऋणावेशी। यह एक आवेशरहित कण है और आवेशरहित होना ही न्यूट्रान की सबसे बड़ी विशेषता है। प्रोटान और न्यूट्रान परस्पर शक्तिशाली नाभिकीय बल के द्वारा जुड़े रहते हैं जो गुरुत्वाकर्षण से खरबों गुना अधिक शक्तिशाली है। प्रोटान धनावेशी कण है और इलेक्ट्रान ऋणावेशी कण। न्यूट्रान आवेशरहित कण होने के कारण इलेक्ट्रानों के व्यूह को भेद कर परमाणु के नाभिक को तोड़ने में समर्थ हैं। इस प्रक्रिया में परमाणु के नाभिक में से एकाधिक नए न्यूट्रान कण बाहर निकलते हैं और परमाणु का स्वरूप भी बदल जाता है। अर्थात् न्यूट्रान कण परमाणु के भीतर प्रवेश करके उस परमाणु की मूलभूत रचना को ही बदल देते हैं। और ठीक इसी तथ्य में न्यूट्रान की विनाशक शक्ति का रहस्य निहित है। न्यूट्रान बम के विस्फोट में पैदा होने वाले न्यूट्रान कण करीब एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र के समूचे जीव जगत को यहाँ तक कि सूक्ष्म जीवाणुओं को भी पूर्णतः नष्ट कर देंगे, भले ही यह प्रक्रिया कुछ धीमी रफ्तार से हो। चूंकि एटम बम या हाइड्रोजन बम की तरह इस न्यूट्रान बम में महाविस्फोट नहीं होगा, इसलिए सम्पत्ति को भी कोई क्षति नहीं पहुँचेगी।

न्यूट्रान बम : साफ सुथरा एवं सस्ता बम

पेण्टागन के युद्ध प्रचारक न्यूट्रान बम को 'साफ सुथरा' बम कहते हैं। यद्यपि जीव-जन्तु नष्ट होंगे और मनुष्य मरेंगे परन्तु उनका खून नहीं बहेगा, उनकी हड्डियाँ नहीं टूटेंगी।

इसी प्रकार वे न्यूट्रान बम को 'सस्ता' बम कहते हैं क्योंकि अमरीकी करदाताओं के एक करोड़ डालर अब पहले से कहीं अधिक आदमियों को मौत के घाट उतार देने में समर्थ होंगे। कम से कम खर्च में अधिक से अधिक आदमियों की जानें लेने वाले इस नाभिकीय बम का यह नाम कितना अनुपम है!!

न्यूट्रान बम, हाइड्रोजन बम का ही एक विशिष्ट रूप है। अमेरिका में तो न्यूट्रान बम अब निर्माणाधीन है ही सोवियत संघ के लिए भी इनके निर्माण में कोई कठिनाई नहीं है। चीनी नेताओं ने अपनी नीति कार्टर की घोषणा के समय ही स्पष्ट कर दी थी। वे न्यूट्रान बम को एक बुरा युद्धास्त्र नहीं समझते और इस बार तो उन्होंने अमरीकी घोषणा का खुल कर ही समर्थन किया है। स्पष्ट है कि चीन न्यूट्रान बम के निर्माण की तैयारी में है। देर-सबेर दूसरे देश भी इस होड़ में भाग लेंगे।

नाभिकीय बमों के निर्माण के लिए हम वैज्ञानिकों को दोषी नहीं ठहरा सकते। दूसरे महायुद्ध के बाद पूरी दुनिया के चोटी के वैज्ञानिकों ने इस बात के लिए खूब प्रयत्न किए थे कि परमाणु ऊर्जा के उत्पादन पर एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का नियन्त्रण रहे लेकिन इसमें उन्हें यश नहीं मिला। महान् वैज्ञानिक ओपेनहाइमर ने हाइड्रोजन बम के निर्माण में सहयोग देने से इंकार कर दिया। फ्रांस में यूलियो-क्यूरी ने भी यही किया। परमाणु युद्धास्त्रों के खतरों को वैज्ञानिकों ने ही सबसे अधिक उजागर किया।

● साप्ताहिक हिन्दुस्तान 30 अगस्त 1981 से साभार

कुत्ते : कितनी तरह के

● संकलित

डनमार्क की अजीलियन सभ्यता की खुदाई में कुत्ते के अवशेष मिले हैं जो अनुमानत: 6000-8000 ई० पू० के हैं। मेसोपोटामिया की घाटी में भी कुत्तों के अवशेष मिले हैं किन्तु यह कहना कठिन है कि पहला कुत्ता कहाँ मिला था। हाल ही में इजराइल में 2000 वर्ष पुरानी एक कब्र मिली है जिसमें दफनाए गए व्यक्ति के शव के साथ ही कुत्ते का भी शव मिला है।

प्राचीन चीनी चित्रकला में कुत्ते की छवि अंकित पाई जाती है। प्राचीन मिस्री और फारसी चित्रकला में भी कुत्ते का चित्रण है। नील नदी की घाटी में 2900 ई० पू० की एक कब्र पर ग्रेहाउण्ड कुत्ते का चित्र उत्कीर्ण है। उस समय मिस्र के बादशाह फर्राओ कुत्ते पालते थे। प्राचीन काल में अफ्रीका में सभी जगह कुत्ते पाये जाते थे। भूमध्यरेखीय प्रदेशों में रहने वाली पिगमी जन जातियों में अभी भी कुत्ते बहुतायत से पाये जाते हैं। यूरोप में कुत्तों का प्रचलन काफी पुराना रहा है। व्यापारी लोग जहाँ कहीं भी व्यापार के लिए जाते थे, अपने साथ कुत्ते ले जाते थे। इंग्लैंड अत्यन्त प्राचीन काल से कुत्तों का शौकीन रहा है। कुत्तों के बारे में सबसे पहले वहीं 16वीं शती में जान काइयस नामक व्यक्ति ने लिखा है। गोरे लोग जब अमरीका पहुँचे तो वहाँ भी वे कुत्ते लेते गये लेकिन वहाँ के आदि कबीलों के पास पहले से अपने कुत्ते थे। भारत में कुत्ते मध्य एशिया से मुगलों द्वारा लाये गये जिनमें ग्रेहाउण्ड विख्यात था। यहाँ के राजाओं एवं नवाबों ने इसी नस्ल को प्रमुखता दी। यह कुत्ता विशेष रूप से शिकार के लिए पाला जाता रहा। यह खरगोश को पकड़ लेता था, हिरन और सुअर को मार डालता था और मोर को भी पकड़ लेता था। अंग्रेज अपने साथ अल्सेशियन, टैरियर तथा लेब्रेडार नस्ल के कुत्ते भारत लाए। भारतीय राजाओं महाराजाओं को अंग्रेजी नस्ल के कुत्ते पसन्द आये।

हिन्दू धर्म के अनुसार कुत्ता भैरव का वाहन माना जाता है और वह युधिष्ठिर के साथ स्वर्ग तक पहुँचा है। इससे लगता है कि भारत में भी कुत्ता अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान रहा होगा।

नस्लें

दुनिया भर में कुत्तों की छ: नस्लें पाई जाती हैं। —ग्रेहाउण्ड, ट्रू हाउण्ड, बर्ड डाग, टैरियर, मस्टिफ तथा शेफर्ड डाग। इनमें से ग्रेहाउण्ड लम्बा, पतला और अत्यन्त फुर्तीला होता है। इसका मूल स्थान मेसोपोटामिया है। आज भी वहाँ यह सलूकिस या गजेला के नाम से पाया जाता है।

ट्रू हाउण्ड जानवरों के शिकार के काम में लाया जाता है। इसकी घ्राण शक्ति बड़ी तेज होती है। यह सूंघकर शिकार का पता लगा लेता है। इसका मुँह लम्बा तथा कान भी लम्बे होते हैं। बर्ड डाग लम्बे कानों एवं लम्बे बालों वाला झबरा कुत्ता है। टैरियर कुत्ता जानवरों के बिलों में घुस कर खरगोश और लोमड़ी का शिकार करता है। यह अत्यन्त आक्रमक होता है। मस्टिफ जंजीर से बाँधकर रखा जाता है और घर की सुरक्षा से लेकर युद्ध काल में अग्रिम मोर्चों पर उपयोग में लाया जाता है। शेफर्ड डाग, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, गडरियों द्वारा भेड़-बकरियों की सुरक्षा के लिए पाला जाता है।

सेना के कुत्ते : युद्ध काल में कुत्ते गुप्त सूचनाएँ पहुँचाने और ड्यूटी पर तैनात सन्तरियों और सैनिकों की रक्षा करते हैं।

[शेष पृष्ठ 19 पर]

यूजेनिक्स : मानव जाति के सुधार का विज्ञान

राजेन्द्र राय
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

विज्ञान का उद्देश्य मानव समाज के कल्याण में निहित है। मेन्डल के आनुवंशिकता के सिद्धान्तों का उपयोग कर मानव समाज को सुधारना आनुवंशिकता का व्यवहारिक पहलू है। अच्छे आनुवंशिक लक्षणों को प्रोत्साहन देकर तथा बुरे लक्षणों को दूर कर मानव-समाज के स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है।

आनुवंशिकता और वातावरण एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। पालन-पोषण की दशाएँ उसके जीन राशि को बदल तो नहीं सकती पर उसके भावी रूप को बहुत प्रभावित करती हैं। इस विचारधारा को वैज्ञानिक रूप दिया—सर फ्रैंसिस गैल्टन ने, जिनके अनुसार बच्चे का भावी रूप आनुवंशिकी और वातावरण दोनों द्वारा निर्धारित होता है। उन्होंने आनुवंशिकी के ज्ञात सिद्धान्तों का प्रयोग कर मानव समाज को सुधारने का विचार रखा, जिसे जीव विज्ञान की एक नई शाखा, सुजननिकी (Eugenics) या यूजेनिक्स का नाम दिया गया।

यूजेनिक्स के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के कई पीढ़ियों का इतिहास देखा जाता है। निम्न कोटि के लक्षणों की वंशागति पर रोक लगाकर तथा उत्तम लक्षणों को बढ़ावा देकर मानव जाति की पूरी जीन राशि (Germplasm) को सुधारा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं यूजेनिक्स के दो पहलू हैं—निषेधात्मक एवं स्वीकारात्मक (Negative and Positive Eugenics)। निषेधात्मक यूजेनिक्स में बुरे लक्षणों को समाज में बढ़ने से रोका जाता है। इसके लिए मूर्ख, अपराधी और रोगग्रस्त व्यक्तियों की शादी पर रोक लगाने का विधान है, जिससे उन्हें प्रजनन का मौका न मिले तथा उनके घटिया जीन्स समाज में न बढ़ने पायें।

प्राचीन ग्रीस देश में राजाओं ने कोढ़ी, लूले, लंगड़े एवं अन्य अयोग्य व्यक्तियों की शादी पर रोक लगाया था। परिणाम स्वरूप ग्रीस का स्पार्टा नामक राज्य उच्चतम योद्धाओं तथा एथेन्स महान दार्शनिकों के लिए प्रसिद्ध हुआ। पर बाद में ऐसे प्रतिबंधों में ढील दी गयी। उच्च लक्षणों वाले व्यक्तियों में दास-दासियाँ रखने की प्रथा चली जिससे निम्न कोटि के लोगों को प्रजनन का मौका मिला तथा मानव जाति का पतन शुरू हुआ। न्यूयार्क में ज्यूक्स नामक भिखारियों और अपराधियों के वंश की उन्नति हुई। डुगडैल व इस्टैब्रुक ने इस वंश के लगभग 1200 सदस्यों का पता लगाया जिनमें 440 चरित्रहीन, 310 भिखारी 50 वेश्याएँ हुईं, शेष अल्पायु में ही मर गये।

इस प्रकार के घटिया लक्षणों वाले व्यक्तियों को समाज से बाहर किसी निश्चित स्थान में सीमित कर देना चाहिए तथा उनके देशान्तरण पर प्रतिबंध लगाया जाय ताकि उनको अच्छे लक्षणों वाले व्यक्तियों से संयोग का अवसर न मिले। जहाँ तक सम्भव हो समाज में घटिया लक्षणों वाले व्यक्तियों में बंध्यकरण करा दिया जाय। इसके लिए पुरुषों में शुक्रवाहिनियों को काटकर शुक्राणुओं का मार्ग अवरुद्ध कर दिया जाता है जिसे वैसेक्टोमी कहते हैं। इसी प्रकार स्त्रियों में सैल्पिन्जेक्टोमी होता है जिसमें अण्डवाहिनियों को काटकर अंडाणुओं का मार्ग अवरुद्ध कर दिया जाता है या ऐसे घटिया लक्षणों वाले व्यक्तियों के सन्तानों को जन्म से पहले ही गर्भपात द्वारा गिरा दिया जाय।

जैसा कि हमारे हिन्दू समाज में होता आया है सगोत्री विवाह नहीं होते, अन्य धर्मिक संप्रदायों में भी सगोत्री

विवाह पर प्रतिबंध लगाया जाय। एक शाखा के पूर्वजों की संतानों में परस्पर संयोग से घटिया लक्षणों की वंशगति बढ़ जाती है।

यूजेनिक्स का दूसरा पहलू स्वीकारात्मक है जिसमें उत्तम लक्षणों वाले व्यक्तियों को प्रजनन काअधिकाधिक मौका देकर उत्तम लक्षणों की वंशागति को बढ़ा कर समाज को सुधारने की बात कही गयी है। अतः विवाह के लिए साथी का चुनाव दहेज, जातीय, धार्मिक, आदि तुच्छ आधारों पर न होकर उत्तम आनुवंशिक लक्षणों पर होनी चाहिए। गैल्टन ने सिवेशियस वाक नामक गायक से शुरू कर उसके वंश के 136 सदस्यों का पता लगाया। उन्होंने देखा कि 99 पुरुषों में 50 बहुत ही अच्छे गायक हुए। इस प्रकार इनमें गायन का लक्षण वंशागत हुआ।

समाज में उत्तम लक्षणों वाले स्वस्थ व बुद्धिमान व्यक्तियों में समय से शादी तथा बहुविवाह का प्रचार कर उनेक उत्तम जीन राशि का सदुपयोग किया जाय। एच० जे० मुलर नामक वैज्ञानिक ने सन् 1963 में श्रेष्ठतम पुरुषों, नोबेल पुरस्कार विजेताओं आदि के शुक्राणुओं को शुक्राण बैंकों में सुरक्षित रखने का विचार रखा था। अमेरिका जैसे देशों में तो शुक्राणु बैंक खुल भी गये हैं, जिससे स्त्रियों में मनचाहे श्रेष्ठ पुरुष के शुक्राणुओं से कृत्रिम गर्भाधान कराया जा सके। कुछ वैज्ञानिक ऐसे तरीकों का पता लगा रहे हैं कि किसी व्यक्ति के उत्तम जीनी पदार्थ को दूसरे व्यक्ति में स्थानान्तरित कर दिया जाय जबकि लीडरवर्ग जैसे वैज्ञानिकों ने घटिया जीन्स से प्रभावित लक्षणों को विकसित होने से पहले ही समाप्त करने देने का प्रस्ताव रखा है।

इस प्रकार हम समाज में किसी व्यक्ति के कुल का इतिहास जानकर आनुवंशिकता के नियमों के प्रयोग से, सहचर का उत्कृष्ठ चुनाव, उत्तम जीनी राशि का उपयोग, प्रतिभावान छात्रों को आवश्यक सुविधाएँ सुलभ कर तथा घटिया लक्षणों वाले व्यक्तियों पर वैवाहिक प्रतिबंध, संतति नियन्त्रण कर हम मानव समाज का उद्धार कर सकते हैं।□

[पृष्ठ 17 का शेषांश]

प्रथम विश्व युद्ध में कुत्तों का इस्तेमाल बोझा ढोनेवाली गाड़ी खींचने तथा जख्मी सैनिकों की रखवाली के लिए किया गया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जर्मनी तथा अमरीका ने कुत्तों का विशेष उपयोग किया। इस समय हमारी सेना के पास अल्सेशियन, लेब्रोडार तथा डोबरमैन जैसे कुत्ते हैं। इनमें डोबरमैन सबसे खतरनाक कुत्ता है। इससे बच निकलना बड़ा मुश्किल है। ये सूंघकर चोरी छिपे आए दुश्मनों का पता लगा लेते हैं। कुत्तों में श्रवण शक्ति और घ्राण शक्ति अभूतपूर्व होती है।

पुलिस के कुत्ते : आजकल अपराधियों, चोरों और डकैतों को पकड़वाने में कुत्ते महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। पुलिस कुत्ते को अपराध स्थल पर ले जाती है, कुत्ता अपराधी के पद-चिन्हों को सूंघकर उस ओर जाता है जिधर अपराधी होता है। पुलिस कुत्ता का पीछा करती हुई अपराधी तक पहुँच जाती है।

अंधों के पथ-प्रदर्शक : अमरीका में भीड़ भरी सड़कों को पार करने में नेत्रहीन व्यक्तियों की सहायता करने हेतु कुत्तों को प्रशिक्षित किया गया है। इनकी सहायता से अंधे देश-विदेश की सैर कर सकेंगे।

कुत्तों का प्रशिक्षण : कुत्तों के प्रशिक्षण के लिए ग्वालियर के पास एक स्कूल खुला है। इसके लिए मुख्य रूप से जर्मन शेफर्ड डाग इस्तेमाल होता है। यह प्रशिक्षण 14 सप्ताह का होता है। □

परिषद् का पृष्ठ

पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय जन्मशती समारोह

विज्ञान परिषद्, प्रयाग और डॉ० रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान, इलाहाबाद के तत्वावधान में 5 सितम्बर 1981 को विज्ञान परिषद् भवन में पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय जन्मशती समारोह सुरुचिपूर्ण ढंग से मनाया गया। इस अवसर पर प्रयाग नगरी के गण्यमान्य नागरिक, आर्य समाज के कार्यकर्ता और विभिन्न परिषदों और संस्थानों के प्रतिनिधि आये और उपाध्याय जी को भावभीनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं। इस समारोह के प्रमुख आकर्षण आर्य जगत् के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी ओमानन्द और उपाध्याय जी के यशस्वी पुत्र स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती थे। समारोह की अध्यक्षता प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० यू० एन० सिंह ने किया और संचालन किया डी० ए० वी० इण्टर कालेज, इलाहाबाद के विमलेश जी ने।

समारोह का शुभारम्भ आर्य कन्या कालेज की छात्राओं के द्वारा संस्कृत के श्लोकों के पाठ से हुआ। तत्पश्चात् डॉ० रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान की निदेशिका डॉ० रंगनायिकी ने उपाध्यायजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला और स्वाध्याय संस्थान के कार्य-कलापों का वर्णन किया। इसके बाद श्रीमती उषा ज्योतिष्मती ने अपने सारगर्भित भाषण में उपाध्याय जी के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुये उनकी पुस्तकों और रचनाओं से अवगत कराया।

विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधियों यथा गंगानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ, कम्पनी बाग, प्रयाग के प्राचार्य डॉ० गया चरण त्रिपाठी; भारतीय हिन्दी परिषद्, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रबंध मंत्री डॉ० मोहन अवस्थी; उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ के कार्यकारी उपाध्यक्ष डॉ० रामलाल सिंह; हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद के सहायक सचिव डॉ० रामजी पाण्डेय; गोविन्द वल्लभ पंत इंस्टीट्यूट आफ सोशल साइन्स, इलाहाबाद के डॉ० ए० बी० लाल; विज्ञान वैचारिकी संस्थान के श्री शुकदेव प्रसाद; प्रोग्रेसिव क्लब के डॉ० ओ० पी० भटनागर, प्रसिद्ध होमियोपैथ डॉ० आर० के० कपूर; आर्य समाज इंस्टीट्यूट के डॉ० बाबूराम सक्सेना सहित अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए और उपाध्यायजी को आर्य जगत की महान विभूति बताया।

इस अवसर पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उपकुलपति प्रो० यू० एन० सिंह के कर-कमलों द्वारा उपाध्याय जी द्वारा लिखित कुछेक पुस्तकों (नवीन संस्करणों) का विमोचन हुआ।

प्रो० यू० एन० सिंह ने अपने अध्यक्षीय भाषण में उपाध्यायजी को आर्य समाज के जनक स्वामी दयानन्द सरस्वती के समकक्ष का विद्वान बताया और उनकी सेवाओं के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा की। उपाध्याय जी की उपलब्धियों में उन्होंने उनके सुपुत्र स्वामी सत्य

प्रकाश सरस्वती को प्रमुख बताया जो अपने पिता स्वर्गीय गंगा प्रसाद के कार्य को और भी आगे बढ़ा रहे हैं।

निसंदेह पं० गंगा प्रसाद आर्य जगत की उन महान विभूतियों में से हैं जिन्होंने अपने कार्य से अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की और आर्य समाज को अपना पूरा जीवन होम कर दिया।

उपाध्याय जी का जन्म 6 सितम्बर 1881 को हुआ था। इनके पिता श्री कुंज बिहारी का स्वर्गवास उसी समय हो गया था जब बालक गंगा प्रसाद की आयु केवल 10 वर्ष थी। कठिनाइयाँ उनका मार्ग अवरुद्ध न कर सकीं। पारिवारिक जिम्मेदारियों के कारण उन्हें जीविका के लिए शिक्षण कार्य करना पड़ा किन्तु युवावस्था से ही वे 'आर्य समाज' की ओर आकर्षित हो गये और आजीवन आर्य समाज के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। देश ही में नहीं विदेशों में भी आप आर्य समाज के प्रचार के लिये गये। आप हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी और उर्दू के उच्च कोटि के विद्वान और लेखक थे। हिन्दी में कवितायें, संस्कृत में श्लोक और उर्दू की नज्में भी लिखीं। बहुमुखी प्रतिभा के धनी पं० उपाध्याय की पुस्तकों की संख्या 50 के ऊपर है। इसके अतिरिक्त आपने 100 से अधिक लघु पुस्तिकाओं की रचना की है।

आर्य धर्म के साथ ही उपाध्याय जी ने विज्ञान के अनेक विषयों पर लेख लिखे हैं और उनके विज्ञान संबंधी लेखों को प्रकाशित करने का गौरव विज्ञान परिषद् को है। इस प्रकार स्वर्गीय उपाध्याय जी ने विज्ञान की भी सेवा की है और परिषद् इसके लिए उनका सदैव ऋणी रहेगा।

आज समाज में जिस तीव्र गति से मूल्यों का विघटन हो रहा है, ऐसे समय में उपाध्याय जी के कार्य की प्रासंगिता और भी बढ़ जाती है। इस संदर्भ में विज्ञान परिषद्, प्रयाग के कार्यवाहक उपसभापति, डॉ० रामदास तिवारी के विचार विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ० तिवारी कहते हैं :

"गंगा प्रसाद उपाध्याय जी की आर्य समाज की सेवा विख्यात है। वे हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा के पटु वक्ता एवं लेखक थे। उनके चिन्तन का मूलाधार उनका दर्शन सम्बन्धी अध्ययन था। विज्ञान एवं दर्शन में कभी भेद नहीं किया जाता रहा है। फलस्वरूप हम उपाध्याय जी को प्राचीन वैज्ञानिक परम्परा से जुड़ा हुआ पाते हैं। विज्ञान परिषद् से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'विज्ञान' में 1926-1927 में उनके द्वारा अनूदित "सर्व दर्शन सिद्धान्त संग्रह" धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् 1931 में "प्राचीन भारत की कलायें" शीर्षक लेख भी विज्ञान में छपा। इस प्रकार परिषद् से उनका सम्बन्ध उस काल में था, जब परिषद् हिन्दी को माध्यम बनाकर विज्ञान के प्रचार एवं प्रसार को अपना सर्वस्व बनाये थी। निःसन्देह उपाध्याय जी का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व न केवल आर्य समाज के लिए वरन् विज्ञानियों के लिए भी समान रूप से प्रेरणा देने वाला रहा है। उनके इस शती समारोह में विज्ञान परिषद् की ओर से मैं श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।"

पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय के जन्म की शतवार्षिकी का यह पुनीत अवसर विघटित मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा का पुण्य पर्व बने, यही कामना है। □

विज्ञान वार्ता

संकलन : प्रेम चन्द श्रीवास्तव
वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कालेज,
इलाहाबाद

1. अंतरिक्ष रोबोट द्वारा अन्वेषण-कार्य प्रारंभ

मास्को से प्राप्त एक समाचार के अनुसार रूस द्वारा छोड़े गये स्वचालित अंतरिक्ष रोबोट ने अपना काम शुरू कर दिया है। यह रोबोट पृथ्वी के निकट अंतरिक्ष में होने वाली भौतिक घटनाओं के बारे में सूचना देगा। इसे बल्गारिया की स्थापना की 1300वीं जयन्ती के अवसर पर कक्षा में स्थापित किया गया था। यह 900-1000 कि० मी० की ऊँचाई पर स्थापित अपने ढंग का स्वचालित उपग्रह है। इसके अन्वेषण कार्यक्रम में अयनमंडलीय प्लाज्मा का तथा पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के अन्य घटनाओं और अंतर्ग्रहीय अंतरिक्ष का अध्ययन करना सम्मिलित है। विभिन्न प्रकार का यह अध्ययन कार्य पृथ्वी और सूर्य की परस्पर स्थितियों से संबद्ध विभिन्न कक्षीय स्थितियों में रहते हुए इस स्पूतनिक द्वारा किया जाएगा। इसे इतने त्रुटिहीन ढंग से स्थापित किया गया है कि इससे उपलब्ध होने वाली सूचना भी त्रुटिहीन ही होगी।

इस उपग्रह को विशेष प्रकार से बनाया है। इसमें से पाँच मीटर की दूरी तक छड़ें फैली हुई हैं जिन पर विशेष उपकरण लगाये गये हैं। इस स्वचालित यान पर विशेष प्रकार का अस्तर चढ़ाया गया है जिसके कारण इसके उपकरण और सौर बैटरियाँ सुरक्षित रह सकेंगी और यंत्रों से उत्पन्न होने वाला ताप इसके उपकरणों को क्षति नहीं पहुँचा सकेगा।

इस यान की यंत्र-प्रणाली इस प्रकार की है कि यह पहली बार पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र का उपयोग अपनी स्थिरीकरण प्रणाली के लिए कर सकेगा और इसके इलेक्ट्रोनिक उपकरण विद्युत्-चुम्बकीय प्रभाव से मुक्त रहेंगे।

2. अंतरिक्ष सफलताओं का पृथ्वी पर उपयोग

गत दो दशकों के अनुभव से पता चलता है कि मानव द्वारा अंतरिक्ष अन्वेषण से पृथ्वी पर अर्थतंत्र तथा विज्ञान को बहुत लाभ हुआ है। अंतरिक्ष विज्ञान तथा अंतरिक्ष सफलताओं का आज पृथ्वी पर मानव के हर क्षेत्र में उपयोग किया जाता है।

इनमें एक क्षेत्र है संचार-व्यवस्था। आज मानव के संचार की तीव्र प्रणालियों, टेलीफोन, टेलीग्राफ, टेलीविजन, आदि से विश्व के दूरस्थ भागों से संपर्क बने हुए हैं। सोवियत संघ में 12 वर्ष पूर्व भू-उपग्रह द्वारा संचार व्यवस्था स्थापित की गई थी जिसने बहु-चेनल टेलीफोन, टेलीग्राफ तथा रंगीन टेलीविजन-व्यवस्था के प्रसारण में सहायता की।

अंतरिक्ष तकनालोजी के विकास से आज एकल सूचना के क्षेत्र में (भविष्यवाणी आदि) विश्व में कहीं, किसी भी स्थान पर सूचना प्राप्त की जा सकती है। जहाजरानी के लिए भू-उपग्रहों का निर्माण शीघ्र ही होने वाला है। इन भू-उपग्रहों से संचार-व्यवस्था स्थापित कर जहाज का कप्तान किसी भी समय जहाज की स्थिति, दिशा और उसकी गति आदि का पता कर सकता है। अंतरिक्ष में अनेक परीक्षणों से अनेक नयी धातुओं के बारे में पता चलता है।

सुपर-कंडक्टरों और चुम्बकीय सामग्री के निर्माण में धातु-शोधन विज्ञान का भी बहुत महत्व है। विभिन्न वजन तथा ठोस धातुओं का निर्माण किया गया है जिनका पृथ्वी पर भी उपयोग हो सकता है।

अंतरिक्ष विज्ञान की सहायता से बहु-उद्देशीय उच्च गुणवत्ता वाले शीशे का निर्माण किया गया है। इनका

उपयोग आप्टिकल संचार-व्यवस्था में किया जायेगा। इसके साथ शुद्ध मेडिकल यंत्रों में भी उनका उपयोग होगा।

निर्माण और घरेलू उद्देश्यों के लिए कम्पोजिट सामग्री का निर्माण किया जायेगा जिनका व्यापक रूप से उपयोग किया जा सकेगा। यह सामग्री कंक्रीट से बनी वस्तुओं तथा क्रिस्टलों से भी अधिक मजबूत होगी।

आज विश्व को ऊर्जा-संकट का सामना करना पड़ रहा है। वैज्ञानिकों की राय में 21वीं सदी के दूसरे पूर्वार्द्ध में कम्बुस्टिबल फॉसिल को संग्रहीत किया जा सकेगा। तेल-भंडार जो कोयला भंडारों से कम है, पहले ही समाप्त हो जायेंगे।

ताप-नाभिकीय प्रतिक्रिया को नियंत्रित करने की समस्या का अभी समाधान नहीं हुआ है। अभी कई वर्षों तक विद्युत इंजीनियरी का ही उपयोग होता रहेगा। प्राकृतिक यूरेनियम-238 को जला कर भी नाभिकीय शक्ति प्राप्त की जायेगी। लेकिन इस विधि से बचा कचरा कहाँ फेंका जायेगा ? यह एक गंभीर समस्या है।

अंतरिक्ष में उड़ने वाले स्टेशनों को स्थापित कर उनसे सौर ऊर्जा बनाकर पृथ्वी पर भेजने के लिए कार्य हो रहा है।

अंतरिक्ष से प्राप्त चित्रों से रेगिस्तानों, चरागाहों, मिट्टी, वनस्पति तथा अन्य प्रकार के नक्शे तैयार किये जाते हैं। इन चित्रों की सहायता से विश्व के सबसे बड़े मरुस्थल काराकुम की सीमा-निर्धारण का काम भी संभव हो गया है। इसके अतिरिक्त इन नक्शों की मदद से पर्यावरण सुरक्षा सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में भी सहायता मिलेगी। इस विधि द्वारा कृषि के लिए नयी भूमि की भी सरलता से पता या खोज की जा सकती है।

3. न्यूक्लियर युद्ध के भीषण परिणाम

हिरोशिमा और नागासाकी पर जो एटम बम गिराये गये थे उनकी कुल विस्फोटक क्षमता लगभग 34.5 किलो टन थी। और, आज संसार में जो न्यूक्लियर बम जमा हो गये हैं उनकी कुल विस्फोट क्षमता 5 करोड़ किलो टन से भी ज्यादा है। यह सोवियत संघ और अन्य देशों के वैज्ञानिकों का अनुमान है। इसे दूसरे शब्दों में कहा जाए तो इन न्यूक्लियर बमों की विस्फोट क्षमता हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराये गये बमों की तुलना में 15 लाख गुना ज्यादा है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि आज मानव जाति बारूद के ढेर पर बैठी हुई है।

इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि न्यूक्लियर खतरे के विरुद्ध शांति आन्दोलन इतना व्यापक होता जा रहा है।

सोवियत संघ, अमरीका, जापान, ब्रिटेन आदि अनेक देशों के वैज्ञानिक न्यूक्लियर युद्ध के कुपरिणामों के बारे में ठोस तथ्य और आँकड़े एकत्र करने में व्यस्त हैं और वे जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं वे बड़े भयानक हैं। वायु में एक मेगाटन न्यूक्लियर या परमाणु बम का विस्फोट होने पर 10 लाख की आबादी वाले किसी शहर के 3,00,000 व्यक्ति तो तुरन्त ही मर जाएँगे और 4,00,000 को जलने के गंभीर घाव हो जाएंगे और उन पर विकिरण का स्थायी प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार पाँच में से चार व्यक्ति ऐसे घावों से पीड़ित होंगे जिनका इलाज बहुत कठिन होगा। इसके साथ ही वह शहर बिलकुल ध्वस्त हो जाएगा, महामारी फैल जाएगी और तीन-चौथाई मकान ढह जाएँगे। बचे हुए लोगों की रोग सहन करने की क्षमता बहुत कम हो जायेगी। बिजली, पानी, सफाई, परिवहन और चिकित्सा संबंधी सारी व्यवस्था बिलकुल नष्ट हो जाएगी।

इसमे संदेह नहीं कि न्यूक्लियर युद्ध के भयानक कुप्रभावों से पूरी पृथ्वी प्रभावित होगी और परिस्थिति-विज्ञान, जलवायु आदि संबंधी ऐसे परिवर्तन घटित होंगे कि पृथ्वी पर जीवन का स्वरूप ही बदल जाएगा।

10,000 मेगाटन के न्यूक्लियर विस्फोट के कुपरिणामों की कल्पना ही असंभव है। इससे वायुमंडल में ओजोन की वह परत ही नष्ट हो जाएगी जो पराबैंगनी विकिरण से जीवधारियों की रक्षा करती है। इससे सारी वनस्पति नष्ट हो जाएगी, लोग कैन्सर और ल्यूकेमिया के घातक रोगों से ग्रस्त हो जाएँगे और पृथ्वी के काफी विस्तृत क्षेत्र में बड़े भीषण आनुवंशिक परिवर्तन हो जाएँगे। यही नहीं,

विकरण का कुप्रभाव कई पीढ़ियों तक कायम रहेगा। सामान्य स्थानीय न्यूक्लियर संघर्ष का भी नतीजा यह होगा कि काफी बड़ी संख्या में विकलांग बच्चे पैदा होंगे।

दिसम्बर 1980 में छह सोवियत और अमरीकी वैज्ञानिकों ने जेनेवा में अपनी बैठक में न्यूक्लियर युद्ध की समस्या पर विचार किया था और यह तय किया था कि संसार के सबसे मानवीय धंधे चिकित्सा से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें मिलकर शांति की रक्षा के लिए आगे बढ़ना चाहिये। न्यूक्लियर युद्ध की रोकथाम के लिए चिकित्सकों की पहली अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस गत मार्च में वाशिंगटन में हुई थी, जिसमें ग्यारह देशों के प्रमुख वैज्ञानिकों और चिकित्सकों ने भाग लिया।

वैज्ञानिकों और चिकित्सकों का आन्दोलन बराबर आगे बढ़ रहा है। अप्रैल 1982 में ब्रिटेन में होने वाली अगली कांग्रेस में 40 देशों के चिकित्सकों के भाग लेने की आशा है। इसमें न्यूट्रान हथियारों की समस्या के बारे में भी विचार किया जाएगा। आशा की जानी चाहिये कि युद्ध की ताकतों पर इस आन्दोलन की विजय होगी।

4. वंशानुगत बीमारियाँ : पहचान और निदान

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार विश्व में पांच प्रतिशत बालक जन्म से पैतृक बीमारियों से ग्रस्त होते हैं। अब पैतृक बीमारियों की संख्या 2000 तक पहुँच गई है।

पैतृक रोग-निदान के लिए आनुवंशिक इंजीनियरिंग बहुत ही प्रभावक और लाभदायक है। अनेक मानव जिंसों को संश्लेषित कर लिया गया है और उनको सेलों में पहुँचाने के लिए अवस्थाओं का भी निर्धारण हो गया है। यह सिद्ध हो चुका है कि जिन्स सामान्यतः वहाँ काम करती है। लेकिन आनुवंशिक इंजीनियरिंग के क्षेत्र में कार्य अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। गंभीर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक परीक्षण अभी करने हैं। अभी हमें पैतृक विज्ञान की पूरी तरह जानकारी नहीं है और न ही हमें यह पता है कि आनुवंशिक अतिरिक्त प्रवाह पहुँचाने से जीवाणु-सेल में क्रोमोसोम की क्या प्रतिक्रिया होती है? इसी प्रकार जीन-संश्लेषण की प्रक्रिया सरल तो है परंतु वैज्ञानिक और तकनीकी दृष्टि से। अतः इस समस्या का व्यावहारिक हल अभी भविष्य की बात है। परन्तु हमें आशा है कि इसका हल होगा और तब मनुष्य के पास पैतृक बीमारियों के विरुद्ध शक्तिशाली अस्त्र प्राप्त हो सकेगा।

पैतृक बीमारियों के उपचार के लिए प्रारंभ में रोग का पता लगाना बहुत जरूरी है। उदाहरण के लिए फिनीकेतोनूरिया बहुत ही घातक पैतृक रोग है और 10,000 में से एक व्यक्ति इससे प्रभावित होता है। बचपन से ही यह रोग बढ़ता रहता है और इसका प्रभाव त्वचा पर होता यदि इस रोग का पता रोग होने के एक माह के भीतर लग जाये तब इस रोग का उपचार हो सकता है। इस बात से पता चलता है कि रोग-निरोधक उपाय अधिक सरल और प्रभावकारी होते हैं। रोग का शीघ्रता से प्रारंभिक अवस्था में पता लगाने तथा सही ढंग का आहार देने से बालक को रोग से दूर रखा जा सकता है। आनुवंशिकविद् इस दिशा में दोनों कार्य कर सकते हैं। सोवियत वैज्ञानिकों ने 80 पैतृक बीमारियों का पता लगाने के लिए प्रभावकारी और कम खर्चीले कार्यक्रम तैयार किये हैं।

पैतृक रोगों के लिए "स्क्रीनिंग" करना लाभदायक है जिनका उपचार, थिरेपी विधि द्वारा किया जाता है। लेकिन अभी ऐसे भी रोग हैं जिनका दवा से उपचार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के रोगों का पता जन्म से पूर्व ही लगाना चाहिए। मेडिकल आनुवंशिक विज्ञान की अभी हाल की सबसे बड़ी सफलताओं में है रोग के गुप्त-वाहकों का पता लगाने की विधि का विकास। इन रोगों के वाहक अधिकतर स्वस्थ व्यक्ति में होते हैं जिन्हें अपनी बीमारी के बारे में पता नहीं होता। लेकिन वे रोगी बच्चे को जन्म देते हैं। अतः भावी बच्चों के स्वास्थ्य के बारे में भविष्यवाणी करने में गुप्त परिवर्तित जीन का पता लगाना जरूरी होता है जिसमें विशेष प्रकार का वाल्व होता है। आज आनुवंशिकविदों ने इस प्रकार के कारकों की 200 से अधिक किस्मों का पता लगा लिया है। आज से 15 वर्ष पूर्व हमें इस प्रकार के केवल 15 रोगों के बारे में ही पता था।

रोग की पहचान में त्वरित प्रगति का मुख्य कारण जीव-रासायनिक आनुवंशिक विज्ञान में सफलता प्राप्त

करना है। लेकिन अभी समस्या का पूरी तरह समाधान नहीं हुआ है।

आनुवंशिक विज्ञानविद् जन्म से पूर्व रोगों का पता लगाने की विधियों के विकास-कार्य में लगे हुए हैं।

उदाहरण के लिए, अमिनियोसेंथिस विधि द्वारा, जो आजकल बहुत प्रचलित है, गर्भाधान के 13वें 15वें सप्ताह में गर्भोदक तरल पदार्थ के नमूने द्वारा रोग का पता लगा लिया जाता है। इसमें गर्भस्थ बच्चे के सेल होते हैं। इन सेलों के परीक्षण से क्रोमोसोम रोगों तथा 60 से अधिक उपापचयात्मक (मेटाबोलिक) रोगों का पता लगाना संभव होता है। पैतृक रोगों के परिवारों के इतिहास को देखते हुए इस विधि द्वारा आनुवंशिक रोगों का सही प्रकार से पता लगाया जा सकता है। थिरेपी की विधियों के विकसित हो जाने पर गर्भ में ही भावी बच्चे के रोग का निदान करना संभव हो जायेगा।

5. 1980 के वानिकी साहित्य पुरस्कार

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के डा० वृजगोपाल के ग्रन्थ "पादप पारिस्थिकी और पादप भूगोल के तत्व" को अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना, 1980 में ग्रन्थ पुरस्कारों के अन्तर्गत पांच हजार रुपये का श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार घोषित किया गया है। ढाई हजार रुपये का उत्तम लेखन पुरस्कार ग्रन्थ "वन मार्ग तथा पुल को दिया गया है जिसके लेखक देहरादून के श्री लक्ष्मण सिंह खन्ना, भूतपूर्व भारतीय वन सेवा अधिकारी हैं।

6. अब गन्ने से मोटर चलेगी

संसार के कुछ वैज्ञानिकों और विचारकों ने घोषणा की है कि आज हम ऊर्जा संकट के जिस दौर से गुजर रहे हैं यदि इस समस्या पर काबू न किया गया तो सन् दो हजार एक में लोगों के पास खाने के लिए आटा तो होगा मगर पकाने के लिए ईंधन नहीं। इसी संदर्भ में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के लखनऊ स्थित गन्ना अनुसंधान संस्थान ने महत्त्वपूर्ण खोज-बीन के पता लगाया है कि दुनियाँ की मीठी छड़ी गन्ना कल पैट्रोल के स्थान पर हमारी मोटरें भी दौड़ा सकती है।

विज्ञान की दुनियाँ में असंभव कुछ भी नहीं। यदि चीनी कारखानों से उपलब्ध शीरे को वैक्यूम पॉन से निकाल कर खुले पॉन में बदला जाय तो अवश्य ही इस पदार्थ से ऊर्जा मिल सकेगी। स्पष्ट है कि आज भी शीरे से अल्कोहल या मद्यसार बनाया जाता है।

7. नया पालक : पूसा ज्योति

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली ने पालक की अधिक फलने वाली किस्म "पूसा ज्योति" निकाली है। पालक की यह नई किस्म वर्तमान ऑल ग्रीन किस्म से अधिक उपज देने के साथ-साथ रोग प्रतिरोधी, बड़े आकार की मोटी पत्तियों वाली; अधिक हरी-भरी तथा मुलायम है।

इन्हीं विशेषताओं के कारण इस पालक की पत्तियों को सलाद के रूप में भी खा सकते हैं। इसकी पत्तियाँ इतनी स्वाद से भरपूर होती हैं कि इन्हें कच्चा खा सकते हैं। इन्हें जब पकाया जाता है तब ये जल्दी गल जाती हैं तथा भीनी-भीनी सुगन्धि देती हैं।

"पूसा ज्योति" किस्म का पौधा इतना सूक्ष्म होता है कि बार-बार कटाई के बाद भी शीघ्र ही बढ़ने लग जाता है। यद्यपि इसकी फसल पूरे साल ली जा सकती है लेकिन सर्दी में इसकी पैदावार अधिक होती है। नये पालक की पत्तियों की उपज 48 टन प्रति हैक्टेयर होती है। जबकि मौजूदा किस्म ऑल ग्रीन से केवल 38.7 टन ही उपज मिलती है। □

हिन्दी में वैज्ञानिक विश्वकोश

भारत की संपदा

प्राकृतिक पदार्थ

भारत के प्राकृतिक पदार्थों—वनस्पतियों, खनिजों, प्राणियों के बारे में वैज्ञानिक तथ्यों से परिपूर्ण 'वैल्थ ऑफ इण्डिया-रॉ-मैटीरियल्स' का लगभग 5000 पृष्ठों में परिष्कृत एवं परिवर्धित हिन्दी संस्करण प्रामाणिक जानकारी के लिए हिन्दी अकारादि क्रम में, 10 खण्डों में 'भारत की सम्पदा' नाम से सचित्र वैज्ञानिक विश्वकोश के रूप में प्रकाशित हो रहा है।

लेख किस बारे में है :

भारत की सम्पदा में विशेषज्ञों द्वारा लिखे गये विनिबंधी (मोनोग्राफिक) लेख ऐसे खनिजों, जीवों और पेड़-पौधों के बारे में हैं जिनसे ओषधियाँ, खाद्य-पदार्थ, फसलें, पेय-पदार्थ, फल, नट और मसाले अथवा वसा, तेल, शाक, सगंध तेल, स्वापक, धूमक तथा चर्वणीय पदार्थ या रंग-रोगन, रेशे और लुगदी, प्रकाष्ठ तथा वन उत्पादों आदि में से कोई पदार्थ प्राप्त होता है।

लेखों में क्या मिलेगा

वनस्पतियों की सही पहचान और उनके वैज्ञानिक नामों के साथ भारतीय भाषाओं के प्रचलित नाम मिलेंगे, अतिरिक्त जानकारी प्राप्त करने के लिये संदर्भ ग्रंथों की सूची मिलेगी। संदर्भों के उचित उल्लेख के साथ संभाव्य अद्यतन आंकड़े मिलेंगे। प्रत्येक खण्ड के अंत में उसमें आये भारतीय भाषाओं के नामों की अनुक्रमणिका (इण्डेक्स) मिलेगी, फसल पौधों के बारे में उनकी खेती, कटाई भण्डारण, रोग तथा नाशक जीव और उनका नियन्त्रण मिलेगा। प्राकृतिक पदार्थों के उत्पादों के रासायनिक संगठन तथा उपयोग मिलेंगे और महत्वपूर्ण आर्थिक उत्पादों के भारत में प्राप्ति-स्थान, उत्पादन, आयात, तथा निर्यात के आंकड़े मिलेंगे।

खण्ड	पृष्ठ	शीर्षक	चित्र	मूल्य (रु.*)
प्रथम (अ-औ)	404	723	150	38.00
द्वितीय (क)	446	650	124	36.00
तृतीय (ख-न)	450	501	166	36.00
चतुर्थ (प)	430	312	115	83.00
पंचम् (फ से मेरे)	391	448	103	60.00
पूरक खण्ड				
पशुधन और कुक्कुट पालन	298	145	125	34.00
मत्स्य और मात्स्यिकी	173	...	107	49.00
			योग	336.00

षष्ठम् खण्ड (मेलु-रूबिया) प्रस में तथा खण्ड सात से दस प्रकाशनाधीन

*संस्थाओं और पुस्तकालयों को 10% छूट; पैकिंग और डाक व्यय 15 रु. अतिरिक्त

यह ग्रंथमाला वैज्ञानिकों, उद्योगपतियों, विद्यार्थियों, शिक्षण और अनुसंधान संस्थानों, पुस्तकालयों, विकास अधिकारियों तथा जन साधारण के लिये समान रूप से उपयोगी है।

बिक्री और वितरण अधिकारी

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, सी. एस. आई. आर., हिलसाइड रोड, नई दिल्ली—110012

कैंसर और रसायन

डॉ० बिन्दा प्रसाद

साहू जैन कालेज, नजीबाबाद

'शरीरम् व्याधि मन्दिरम्' अर्थात् शरीर व्याधियों का निवास स्थान है। मनुष्य प्राचीन काल से नाना प्रकार की बीमारियों से आक्रान्त होता आया है। कुछ व्याधियाँ तो कभी-कभी इतना विकराल रूप धारण कर लेती हैं कि उनकी विभीषिका मानव समाज में अव्यवस्था पैदा कर देती है और वे चिकित्सा विज्ञान के लिए चुनौती बन जाती हैं। चिकित्सा विज्ञान ने भी इन चुनौतियों को समय-समय पर बड़े ही साहस और धैर्य से स्वीकारा है और रामवाण ओषधियों का निर्माण कर इनकी सफल चिकित्सा, रोक-थाम एवं कुछ व्याधियों के तो समूल अन्त का श्रेय प्राप्त किया है।

मानव शरीर को व्यथित करने वाली व्याधियों में सबसे दुर्दम्य व्याधि कैंसर है। कैंसर का निदान प्रारम्भिक अवस्था में हो जाने पर इसे वश में किया जा सकता है और इसकी चिकित्सा सफलतापूर्वक की जा सकती है। परन्तु जब कैंसर बढ़ जाता है या रक्त द्वारा एक अंग से दूसरे अंगों में फैल जाता है तो यह असाध्य हो जाता है और इसका अन्त रोगी के जीवन के अन्त के साथ होता है। विश्व में प्रतिवर्ष करोड़ों लोग कैंसर से काल कवलित होते हैं और इसकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

कैंसर क्यों होता है इस प्रश्न का उत्तर अब भी रहस्य बना हुआ है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि खान-पान व्यवस्था में परिवर्तन और रसायनों तथा विकिरणों द्वारा वातावरण प्रदूषण कैंसर की उत्तरोत्तर वृद्धि में मुख्य भूमिका निभा रहे हैं। रसायन एवं विकिरण कैंसर उत्पत्ति में सहायक होने के साथ ही साथ इसकी सफल चिकित्सा में भी महत्वपूर्ण हैं। कैंसर पर किये गये अनुसंधानों से यह स्पष्ट होता है कि कुछ विशेष प्रकार के कैंसर विषाणुजन्य होते हैं। कैंसरजनी विषाणुओं को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा गया है—(1) डी० एन० ए० रखने वाले विषाणु और (2) आर० एन० ए० रखने वाले विषाणु। विषाणुजन्य कैंसर की रोक-थाम टीके के प्रयोग से की जा सकती है परन्तु दुर्भाग्यवश अभी तक किसी निश्चित प्रतिकैंसर टीके का आविष्कार नहीं हो सका है। वैज्ञानिक इस दिशा में कार्यरत हैं और इनमें सफलता मिल जाने पर मानव समाज कैंसर की भयावह विभीषिका से राहत की साँस ले सकेगा।

लक्षण एवं निदान—स्वस्थ मानव के शरीर में वृद्धि एवं विक्षत कोशिकाओं की पूर्ति हेतु नई कोशिकाओं का निर्माण सामान्यतः आवश्यकतानुसार नियमित रूप से होता रहता है परन्तु कैंसरग्रस्त रोगियों के शरीर के किसी विशिष्ट भाग में शरीर पदार्थ के कोशिकाओं की वृद्धि असाधारण एवं अनियमित हो जाती है जिसके फलस्वरूप शरीर के भीतर का सन्तुलन बिगड़ जाता है, स्वास्थ्य गिरने लगता है और सम्बन्धित भाग में सूजन, ग्रन्थि अथवा अर्बुद का निर्माण हो जाता है।

आमाशय, आँत एवं पैंक्रियाज में कैंसर निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में कामला के लक्षण प्रगट होते हैं। मस्सों से रक्तस्राव, न भरने वाले पीड़ायुक्त अर्बुद, मल-मूत्र एवं पाचन की आदतों में परिवर्तन, कष्टदायक खाँसी एवं उसमें खून का आना, भोजन निगलने में कठिनाई, स्त्रियों में मासिक धर्म के समय अथवा उससे हट कर अधिक रक्तस्राव, पुराना श्वेत अथवा रक्त प्रदर, स्तनों में दुखदाई गाँठें आदि कैंसर के सामान्य लक्षण हैं।

कैंसर के निदान का मुख्य उपाय जीवोति परीक्षण या बायाप्सी है, इसमें अर्बुद अथवा सम्भावित कैंसर ग्रसित अंग का कुछ भाग काट कर इसके कोशिकाओं की जाँच सूक्ष्मवेक्षक यंत्र द्वारा की जाती है। सूक्ष्मवेषक यंत्र से देखने पर पता चलता है कि कैंसरग्रस्त ऊतकों में कोशिकाओं का वितरण अपेक्षाकृत कम व्यवस्थित होता है और कैंसरग्रस्त कोशिकाओं की बनावट साधारण कोशिकाओं की बनावट से भिन्न होती है। ऐसी कोशिकाओं की माइटोकान्ड्रिया सूजी हुई, केन्द्रक बढ़ा हुआ और जीवद्रव्य में विभिन्न वाह्य पदार्थों की उपस्थिति पाई जाती है। अतिसूक्ष्म परीक्षण से पता चलता है कि साधारण कोशिकाओं की तुलना में कैंसरग्रस्त कोशिकाओं में कैल्सियम एवं पोटैशियम आयनों की सान्द्रता, मुक्त मूलक व्यवहार तथा जैविक जल की मात्रा में वृद्धि और पोटैशियम के समस्थानिकों की सान्द्रता के अनुपात में भिन्नता पाई जाती है।

जीवोति परीक्षण के अतिरिक्त शारीरिक एक्स-रे एवं रक्त परीक्षण भी कैंसर के निदान में सहायक हैं। एण्डॉस्कोपी एवं थर्मोग्राफी विधियाँ कुछ विशेष प्रकार के कैंसर के निदान में प्रयुक्त होती हैं।

व्यक्तिगत कैंसरग्राहिता—कैंसर का प्रकोप किसी भी व्यक्ति को किसी भी समय तथा शरीर के किसी भी भाग में हो सकता है। साधारणतः यह रोग प्रौढ़ावस्था में 40 वर्ष की उम्र के बाद होता है परन्तु एक विशेष प्रकार का रक्त कैंसर, ल्यूकेमिया, 3-4 वर्ष की आयु के बच्चों में अधिक सम्भावित होता है। इस रोग में रक्त के श्वेत कण ल्यूकोसाइट बहुत तेजी से बढ़ते हैं और कभी-कभी तो इनकी संख्या 1000 गुना तक बढ़ जाती है। श्वेत कणों की यह असाधारण वृद्धि सम्भवतः एक विशेष प्रकार के विषाणु के संक्रमण के कारण होती है।

कैंसरग्रस्त लोगों के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि कुछ विशिष्ट व्यवसाय अपनाने और व्यवसायिक क्षेत्रों में रहने वालों को कैंसर अधिक होता है। मिल चिमनियों की सफाई करने वाले मजदूरों, निकिल खान कर्मियों तथा विनाइल क्लोराइड, क्लोरोमोथिल ईथर, एसबेस्टॉस और ऐरोमैटिक अमीन को बनाने अथवा इनका प्रयोग करने वाले उद्यमों में कार्यरत कर्मचारियों में कैंसर अधिक सम्भावित होता है। एसबेस्टॉस धूल, क्रोमेट, निकिल, आर्सेनिक एवं रेडियोएक्टिव पदार्थों से उद्भासित होने वाले व्यक्तियों एवं धूम्रपान करने वाले लोगों में फेफड़े का कैंसर सामान्य जन की तुलना में अधिक पाया जाता है। अधिक मिर्च-मसालों का प्रयोग आँतों के कैंसर, पान-सुपारी का प्रयोग मुख के कैंसर एवं कृत्रिम मिष्ठकारक पदार्थों का प्रयोग मूत्राशय के कैंसर को बढ़ावा देता है। अविवाहित और बच्चों को स्तनपान न कराने वाली स्त्रियों में स्तन कैंसर अधिक होते पाया गया है। सामान्य लोगों की तुलना में रसायनज्ञ अधिक कैंसरग्राही होते हैं।

कैंसरजनी रसायन—रसायन द्वारा कैंसर होने की सम्भावना पर वैज्ञानिकों का ध्यान 1915 में तब आकर्षित हुआ जब यह पाया गया कि खरगोश के कान पर अधिक दिनों तक कोलतार के प्रयोग से अर्बुद का निर्माण हो जाता है। कैंसर उत्पन्न करने की क्षमता बहुत से रसायनों में पाई गई है। कैंसरजनी रसायन प्रायः कोशिका में आक्सीकारक एन्जाइमों द्वारा आक्सीकृत होने के बाद क्रियाशील होते हैं। कैंसरजनी रसायनों को उनके आणविक रचना के आधार पर निम्न चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

1. बहुन्यूक्लीय ऐरोमैटिक यौगिक
2. ऐरोमैटिक अमीन और एज़ो यौगिक
3. एन-नाइट्रोसो अमीन और अमाइड
4. धात्वीय एवं अन्य कार्बनिक यौगिक

कैंसर उत्पन्न करने वालों रसायनों में बहुन्यूक्लीय ऐरोमैटिक यौगिक मुख्य हैं। इनमें बेन्ज (ए) एन्थ्रासीन (I), 7,12-डाइमेथिल बेन्ज (ए) एन्थ्रासीन (II), 6-आइसोप्रोपिल 1,2-बेन्ज (ए) एन्थ्रासीन, 1,2,5,6-डाइ बेन्ज (ए) एन्थ्रासीन (III), बेन्ज (ए) पाइरीन (IV), 20-मेथिल कोलन थ्रीन (I) और डाइबेन्ज कार्बाजोल (VI) मुख्य हैं। ये यौगिक कार्बनिक पदार्थों के दहन से प्राप्त होते हैं। यौगिक I तथा इसके व्युत्पन्न और यौगिक IV उद्योगों में प्रयुक्त ठोस ईंधन के अपूर्ण दहन से प्राप्त गैसों, वायुयान एवं स्वाचालित वाहनों के एग्जॉस्ट से

निकले धुएँ और सिगरेट धूम्र में मुख्य रूप से पाये जाते हैं। यौगिक VI पालीविनाइल कार्बाजोल प्लास्टिक के बनाने में प्रयुक्त होता है अतः ऐसे उद्योगों से निकले धुएँ में पाया जाता है। सभी बहुन्यूक्लीय ऐरोमैटिक यौगिक मुख्य रूप से फेफड़े का कैंसर पैदा करते हैं।

बहुन्यूक्लीय ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बन कोशिका में प्रविष्ट होने के बाद कोशकीय घटक न्यूक्लीयिक अम्ल अथवा प्रोटीन के साथ शिथिल संकुल बनाते हैं और फिर एरिल हाइड्रोकार्बन हाइड्रॉक्सीलेस एन्जाइम द्वारा आक्सीकृत होकर क्रियाशील होते हैं। बहुन्यूक्लीय हाइड्रोकार्बन-जन्य फेफड़े के कैंसर के उत्पन्न होने की सम्भावना एंजाइम की सान्द्रता जो वंशानुगत होती है पर निर्भर करती है। क्वान्टम यांत्रिकी के प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि कैंसरजनी बहुन्यूक्लीय हाइड्रोकार्बन में अत्यधिक ओलिफिनिक प्रकृति के K-क्षेत्र और निम्नतम क्रियाशीलता के L-क्षेत्र पाये जाते हैं। हाइड्रोकार्बन K-क्षेत्र में एन्जाइम द्वारा आक्सीकृत होकर हाइड्रोकार्बन आक्साइड बनाता है जो वास्तविक कैंसरजनी पदार्थ है।

कैंसरजनी ऐरोमैटिक अमीन और एज़ो-यौगिकों में बेंजीडीन, 4-अमीनोस्टिलबीन, 4-डाइमेथिल अमीनो एज़ो-बेंजीन तथा बीटा-नैफ्थिल अमीन मुख्य हैं। ये यौगिक या तो रंजक होते हैं या रंजक उद्योग में प्रयुक्त होते हैं। शरीर में पहुँचने में बाद ये यौगिक एन्जाइम की उपस्थिति में आक्सीकृत होकर नाइट्रोजन परमाणु पर हाइड्रॉक्सी समूह सम्मिलित करते हैं और फिर एन-हाइड्रॉक्सी यौगिक सल्फेटोट्रांसफरेस एन्जाइम द्वारा अत्यधिक इलेक्ट्रॉनस्नेही सल्फेट में परिवर्तित हो जाते हैं जो ऊतक के नाभिक-स्नेही घटकों से क्रिया कर ऐसे यौगिक बनाते हैं जो धनायन या मुक्तमूलक बना कर कैंसर उत्पन्न करते हैं।

तीसरी श्रेणी के कैंसरजनी यौगिकों में एन-मेथिल एन-नाइट्रोसोग्वानीडीन, एन-नाइट्रोसो डाइमेथिल अमीन, एन-मेथिल-एन-नाइट्रोसो यूरिया, एन-नाइट्रोसो पाइपेरीडीन और एन-नाइट्रोसो नॉरनिकोटीन मुख्य हैं। ये यौगिक एन्जाइम द्वारा धनायन अथवा मुक्त मूलक में परिवर्तित होकर कैंसर उत्पन्न करते हैं।

कैडमियम एवं निकिल के लवण और इनके कार्बनिक यौगिकों में कैंसर उत्पन्न करने के गुण पाये जाते हैं अतः इन धातुओं का खाद्य पदार्थों के निर्माण में उत्प्रेरक के रूप में प्रयोग हानिप्रद हो सकता है। कुछ एल्किलीकारक पदार्थ जैसे क्लोरनैफ्ज़ीन, प्रोपाइलीन इमीन बीटा-प्रोपियोलैक्टोन भी कैंसरजनी यौगिक के रूप में कार्य करते हैं। विनाइलीडीन क्लोराइड और विनाइल क्लोराइड वृक्क के कैंसर और खाद्य परिरक्षक के रूप में प्रयुक्त ब्यूटिलीकृत हाइड्रॉक्सी टॉलीन अर्बुद निर्माण के गुण रखता है। कुछ साधारण यौगिक जैसे डाइ ऑक्सन, मेथिल आयोडाइड बेंजीन तथा क्लोरीनीकृत हाइड्रोकार्बन भी कैंसरजनी हो सकते हैं। पराबैंगनी किरणों के प्रभाव से प्रोटीन, विशेष रूप से टाइरोसीन और ट्रिप्टोफेन, तथा कोलस्ट्रॉल कैंसरजनी पदार्थों में बदल जाते हैं। इस क्रिया में लिपिड प्रकाश सुग्राहीकारक के रूप में कार्य करते हैं।

कैंसररोधी रसायन—एक स्थान पर केन्द्रित कैंसर की चिकित्सा में शल्य एवं विकिरण चिकित्सा महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं परन्तु जब कैंसर रक्त द्वारा दूसरे अंगों में फैल जाता है तो उसकी चिकित्सा कैंसररोधी रसायनों द्वारा ही सम्भव हो पाती है। कुछ विशिष्ट प्रकार के कैंसर का उपचार रोग प्रतिकारकों को शरीर में प्रविष्ट कराकर किया जाता है। रोगी को पूर्णरूपेण ठीक करने के लिए सामान्यतः कैंसर का उपचार किसी एक विधि से न करके विभिन्न विधियों को मिलाकर किया जाता है।

रसायनों द्वारा कैंसर की चिकित्सा पर वैज्ञानिकों का ध्यान लगभग 40 वर्ष पूर्व उस समय आकर्षित हुआ जब यह पाया गया कि मनुष्यों में प्रोस्टेट ग्रन्थि के कैंसर की चिकित्सा में लैंगिक हार्मोन एस्ट्रोजन उपयोगी है। 50 से अधिक रसायनिक यौगिक कैंसररोधी औषधियों के रूप में प्रचलित हैं और सैकड़ों यौगिक चिकित्सीय जाँच पर हैं। प्रमुख प्रचलित कैंसररोधी यौगिक सारणी में दिये हैं। इनमें से अधिकतर यौगिक न्यूक्लीइक अम्लों के प्रयोग अथवा संश्लेषण एवं कोशिकीय विघटन में येन-केन-प्रकारेण अवरोध उत्पन्न कर कोशिका के असाधारण वृद्धि को रोक सकते हैं।

सारणी : प्रचलित कैंसररोधी रसायन

1. मेथिल बिस (बीटा-क्लोरोएथिल) अमीन	11. 6-मरकैप्टोप्यूरीन (6-MP)
2. ट्राइएथिलीन मेलामीन (T E M)	12. 5-फ्लोरोयूरासिल (5-FU)
3. ट्राइएथिलीन फास्फोरामाइड (TEPA)	13. हाइड्रॉक्सीयूरिया
4. साइक्लो फास्फामाइड (CTX)	14. एड्रियामाइसीन
5. सारकोलाइसीन (L-Pam)	15. वेरियोमाइसीन-ए
6. डाइपीन	16. एक्टिनोमाइसीन-डी
7. साइक्लोहेक्सिल क्लोरोएथिल-नाइट्रोसोयूरिया (CCNU)	17. मिटोमाइसीन
8. स्ट्रेप्टोजोटोसिन	18. विनब्लासटीन
9. मेथॉट्रेक्सेट (MTX)	19. विनक्रिस्टीन
10. 6-थायोग्वानीन	20. एस्ट्रोजन

अधिकांश प्रचलित कैंसररोधी यौगिकों में एल्किलीकरण का गुण पाया जाता है। इनमें नाइट्रोजन मस्टर्ड (यौगिक 1-5) अथवा एजीरीडीन (यौगिक-6) समूह पाया जाता है, ये समूह प्रोटीन अथवा न्यूक्लीइक अम्ल के नाभिकस्नेही हाइड्रॉक्सी, अमीनो, मरकैप्टो अथवा इमीडाजोल समूह से कोशिका के भीतर क्रिया कर कोशिका वृद्धि को रोकते हैं। ये रसायन लसिका ग्रन्थियों के विषाक्त सूजन, जीर्ण ल्यूकीमिया और स्थान परिवर्तन करने वाले कठोर अर्बुदों में सफलतापूर्वक प्रयुक्त होते है। L-Pam अस्थि-मज्जा के विसरित कैंसर और साधारण शल्य-क्रिया के पश्चात् स्तन कैंसर की चिकित्सा में अधिक उपयोगी पाया गया है।

नाइट्रोसोयूरिया समूह रखने वाले यौगिकों (यौगिक 7-8) में एल्किलीकरण के गुण के अतिरिक्त प्रोटीन के लाइसीन अपशिष्ट के साथ क्रिया करने की भी क्षमता पाई जाती है इसलिए ये यौगिक नाइट्रोजन मस्टर्ड यौगिकों की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं. और ये अन्यान्य अर्बुदों के अलावा मस्तिष्क के अर्बुद में भी उपयोगी हैं।

कोशिकावृद्धि के लिए आवश्यक न्यूक्लीइक अम्ल के संश्लेषण में कुछ यौगिक जैसे फोलिक अम्ल, प्यूरीन, थाइमिडीन आदि महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन पदार्थों के समरूप रचना वाले पदार्थ, जो कोशिकावृद्धि में विष की तरह कार्य करते हैं और प्रति-उपापचयक कहलाते हैं, जब कोशिका में प्रविष्ट हो जाते हैं तो वे कोशिका में DNA के निर्माण और कोशिका की असाधारण वृद्धि में अवरोध उत्पन्न करते हैं। ऐसे प्रचलित कैंसररोधी रसायनों में MTX, 6-MP, 5-FU और थायोग्वानीन मुख्य हैं। ये रसायन वृहदांग, मलद्वार एवं गर्भाशय के अर्बुदों, बच्चों के ल्यूकीमिया और फेफड़े के कैंसर में उपयोगी पाये गये हैं।

हाइड्रॉक्सीयूरिया राइबोन्यूक्लियोटाइड को डीआक्सी-राइबोन्यूक्लियोटाइड में अवकृत करने वाले एन्जाइम के क्रियामार्ग में अवरोध उत्पन्न कर प्रति कैंसर औषधि के रूप में कार्य करता है। यह रेडियोसुग्राही के रूप में मस्तिष्क के अर्बुद में भी प्रयुक्त होता है।

प्रतिजैविक औषधियाँ भी कैंसर चिकित्सा में सफलतापूर्वक कार्य करती हैं। इनमें से अधिकतर औषधियाँ DNA से RNA संश्लेषण अनुक्रम में किसी बिन्दु पर क्रिया कर कैंसरीय वृद्धि को रोकती हैं। इटली में संश्लेषित प्रतिजैविक औषधि एड्रियामाइसीन विस्तृत कार्यक्षेत्र की सर्वाधिक सफल औषधि है। क्रम संख्या 14-16 की औषधियाँ DNA के साथ संकुल बनाती हैं और ऐसा विश्वास किया जाता है कि शरीर के भीतर भी ये औषधियाँ संकुल बना कर कैंसरीय वृद्धि को रोकती हैं। गुर्दे के अर्बुदों की चिकित्सा में ये औषधियाँ रामबाण सिद्ध हुई हैं। मिटोमाइसीन भी एक प्रतिजैविक औषधि है, इसमें एजीरीडीन समूह पाया जाता है और इस औषधि में कैंसरीय वृद्धि में अवरोध डालने का गुण सम्भवतः इसी समूह के कारण है।

सदा बहार के सत्व से प्राप्त औषधियाँ विनब्लासटीन और विनक्रिस्टीन कोशिका विखंडन को रोकती हैं। नरगिस के कन्द से प्राप्त एल्कालायड में कई कैंसररोधी रसायनों की तुलना में अधिक क्रियाशीलता पाई गई है। हार्मोन टेस्टोस्टीरोन और एस्ट्रोजन का प्रयोग स्तन कैंसर तथा एस्ट्रोजन का प्रयोग प्रोस्टेट कैंसर की चिकित्सा में सफलतापूर्वक किया जाता है।

[शेष पृष्ठ 9 पर]

सागर : एक अक्षय भंडार

अवधेश शर्मा
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रदूषण का विष जिस रफ्तार से वायुमण्डल में घुलता जा रहा है उसका गम्भीर अध्ययन करने के बाद डाक्टर सिलवेट स्मिथ का कहना है, "धरती पर रहकर मनुष्य सुखी नहीं रह सकता, यदि उसे शान्ति चाहिए तो उसे समुद्र में रहने की तैयारी करनी चाहिए।" अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह सम्भव है ? क्या हम समुद्र में रहकर समुद्र से प्राप्त होने वाले रसायनों से हाथ नहीं धो बैठेंगे ? हम जानते हैं समुद्र एक बड़ा ही रसायन भंडार है, यदि हम विकसित तकनालाजी का प्रयोग करें तो हम समुद्र से सभी कुछ पा सकते हैं।

कीमती पदार्थों का अक्षय भंडार—समुद्र जल में घुलनशील पदार्थों की सांद्रता बहुत ही कम है लेकिन उनकी सम्पूर्ण मात्रा अत्यधिक है। जल में उपस्थित नमक से जमीन पर 300 मीटर मोटी परत बिछाई जा सकती है।

समुद्र जल का प्रथम विश्लेषण ग्लास्गो के प्रोफेसर डिटमर ने किया। उन्होंने विभिन्न जगहों से एकत्रित किये 77 नमूनों का रासायनिक विश्लेषण किया। विश्लेषण के बाद उन्होंने यह बताया कि प्रशांत, अटलांटिक तथा हिन्द महासागरों में विषवत रेखा के आसपास जल का खारापन अन्य स्थानों के जल की अपेक्षा कम है। इसका कारण भी उन्होंने स्पष्ट किया। जिन स्थानों पर वर्षा अधिक होती है वहाँ वाष्पीकरण की दर घट जाती है जिससे जल की सान्द्रता नहीं बढ़ पाती। यही हाल ध्रुवों पर भी है। बाकी अन्य स्थानों के जल में सान्द्रता कुछ अधिक ही है।

एक घनमील समुद्र जल में विभिन्न खनिज लवण किस परिमाण में घुले रहते हैं, इस तथ्य का उद्घाटन सर्वप्रथम 1931 में कनाडा से प्रकाशित 'माइनिंग जर्नल' ने किया। उसमें जो तालिका प्रकाशित हुई थी वह नीचे दी जा रही है।

खनिज	परिमाण (टनों में)
1—साधारण नमक	12,82,48,403
2—मैगनीशियम क्लोराइड	17,946,522
3—मैगनीशियम सल्फेट	7,816,053
4—कैलशियम सल्फेट	5,936,750
5—पोटैशियम सल्फेट	4,068,250
6—कैलशियम कार्बोनेट	579,832
7—मैगनीशियम ब्रोमाइट	358 275
8—फ्लोरीन	1,375
9—बैरियम	920
10—आयोडीन	800
11—आर्सेनिक	360
12—रुबडीयम	200
13—चांदी	50
14—सोना	25
15—रेडियम (रेडियोएक्टिव तत्व)	6 ग्राम

बड़े पैमाने पर समुद्र जल से साधारण नमक प्राप्त किया जाता है। इसका निष्कर्षण प्राचीन समय से ही हो रहा है। समुद्र जल को वाष्पीकृत करके नमक बनाते हैं। भारत में वाष्पीकरण का कार्य सूर्य ही कर देता है, जबकि ठंढे देशों में समुद्र जल को जमाया जाता है। वहाँ जल जम कर बर्फ हो जाता है व नमक का घोल (गाढ़ा) बच जाता है। इसके अलावा मैगनीशियम तथा आयोडीन भी प्राप्त की जाती है। मैगनीशियम का उपयोग अग्निबम बनाने में होता है। इसके अतिरिक्त अन्य संभावित तत्वों का भी निष्कर्षण किया जा सकता है, लेकिन अभी तक हम बड़े पैमाने पर उसका निर्माण नहीं कर पा रहे हैं। ●

समुद्री शैवाल : उर्वरक एवं खाद के रूप में

उमेश चन्द्र पाण्डेय
वनस्पति विभाग, बरेली कालेज, बरेली

शैवाल विश्व के बहुत से देशों की अर्थ-व्यवस्था में थोड़ा ही किन्तु महत्त्वपूर्ण योगदान देने में सहायक सिद्ध हो चुके हैं। शैवाल से व्यवसायिक मात्रा में मिलने वाले मुख्य पदार्थ हैं—अगार-अगार, एल्जिन, कैराजिनीन, डाएटोमाइट, कार्बनिक एवं अकार्बनिक उर्वरक।

कृषि-विज्ञान के क्षेत्र में समुद्री शैवाल का उपयोग खाद के रूप में काफी समय से होता आया है। इनका प्रयोग या तो ऐसे ही या कम्पोस्ट के रूप में किया जाता है। वर्तमान समय में समुद्री शैवाल को 'द्रव-सत्' में परिवर्तित उर्वरक 'मैक्सी-क्राप' के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। 'मैक्सी-क्राप' को या तो छिड़काव से या पानी में मिलाकर प्रयोग करते है। नवीनतम शोधों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि शैवाल के उपयोग से बीजों के अंकुरण तथा फसल की पैदावार में अप्रत्याशित वृद्धि होती है। बोडेन ने प्रदर्शित किया कि सोडियम एल्जीनेट (एल्जिन साल्ट) के उपयोग से बीजों के अंकुरण व फसल की पैदावार में सामान्य की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है।

द्रव-सत् के रूप में समुद्री शैवाल का प्रयोग किया जाना आर्थिक महत्त्व का है। द्रव-सत् बनाने में समुद्री शैवाल का क्षारीय जल विघटन विधि द्वारा एक निश्चित दबाव पर द्रवीकरण किया जाता है। प्राप्त उपजात (बाई-प्रोडक्ट्स) के अत्यन्त तनु विलयन (1 : 500 भाग) का प्रयोग रासायनिक उर्वरक के रूप में किया जाता है। चनान और हेमिग्वे ने सरसों के पादपों पर द्रव-सत् के उपयोग से शुद्ध भार एवं लम्बाई में वृद्धि दर्शायी है। सेन एवं सहयोगियों ने बतलाया कि द्रव-सत् के प्रयोग से टमाटर के पौधे कुहरे से अप्रभावित रहते हैं। यह पादप 26° सेल्सियस (से०) तापमान सहन कर सकते हैं जबकि सामान्य पादप नष्ट हो जाते हैं। फ्रान्की (1958) ने द्रव-सत् के प्रयोग से टमाटर के पादपों में सामान्य पादपों की अपेक्षा मैंगनीज की प्रतिशत मात्रा अधिक देखी। इसी प्रकार के प्रयोगों से तरबूज के पापदों में मैंगनीशियम, नाइट्रोजन एवं कैल्शियम की अधिक प्रतिशत मात्रा अभिलेखित की गयी।

द्रव-सत् के प्रयोग से गुलाब के पौधों में 'काले धब्बे' अदृश्य हो जाते हैं। शलजम के पादपों पर द्रव-सत् के छिड़काव से 'मिलडिव' पर नियन्त्रण किया गया है। यही नहीं टमाटर में 'डैंपिंग आफ सीडलिंगस्' तथा नाशपाती का 'ब्राउन रॉट' आदि रोगों के नियन्त्रण में भी सफलता मिली है।

द्रव-सत् के प्रयोग से कीटों द्वारा फैलायी जाने वाली बीमारियों से भी बचाव किया जा सकता है। इंगलैंड में द्रव-सत् को कीटनाशक दवाओं के साथ मिलाकर 'एफिड' के नियन्त्रण में प्रयोग किया जा रहा है। अमेरिका में तो स्ट्राबेरी पर 'एफिड' तथा आलू के रक्ताभ स्पाइडर कृमि' पर भी नियन्त्रण पाया जा चुका है।

थिवीं (1958) ने विशालकाय भूरे एवं रक्ताभ समुद्री शैवालों से 'कम्पोस्ट' प्राप्त करने की निम्न विधि बतलायी है :

नम समुद्री शैवाल की 6 इंच मोटी परत को 38 मि० मी० क्ले मिट्टी की परत तथा ऊपर से गोबर से ढक दिया जाता है। इस पर प्रतिदिन नमी बनाये रखने के लिए पानी का छिड़काव किया जाता है। दो सप्ताहों के बाद तापमान में 9° से० की वृद्धि तथा 1 माह के बाद 3° से० की कमी हो जाती है। 'हिप्निया' नामक शैवाल का 'कम्पोस्ट' बनाने में दो महीने का समय आपेक्षित होता है। भिन्डी के खेतों में इस 'कम्पोस्ट' के उपयोग से पैदावार में 63 प्रतिलत की वृद्धि देखी गयी है। इसी प्रकार की वृद्धि बैगन, सेम, सीताफल, चौलाई, नींबू, पपीता आदि में भी पायी गयी है। समुद्री शैवाल से बनाये गए उर्वरक तथा खाद का औद्योगिक उपयोग की दिशा में केन्द्रीय नमक अनुसंधान केन्द्र, भावनगर (गुजरात) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जहाँ इस सम्बन्ध में अनुसंधान कार्य प्रगति पर है।

मछलियों में अण्डे सेने का कार्य नर द्वारा

डा० रमेश चन्द्र श्रीवास्तव
बोटैनिकल सर्वे आफ इण्डिया, इलाहाबाद

जी हाँ, चौंकिए मत अनेक रीढ़ की हड्डी वाले जन्तुओं की तरह कुछ मछलियों में भी पैतृक संरक्षण अर्थात् अण्डे सेना और बच्चों का पालन-पोषण करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसमें मादा से अधिक नर का सहयोग होता है। कभी-कभी तो अण्डे सेने का और उनकी सुरक्षा का कार्य नर ही करता है।

आस्ट्रेलिया में पाई जाने वाली 'कुर्टस' मछली में नर, अंडों को अपने अग्र मस्तिष्क पर सेता है। इस कार्य के लिए नर की रचना ही कुछ इस प्रकार की होती है कि इसके पृष्ठ काँटे (डार्सल स्पाइन्स) सामने की ओर मुड़ कर एक 'हुक' की तरह की रचना बनाते हैं। इस 'हुक' की सहायता से, जलीय पौधों से चिपके निषेचित अंडे, नर के अग्र मस्तिष्क पर ले लिए जाते हैं (चित्र 1)। इस प्रकार इन अंडों की सुरक्षा शत्रुओं से हो जाती है।

इसी प्रकार मध्य यूरोप की मीठे पानी में पाई जाने वाली मछली (फ्रेश वाटर फिश)—'बिटरलिंग' में मादा की अंडवाहिनी एक लम्बी नलिका के रूप में निकली रहती है। इस अंडवाहिनी की सहायता से 'मादा बिटरलिंग' अपने अंडों को अलवण जलीय शम्बुक (फ्रेश-वाटर मसेल) में जमा करती है (चित्र 2)। इसी समय नर मछली भी अपने शुक्र इस शम्बुक के आसपास छोड़ देता है। जब शम्बुक अपने भोजन के लिए पानी अंदर खींचता है तो उसमें मिले हुए नर मछली के शुक्र भी अंदर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार अंडों का निषेचन 'शम्बुक' के अन्दर ही होता है। बाद में शम्बुक मछली के भ्रूणों को बाहर फेंक देता है जो बड़ी 'बिटरलिंग्स' के गलफड़े (गिल्स) से परजीवी के रूप में चिपक जाते हैं।

"स्टिकिलबैक" नामक एक समुद्री मछली में नर अपने गुर्दे के स्राव की सहायता से समुद्री शैवालों को जोड़कर एक घोसला बनाता है। इसके पश्चात् यह मादा मछलियों के झुन्ड को इस घोसले की तरफ खदेड़ता है। कभी तो उन्हें जल्दी से जल्दी घोसले में ले जाने के लिए यह उनकी पूंछ तक काट देता है। घोसले में पहुँचने के बाद मादा अपने अंडे देकर वापस चली जाती है परन्तु नर वहीं रुक कर अंडजात शिशुओं की रक्षा, अनेक हिंस्र तत्वों व कभी-कभी शिशुओं की माँ से भी करता है (चित्र ३)।

'पोर्ट' मछली में अंडे देने से पहले नर व मादा किसी चिपटी सतह वाली शिला को साफ कर लेते हैं। बाद में मादा इस शिला पर अपने अंडे जमा करती है। तत्पश्चात् नर अपने शुक्र छोड़ कर इन अंडों का निषेचन करता है। अब नर व मादा दोनों इन अंडों को अपने अंश पक्ष (पेक्टोरल फिन) की सहायता से हवा करते हैं। अंडे फूटने के बाद अंडजात शिशु सुरक्षित बालू के गड्ढों में चले जाते हैं और तब तक वहीं रहते हैं जब तक स्वयं तैरने योग्य नहीं हो जाते हैं। बालू में इस तरह के गड्ढे नर व मादा मछली अंडों से बच्चे निकलने से पहले ही बना लेते हैं। (चित्र 4)

एक अन्य मीठे पानी की मछली 'बुलहेड' या 'हार्न्डपाउट' में बच्चों के पालने का एक विशेष तरीका होता है। इसमें मादा मछली एक विशेष रूप से बनाए गए छेद में या किसी अन्य जन्तु (रोडेन्ट) द्वारा बनाई गई बिल में हजारों की संख्या के अंडे देती है। अब नर का कार्य होता है इन अंडों की सुरक्षा, सफाई एवं हवा देने
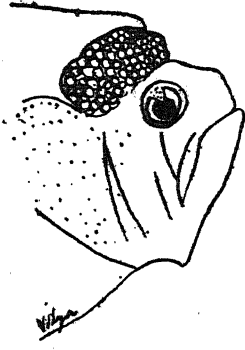
चित्र १
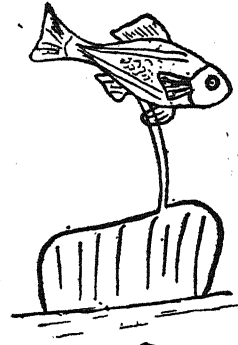
चित्र २
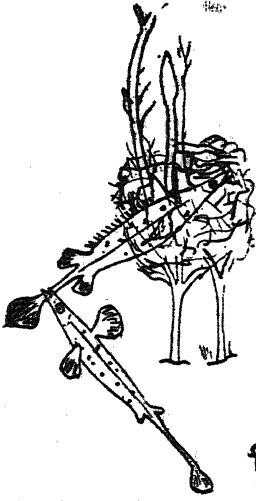
चित्र ३

चित्र ४
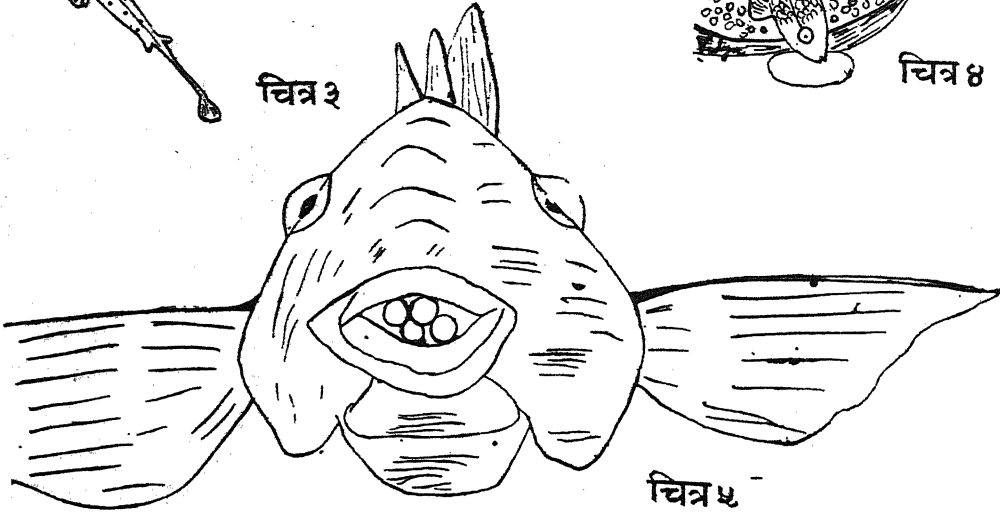
चित्र ५

का, जब तककि डिम्बौषण अवधि (इनक्यूबेशन पीरीएड) पूरी न हो जाये। एक सप्ताह बाद अंडजात शिशु जो अपने माता-पिता की पूर्ण प्रतिकृति होते हैं, एक समूह में में आ जाते हैं और अपने लिए नए घर की तलाश में निकल पड़ते हैं। इस तलाश में नर सदैव उनकी सुरक्षा में साथ ही साथ चलता है। नर इन शिशुओं की सुरक्षा तब तक करता है जब तक कि ये शिशु लगभग दो इन्च लम्बे नहीं हो जाते हैं।

अफ्रीका की नदियों व इण्डोनेशिया के तालाबों में पाई जाने वाली छोटी मछली—'टिलेपिया' में पहले मादा के घोसले में नर अंडों को निषेचित करता है और बाद में उन्हें अपने मुख में रख लेता है। इसके बाद नर लगभग 15 दिन का उपवास करता है। इस बीच में नर के मुख में अंडों से बच्चे निकलते हैं और बड़े भी होते हैं (चित्र 5)।

चूंकि पिता का मुख अंडों से बच्चे निकलने का उपयुक्त स्थान नहीं है अतः कुछ विकसित मछलियों में इसके लिए एक विशेष अंग विकसित होता है जो कि एक प्रारंभिक गर्भाशय का कार्य करता है। 'सी-हार्स' की पैतृक भ्रूणधानी में शिशुओं की भ्रूणावस्था पिता के अंदर ही व्यतीत होती है।

इसके विपरीत मीठे पानी में पाई जाने वाली **'मोली'** नामक मछली में विकास की दिशा बड़े जन्तुओं की तरह मातृत्व प्रणाली की तरह होती है। इस मछली में नर द्वारा अंडों का निषेचन मादा के अंदर ही होता है। मादा अंडों के बजाय सीधे शिशुओं को जन्म देती हैं।

पृष्ठ 4 का शेषांश

सारणी में निर्दिष्ट यौगिकों के अतिरिक्त और बहुत से यौगिकों में कैंसररोधी गुण पाया गया है और कई एक तो चिकित्सीय जाँच पर हैं। एन्टीमनी एवं डी० डी० टी० ए० का संकुलन, कुछ ताम्रकीलेट, सिस-डाइक्लोरोप्लेटिनम, बोरन के यौगिक, डाइविनाइल ईथर एवं मैलिइक एनहाइड्राइड के योग से बना यौगिक, कुछ स्टीरॉयड मस्टर्ड, सेस्क्यूटरपीन, गामालैक्टोन, एल्कालायड आदि प्रमुख हैं।

कैंसर चिकित्सा में रसायन का चुनाव कैंसर की प्रकृति पर निर्भर करता है। कुछ कैंसरों में तो एक ही रसायन पर्याप्त होता है तो कुछ में दो या दो से अधिक रसायन एकसाथ या क्रमानुगत में देने पर अधिक लाभकारी पाये गये हैं। स्तन और कुछ विशिष्ट प्रकार के कैंसर में साधारण शल्य अथवा विकिरण चिकित्सा के पश्चात् रसायन चिकित्सा अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुई है।

VISIT

ASIA BOOK Co.

9 UNIVERSITY ROAD, ALLAHABAD

FOR BOOKS ON

CPMT, IIT, ENGINEERING COLLEGE

ADMISSION TEST & LATEST UNIVERSITY

BOOKS ON SCIENCE SUBJECTS

बलों का एकीकरण

डा० सदगुरु प्रकाश

जे० के० इंस्टीट्यूट आफ अप्लाइड फिजिक्स ऐण्ड टेक्नॉलॉजी
इलाहाबाद यूनीवर्सिटी

पिछले कई वर्षों से बलों की एकरूपता वैज्ञानिकों का एक रोचक विषय रहा है। वैज्ञानिक गतिविधियों में हम चार प्रकार के बलों का अनुभव करते हैं। यह एक सामान्य धारणा रही है कि प्रकृति के नियम इतने जटिल नहीं हो सकते कि अलग-अलग क्रियाओं को स्थापित करने के लिए विभिन्न प्रकार के बलों का समावेश करना पड़े। वस्तुत: इन्हें मूल रूप में एक ही होना चाहिए। इन्हीं विचारों से उत्प्ररित होकर बलों के एकीकरण का सर्वप्रथम प्रयास आइन्स्टाइन द्वारा किया गया था। परन्तु वह सापेक्ष गति के सिद्धान्त द्वारा केवल अन्तरिक्ष और समय को ही जोड़ पाये और बलों के एकीकरण की उनकी अभिलाषा अधूरी ही रही। पाकिस्तान के नाभिकीय वैज्ञानिक अब्दुस्सलाम के प्रयासों से बलों का एकीकरण काफी कुछ संभव हो सका है, जिसके लिये उन्हें वर्ष 1979 के भौतिकी विज्ञान के नोबेल पुरस्कार से विभूषित किया गया।

बलों के एकीकरण के सिद्धान्त को समझने के लिए सर्वप्रथम चार प्रकार के बलों के विषय में जान लेना आवश्यक है। ये बल निम्नलिखित हैं :

(1) **गुरुत्वाकर्षण बल**—इस प्रकार के बल से हम अपने दैनिक जीवन में परिचित हैं। सम्पूर्ण ब्रह्मांड का स्थायित्व गुरुत्वाकर्षण के ही कारण है। केपलर के ब्रह्माण्डीय गुरुत्वाकर्षण को न्यूटन ने एक सामान्य रूप दिया और बताया कि गुरुत्वाकर्षण बल सभी पदार्थों के मध्य विद्यमान होता है। इस बल क्षेत्र के क्वान्टम को 'ग्रेवीटान' कहते हैं, जिन्हें अभी तक देखा जाना सम्भव नहीं हो सका है।

(2) **विद्युत-चुम्बकीय बल**—यह बल दो आवेशित वस्तुओं के बीच ही उत्पन्न होता है। प्रारम्भ में विद्युतीय और चुम्बकीय बलों को अलग-अलग माना गया जिन्हें मैक्सवेल के सिद्धान्तों द्वारा संयोजित कर दिया गया। परमाणु का स्थायित्व या सामान्य शब्दों में द्रव्य का स्थायित्व विद्युत-चुम्बकीय बलों द्वारा ही सम्भव है। यह बल गुरुत्वाकर्षण बल की अपेक्षा 10^{37} गुना अधिक होता है। इस बल-क्षेत्र की क्रियाओं को क्वान्टम् सिद्धान्त में 'फोटान' द्वारा प्रदर्शित करते हैं। फोटान भारहीन हैं और इन्हें देखा जा सकता है।

(3) **प्रबल नाभिकीय बल**—1896 में बैक्वेरल द्वारा रेडियोधार्मिकता की खोज ने नाभिकीय बलों को जन्म दिया। विद्युत-चुम्बकीय बल नाभिकीय संरचना की विवेचना में असफल रहे और इस प्रकार नाभि के स्थायित्व के लिये एक नये बल की आवश्यकता हुई। प्रबल नाभिकीय बल आवेशित एवं आवेशरहित कणों के मध्य समान रूप से क्रियाशील होता है। इस बल का मान गुरुत्वाकर्षण बल की अपेक्षा 10^{31} गुना और विद्युत-चुम्बकीय बल की अपेक्षा 100 गुना अधिक होता है, परन्तु इसकी क्षेत्र सीमा मात्र 10^{-13} से०मी० होती है। इस प्रकार के बलों की विवेचना यूकावा ने सर्वप्रथम 'मेसान' सिद्धान्त के अनुसार की। मेसान नाभिकीय बल क्षेत्र के 'क्वान्टम' हैं जिनका न्यूट्रान (n) और प्रोटान (p) के मध्य आदान-प्रदान होता रहता है। इसी क्रिया के परिणामस्वरूप प्रबल नाभिकीय बल उत्पन्न होता है जो न्यूट्रान और प्रोटान को नाभि के अन्दर बाँधे रहता है। 'क्वार्क' सिद्धान्त के अनुसार इनकी विवेचना एक दूसरे ही रूप में की गयी है जिसका उल्लेख लेख में आगे किया गया है।

(4) **निर्बल नाभिकीय बल**—परमाणु के नाभि के अन्दर कुछ ऐसी भी प्रक्रियाएँ होती हैं, जिनकी विवेचना प्रबल नाभिकीय बलों द्वारा सम्भव नहीं है। इन बलों का मान प्रबल नाभिकीय बलों की अपेक्षा 10^5 गुना कम होता है तथा बल क्षेत्र 10^{-15} से० मी० तक ही सीमित रहता है। इस प्रकार के बल अस्थायी नाभि के बीटा-क्षय की विवेचना अथवा टाऊ-थीटा मेसान की विवेचना के लिये आवश्यक पाये गये। अस्थायी परमाणुओं के नाभि का सदैव क्षय होता रहता है, जिसके कारण अस्थायी नाभि बीटा-किरण, अल्फा-किरण एवं ऊर्जा का उत्सर्जन करते हैं। परमाणु के नाभि से इलेक्ट्रान (e^-) अथवा पाजीट्रान (e^+) के उत्सर्जन को बीटा क्षय कहते हैं। इस क्रिया में परमाणु का द्रव्यमान अंक तो स्थिर रहता है परन्तु परमाणु क्रमांक एक कम या अधिक हो जाता है। प्रारम्भ में इस क्रिया को निम्न समीकरण द्वारा प्रदर्शित किया गया।

$$n \rightarrow p^+ + e^-$$
$$p \rightarrow n + e^+$$
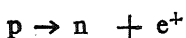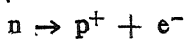
अर्थात् न्यूट्रान तथा प्रोटान आपस में परिवर्तनशील हैं और आवेश को स्थिर रखने के लिए इलेक्ट्रान अथवा पाजीट्रान का उत्सर्जन होता है। नाभिकीय अभिक्रिया की दृष्टि से इसमें कुछ अनियमिततायें हैं। उदाहरणत: समीकरण के दोनों पक्ष में कोणीय संवेग सन्तुलित नहीं हैं। इस कारण इलेक्ट्रान अथवा पाजीट्रान के साथ एक तीसरे कण न्यूट्रिनों (v) का उत्सर्जन भी आवश्यक माना गया। न्यूट्रिनों आवेशरहित, लगभग शून्य भार वाले कण हैं, जिनमें स्पिन के कारण कोणीय संवेग शून्य नहीं होता। इस प्रकार उपरोक्त समीकरण को निम्नलिखित रूप दिया गया :

$$n \rightarrow p^+ + e^- + \text{न्यूट्रिनों } (\overline{v})$$
$$p \rightarrow n + e^+ + \text{न्यूट्रिनों } (v)$$
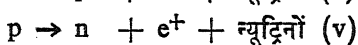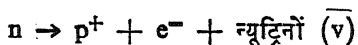
वस्तुत: निर्बल नाभिकीय अभिक्रियाओं की विवेचना काफी जटिल है और इसके द्वारा ही कई नये नाभिकीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। अब्दुस्सलाम और वेगनर ने बताया कि निर्बल नाभिकीय बल और विद्युत चुम्बकीय बल वस्तुत: एक ही परिवार के सदस्य हैं और उनकी विवेचना एक सामान्य सिद्धान्त द्वारा की जा सकती है। इस प्रकार इन दो बलों का एकीकरण हुआ। भविष्य में नाभिकीय बलों का एकीकरण भी सम्भावित है। इस प्रकार बलों के एकीकरण की दिशा में डॉ० अब्दुस्सलाम के अनुसंधान कार्य पर उन्हें नोबेल पुरस्कार से विभूषित किया गया।

बलों के एकीकरण के सिद्धान्त को समझने के लिये निर्बल नाभिकीय बलों की और भी सूक्ष्म विवेचना आवश्यक है। नाभिकीय अभिक्रियाओं में देखा गया है कि निम्नलिखित राशियाँ संरक्षित रहती हैं :

1. ऊर्जा, 2. संवेग, 3. कोणीय संवेग, 4. आवेश (बेरियान और लेप्टान संख्या), 5. पैरिटी, 6. आइसोटोपिक स्पिन, 7. स्ट्रेन्जनेस।

फिलहाल इन गुणों में से यहाँ हम सिर्फ 'पैरिटी' की विवेचना करेंगे। पैरिटी संरक्षण का अर्थ होता है कि किसी भी क्रिया का विलोम भी सत्य है, अथवा क्रिया परावर्तन-समरूप है। यह देखा गया कि बीटा-क्षय क्रिया पैरिटी-संरक्षण का उलंघन करती है। इसी प्रकार टाऊ-बीटा मीसान के क्षय में भी पैरिटी संरक्षण का उलंघन होता है अर्थात् प्रकृति में कुछ ऐसी भी क्रियायें हैं जो सामान्य नियमों का उलंघन करती हैं। भारतीय वैज्ञानिक सुदर्शन और आर० ई० मार्शक ने इसका कारण यह बताया कि बीटा-क्षय क्रियायें 'सूडो-स्केलर' हैं। पैरिटी संरक्षण के लिए किसी राशि को अदिश (स्केलर) होना चाहिए, ताकि परावर्तन के उपरान्त उसकी दिशा न बदले। बीटा-क्षय क्रियाओं में पैरिटी-संरक्षण का उलंघन 'न्यूट्रिनों' के अत्यधिक वेग (प्रकाश के तुल्य) के कारण भी होता है। न्यूट्रिनों के लिए स्पिन और वेग का गुणक ($\sigma.v$) एक सदिश राशि हो जाती है, जो परावर्तन के उपरान्त अपनी दिशा बदल देती है और पैरिटी-संरक्षण का उलंघन हो जाता है। इस प्रकार की क्रियाओं को चिराल-सिमेट्रिक (Chiral Symmetric) कहा गया।

1973 में इन विचारों को डॉ० अब्दुस्सलाम ने एक नया रूप दिया। उन्होंने बीटा-क्षय क्रियाओं में 'गेज़' सिद्धान्त का समावेश किया। 'गेज़' परिवर्तनों के अन्तर्गत क्रियायें 'ग्लोबल' अथवा 'लोकल' हो सकती हैं। ग्लोबल

प्रतिक्रियायें समय और अन्तरिक्ष में अपरिवर्तनीय रहती हैं, जबकि 'लोकल' क्रियायें प्रत्येक बिन्दु पर परिवर्तनीय होती हैं। यदि एक वृत्त की परिधि को असंख्य बिन्दुओं में विभक्त करके विस्थापित कर दें और उन्हें पुनः किसी भी क्रम में जोड़ दें तो यह क्रिया 'ग्लोबल' होगी, क्योंकि इस परिवर्तन में वृत्त की रूप-रेखा अपरिवर्तनीय रहेगी। परन्तु यदि हम वृत्त के विभिन्न बिन्दुओं को नामांकित कर दें और यही क्रिया दुहरायें तो, नये वृत्त की रूप-रेखा बदल जायेगी। अर्थात् यह क्रिया 'लोकल' होगी। ग्लोबल प्रतिक्रियाओं को लोकल अपरिवर्तनीयता का रूप देने के लिये विशेष प्रतिबन्धों की आवश्यकता होती है। बीटा-क्षय अभिक्रियाओं में इन सिद्धान्तों का समावेश करने पर जो नये प्रतिबन्ध मिलते हैं, उनसे एक नये बल क्षेत्र का बोध होता है। इसे ही हम 'निर्बल नाभिकीय बल' कहते हैं। इस बल-क्षेत्र के क्वान्टम् को 'निर्बल-वेक्टर बोज़ान' कहा जाता है। निर्बल-वेक्टर-बोज़ान विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र के क्वान्टम् 'फोटान' (वेक्टर-बोज़ान) के समरूप होते हैं। फोटान कण आवेशरहित होते हैं, परन्तु चूँकि बीटा-क्षय अभिक्रियाओं में, आवेश (परमाणु क्रमांक) एक कम या अधिक हो जाता है, अतएव निर्बल-वेक्टर-बोज़ान कणों को आवेशित होना चाहिए। यह आवेश इकाई धनात्मक अथवा ऋणात्मक हो सकता है; इसलिए इन्हें $W^{\pm}$ से प्रदर्शित किया गया। इनका भार प्रोटान के सापेक्ष 80-90 गुना अधिक होता है, इसी कारण इनके कार्य क्षेत्र की सीमा बहुत कम होती है। इन कणों को अभी तक प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखा जा सका है, क्योंकि इसके लिए अत्यधिक ऊर्जा की आवश्यकता होगी, जो कि अभी तक प्रयोगशाला में उपलब्ध नहीं हो सकी है। परन्तु इनके गुणों को कई नाभिकीय अभिक्रियाओं में सत्य पाया गया है। यूरोप की सर्न (CERN) की प्रयोगशालाओं में 1982 तक इन कणों को प्रत्यक्ष देखे जाने की संभावना है।

स्टेवेन वेगनर और अब्दुस्सलाम ने प्रतिपादित किया कि जब फोटान (वेक्टर बोज़ान) का आवेश और भार शून्य हो, तथा निर्बल वेक्टर बोज़ान ($W^{\pm}$) भारी और इकाई आवेश वाले हों तो ऐसे भी कणों को होना चाहिए, जो भारी हों, किन्तु आवेश शून्य हों। इस प्रकार के कणों को उदासीन बोज़ान (Z°) कहा गया। फोटान, $W^{\pm}$ कण तथा Z° कण एक ही परिवार के सदस्य हैं जो अलग-अलग दशाओं में उत्पन्न होते हैं। इनमें से $W^{\pm}$ एवं Z° कण निर्बल-नाभिकीय-अभिक्रियायों में भाग लेते हैं और इस प्रकार निर्बल नाभिकीय बल के जन्मदाता हैं। यदि Z° कण हैं तो इनका भी अनुभव होना चाहिए। चूँकि Z° कण उदासीन हैं अतएव जिन क्रियाओं में इन कणों का आदान-प्रदान होता है, ऐसी निर्बल-पारस्परिक क्रियाओं में उदासीन धारायें (Neutral Current) उत्पन्न होनी चाहिए। संयोग से $W^{\pm}$ कणों को तो हम नहीं देख सके परन्तु Z° कणों का प्रयोगशाला में सत्यापन सम्भव हो गया है। इस प्रकार बलों के एकीकरण में जो बाधा उत्पन्न हुयी थी उसका एक समाधान मिल गया। सन् 1971 से ही प्रो० गेरहार्ड के प्रयोगों के फलस्वरूप इन सिद्धान्तों को सत्य माना जाने लगा। ई० माल्सेन्ट ने न्यूट्रिनों के नाभिकीय प्रकिरण में उदासीन धाराओं को प्रायोगिक विधि से सत्यापित किया। इस प्रकार अब्दुस्सलाम के विचारों को, कि विद्युत-चुम्बकीय बल और निर्बल नाभिकीय बल के क्वान्टम एक ही परिवार सदस्य हैं, हर दृष्टिकोण से सत्य पाया गया।

भारतीय वैज्ञानिक योगेशपति एवं अब्दुस्सलाम ने प्रबल नाभिकीय बलों के एकीकरण की सम्भावना भी प्रगट की है। इन सिद्धान्तों के अनुसार, प्रोटान जिन्हें कि अभी तक मूल कण माना जाता रहा है, उनका भी क्षय सम्भव है अर्थात् प्रोटान स्वतः ही दूसरे कणों में परिवर्तनशील हैं। इन सिद्धान्तों के फलस्वरूप सभी जड़ और चेतन पदार्थ नश्वर हो जायेंगे और अन्तिम एकमात्र सत्य ऊर्जा होगी। यदि प्रोटान कणों को क्षयशील मान लिया जाये तो इनका औसत जीवन काल लगभग 10^{31} वर्ष होगा जबकि इस ब्रह्माण्ड का जीवन काल 10^{11} वर्ष ही माना गया है। इस प्रकार प्रोटान कणों के क्षय को प्रत्यक्ष रूप से देखने की क्रिया एक दुर्लभ सम्भावना होगी। एक 1000 टन

[शेष पृष्ठ 14 पर]

जलकुम्भी के विविध उपयोग

नरेश बाली
गौहाटी (असम)

भारत सहित लगभग पचास देशों में फैला हुआ, चौड़े पत्तों तथा बैगनी रंग के फूलों वाला जलकुम्भी (आइकोर्निया क्रेसिपेस) का पौधा गंदे पानी में उगता है और उसमें मुक्त रूप से तैरता रहता है। यह पौधा बहुत तेज गति से बढ़ता है और कुछ ही समय में नालों, जलाशयों, नहरों, नदियों आदि के पानी को घेर लेता है। इसकी तीव्र प्रजनन-क्षमता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि दो सप्ताह के भीतर ही इसकी संख्या दोगुनी हो जाती है और इन दस पौधों से आठ महीने में छह लाख पौधे उत्पन्न हो जाते हैं। यही कारण है कि इस पौधे को नष्ट करने के अनेक देशों द्वारा किये गये सभी प्रयत्न अब तक असफल रहे हैं। इसकी प्रजनन-क्षमता इसे नष्ट करने की गति से कई गुना अधिक है। बहुत बड़े क्षेत्रफल में फैले हुए इस पौधे की उत्पादन दर (154 मीट्रिक टन/हैक्टेयर) अन्य किसी भी जैविक पदार्थ की उत्पादन दर से कहीं अधिक है।

जलकुम्भी का पौधा जंगली रूप से उगने वाले विश्व के सर्वाधिक हानिकारक पौधों में से एक है। यह सिंचाई-जल की हानि करता है, रोगवाहक जीवों को आश्रय देता है, बाढ़ों का कारण बनता है तथा जलमार्गों को अवरुद्ध कर देता है। किन्तु अब वैज्ञानिकों ने इसे मानव जाति के लिये लाभकारी बनाने का मार्ग खोज लिया है—इसका ईंधन तथा उर्वरक में परिवर्तन द्वारा।

जलकुम्भी के पौधे का आक्सीजन-मुक्त वातावरण में विघटन करके इससे जैव-गैस (बायो गैस) प्राप्त की जा सकती है। एक किलोग्राम सूखे पौधे से 350-400 किलो लीटर जैव-गैस प्राप्त की जा सकती है। इसमें लगभग 60% मीथेन पायी जाती है। जैव-गैस का उपयोग खाना पकाने तथा रोशनी करने के अतिरिक्त और भी अनेक कामों में किया जा सकता है। भारत के बंगाल प्रान्त में इस पौधे को सुखाकर ईंधन की भाँति जलाने के काम में लाया जाता है।

इससे चारकोल भी प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिये इस पौधे को उच्च-ताप तथा वायुरुद्ध परिस्थितियों के अन्तर्गत विघटित किया जाता है। इसे उत्ताप-विच्छेदन (पायरोलिसिस) विधि कहते हैं। सूडान में किये गये जलकुम्भी पर इस विधि के प्रथम प्रयोग के फलस्वरूप हुए उत्पादन का 60 प्रतिशत भाग चारकोल था और बाकी भाग में गैस और तेल पाया गया।

जलकुम्भी के पौधे से खाद बनाने के लिये इसको उखाड़ कर ढेर बनाने के बाद प्राकृतिक रूप से विघटित होने के लिए छोड़ दिया जाता है। तीन से छह महीने तक विघटन की प्रक्रिया चलने देने के पश्चात् प्राप्त खाद बहुत गुणकारी होती है।

जलकुम्भी का पशु-खाद्य के रूप में भी उपयोग किया जा सकता है। चीन के गाँवों में इस पौधे को बहुत बड़े पैमाने पर उगा कर इसे सूअरों को खिलाने के काम में लाया जाता है। तमिलनाडु में इसे भैंसों को खिलाया जाता है। कहा जाता है कि इससे उनके दूध में 10-15 प्रतिशत तक वृद्धि हो जाती है। इसकी पत्तियों में लगभग 32.9% प्रोटीन पाया जाता है।

दूषित जल में से सीसा, कैडमियम, पारा तथा निकिल जैसी भारी धातुओं को अवशोषित कर लेने के अपने गुण के कारण इस पौधे का उपयोग घरेलू तथा औद्योगिक अवशेष जल के लिये जैविक छन्ने के रूप में भी किया जा सकता है। प्रयोगशाला में किये गये अध्ययनों में पाया

गया है कि सूखे भार के आधार पर एक ग्राम जलकुम्भी एक दिन में 0.67 मिलीग्राम कैडमियम तथा 0.5 मिलीग्राम निकिल अवशोषित करती है अर्थात् एक हैक्टेयर में फैली जलकुम्भी 53,000 गैलन दूषित जल में से एक दिन में 300 ग्राम कैडमियम अथवा निकिल अवशोषित कर लेगी। इसके अतिरिक्त यह पौधा गन्दे पानी में से नाइट्रोजन, फास्फोरस, फिनोल और फिनोलिक यौगिकों को भी अलग कर सकता है। इस तरह इस पौधे की सहायता से अवशेष जल में से उपयोगी तत्त्वों को पुनः प्राप्त किया जा सकता है और गन्दे पानी को शुद्ध करके बड़ी मात्रा में ताजा जल उपलब्ध किया जा सकता है।

जलकुम्भी को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिये मानव द्वारा अब तक अपनायी जा चुकी रासायनिक, यांत्रिक तथा जैविक सभी युक्तियों का इस ढीठ पौधे पर रत्ती भर (थोड़ा) भी असर नहीं हो पाया है। और मानव की कभी भी हार न मानने वाली वैज्ञानिक बुद्धि ने अंततः इसके अनेक उपयोग ढूँढ़ ही लिये। अब यह पादप हमारा शत्रु नहीं मित्र हो गया है। आवश्यकता है इसके विविध उपयोगों की जानकारी को जन-जन तक पहुँचाने की।

संदर्भ—"वैलकम वीड", दि टाइम्स आफ इंडिया, नयी दिल्ली।

[पृष्ठ 12 का शेषांश]

भार वाले द्रव्य में लगभग 5×10^{32} प्रोटान होंगे, जिनमें से लगभग 50 प्रोटान कणों का क्षय प्रतिवर्ष होना चाहिए। इन अभिक्रियाओं को देखने के कुछ सामूहिक प्रयास हो रहे हैं। अपने ही देश में कोलार की स्वर्ण की खानों में 2.3 कि० मी० की गहराई में टोकियो विश्वविद्यालय, जापान और टी० आई० एफ० आर०, बाम्बे के वैज्ञानिक प्रोटान कणों के विनाश की खोज कर रहे हैं। 17 प्रोटान कणों में से 2 प्रोटान के क्षय की पुष्टि की गयी है। इस प्रकार के प्रयोग अमरीका के माउन्टब्लैन्क-टनेल में भी चल रहे हैं तथा अन्य क्षेत्रों से भी अगले दस वर्षों में पुष्टि की सम्भावना है। इन प्रयोगों के परिणामस्वरूप ही बलों के एकीकरण के सिद्धान्त को और विकसित किया जा सकेगा।

आधुनिक मतों के अनुसार समस्त पदार्थों की संरचना हाइड्रान (भारी नाभिकीय कण) और लेप्टान (हल्के नाभिकीय कण) के माध्यम से हुई है। हाइड्रान कणों को पुनः क्वार्क कणों में विभक्त किया गया है। छः मूल क्वार्क माने गये हैं और उनके रंग और प्रतिरूप को मिलाकर कुछ 36 क्वार्क हो जाते हैं। लेप्टान के परिवार के सदस्यों की संख्या 12 है। इस प्रकार कुल मूलभूत कणों की संख्या 48 हो जाती है। इसके मध्य 'ग्लूआन' कणों का आदान-प्रदान होता रहता है। ग्लूआन कण आठ प्रकार के होते हैं और यही इच्छित नाभिकीय बलों को उत्पन्न करते हैं। क्वार्क और ग्लूआन कणों को अभी तक कोई प्रायोगिक प्रमाणिकता नहीं मिल पायी है और वर्तमान सिद्धान्तों के अनुसार इनका प्रत्यक्ष दर्शन भी असम्भव है। बलों के एकीकरण में इनका क्या योगदान है वह भविष्य ही निश्चित करेगा। विराट एकीकरण एक वैज्ञानिक पहेली ही नहीं है, वरन् ब्रह्माण्ड के विकास एवं विनाश से इसका सीधा सम्बन्ध है। एकीकरण के स्वरूप को पहचानने के उपरान्त इस सृष्टि के विकास का एक नया ही चित्र हमारे सम्मुख होगा।

लोकप्रिय विज्ञानसेवी स्वामी हरिशरणानन्द

डा० शिवगोपाल मिश्र

हिन्दी में विज्ञान लेखन के क्षेत्र में दो स्वामी हैं—एक स्वामी हरिशरणानन्द जी और दूसरे स्वामी सत्य प्रकाश। इनमें से प्रथम को 'ज्येष्ठ स्वामी' कहना उपयुक्त होगा। राहुल सांकृत्यायन ने हरिशरणानन्द जी को 'घुमक्कड़ स्वामी' कहा है। यद्यपि इन दोनों 'स्वामियों' के कार्यक्षेत्र एवं विशिष्ट विषय भिन्न-भिन्न रहे हैं किन्तु जहाँ तक हिन्दी की सेवा का प्रश्न है, ये दोनों स्वामी एक से हैं। एक सुखद आश्चर्य यह भी है कि 1934 में पंजाब आयुर्वेद फार्मेसी के पत्र 'आयुर्वेद विज्ञान' को विज्ञान परिषद् इलाहाबाद की मासिक पत्रिका 'विज्ञान' के साथ सम्मिलित करके स्वामी हरिशरणानन्द ने मानो पवित्र 'संगम' की सृष्टि की। उसके बाद लगातार 10 वर्षों तक यह 'संगम' कायम रहा। तब इन दोनों स्वामियों में और भी सान्निद्ध हुआ। स्वामी सत्य प्रकाश रसायन शास्त्र के आचार्य रहे हैं और स्वामी हरिशरणानन्द आयुर्वेद के ज्ञाता एवं प्रबल पोषक इसीलिये दोनों के अति निकट आने एवं हिन्दी की सेवा करने में कोई कठिनाई नहीं आई। परिषद के अनुरोध पर स्वामी हरिशरणानन्द 1934 में प्रयाग आये थे और विज्ञान परिषद ने उन्हें आजीवन सभ्य बनाया था।

स्वामी हरिशरणानन्द जी अत्यन्त कर्मठ और परम जिज्ञासु व्यक्ति थे। अपनी कर्तव्यपरायणता से ही वे अमृतसर में पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी स्थापित कर 'आयुर्वेद विज्ञान' नामक पत्रिका के माध्यम से आयुर्वेदिक औषधियों की कार्यक्षमता, उनके वैज्ञानिक ढंग से तैयार करने के उपायों का मुखर प्रचार करते रहे। 'विज्ञान' में प्रकाशित विवरण सूची से स्पष्ट होता है कि स्वामी जी छानने, घोटने, परिष्कार करने, गोली बनाने आदि की मशीनें अपनी आयुर्वेदशाला में स्थापित करके आयुर्वेद के उन आलोचकों का मुँह बन्द करना चाहते थे जो वैद्यों की भस्मों, गोलियों, आसवों आदि पर सन्देह प्रकट कर रहे थे। वे यह दिखा देना चाहते थे कि आयुर्वेदिक औषधियों को बड़े पैमाने पर निर्मित करके एवं प्रामाणिक औषधियों का वितरण करके इस कलंक को दूर किया जा सकता है कि वैद्यों की औषधियाँ अविश्वसनीय होती हैं। उन्होंने अपने वृहत सूचीपत्र के माध्यम से वैज्ञानिक विधि से जड़ी बूटियों से तैयार की गई औषधियों से जनता को परिचित कराया, इससे काफी धन भी कमाया और आयुर्वेद को वैज्ञानिक आधार पर ला खड़ा किया। उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए आयुर्वेद के विभिन्न विषयों पर हिन्दी में पुस्तकें भी लिखीं। सन् 1925 में ही उनकी पहली पुस्तक छपी—आसव विज्ञान। सन् 1960 तक वे कुछ न कुछ लिखते रहे। इस प्रकार कुल मिलाकर 13 पुस्तकें लिखीं। उनके लोकप्रिय लेखों की संख्या भी काफी है। आयुर्वेद के ज्ञाता होकर भी वे आधुनिक विज्ञान में विशेष रुचि रखते थे और आधुनिकतम वैज्ञानिक संकल्पनाओं को समझने का भी उन्होंने प्रयास किया था।

विज्ञान परिषद से उनका स्नेह सम्बन्ध तो सन् 1934 से ही था किन्तु सन् 1959 से मृत्यु तक वे विज्ञान-साहित्य के सृजन और सम्वर्धन के प्रति निष्ठावान रहे। उन्होंने मौलिक, लोकप्रिय तथा बाल विज्ञान में उच्चकोटि के साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिये विज्ञान परिषद के तत्वावधान में पुरस्कार चालू कराया और इसके लिये प्रतिवर्ष 3500 रुपये देते रहे। साथ ही 'विज्ञान' पत्रिका के प्रचार-प्रसार के लिये भी 1000 रुपये वार्षिक दान स्वरूप सहायता देते रहे। मैं नहीं समझता कि विज्ञान का कोई भी लेखक वैज्ञानिक साहित्य के प्रणयन हेतु

इतना सतर्क एवं क्रियाशील रहा है। स्वामी जी की इस निष्ठा के कारण ही मैं उन्हें 'वैज्ञानिक स्वामी' कहते हुये हर्ष का अनुभव करता हूँ।

ऐसे स्वामी जी की जीवन-गाथा अत्यन्त रोमांचक है।

इनका जन्म सन् 1889 ई० में कानपुर (कम्पू) में सावन के महीने में हुआ। ये अपने पिता श्री मुन्नीलाल की दूसरी पत्नी से उत्पन्न एकमात्र पुत्र थे। जन्म के समय से ही माँ बीमार रहने लगीं और उसी वर्ष होली के दिन उनकी मृत्यु भी हो गई। अभागा बालक नानी की शरण में भेज दिया गया किन्तु कुछ काल बाद उनकी भी मृत्यु हो गई। फलस्वरूप बालक को अपने पिता के पास वापस लाया गया। भाग्यवश उनके गुरु स्वामी गोपाल दास इस निरीह बालक के प्रति आकृष्ट हुये और उसका नाम हरिश्चन्द्र रख दिया। 4 वर्ष के बाद पिता की मृत्यु के पश्चात् बालक ने गोपालदास जी को ही अपना पिता मान लिया।

1900 ई० में बालक हरिश्चन्द्र ने मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की और घर पर गोपालदास जी से ही संस्कृत तथा वैद्यकी पढ़ने लगे। जब ये 15 वर्ष के हुये तो गुरु गोपालदास भी चल बसे। बालक हरिश्चन्द्र की सम्पत्ति पर गोपालदास की पुत्री की दृष्टि लगी थी अतः उन्होंने बालक को अपने पास बुला लिया लेकिन इस बालक के प्रति उनका व्यवहार ठीक नहीं था इसलिए बालक उनके पाश से भाग निकलना चाहता था। फिर क्या था। चैत्र रामनवमी के अवसर पर अपने कुछ मनचले मित्रों के साथ बालक हरिश्चन्द्र अयोध्या गया और वहीं ईश्वरदास का शिष्य बन कर अपना नाम हरिदास रख लिया। हरिदास बनकर वे चित्रकूट गये, वहाँ से प्रयाग आये और और 1907 ई० में पुनः कुछ साधुओं के साथ हिमालय की कन्दराओं की खोज में चल पड़े। वे हरिद्वार, ऋषीकेश, गंगोत्री, जमनोत्री आदि स्थानों में घूमे और अपना नाम बदल कर हरिशरण बन गये। ऋषिकेश में उनका अनेक साधुओं से सम्पर्क हुआ। यहीं से रसायन (कीमियागरी) की ओर इनका आकर्षण प्रारम्भ हुआ। राहुल जी ने इसी काल की एक घटना का उल्लेख किया है कि किस प्रकार आठ आने के पारे और तेल से ये नकली चांदी तैयार करने में सफल हुये।

अब हरिशरण जी का मन योग की ओर उन्मुख हुआ। वे मानसरोवर तक गये और वहाँ से लौट कर हरिद्वार में एकान्त स्थान में कुटी बना कर योगाभ्यास करने लगे। इस समय इनकी अवस्था 25 वर्ष की हो गई थी। किन्तु धीरे-धीरे योग से मन उचटने लगा। वे नाहन गये और वहाँ पर डट कर संस्कृत का अध्ययन किया, अपने कपड़े रँग डाले और स्वामी बन गये। नाम रखा हरिशरणानन्द।

अब वे आयुर्वेद तथा चिकित्सा की ओर उन्मुख हुये। आयुर्वेद की परीक्षा भी दे डाली। उसमें उत्तीर्ण होकर वे विभिन्न रियासतों में घूम-घूम कर आयुर्वेद सम्बन्धी साहित्य की खोज करने लगे। चरक और सुश्रुत का गहरे पैठ कर अध्ययन किया। जड़ी-बूटियों की खोज के पीछे पागल बने कश्मीर, चम्बा, पेशावर और न जाने कहाँ-कहाँ घूमते रहे। 30 वर्ष की अवस्था प्राप्त करते-करते वे आयुर्वेदिक जड़ी-बूटियों से पूरी तरह परिचित हो चुके थे।

अब कर्मक्षेत्र में उनका प्रवेश अवश्यम्भावी था। 1924 ई० में उन्होंने आयुर्वेदिक फार्मेसी का शुभारम्भ किया और धर्मार्थ दवाएँ बाँटते रहे। अकाली मार्केट, अमृतसर स्थित उनकी इस फार्मेसी ने आगे चलकर आधुनिक संयंत्रों एवं मशीनों से लैस आयुर्वेदशाला का रूप धारण किया।

स्वामी जी ने 1925 में आयुर्वेद सम्बन्धी पहली पुस्तक 'आसव विज्ञान' लिखी। शीघ्र ही इसके कई संस्करण छपे। 1927 में इन्होंने 'आयुर्वेद विज्ञान' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया और 7 साल तक लगातार निकालते रहे। 1934 में यह पत्रिका बन्द हो गई। 2 अप्रैल, 1934 को स्वामी जी इलाहाबाद आये। तब प्रोफेसर सालिगराम भार्गव विज्ञान परिषद के प्रधान-मंत्री थे। वे अमृतसर गये। अन्त में 15 जून 1934 को स्वामी जी की पत्रिका विज्ञान परिषद से प्रकाशित 'विज्ञान' में सम्मिलित कर दी गई। स्वामी जी 1 फर्मे की सामग्री का संपादन करके प्रयाग भेज देते थे। इस प्रकार 10 वर्षों तक यह सहकारिता चलती रही। स्वामी

जी इसके लिये समुचित धन देते थे। वे लगातार लेख भी लिखते रहे। सन् 1938 में जब विज्ञान परिषद की रजत-जयन्ती मनाई गई तो स्वामी जी ने प्रचुर सहायता की।

1941 में स्वामी जी ने इटावा की एक बाल विधवा जानकी देवी से विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। उसके बाद उन्होंने खरीबावली दिल्ली में भी एक शाखा-कार्यालय स्थापित किया। 1959 में परिषद को उन्होंने तीन वैज्ञानिक पुरस्कार चलाने के लिये यथेष्ट राशि प्रदान की। ये तीनों पुरस्कार हरिशरणानन्द पुरस्कार के नाम से 1968 तक चलते रहे। उसके बाद स्वामी जी का एक पत्र आया कि वे अपनी सम्पत्ति विज्ञान परिषद के नाम कर देना चाहते हैं लेकिन इसके पूर्व कि कुछ हो पावे, उनका एक दूसरा पत्र आया कि अब उन्होंने अपना विचार बदल दिया है। सम्भवतः उनकी पत्नी से उन्हें कोई सन्तान हो चुकी थी। इस प्रकार परिषद को वे अपना सर्वस्व दान देते हुये रुक गये और कुछ काल बाद स्वर्गवासी हो गये।

स्वामी जी कुशल सम्पादक एवं लेखक थे। इन दोनों पर उनकी व्यावसायिक बुद्धि की छाप थी। उनके द्वारा सम्पादित 'आयुर्वेद विज्ञान' पत्रिका का उल्लेख हो चुका है। उनकी कृतियों की संख्या 13 है। ये हैं आसव विज्ञान, मन्थर ज्वर, भस्म विज्ञान (2 भाग), कूपीपक्व रस निर्माण विज्ञान, त्रिदोष मीमांसा, ज्वर मीमांसा, औषध गुणधर्म विज्ञान, क्षार निर्माण विज्ञान, पाखंड विज्ञान, रुद्रयामल तंत्र, विश्व विज्ञान, मानव जीवन का विकास एवं व्यधि मूल विज्ञान।

इन कृतियों में अन्तिम तीन कृतियाँ वैद्यक से सम्बन्धित नहीं हैं। ये आधुनिक विज्ञान के प्रति उनकी सजगता को बताने वाली पुस्तकें हैं जो 1958-60 ई० में लिखी गईं। ये उनके बहु पठन-पाठन की भी परिचायक हैं।

स्वामी जी हिन्दी के प्रबल समर्थक तो थे ही, पारिभाषिक शब्दों के प्रति भी जागरूक थे। वे रघुबीरी शब्द कोश की शब्दावली को ही अपने लेखन-चिन्तन का आधार बना चुके थे अतः व्याधिमूल विज्ञान में जो जैव रसायन सम्बन्धी ग्रंथ है, ऐसी भाषा एवं शब्दावली व्यवहृत मिलेगी जो आज बहुप्रचलित वैज्ञानिक शब्दावली से नितान्त भिन्न है। यही नहीं रासायनिक सूत्रों का भी वे हिन्दीकरण चाहते थे। विज्ञान को लोकप्रिय बनाने की दिशा में उनके योगदान को ठुकराया नहीं जा सकता।

स्वामी जी विचित्र जीव थे। वे अपनी बात पर अड़ जाने वाले थे। वे ईथर को ही ईश्वर कहते थे। इसे लेकर विज्ञान के सम्पादक श्री रामदास गौड़ से उनका मतभेद भी हुआ था।

स्वामी जी आयुर्वेद शास्त्र को शुद्ध विज्ञान मानते थे, उसी के वे समर्थक थे। 1936 में आयुर्वेद के उन्नायक शंकर दाजी पदे के स्मारक हेतु जब एक समिति बनी तो स्वामी जी उसके संयोजक बने और स्वयं 500 रुपये का दान दिया था। 1941 में स्वामी जी ने एक लेख 'आयुर्वेद की दुरवस्था' लिखा जिससे उनके स्वस्थ विचारों का पता चलता है।

15 वर्ष पूर्व स्वामी जी की मृत्यु से हिन्दी का एक सेवी, एक श्रेष्ठ लेखक एवं एक दानवीर खो गया। आइये हम उनकी स्मृति को सजल करें।

With the Best Compliments from :

54292
Phone : 52089

SCIENCE CORPORATION

104, Leader Road, Allahabad

Dealers in : Laboratory Chemicals, Scientific Instruments, Microscope, Glasswares etc.

Authorised Stockist :

B. D. H. ; S. M. ; E. Merck ; I. D. P. L. , LOBA ; Ranbaxy :
S. R. L. Chemical ; GETNER Instruments, Sigcol Glasswares,
Blue Star Slides & Cover Glasses.

परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में भारतीय उपलब्धियाँ

कु० मन्जू सक्सेना
शोध छात्रा, प्रतिरक्षा अध्ययन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

(जुलाई-अगस्त अंक का शेष भाग)

अन्य अनुसंधान सुविधाय

परिवर्ती ऊर्जा साइक्लो ट्रानकी स्थापना भाभा परमाणु अनुसन्धान केन्द्र की देख-रेख में कलकत्ता के समीप साल्ट लेक टाउनशिप में सन् 1977 में की गई। यह साइक्लोट्रान न्यूक्लीय भौतिकी में अनुसन्धान करने तथा जैव एवं कृषि उत्पादों का नियन्त्रण एवं सम्बन्धित किरणीयन करने वाली राष्ट्रीय सुविधा के रूप में काम में लाया जायेगा। यह साइक्लोट्रान विविध प्रकार के आइसोटोप उत्पन्न कर सकता है जो नाभिकीय रिऐक्टर में उत्पन्न नहीं हो सकते।

अधिक ऊँचाई पर अनुसन्धान करने वाली प्रयोगशाला गुलमर्ग की स्थापना परमाणु ऊर्जा विभाग द्वारा देश के सभी वैज्ञानिक संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों को अधिक ऊँचाई पर अनुसन्धान करने की सुविधा प्रदान करने के लिये सन् 1963 में की गई थी।

नाभकीय अनुसन्धान केन्द्र सन् 1973 में रजीनगर में स्थापित किया गया।

हैदराबाद में इलेक्ट्रानिक्स कारपोरेशन ऑफ इण्डिया लिमिटेड की स्थापना अप्रैल सन् 1967 में की गई। इण्डियन रेअर अर्थ्स लिमिटेड सन् 1950 से कार्यरत एक सरकारी कम्पनी है।

परमाणु शक्ति योजना—परमाणु ऊर्जा कार्यक्रमों में बिजली का उत्पादन प्रमुख है। हमारे देश में विद्युत का उत्पादन अन्य विकसित एवं औद्योगिक देशों की अपेक्षा बहुत कम होता है। परमाणु बिजलीघरों से राष्ट्र की बिजली की आवश्यकताओं की पूर्ति होने में सहायता मिलेगी। हमारे देश में निम्नलिखित मुख्य नाभिकीय शक्ति संयंत्र हैं।

तारापुर परमाणु बिजलीघर : यह बिजलीघर बम्बई के उत्तर में 100 किमी० दूर सन् 1963 में अमेरिका की सहायता से स्थापित किया गया। अमेरिका की अणु ऊर्जा विभाग ने जीवन पर्यन्त इंधन देना स्वीकार किया। इसमें दो रिऐक्टर हैं। प्रत्येक 200 एम वी से अधिक शक्ति उत्पन्न करते हैं। इन रिऐक्टरों में उन्नयित यूरेनियम इंधन के रूप में और मंदक के रूप में हल्का पानी प्रयोग किया जाता है। इस स्टेशन की कार्य अवधि तीस साल निश्चित की गई थी। आरम्भ में 40 टन उन्नयित यूरेनियम प्रत्येक रिऐक्टर में प्रयोग किया गया। कार्य अक्टूबर सन् 1964 में आरम्भ हुआ। प्रथम रिऐक्टर ने 1 फरवरी, 1969 तथा दूसरे ने 27 फरवरी, 1969 में कार्य शुरू किया। इस स्टेशन ने 15-3-1975 तक 1971-044 मिलियन यूनिट विद्युत उत्पन्न किया। यहाँ पैदा हुई बिजली महाराष्ट्र तथा गुजरात राज्यों को बराबर-बराबर भागों में सप्लाई की जाती है।

राजस्थान परमाणु बिजलीघर : भारतीय सरकार ने 5 अगस्त सन् 1962 में एक अन्य रिऐक्टर स्थापित करने का निश्चय किया जिसकी प्रारम्भिक क्षमता 200 मेगावाट हो। इसके लिये राजस्थान में राणा प्रताप सागर का किनारा चुना गया। इसकी स्थापना कनाडा के सहयोग से की जा रही है। इसमें प्राकृतिक यूरेनियम इंधन से चलने वाले तथा भारी पानी से मंदित कान्डु किस्म के दो रिऐक्टर होंगे जिनकी क्षमता 400 मेगावाट बिजली पैदा करने की होगी।

16 दिसम्बर, 1963 के समझौते के अनुसार कनाडा समरूप आँकड़े और ऋण देने के लिए सहमत हो गया था

और यह 300 मिलियन का ऋण कनाडा से क्रय की गई वस्तुओं के रूप में मिलना था।

16 दिसम्बर, 1966 के दूसरे समझौते में भारत तथा कनाडा 200 एम०डब्लू०क्षमता वाले प्रोजेक्ट --आर ए पी पी के लिए सहमत हो गये। इस बार पुन: कनाडा ने 300 मिलियन का ऋण दिया।

प्रथम इकाई ने फरवरी 1973 में उत्पादन प्रारम्भ किया तथा दिसम्बर 13, 1973 से व्यवसायिक उत्पादन प्रारम्भ किया।

दूसरी इकाई का आयोगीकरण जो कि 1977 के अन्त तक होना था आपूर्ति के बाहरी अवरोधों के कारण देर से हो सका।

मद्रास परमाणु बिजलीघर : मद्रास परमाणु बिजलीघर स्थापित करने का निर्णय दिसम्बर 1962 में लिया गया। यह मद्रास के दक्षिण में लगभग 80 किमी की दूरी पर भारत का तीसरा परमाणु बिजलीघर बन रहा है। इसमें राजस्थान के बिजलीघर जैसे ही कान्डु किस्म के दो रिऐक्टर होंगे जिनमें से प्रत्येक की क्षमता 235 एम० डब्लू० होगी। यह पूर्णत: भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा निर्माणित किया जायेगा। इसकी दो शाखायें 1975 तथा 1976 में पूरी हो चुकी हैं।

कलपक्कम में स्थित दो रिऐक्टरों के लिये प्रतिदिन लगभग 200 किग्रा० प्राकृतिक यूरेनियम ईंधन के रूप में लगेगा। रिऐक्टरों के लिये लगभग 3,180 लीटर जल शीतक के रूप में चाहिये जिसके समुद्र से एक हॉर्स शू शेप टनल प्राप्त किया जायेगा। एक दूसरी लगभग 500 मीटर लम्बी टनल बनायी जायेगी जिससे कलपक्कम प्लान्ट से धारा निकाली जायेगी।

कलपक्कम में रिऐक्टर अनुसन्धान केन्द्र, एक वातावरण सर्वेक्षण प्रयोगशाला और ईंधन उत्पादन संस्थान स्थापित करने का विचार भी किया गया है।

नरोरा परमाणु बिजलीघर : भारत का चौथा परमाणु बिजलीघर उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जिले में नरोरा नामक स्थान पर निर्मित किया जायेगा। इसका निर्माण 30 अप्रैल, 1975 को आरम्भ हो चुका है। इस बिजलीघर में चार रिऐक्टर लगाने की योजना है। प्रत्येक रिऐक्टर 200 एम० डब्लू० क्षमता का होगा तथा आरंभ में दो रिऐक्टर ही लगाये जायेंगे।

परमाणु ईंधन की योजना : भारत में परमाणु खनिज का अपार भंडार है। भारत में थोरियम का भी अपार भंडार है। परमाणु खनिज प्रभाग परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम के लिये आवश्यक परमाणु खनिजों के सर्वेक्षण, पूर्वेक्षण तथा प्रारम्भिक खनन का कार्य करता है। इस प्रभाग ने बिहार के सिंहभूम जिले में यूरेनियम आक्साइड खनिज निकालना आरम्भ कर दिया है। यहाँ नरवा पहाड और भाटिन की खानों से प्राप्त खनिज में प्राय: 0.05 प्रतिशत यूरेनियम आक्साइड पाया जाता है। अन्डमान और निकोबार द्वीपसमूहों में भी यूरेनियम मिलने की संभावना है। इस प्रभाग द्वारा हाल ही में किये गये सर्वेक्षण द्वारा ज्ञात हुआ है कि कालका जम्मू क्षेत्र की शिवालिक पहाड़ियों, हिमाचल प्रदेश के किन्नौर जिले में और टिहरी गढ़वाल, दार्जिलिंग और सिक्किम में यूरेनियम मिलने की आशा है। किश्तवार, कुल्लु अल्मोड़ा और पिथौरागढ़ में भी यूरेनियम पाया गया है।

इन्डियन रेअर अर्थ्स लिमिटेड : यह कम्पनी सन् 1950 से कार्यरत एक सरकारी उद्यम है। यह मानव्ला कुरूचि तथा चदारा में खनिज से उद्योग का संचालन तथा आल्वई में विरल मृदाओं का उत्पादन कर रही है। ट्राम्बे में थोरियम का उत्पादन भी इस कम्पनी द्वारा किया जा रहा है। समुद्र तट की रेत में पाये जाने वाले खनिजों पर आधारित एक उद्योग समूह की स्थापना छतरपुर उड़ीसा में की जा रही है।

यूरेनियम कारपोरेशन ऑफ इन्डिया लिमिटेड : इसका गठन सन् 1967 में किया गया था। यह उद्यम जादूगुडा में स्थित यूरेनियम खानों का विकास करने तथा यू मिल को चलाने का काम करता है। जादूगुडा से प्राप्त होने वाले यूरेनियम धातुक से मौलिब्डिनम तथा तांबे जैसे उपउत्पादों को अलग करने के लिये भी यहाँ पर व्यवस्था की गई है। घटसीला के निकट सुवर्ण रेखा नदी के किनारे स्थापित ताँबा शोधन संयन्त्र से प्राप्त पछोड़न में मिली यू की अल्प मात्रा को भी अलग करने की व्यवस्था कर ली गई है।

ईंधन पुनःसंसाधन सुविधायें

ट्राम्बे में लगे हुये प्लूटोनियम प्लान्ट के अभिकल्पन निर्माण तथा संचालन से प्राप्त अनुभव के आधार पर तारापुर में स्थित एक पावर रिऐक्टर ईंधन पुनःसंसाधन संयन्त्र भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र द्वारा लगाया जा रहा है। तारापुर बिजलीघर तथा अन्य निर्माणाधीन बिजलीघरों से प्राप्त ईंधन का संसाधन इस संयन्त्र में किया जायेगा।

भारी पानी : भारत में स्थित अधिकतर एटामिक पावर प्लान्ट में भारी पानी का प्रयोग मंदक के रूप में किया जाता है। कुछ में केवल शीतक के रूप में प्रयोग किया जाता है। 200 एम० डब्लू० क्षमता वाले प्लान्ट के लिये प्रारम्भिक अवस्था में 200 टन भारी पानी की आवश्यकता होती है। प्रत्येक वर्ष प्रत्येक रिऐक्टर में हानि की पूर्ति करने के लिये 24 टन भारी पानी की आवश्यकता पड़ती है।

देश में निम्नलिखित संयन्त्र भारी पानी उत्पादित करने के लिये स्थापित किये गये हैं।

1—अगस्त सन् 1962 से एक भारी पानी संयन्त्र नांगल (पंजाब) में कार्य कर रहा है। इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता लगभग 14.1 टन है।

2—राणा प्रताप सागर के राजस्थान परमाणु बिजलीघर के निकट भी एक भारी पानी संयन्त्र लगाया जा रहा है। बिजलीघर की फालतू भाप तथा वहाँ पैदा हुई बिजली इस संयन्त्र को चलाने में काम आयेगी। इस संयन्त्र की वार्षिक उत्पादन क्षमता 100 टन होगी। यह संयन्त्र "हाइड्रोजन सल्फाइड वाटर एक्सचेन्ज" क्रिया पर आधारित है।

3—बड़ौदा में एक अन्य संयन्त्र फ्रांसीसी फर्म की सहायता से बनाया गया है। इसे गुजरात उर्वरक निगम के बड़ौदा स्थित खाद बनाने वाले संयन्त्र के साथ चलाया जा रहा है। इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता 67.2 टन है। यह विश्व का 'मानोथीम अमोनिया हाइड्रोजन एक्सचेन्ज" प्रकार का सर्व प्रथम संयन्त्र है।

4—बड़ौदा जैसा ही एक संयन्त्र तूतीकोरिन (तमिलनाडु) में लगाया जा रहा है। इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता 71.3 टन होगी।

5—भारी पानी के लिये तालचेर (उड़ीसा) में एक अन्य संयन्त्र का निर्माण पश्चिमी जर्मनी की एक फर्म द्वारा किया जा रहा है। भारतीय उरर्वक निगम द्वारा तालचेर में लगाये जाने वाले अमोनिया संयन्त्र से प्राप्त गैस का उपयोग इसमें किया जायेगा। इसकी क्षमता 62 7 टन होगी।

भारतीय नाभिकीय विस्फोट—18 मई सन् 1974 को भारत ने प्लूटोनियम का प्रयोग साइरस रिऐक्टर द्वारा शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए पहला परमाणु विस्फोट कर परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में पांच बड़े राष्ट्रों का एकाधिकार समाप्त कर दिया। यह विस्फोट 18 मई, 1974 को दिन के सबेरे आठ बजकर पाँच मिनट पर पश्चिमी भारत में जमीन के अन्दर सौ मीटर की गहराई पर दिया गया। अंग्रेजी के अक्षर 'एल' आकार के 10 मीटर गर्त के एक छोर पर नाभिकीय विस्फोटक मुक्ति को रखकर उसका विस्फोट किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अन्य देशों से काफी सहयोग मिला जिनमें से महत्वपूर्ण निम्नलिखित हैं :

कनाडा—नाभिकीय तकनीकी के क्षेत्र में भारत कनाडा सहयोग का आरम्भ सन् 1955 में हुआ जब कनाडा ने भारत को साइरस के लिये प्रारूप आंकड़े और ऋण दिया। कनाडा ने पुनः राजस्थान परमाणु बिजलीघर की स्थापना में सहयोग दिया। यह तय किया गया कि कनाडा भारत को इस संस्थान के लिये विस्तृत आँकड़े कार्य रचना के विषय में जानकारी देगा और इसको स्थापित करने का सम्पूर्ण भार भारतीय वैज्ञानिकों पर होगा। कनाडा ने 300 मिलियन का ऋण देना भी स्वीकार किया। दिसम्वर 1966 में कनाड़ा और भारत के बीच एक अन्य समझौता हुआ जिसमें इस प्रोजेक्ट आर० ए० पी० पी० के विकास के लिये एक अन्य 200 एम० डब्लू० इकाई स्थापित की गयी। इसके लिये कनाडा ने पुनः 308 मिलियन का ऋण देना स्वीकार किया।

दुर्भाग्यवश भारतीय अणु परीक्षण के तुरन्त बाद 22 मई, 1974 को कनाडा ने आर० ए० पी० पी० द्वितीय चरण के लिये सहायता देना बन्द कर दिया तथा 18 मई 1975 में कनाडा ने सभी नाभिकीय सहयोग योजनायें खत्म कर दीं तथा कनाडा ने इन्डो कनैडियन न्यूक्लीयर क्वापरेशन समझौतों का सम्पूर्ण पुनरीक्षण की माँग की।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका—भारत अमेरिका सहयोग मुख्य रूप से तारापुर परमाणु बिजलीघर से सम्बन्धित है। इस संयन्त्र के लिये अमेरिका द्वारा भारी पानी की पूर्ति की जाती है। 8 अगस्त 1963 में भारत अमेरिका के बीच एक द्विपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। 7 दिसम्बर, 1963 को अन्तर्राष्ट्रीय विकास के लिए स्थापित अमेरिका एजेन्सी 600 मिलियन की सहायता विदेशी सामग्री आयात निर्यात (Exchange) करने के लिये प्रदान की तथा अमेरिका अणु ऊर्जा विभाग ने 17, मई 1966 को एक नियम पत्र (Contract) पर हस्ताक्षर किये जिसमें यू-235 तारापुर के इंधन के लिए जीवन पर्यन्त (लगभग 30 वर्ष) देना स्वीकार किया। तारापुर के लिये यह भी निर्दिष्ट किया गया कि जब तक अमेरिका इंधन देता रहेगा तब तक अन्य इंधन का प्रयोग नहीं किया जाये। संसद में इस विषय पर काफी विवाद हुआ और समिति ने यह महसूस किया कि इस समझौते के अनुसार तारापुर का भाग्य अमेरिका के हाथों में होगा।

अप्रैल 1976 में अमेरिका ने भारत को यू-235 देना रोक दिया। इस विषय में वार्ता चल रही है। अमेरिका भारत को यू-235 सप्लाई करने के लिये तैयार है यदि भारत भविष्य में अपनी आणविक नीति के विकास के सम्बन्ध में कुछ बातों को स्वीकार कर ले। अमेरिका की इस बाधा को भारत स्वीकार करने को तैयार नहीं है। 12 टन यू-235 भारत अब तक प्राप्त कर चुका है। दूसरा ऋणांश अभी बाकी है जिसके विषय में कई वर्षों से वार्ता चलती रही। सचिव श्री एरिक जोसातवेज तथा डॉ० होमी सेठना की हाल की वाशिंगटन यात्रा के दौरान यह साफ-साफ बता दिया गया है कि अमरीका के बर्तमान कानून के अनुसार अब वह तारापुर लिए के परमाणु इंधन की आपूर्ति नहीं कर सकता। रीगन प्रशासन का कहना है कि उसे अपने पूर्व प्रशासन (कार्टर प्रशासन) की नीतियों से बाध्य होकर यूरेनियम की आपूर्ति सम्बंधी समझौते को समाप्त करना पड़ रहा है।

फ्रांस—भारत फ्रांस लाभदायक सहयोग रहा है। सितम्बर 1969 अणु ऊर्जा विभाग ने बड़ौदा भारी पानी संयन्त्र के सम्बन्ध में फ्रांस के एक समझौते पर हस्ताक्षर किया। इस समझौते के अनुसार फ्रांस ने भारत को प्रारूप (design) और उपकरण देना स्वीकार। ऐसा ही एक समझौता तूतीकोरन भारी पानी संयन्त्र के सम्बन्ध में भी अप्रैल 1971 में किया गया।

कलपक्कम में फास्ट ब्रीडर रिऐक्टर की स्थापना मूलरूप से फ्रांस के सहयोग से की गयी। ये रिऐक्टर फ्रांस के कैडगो नामक स्थान पर स्थित रेप सोडाई रिऐक्टर के समान ही है। किन्तु विद्युत शक्ति उत्पन्न करने के लिये इसमें सुधार किया गया है।

11 अप्रैल, 1969 में एक अन्य समझौते पर परमाणु ऊर्जा विभाग और फ्रांस के सी० ई० ए०। (Comissarat A. L. Energy Atomique) के मध्य हस्ताक्षर किया गया। मार्च 1973 में अणु ऊर्जा विभाग और फ्रांस स्टीन इन्डस्ट्री के मध्य एक समझौते पर हस्ताक्षर हुआ, जिसमें 40 एम डब्लू क्षमता वाले सोडियम शीतक परीक्षण रिऐक्टर स्थापित करना तय हुआ।

सोवियत यूनियन : भारत को औद्योगिक विकास में उसका सहयोग काफी रहा है, किन्तु नाभिकीय सहयोग उतनी मात्रा में नहीं प्राप्त हो सका। यद्यपि आणविक क्षेत्र में इसके साथ किसी महत्वपूर्ण सहयोग की वर्तमान समय में आशा नहीं है परन्तु दोनों देशों के मध्य इस क्षेत्र में सम्बन्धिय विकास की विभिन्न सूचनाओं के आदान-प्रदान के सन्दर्भ में सहमति है। जब कनाड़ा ने भारत को भारी पानी (D_2O) देना बन्द कर दिया तो रूस ने 200 टन भारी पानी देना स्वीकार किया जिसमें से 55 टन भारी पानी 1976 तक भारत प्राप्त कर चुका है। नवम्बर 1977 में अन्य 195 टन का ऋणांश देना भी स्वीकार किया।

अन्य देश : भारत अन्य बिभिन्न देशों के साथ शान्ति-

पूर्ण उद्देश्यों हेतु आणविक शक्ति के विकास में सहयोग कर रहा है।

अणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रयोग करने के लिए भारत अन्य देशों से सहयोग की द्विपक्षीय समझौते अफगानिस्तान, अरजन्टाईना बेल्जीयम, बंगलादेश, चिकोस्लाविया, डेनमार्क, ईजिप्ट, इजराईल, रिपब्लिक ऑफ जर्मनी, जर्मन डिमोक्रैटिक रिपब्लिक, हंगरी, इटली, ईराक, रूमानिया तथा स्पेन के साथ किये।

आगामी योजनाएँ

भारतीय अणु ऊर्जा विभाग की स्वतजी एक थोरियम आधारित संस्थान विकसित करने की है। भारत में थोरियम का प्रचुर भंडार है जिसको बिना विकसित किये ही यू-238 में परिवर्तित किया जा सकता है। भविष्य में शक्ति संयन्त्रों के ईंधन के रूप में यू-233 को प्रयोग करने का परीक्षण किया जा चुका है। यह क्रिया निकट भविष्य में औद्योगिक रूप से कार्य करने लगेगी। उस समय यू-233 आधारित शक्ति संयन्त्रों को विकसित करने वाला भारत सर्वप्रथम राष्ट्र होगा।

स्व० डा० साराभाई ने 1970-80 तक अणु ऊर्जा विकास की विस्तृत योजना बनाई थी। अणु ऊर्जा विभाग एक ऐसी रूपरेखा (Profile) बना रहा है जिसके अन्तर्गत सन् 1990 तक 6 से 8 मिलियन के डब्लू नाभिकीय शक्ति क्षमता प्राप्त की जा सकेगी। इसके लिये सामयिक आकार के 15 केन्द्र चाहिये तथा द्वितीय चरण में 25,000 मिलियन मुद्रा चाहिये।

अणु ऊर्जा विभाग ने यूरेनियम को उन्नयित करने और लेसर उत्प्रेरित विखंडन के लिये लेसर तकनीकी के विकास पर जोर दिया है।

भारत का पांचवां रिऐक्टर (code name R—5) मुख्यत: विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिये प्लूटोनियम उत्पादित करेगा जिसकी क्षमता 100 एम डब्लू होगी। डॉ० सेठना ने फरवरी 1976 में कहा कि आशा की जाती है कि भारत की वर्तमान नाभिकीय शक्ति क्षमता आगामी पाँच वर्षों में लगभग दुगुनी हो जायेगी। उन्होंने कहा कि भारत में नाभिकीय शक्ति योजना निर्धारित की जा चुकी है जिससे भारत शक्ति के क्षेत्र में स्वयं एक सक्षम देश होगा।

भारत सरकार रक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट (1980-81) के अनुसार रक्षा उत्पादन को इस प्रकार मोड़ दिया गया जिससे आगामी 10-15 वर्षों के अन्दर आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के साथ साथ अयातित तकनीकी पर निर्भरता समाप्त हो सके।

छठी योजना में परमाणु ऊर्जा विभाग के विभिन्न कार्यक्रमों के लिये 1,00 करोड़ रुपये से अधिक की राशि निर्धारित की गयी है। इस अवधि में छह अतिरिक्त का निर्माण किया, जिनमें से प्रत्येक की क्षमता 235 मेगावाट होगा। ये रिऐक्टर इस समय नरोरा में निर्माणाधीन रिऐक्टर के डिजाइन पर तैयार किये जायेंगे। अगले 20 वर्षों के लिये तैयार किये नये परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम के अनुसार ऐसे 10 रिऐक्टर तैयार दिये जायेंगे और इसके बाद 12 और रिऐक्टर लगाये आयेंगे जिनमें से प्रत्येक की क्षमता 500 मेगावाट होगी।

डॉ० सेठना 27 अप्रैल को भारतीय इंजीनियरी उद्योग के एसोसिप्ट्रान की वार्षिक आम बैठक में कहा कि यदि अमेरिका भारत को यूरेनियम देना बन्द कर देता तो भी तारापुर संयन्त्र चालू रहेगा। उन्होंने कहा कि वर्ष 2,000 तक 80,000 मेगावाट अतिरिक्त बिजली उत्पादन की एक बड़ी योजना बनायी गयी है। इसका अर्थ यह होगा कि अगले 20 वर्षों के दौरान प्रतिवर्ष लगभग 5,000 मेगावाट अतिरिक्त बिजली का उत्पादन किया जायेगा जिसके परिणामस्वरूप कुल बिजली उत्पादन 1 लाख 10 हजार मेगावाट हो जायेगा।

परिषद् का पृष्ठ

(1) पिछले दिनों 'टाइम्स' पत्रिका के माध्यम से अमेरिका से कुछ चौंकाने वाले समाचार मिले हैं। समाचार चूँकि विकासवाद से सम्बन्धित हैं इस कारण धार्मिक और वैज्ञानिक दोनों क्षेत्रों में हलचल होनी स्वाभाविक ही है। विकासवाद और इसके प्रणेता चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन सदैव ही चर्चा के विषय रहे हैं। 1859 में जब डार्विन की युगान्तरकारी कृति 'ओरिजिन ऑव द स्पेशीज' प्रकाशित हुई तो उसकी सभी 1,250 प्रतियाँ पहले ही दिन बिक गईं। पुस्तक के प्रकाशन के कुछ समय बाद तक तो विकासवाद अवश्य विवाद का विषय रहा, किन्तु पिछले दशक तक तो विकासवाद के सिद्धान्त से संबंधित इतनी अधिक वैज्ञानिक सामग्री जुटाई जा चुकी है कि थोड़े से परिवर्तन के साथ डार्विन का विकासवाद सर्वमान्य हो चुका है किन्तु अमेरिका में पुनः विकासवाद को नकारने की लहर की शुरुआत की घटना भी बड़ी ही दिलचस्प है। हुआ यों कि एक दिन स्कूल से वापस आने के बाद एक अमेरिकी छात्र डूरिक ने अपनी माँ से कहा कि 'विकासवादी ईश्वर को नहीं मानते।' और फिर इसी को लेकर वह बवेला मचा कि सृष्टिवादियों का एक दल प्रेसिडेन्ट रीगन के पास यह माँग लेकर पहुँच गया कि विकासवाद को स्कूलों में पढ़ाया ही नहीं जाना चाहिए।

आज डार्विन की बीगॅल यात्रा के 150 वर्ष हो गये हैं, 'ओरिजिन ऑव द स्पेशीज' के प्रकाशन के 120 वर्ष से अधिक हो गये हैं और 19 अप्रैल, 1982 को डार्विन को शरीर त्यागे हुये 100 वर्ष पूरे हो जायेंगे। इस कारण एक बार पुनः वह समय आ गया है जब डार्विन और उनके विकासवाद के सिद्धान्तों की जाँच आवश्यक हो गई है। वर्तमान में डार्विनवाद की प्रासंगिकता की क्या स्थिति है इस पर पुनः विचार करना आवश्यक हो गया है।

इसी उद्देश्य से विज्ञान परिषद् ने डार्विन के विकासवाद से संबंधित एक रोचक भाषणमाला आयोजित की है जिसमें अनेक विद्वान वक्ता भाग ले रहे हैं। इस भाषणमाला के पहले वक्ता हैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राणिविज्ञान विभाग के शोध-छात्र श्री अरविन्द मिश्र जिनका विषय होगा 'ईश्वर डार्विन और मनुष्य' तथा दूसरे वक्ता हैं सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद के वनस्पति विभाग के अध्यक्ष डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव जो 'डार्विन का आगमन' विषय पर भाषण देंगे। हमें और भी अनेक विद्वानों की स्वीकृति प्राप्त हो गई है पर उनका विषय अभी ज्ञात होना शेष है।

(2) 'विज्ञान' पत्रिका दिसम्बर '81 और जनवरी 1982 संयुक्तांक-विशेषांक होगा। इसमें विद्वान लेखकों द्वारा विकासवाद पर रचनायें होंगी। डार्विन की दो पुस्तकों—'ओरिजिन ऑव द स्पेशीज' और "डिसेन्ट ऑव मैन" का सार-संक्षेप भी दिया जा रहा है। इस विशेषांक का विमोचन 2 जनवरी, 1982 को साइन्स कांग्रेस के अवसर पर मैसूर में होगा। विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद के सभी सभ्य इस अवसर पर सादर आमन्त्रित हैं।

प्रे० चं० श्री०
संयुक्त मंत्री

हिन्दी में वैज्ञानिक विश्वकोश
भारत की संपदा
प्राकृतिक पदार्थ

भारत के प्राकृतिक पदार्थों—वनस्पतियों, खनिजों, प्राणियों के बारे में वैज्ञानिक तथ्यों से परिपूर्ण 'वैल्थ ऑफ इण्डिया-रॉ-मैटीरियल्स' का लगभग 5000 पृष्ठों में परिष्कृत एवं परिवर्धित हिन्दी संस्करण प्रामाणिक जानकारी के लिए हिन्दी अकारादि क्रम में, 10 खण्डों में 'भारत की सम्पदा' नाम से सचित्र वैज्ञानिक विश्वकोश के रूप में प्रकाशित हो रहा है।

लेख किस बारे में है :

भारत की सम्पदा में विशेषज्ञों द्वारा लिखे गये विनिबंधी (मोनोग्राफिक) लेख ऐसे खनिजों, जीवों और पेड़-पौधों के बारे में हैं जिनसे ओषधियाँ, खाद्य-पदार्थ, फसलें, पेय-पदार्थ, फल, नट और मसाले अथवा वसा, तेल, शाक, सगंध तेल, स्वापक, धूमक तथा चर्वणीय पदार्थ या रंग-रोगन, रेशे और लुगदी, प्रकाष्ठ तथा वन उत्पादों आदि में से कोई पदार्थ प्राप्त होता है।

लेखों में क्या मिलेगा

वनस्पतियों की सही पहचान और उनके वैज्ञानिक नामों के साथ भारतीय भाषाओं के प्रचलित नाम मिलेंगे, अतिरिक्त जानकारी प्राप्त करने के लिये संदर्भ ग्रंथों की सूची मिलेगी। संदर्भों के उचित उल्लेख के साथ संभाव्य अद्यतन आंकड़े मिलेंगे। प्रत्येक खण्ड के अंत में उसमें आये भारतीय भाषाओं के नामों की अनुक्रमणिका (इण्डेक्स) मिलेगी, फसल पौधों के बारे में उनकी खेती, कटाई भण्डारण, रोग तथा नाशक जीव और उनका नियन्त्रण मिलेगा। प्राकृतिक पदार्थों के उत्पादों के रासायनिक संगठन तथा उपयोग मिलेंगे और महत्वपूर्ण आर्थिक उत्पादों के भारत में प्राप्ति-स्थान, उत्पादन, आयात, तथा निर्यात के आंकड़े मिलेंगे।

खण्ड	पृष्ठ	शीर्षक	चित्र	मूल्य (रु.*)
प्रथम (अ-औ)	404	723	150	38.00
द्वितीय (क)	446	650	124	36.00
तृतीय (ख-न)	450	501	166	36.00
चतुर्थ (प)	430	312	115	83.00
पंचम् (फ से मेरे)	391	448	103	60.00
पूरक खण्ड				
पशुधन और कुक्कुट पालन	298	145	125	34.00
मत्स्य और मात्स्यिकी	173	...	107	49.00
			योग	336.00

षष्ठम् खण्ड (मेल-रूबिया) प्रस में तथा खण्ड सात से दस प्रकाशनाधीन

*संस्थाओं और पुस्तकालयों को 10% छूट; पैकिंग और डाक व्यय 15 रु. अतिरिक्त

यह ग्रंथमाला वैज्ञानिकों, उद्योगपतियों, विद्यार्थियों, शिक्षण और अनुसंधान संस्थानों, पुस्तकालयों, विकास अधिकारियों तथा जन साधारण के लिये समान रूप से उपयोगी है।

बिक्री और वितरण अधिकारी

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, सी. एस. आई. आर., हिलसाइड रोड, नई दिल्ली—110012

डॉ० सुब्रह्मण्यम चन्द्रशेखर

पूनम वार्ष्णेय

द्वारा डॉ० वाई० पी० वार्ष्णेय, ओटावा विश्वविद्यालय, कनाडा

भारत में जन्मे अमेरिकी नागरिक डॉ० सुब्रह्मण्यम चन्द्रशेखर को वर्ष 1983 के लिये भौतिकी के नोबेल

पुरस्कार (संयुक्त रूप में) से सम्मानित किया गया है। उन्हें यह पुरस्कार 'तारों की **संरचना व उद्‌गम की भौतिक प्रक्रिया के सैद्धान्तिक अध्ययन**' के लिए दिया गया। डॉ० चन्द्रशेखर अमेरिका में बसे दूसरे भारतीय हैं, जिन्हें नोबेल पुरस्कार दिया गया है। इससे पूर्व डॉ० हरगोविन्द खुराना को आनुवंशिकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय अनुसंधान के लिए नोबेल पुरस्कार दिया जा चुका है। 19 अक्टूबर को डॉ० चन्द्रशेखर का जन्मदिन था और इसी दिन उनके नाम नोबेल पुरस्कार की घोषणा होने के कारण यह उनके 'जन्म दिवस' का उपहार सिद्ध हुआ।
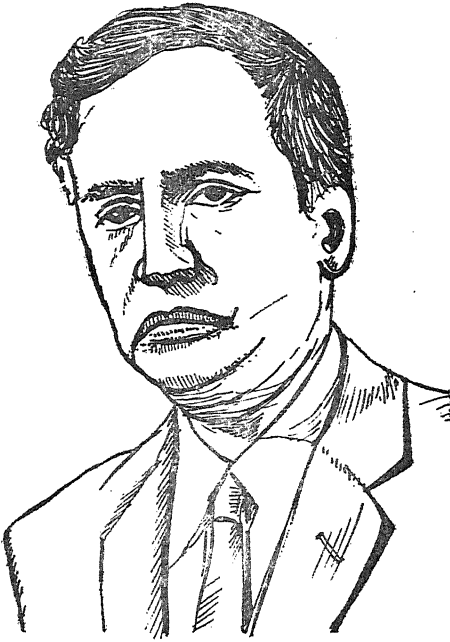
चन्द्रशेखर का जन्म 19 अक्टूबर 1910 को भारत के लाहौर (अब पाकिस्तान में है) नामक शहर में हुआ था। इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा प्रेसीडेंसी कॉलेज, मद्रास में पायी। 1930 में मद्रास विश्वविद्यालय से इन्होंने बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। उसी वर्ष उन्हें भारत सरकार से उच्च शिक्षा के लिये एक छात्रवृत्ति मिल गई और वे आगे की शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड चले गये। 1933 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से इन्होंने पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त की। 1933 से 1937 तक डॉ० चन्द्रशेखर ट्रिनिटी कॉलेज, इंग्लैण्ड में फैलो के रूप में रहे, फिर अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय में रिसर्च एसोशिएट के पद पर नियुक्त किये गये।

1936 में डॉ० चन्द्रशेखर का विवाह ललिथा डोरेस्वामी के साथ हुआ।

शिकागो विश्वविद्यालय, अमेरिका में ही ये 1938 में खगोलभौतिकी (Astrophysics) के असिस्टेंट प्रोफ़ेसर निनुक्त किये गये तथा 1942 में एसोशिएट प्रोफेसर व 1943 में प्रोफेसर हो गये। फिर 1946 में विशिष्ट सेवा प्राचार्य (Distinguished Service Professor) हुए। 1946 में ही कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से इन्होंने एस. सी. डी. (Sc. D.) की डिग्री प्राप्त की। 1952 में खगोल भौतिकी के (मॉर्टन डी० हाल डिस्टिंगिश्ड सर्विस प्रोफेसर (Morton D. Hall Disting-

uished Service Professor) के रूप में नामांकित किये गये। 1952 से 1971 तक डॉ० चन्द्रशेखर एस्ट्रोफिजिकल जर्नल (Astrophysical Journal) के प्रबंध संपादक रहे। 1968 में इन्होंने भारत में नेहरू मेमोरियल लेक्चर दिया था। भारत के प्रमुख भौतिकीविज्ञानी डॉ० सी० वी० रमन (नोबेल पुरस्कार विजेता, 1930) इनके चाचा थे।

शरीर से दुबले-पतले और 5 फुट 6 इंच लम्बे डॉ० सुब्रह्मण्यम चन्द्रशेखर को टॉलस्टाय का साहित्य तथा मोत्ज़ार्ट व बीथोवेन का संगीत विशेष प्रिय है।

ऐतिहासिक खोज

जुलाई 1930 में चन्द्रशेखर पानी के जहाज़ से इंग्लैण्ड गये और इसी यात्रा में उनके उस शोध कार्य का आरम्भ हुआ जिसके लिये उन्हें 53 वर्ष बाद पुरस्कार मिला है। क्या थी उनकी खोज ?

तारों की ऊर्जा हाईड्रोजन के हीलियम में परिवर्तित होने से उत्पादित होती है। चन्द्रशेखर ने इस प्रश्न पर विचार किया कि जब सारी हाइड्रोजन समाप्त हो जायेगी तो क्या होगा ? उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि तारे की ऊर्जा उत्पादित करने की दर (rate) कम हो जायेगी ओर वह संकुचन (Contract) भी करने लगेगा। चन्द्रशेखर ने अनुमान किया कि तारे का भार वही रहेगा और संकुचन (Contract) के कारण तारे का घनत्व बढ़ जायेगा। एक दशा ऐसी आ जायेगी कि तारे के अन्दर का द्रव्य-पदार्थ (matter), विकृत या degenerate अवस्था में हो जायेगा। तारे की इस दशा को **'श्वेत वामन तारा'** (White dwarf star) कहते हैं।

1930 से 1936 तक चन्द्रशेखर ट्रिनिटी कॉलेज, कैम्ब्रिज में थे और उन्होंने उन दिनों श्वेत वामन (White dwarf) तारों की थियरी (theory) पर कार्य सम्पन्न किया। उन्होंने पाया कि श्वेत वामन तारे के बीच का घनत्व इतना अधिक हो जायेगा कि सापेक्षवाद के सिद्धान्तों (Theory of Relativity) को श्वेत वामन तारे की थियरी में समावेश करना आवश्यक होगा। उन्होंने रिलैटिविस्टिक डिजेनेरेसी (relativistic degeneracy) की दशा में श्वेत वामन तारों की थियरी का निर्माण क्रिया। उनकी थियरी से तीन मुख्य परिणाम निकले—

1. जितना अधिक श्वेत वामन तारे का भार होगा, उतना ही कम उसका अर्धव्यास होगा।

2. किसी भी श्वेत वामन तारे का भार सूर्य के भार के 1.44 गुने से अधिक नहीं हो सकता। इस भार को **'चन्द्रशेखर सीमा'** (Chandrasekhar limit) कहते हैं।

3. यदि किसी तारे का भार 1.44 गुने सूर्य के भार से अधिक है तो अधिक अवस्था होने पर उस तारे में विस्फोट होगा।

उस समय इंग्लैण्ड में सर आर्थर ऐडिंगटन नामक प्रमुख सैद्धान्तिक खगोलशास्त्री थे। उन्होंने चन्द्रशेखर की थियरी को नहीं माना और जनवरी 1935 की रॉयल एस्ट्रोनोमिकल सोसाइटी की एक मीटिंग में चन्द्रशेखर की थियरी का मज़ाक बनाया। इसका परिणाम यह हुआ कि साधारण खगोलशास्त्रियों ने भी चन्द्रशेखर की थियरी पर विशेष ध्यान नहीं दिया। ऐडिंगटन की 1944 में मृत्यु हो गई।

पिछले 40 वर्षों में खगोलशास्त्रियों के शोध कार्यों से चन्द्रशेखर की थियरी के परिणाम मुख्य रूप से सही पाये गये हैं। कोई भी श्वेत वामन तारा ऐसा नहीं पाया गया है जिसका भार **'चन्द्रशेखर सीमा'** से अधिक हो। अब चन्द्रशेखर की थियरी को पूर्ण मान्यता मिल गई है।

चन्द्रशेखर ने खगोल भौतिकी (Astrophysics) में और भी बहुत सी गवेषणायें की हैं। उसमें से कुछ ये हैं—रेडिएटिव ट्रान्सफर ऑव एनर्जी इन द एटमास्फीयर ऑव स्टार्स (Radiaitve transfer of energy in the atmospheres of stars), कन्वेक्शन ऑन द सोलर सर्फेस एण्ड पोलैराइजेशन ऑव द लाइट फ्राम अर्लीटाइप स्टार्स (Convection on the solar surface and polarization of the light from early type stars)। उन्होंने अनेक पुस्तकों की भी रचना की है जो निम्नलिखित हैं :

[शेष पृष्ठ 8 पर

अंतरिक्ष या कॉस्मिक किरणों का उद्गम
(THE ORIGIN OF COSMIC RAYS)

डॉ० श्यामलाल काकानी
स्नातकोत्तर भौतिकी विभाग, मा० ला० व० राजकीय महाविद्यालय, भीलवाड़ा (राजस्थान)

[अंतरिक्ष किरणों के रूप में प्रकृति ने हमें उच्च ऊर्जा कणों का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत प्रदान किया है। इन किरणों के अध्ययन से प्रायोगिक एवं सैद्धांतिक भौतिकी के क्षेत्रों में अत्यधिक रोचक एवं कभी-कभी विस्मयकारी परिणाम मिले हैं। अंतरिक्ष किरणों से जुड़ा अनुसंधान का अत्यधिक उत्तेजक एवं लाभदायक क्षेत्र मूल कणों की खोज है। मूल कणों की खोज ने नाभिक, नाभिक संरचना एवं नाभिकीय बलों की प्रकृति को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। —सम्पादक]

अंतरिक्ष किरणें आज अनुसंधान का महत्त्वपूर्ण एवं सक्रिय क्षेत्र हैं। इनके अध्ययन से प्रकृति के कई मूल कणों की खोज संभव हो सकी है, जैसे पोजिट्रॉन, विभिन्न प्रकार के मेसॉन एवं हाइपेरॉन इत्यादि। इन कणों की ऊर्जा 10^{10}GeV तक होती है जो कि पृथ्वी स्थित प्रयोगशालाओं में कृत्रिम रूप से त्वरित कणों की ऊर्जा से लगभग 10^8 से 10^9 गुणा तक अधिक होती है। निकट भविष्य में कण त्वरितों से 10^{10} GeV ऊर्जा तक कणों को त्वरित करना असंभव सा ही प्रतीत होता है। अंतरिक्ष किरणों के अध्ययन से न्यूक्लीय संरचना एवं न्यूक्लीय अन्योन्यक्रियाओं के बारे में कई आधारभूत एवं जटिल प्रश्न उत्पन्न हुए हैं। यह उल्लेखनीय है कि अत्यधिक महत्त्व का यह विस्तृत क्षेत्र बहुत क्षीण एवं एक अज्ञात घटना के अध्ययन से सामने आया है—एक आवेशित विद्युतदर्शी से आवेश का क्षरण।

अंतरिक्ष किरणों की खोज : अंतरिक्ष किरणें अत्यन्त वेधी विकिरण हैं जो पृथ्वी के वायुमंडल पर सभी दिशाओं से प्रत्येक समय गिरते रहते हैं। इन विकिरणों की ऊर्जा लगभग 10^{10}GeV तक एवं तरंग दैर्ध्य 10^{-13} मी० से 10^{-15} मी० की कोटि तक होती है। इनकी खोज का विवरण अत्यधिक रोचक है।

सन् 1899 में जर्मनी में ईस्टर और गीटल एवं सन् 1900 में इंगलैण्ड में सी० टी० आर० विल्सन ने देखा कि वायु में रखा एक आवेशित स्वर्णपत्र विद्युतदर्शी कुछ समय के भीतर स्वयं ही विसर्जित हो जाता है। यह भी देखा गया कि यदि विद्युतदर्शी को सीसे की एक मोटी चादर से ढक दिया जाये तो विद्युतदर्शी से विसर्जित होने वाले आवेश की दर में कुछ कमी आ जाती है। उस समय इन प्रयोगों के परिणामों से वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी के गर्भ में स्थित रेडियोऐक्टिव पदार्थों के कारण पृथ्वी के समीप की वायु आयनित होकर चालकता ग्रहण कर लेती है जिससे विद्युतदर्शी से आवेश विसर्जित होने लगता है। सन् 1910 में गोकेले एवं सन् 1912 में बी० एफ० हैस ने गुब्बारों में आवेशित विद्युतदर्शी रखकर उन्हें बहुत ऊँचाई तक भेजा और यह जानने का प्रयास किया कि इतनी ऊँचाई पर क्या होता है? अपने अनुमान के विपरीत इन वैज्ञानिकों ने यह पाया कि इतनी ऊचाई पर विद्युतदर्शी का विसर्जन धीरे-धीरे होने के स्थान पर और अधिक तेजी से होता है। वैज्ञानिक हैस ने उसी वर्ष अपने एक अन्य प्रयोग से यह देखा कि **आयनन कोष्ठ** में आयनीकरण में वृद्धि केवल 5000 मीटर की ऊँचाई तक ही होती है एवं इसके

पश्चात् और अधिक ऊँचाइयों पर जाने पर आयनीकरण की दर में कमी होने लगती है।

आर० ए० मिलिकन ने आवेशित विद्युतदर्शी को एक झील की तली में ले जाकर भी प्रयोग को दोहराया तो पाया कि विसर्जन फिर भी होता है। अतः हैस ने यह सुझाव रखा कि वायु को आयनित करने वाले ये विकिरण पृथ्वी के भीतर से नहीं परन्तु पृथ्वी के बाहर अंतरिक्ष से आते हैं। हैस ने प्रयोगों से यह भी पाया कि दिन एवं रात में चालकता लगभग एक समान रहती है, अतः ये विकिरण सौर विकिरण भी नहीं हैं। इन विकिरणों का उद्गम अंतरिक्ष में कहीं और होना चाहिए। अर्थात् ये विकिरण अंतरिक्ष मूल के हैं। मिलिकन ने 1925 में इन विकिरणों को अंतरिक्ष या कॉस्मिक किरणों की संज्ञा प्रदान की। हैस को इन किरणों की खोज के लिए 1930 में सर्वाधिक सम्मान का भौतिकी का नोबेल पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया।

क्ले ने 1927 में पाया कि अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता अक्षांश (latitude) पर निर्भर करती है। ध्रुवों पर सर्वाधिक एवं विषुवत् रेखा पर न्यूनतम होती है। एक भू-चुम्बकीय प्रभाव है एवं इस विचार की पुष्टि होती है कि अंतरिक्ष किरणें आवेशित कण हैं और ये कण पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में बहुत दूरी से प्रवेश करते हैं।

अंतरिक्ष किरणों की प्रकृति (Nature of Cosmic rays) : अब अनेकों प्रयोगों से यह स्थापित हो चुका है कि अंतरिक्ष किरणें दो प्रकार की होती हैं, (i) प्राथमिक अंतरिक्ष किरणें (ii) द्वितीयक अंतरिक्ष किरणें।

(i) **प्राथमिक अंतरिक्ष किरणें** : इन किरणों का उद्गम पृथ्वी के वायुमंडल से परे सुदूर अंतरिक्ष में कहीं पर है। ये लगभग प्रकाश के वेग से ही गति करती है और ग्रहीय एवं अंतरागैलेक्सी चुम्बकीय क्षेत्रों से विक्षेपित हो सकती हैं।

बैलून प्रयोगों से पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करने वाली अंतरिक्ष किरणों का संयोजन ज्ञात है। इन प्रयोगों से यह पाया गया है कि ये अंतरिक्ष किरणें मुख्य रूप से द्रुतगामी प्रोटॉनों से बनी हैं। इन किरणों में इलेक्ट्रॉन, पोजिट्रॉन या फोटॉनों की उपस्थिति उपेक्षणीय ही होती है। इन किरणों में कण संयोजन प्रमुख रूप से 12% प्रोट्रॉन, 7% अल्फा कण, और 1% भारी नाभिक, कार्बन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, निऑन, मैगनेशियम, सिलिकन, लोहा, कोबॉल्ट एवं निकल होता है। इन किरणों के फ्लक्स की औसत ऊर्जा लगभग 6 GeV होती है। इसका अधिकतम मान लगभग 10^{10}GeV तक हो सकता है। पृथ्वी पर पहुँचने वाले विकिरण लगभग पूर्णरूप से समदैशिक होते हैं। सारणी 1 में इन किरणों का संयोजन प्रदर्शित किया गया है।

सारणी—1

प्राथमिक अंतरिक्ष किरणों का संयोजन

नाभिकों का समूह	आवेश Z	अभिवाह घनत्व मी०$^{-2}$ — Sr^{-1} — से०$^{-1}$	अभिवाह का कुल प्रतिशत
प्रोटॉन	1	1300	92·9
हीलियम नाभिक	2	88	6·3
हल्के नाभिक (Li, Be, B)	3 से 5	1·9	0·13
मध्य नाभिक (C, N, O, F)	6 से 9	5·6	0·4
भारी नाभिक (नियोन एवं उससे परे)	$>>10$	2·5	0·18
अति भारी नाभिक	$>>20$	0·7	0·05

जैसे ही प्राथमिक अंतरिक्ष किरणें पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करती हैं तो वायुमंडलीय परमाणुओं के साथ तेजी से बहु संघटन (Multiple Collision) प्रारंभ हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप वर्षण में बृहत् संख्या में कई द्वितीयक कण उत्पन्न होते हैं। अत: जब एक प्राथमिक प्रोटॉन का संघटन एक ऑक्सीजन या नाइट्रोजन नाभिक से होता है तो परिणाम स्वरूप नाभिकीय वर्षण होता है।

(ii) द्वितीयक अंतरिक्ष किरणें (Secondary cosmic rays) : जब प्राथमिक अंतरिक्ष किरणों के प्रोटॉन पृथ्वी के ऊपरी वायुमंडल में ऑक्सीजन एवं नाइट्रोजन के नाभिकों के साथ अप्रत्यास्थ संघटित होते हैं तो π–मेसॉनों (धनात्मक, ऋणात्मक एवं उदासीन) के वर्षण साथ-साथ कुछ हाइपेरॉनों की उत्पत्ति भी होती है। इनको द्वितीयक अंतरिक्ष किरणें कहते हैं। 20 किमी० की ऊँचाई से नीचे की ओर सभी अंतरिक्ष विकिरण द्वितीयक होते हैं। 5×10^{9}eV से अधिक ऊर्जा होने पर प्राथमिक कणों का वायु के अणुओं के साथ अप्रत्यास्थ संघटन के परिणाम स्वरूप इलेक्ट्रॉन न्यूक्लीय वर्षण प्रारंभ हो जाता है। प्राथमिक कणों एवं वायु के परमाणुओं के नाभिकों के मध्य अन्योन्यक्रिया के परिणामस्वरूप वायु के परमाणुओं के नाभिक पृथक न्यूक्लिऑनों में विदरित हो जाते हैं या बृहद खंडों में टूट जाते हैं जिससे अस्थिर कण ($\pi \pm$ एवं π° मेसॉन) बनते हैं। बहुत से आवेशित $\pi\pm$ मेसॉनों का μ मेसॉनों में क्षय हो जाता है।

$$\pi^{+} \rightarrow \mu^{+} + \gamma \text{ (न्यूट्रिनों)}$$

$$\pi^{-} \rightarrow \mu^{-} + \gamma$$

$\mu\pm$ मेसॉन नाभिकों से क्रिया नहीं करते हैं और बहुत कम ऊर्जा ह्रास के साथ समुद्र के तल पर पहुँचते हैं। समुद्र तल अंतरिक्ष किरणों में 80%$\pm$ मेसॉन ही पाये जाते हैं।

उदासीन π° मेसॉन का क्षय निम्नानुसार γ किरण फोटॉन में हो जाता है।

$$\pi^{\circ} \rightarrow \gamma + \gamma$$

γ किरण फोटॉन इलेक्ट्रॉन युग्मों में परिवर्तित हो जाता है :

$$\gamma = e^{+} + e^{-}$$

ये तीव्रगामी इलेक्ट्रॉन, फोटॉनों का विकिरण करते हैं जो स्वयं इलेक्ट्रॉन-पोजीट्रॉन युग्म उत्पन्न करते हैं (चित्र 1)। इस प्रकार सोपानी वर्षण प्रक्रम जारी रहता है जिसमें एकान्तर क्रम में इलेक्ट्रॉन पोजीट्रॉन युग्म एवं फोटॉन बनते हैं। इस प्रकार की बौछारें सन् 1933 में सर्वप्रथम मेघकोष्ठ फोटोग्राफों में ब्लैकिट एवं ओक्चियालिनी द्वारा देखी गई थी।
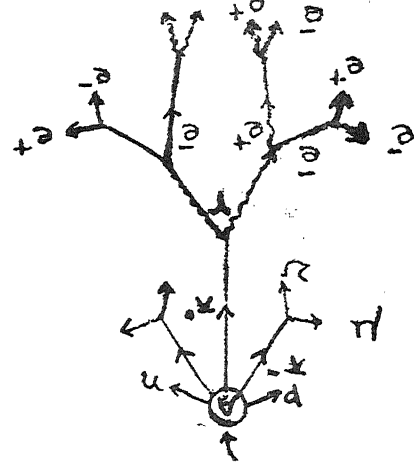
चित्र 1

अल्पवेधी एवं अतिवेधी घटक—जैसा कि स्पष्ट है कि अंतरिक्ष किरणें एक समांगी पुंज नहीं होती हैं। पदार्थ में उनका अवशोषण यह प्रदर्शित करता है कि ये दो घटकों से निर्मित होती हैं। (i) प्रथम घटक 10 सेमी० मोटाई की सीसे की प्लेट से पूर्ण रूप से रुक जाता है एवं (ii) दूसरा घटक 10 सेमी० मोटाई की सीसे की प्लेट का वेधन कर जाता है। प्रथम प्रकार के घटक को अल्पवेधी एवं द्वितीय प्रकार के घटक को अतिवेधी घटक कहते हैं।

अल्पवेधी घटक इलेक्ट्रॉनों, पोजिट्रॉनों, एवं फोटॉनों से निर्मित होता है जो कि वायुमंडल में उत्पन्न होते हैं, जिनकी ऊर्जा 200 mev से कम होती है। सीसे द्वारा ये सरलता से अवशोषित हो जाती हैं।

अतिवेधी घटक प्राथमिक अतरिक्ष किरणों से निर्मित होता है। इस घटक में कुछ प्रतिशत मेसॉन भी होते हैं जिनकी वेधन शक्ति बहुत अधिक होती है।

अंतरिक्ष किरणों में विचरण

अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता पृथ्वी पर सभी स्थानों पर एक-सी नहीं होती है। यह देखा गया है कि अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता अक्षांश, उन्नतांश एवं दिशा के साथ परिवर्तित होती रहती है।

(i) **अक्षांश प्रभाव**—प्रयोगों से यह देखा गया है कि अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता चुंबकीय ध्रुवों के पास सबसे अधिक एवं एक समान होती है। चुंबकीय विषुवत् रेखा की ओर इनकी तीव्रता में बड़ी तेजी से कमी होती जाती है। अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में यह परिवर्तन केवल पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के कारण ही हो सकता है (चित्र 2)। चित्र 3 में अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता का अक्षांश के साथ परिवर्तन वक्र प्रदर्शित किये गये हैं।
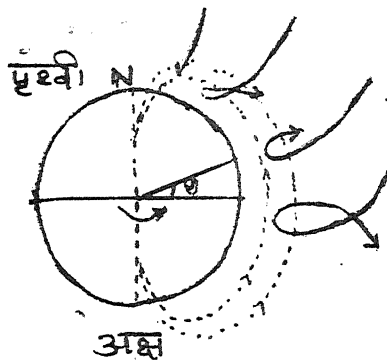
चित्र 2
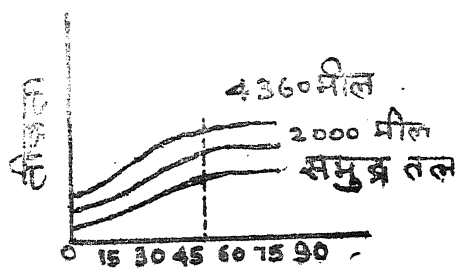
(ii) **दिशा प्रभाव**—प्रयोगों से यह देखा गया है कि पृथ्वी पर पश्चिम से आने वाले अंतरिक्ष कणों की प्रति सैकंड संख्या पूर्व की अपेक्षा अधिक होती है। इस प्रभाव को पूर्व पश्चिम असममिति या दिशा प्रभाव कहते हैं। चुंबकीय विषुवत् रेखा पर यह प्रभाव विशेष रूप से देखने में आता है।

(iii) **उन्नतांश प्रभाव** (Altitude Effect)—पृथ्वी की सतह से ऊपर की ओर जाने पर अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता में ऊँचाई के साथ तेजी से वृद्धि होती है। 1933 एवं 1938 के मध्य आर० ए० मिलिकन ने पांच विभिन्न स्थानों पर जिनके अक्षांश 3°N से 60°N तक परिवर्तित होते हैं, 60000 फीट की ऊँचाई पर परीक्षण किये एवं प्रेक्षण लिए। चित्र 4 में इन्हें प्रदर्शित किया गया है। एंडरसन ने 1935 में 15 मील की ऊँचाई तथा 51°N अक्षांश पर प्रेक्षण लिए एवं विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता समुद्र तल पर तीव्रता की तुलना में लगभग 170 गुनी अधिकतम है। इससे यह प्रकट होता है कि अधिकांश अंतरिक्ष किरणों का उद्गम स्रोत सुदूर अंतरिक्ष में कहीं पर है।

अंतरिक्ष किरणों का उद्गम

जब हम अंतरिक्ष किरणों के उद्गम की समस्या पर विचार करना प्रारंभ करते हैं तो वास्तव में हम परि-

चित्र 3
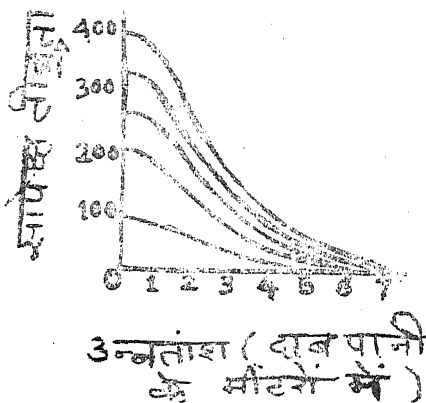
चित्र 4

कल्पनाओं के परिमंडल में विचरण करने लग जाते हैं; अंतरिक्ष किरणों के उद्गम के लिए कई अभिगृहीतों का प्रतिपादन किया गया है लेकिन इनमें से किसी भी अभिगृहीत की संपुष्टि संभव नहीं हो सकी है, क्योंकि ये आकाश या समय में अत्यधिक दूरी पर घटना को संबंधित करती है।

जब हम अंतरिक्ष किरणों के उद्गम की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य प्राथमिक अंतरिक्ष किरणों से ही है। यह तथ्य एक प्रकार से पूर्णतया स्थापित हो चुका है कि इन किरणों का उद्गम पृथ्वी के वायुमंडल के बाहर है। ये किरणें सूर्य या तारों के किसी एक समूह से उत्सर्जित नहीं होती है क्योंकि दिन एवं रात में और वर्ष से वर्ष तक इनकी तीव्रता स्थिर रहती है। अब हम अंतरिक्ष किरणों के उद्गम के कुछ सिद्धांतों का उल्लेख करेंगे।

(i) **विस्फोट सिद्धान्त**—रेग्नेर इत्यादि वैज्ञानिकों ने यह सुझाव रखा कि बहुत पहले हमारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक बहुत बड़े अकेले नाभिक में ही संकेन्द्रित था। लगभग 3×10^9 वर्षों पूर्व इस ब्रह्माण्ड का विस्फोट हुआ जिससे आकाश गंगायें बनीं जो परस्पर एक दूसरे से अत्यधिक तीव्र वेगों से दूर हटती जा रही हैं। उनके अनुसार अंतरिक्ष किरणें, विखंडन की धूल अथवा मलबा है जो तब से ब्रह्माण्ड के चक्कर लगा रहा है। यद्यपि इस सिद्धान्त के आधार पर अंतरिक्ष किरणों में समागम अत्यधिक ऊर्जा की व्याख्या तो कर सकते हैं लेकिन अंतरिक्ष किरणों में भारी नाभिकों की उपस्थिति की व्याख्या करना इससे संभव नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के भयंकर विस्फोट से भारी न्यूक्लिअस को अपने घटक कणों जैसे प्रोटॉनों एवं न्युट्रॉनों में विखंडित हो जाना चाहिए था।

(ii) **विलोपन सिद्धान्त**—मिलिकन ने सुझाव रखा कि अन्तरतारकीय आकाश की गहराइयों में द्रव्य विलुप्त होकर ऊर्जा में परिवर्तित होता रहता है। कुछ समय पश्चात् आरले ने इसमें कुछ संशोधन कर प्रस्तुत किया। आरले ने बताया कि द्रव्य, प्रोटॉनों एवं इलेक्ट्रॉनों से निर्मित है एवं जब यह प्रतिद्रव्य जो प्रति-प्रोटॉनों (anti-protons) एवं पोजीट्रॉनों से निर्मित होता है, के संपर्क में आता है तो प्रत्येक का विलोपन हो जाता है जिससे ऊर्जा निर्मुक्त होती है। इस सिद्धान्त से यह व्याख्या करना असंभव है कि किस प्रकार से विलोपन द्वारा 10^{17}eV तक की ऊर्जा उत्पन्न की जा सकती है। सबसे भारी नाभिक (U^{235}) विलोपित होने पर लगभग 10^{11}eV ऊर्जा ही उत्पन्न करता है।

(iii) **त्वरण सिद्धान्त**—अंतरिक्ष किरणों की अत्याधिक ऊर्जा की व्याख्या के लिए कुछ वैज्ञानिकों ने आकाश गंगा एवं अंतरतारकीय आकाश में परिवर्ती चुंबकीय क्षेत्रों की कल्पना की है। उनका मत है कि परिवर्ती चुंबकीय क्षेत्र की उपस्थिति में ये कण त्वरित होकर अत्यधिक ऊर्जा ग्रहण कर लेते हैं (साइक्लोट्रॉन की तरह)। लेकिन अभी तक ऐसे कोई साधन उपलब्ध नहीं है जिससे आकाशगंगा एवं अंतरतारकीय आकाश में परिवर्ती चुंबकीय क्षेत्रों की पुष्टि की जा सके। कुछ वैज्ञानिकों का ऐसा मत है कि सूर्य के चारों ओर भी परिवर्ती चुम्बकीय क्षेत्र होता है जो कणों के लिए बीटाट्रॉन का कार्य करता है जिसमे ये कण त्वरित होते हैं। लेकिन अभी तक इस मत की पुष्टि संभव नहीं हो सकी है।

(iv) **विकर्षण सिद्धान्त** (Repulsion theory)—1950 में प्रो० बोन्डी ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार प्रोटॉन पर धनात्मक आवेश इलेक्ट्रॉन पर ऋणात्मक आवेश से कुछ अधिक होता है। यह अन्तर बहुत सूक्ष्म होता है, इतना सूक्ष्म कि जितना अंतर 10^{18} में 1। यदि ऐसा है तो सम्पूर्ण द्रव्य विद्युतीय धनात्मक होगा। समान आवेशों में परस्पर विकर्षण होता है अतः ब्रह्माण्ड के विभिन्न भाग एक दूसरे से दूर हटने लग जायेंगे। इस आधार पर उन्होंने यह सुझाव रखा कि तारों का और आकाशगंगाओं का आगे और निर्माण रुक जायेगा। इसकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—ब्रह्माण्ड में अपनी उड़ान के दौरान टूटे हुए वृहद् द्रव्य खंडों में परमाणु प्रकाश एवं अन्य विकिरणों का अवशोषण कर लेते हैं। ये परमाणु आयनीकृत हो जाते हैं और खंड ऋणात्मक आवेश को बनाए रखकर धनात्मक कणों को अपने क्षेत्र से बाहर की ओर धकेल देते हैं। ये ऊर्जस्वी कण अंतरिक्ष किरणों का निर्माण करते हैं। लेकिन इस सिद्धान्त की

सत्यता के लिए इस बात की प्रायोगिक पुष्टि अभी तक संभव नहीं हो सकी है कि प्रोटॉन एवं इलेक्ट्रॉन पर आवेशों में अत्यधिक सूक्ष्म अंतर होता है।

अभी तक अंतरिक्ष किरणों के उद्गम के बारे में प्रतिपादित कोई भी सिद्धान्त पूर्ण नहीं है। जैसे-जैसे हमारी आकाशगंगा में तारों के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती जायेगी हम इस समस्या के समाधन के निकट पहुँचते जायेंगे।

अंतरिक्ष किरण अनुसंधान का भविष्य एवं उपयोग

आजकल रॉकेटों एवं कृत्रिम उपग्रहों की सहायता से पृथ्वी के चारों ओर घिरे निकटतस्थ आकाश में अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता एवं पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र में परिवर्तनों के प्रेक्षण लेकर अध्ययन किया जाता है।

अंतरिक्ष किरणों से संबंधित अत्यधिक उच्च ऊर्जा एवं परमाण्वीय नाभिकों में इनका सरलता से वेधन न्यूक्लीय संरचना के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करता है।

अंतरिक्ष किरणों के साथ अनुसंधान का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं उत्तेजक क्षेत्र मूल कणों की खोज है। सन् 1932 में एंडरसन द्वारा अंतरिक्ष किरणों में पोजीट्रॉन की खोज के पश्चात् कई आश्चर्यजनक गुणों वाले मूल कणों की खोज हो चुकी है। ये मूल कण नाभिक एवं नाभिकीय संरचना के हमारे अनुसंधान कार्यों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं (विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये परमाण्वीय एवं न्यूक्लीय भौतिकी डॉ० श्याम लाल काकानी इत्यादि, M/s स्टूडेन्ट बुक कम्पनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर-3)।

□

[पृष्ठ 2 का शेषांश]

(1) इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव स्टेलर स्ट्रक्चर, 1930

(2) प्रिन्सपल्स ऑव स्टेलर डाइनैमिक्स, 1942

(3) रेडियेटिव ट्रान्सफर, 1950

(4) हाइड्रोडाइनैमिक एण्ड हाइड्रोमैगनेटिक स्टेबिलिटी

(5) इलिप्स्वायल फिगर्स ऑव इक्वीलिब्रियम, 1969

(6) द मैथेमैटिकल थियरी ऑव ब्लैक होल्स, 1983

डॉ० चन्द्रशेखर को उनके वैज्ञानिक कार्यों के लिये अनेक सम्मानों से विभूषित किया गया है। वे सम्मान इस प्रकार हैं :

1. 1944 में रॉयल सोसायटी (लंदन) के फैलो निर्वाचित

2. ब्रूस मेडल, एस्ट्रोनॉमिकल सोसाइटी ऑव पैसिफ़िक, 1952

3. गोल्ड मेडल, रॉयल एस्ट्रोनॉमिकल सोसायटी (लंदन), 1953

4. 1955 में नेशनल एकेडमी ऑव साइन्सेज़ के फ़ेलो निर्वाचित

5. रमफ़ोर्ड मेडल, अमेरिकन एकेडमी ऑव आर्ट्स एण्ड साइन्सेज़, 1957

6. रॉयल मेडल, रॉयल सोसायटी ऑव लन्दन, 1962

7. नेशनल मेडल ऑव साइन्स (यू. एस.), 1966

8. हेनरी ड्रेपर मेडल, नेशनल एकेडमी ऑव साइन्सेज (यू. एस.), 1971

9. हाइनैमैन प्राइज, अमेरिकन फिजिकल सोसायटी, 1974।

□

गोरिल्ला

डॉ० विमलेश चन्द्र श्रीवास्तव
प्रवक्ता, प्राणिविज्ञान विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

आम लोगों में यह बात कहीं गहरे तक पैठी हुई है कि बन्दर हमारे पूर्वज हैं किन्तु वास्तविकता दूसरी ही है। हमारे पूर्वज कपि (apes) से अधिक मिलते जुलते थे। कपि अपनी कुछ विशेष शारीरिक संरचनाओं में बन्दरों से भिन्न होते हैं जिनमें प्रमुख हैं, पूंछ का न होना, हाथों की ज्यादा लम्बी व मजबूत बनावट जो पूरे शरीर के भार को सम्हाल सकने की क्षमता रखती हैं, पैरों का छोटा व कमजोर होना जो लम्बी कूद में सहायक नहीं होता। इनमें जमीन पर चलते समय शरीर का भार अगले पैरों की मुड़ी हुई उंगलियों पर तथा पिछले पैरों में तलवे के बाहरी किनारे पर होता है। इनके अगले पैरों का अंगूठा कलाई से ऐसा जुड़ा रहता है कि सभी उगलियों को छू सकता है। कपि आरामपसंद होता है तथा अपने सोने के लिये एक नीड़ अवश्य बनाता है। विश्व में कपियों की कई किस्में पाई जाती हैं जिनमें चिम्पैंजी, ओरंगउटान, गिब्बन तथा गोरिल्ला प्रमुख हैं।

गोरिल्ला अफ्रीका के काँगो तथा यूगांडा जैसे कुछ ही हिस्सों में पाया जाता है। काँगो का पहाड़ी गोरिल्ला यूगाँडा के गोरिल्ला की तुलना में अधिक बड़ा होता है तथा इसके शरीर पर बाल भी अधिक लम्बे व घने पाये जाते हैं। गोरिल्ला एक विशालकाय कपि है जिसमें नर का भार 400 पौण्ड से 550 पौण्ड तक, तथा मादा का भार नर के भार का लगभग आधा होता है। नवजात बच्चे लगभग 4.5 पौण्ड तक के ही होते हैं। इनकी ऊँचाई $5\frac{1}{2}$ से 6 फीट तक होती है। इनके जबड़ों की पेशियाँ बहुत मजबूत होती हैं तथा सिर ऊँचा तथा ऊपर की ओर कुछ नुकीला सा उभार लिये होता है। आँखों के ऊपर उभारी हुई बरौनियाँ इनकी आकृति को डरावना बना देती हैं। गोरिल्ला के विषय में आम धारणा यह है कि यह काले घने बालों से ढका विशालकाय डरावना बंदर है जो बहुत ही गुस्सैल प्रकृति का होता है, यह मनुष्यों को न केवल आसानी से उठा ले जाता है बल्कि मार भी डालता है। अफ्रीका के पहाड़ी जंगलों में इन कपियों के साथ कुछ प्रकृतिविज्ञानियों ने काफी समय गुजारा है। जार्ज शैलर तथा कुमारी डियान फ्रासी के के नाम इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। निकट से अध्ययन करने पर पता चलता है कि ये कपि शांत जीवन व्यतीत करते हैं और इनके जीवन में अनुशासन का महत्व भी अधिक होता है। साधारण-तथा इन्हें क्रोध नहीं आता किन्तु आवश्यकता पड़ने पर ये क्रोधित होने का नाटक अवश्य करते हैं जिसमें अपनी छाती पीटना, चीखना-चिल्लाना तथा दौड़-भाग करना शामिल है। इनके छाती पीटने से एक तेज व डरावनी आवाज निकलती है। इस प्रकार ये शत्रु को डराकर भगाने में अक्सर सफल हो जाते हैं।

गोरिल्ला परिवार बनाकर रहने वाला प्राणी है। एक परिवार में 5 से 30 सदस्य तक रहते हैं जिसमें प्रत्येक नर गोरिल्ले के साथ दो मादायें तथा विभिन्न अवस्थाओं के कुछेक बच्चे होते हैं। परिवार का सबसे बड़ा व बूढ़ा नर मुखिया माना जाता है। इसकी पीठ पर चमकदार बाल होते हैं। कभी-कभी एक से अधिक बड़े बूढ़े नर भी एक ही परिवार के सदस्य होकर रहते हैं पर ऐसी स्थिति में एक ही मुखिया का कार्य करता है। काली पीठ वाले नर परिवार में संतरी का काम करते

हैं तथा मादाओं और बच्चों को पूरी सुरक्षा प्राप्त रहती है। परिवार में मुखिया अत्यधिक सहनशील होता है, वह सदैव परिवार के हित में ही फैसला लेता है और शत्रुओं से परिवार की रक्षा में सक्रिय भूमिका निभाता है। बदले में पूरा परिवार निश्छल भावना से अपने मुखिया की इच्छा का सम्मान करता है। शत्रुओं द्वारा उत्पन्न संकट के समय मुखिया 'युद्ध नृत्य' करता है, जिसका अनुसरण काली पीठ वाले नर करते हैं। पूरे परिवार को कब कहाँ जाना है और कहाँ सोना है इसके लिये स्थान का चुनाव मुखिया ही करता है, अतः पूरे परिवार पर मुखिया के ही व्यक्तित्व की छाप देखी जा सकती है। परिवार में अनुशासन बनाये रखने के लिये मुखिया को अधिक चीखना-चिल्लाना नहीं पड़ता, उसकी एक निगाह या किसी सदस्य की पीठ पर हल्के से हाथ रख देना ही काफी होता है। परिवार के सदस्यों के बीच साधारणतया झगड़े होते ही नहीं और यदि होते भी हैं तो उन्हे बहुत बढ़ने नहीं दिया जाता, क्योंकि शीघ्र ही कमजोर सदस्य अपने घुटने मोड़ कर सिर जमीन पर टेक देता है, ऐसी स्थिति में वह एक हाथ जमीन पर रखता है तथा दूसरा अपनी गर्दन के ऊपरी भाग पर और इस प्रकार वह आत्मसमर्पण कर देता है।

गोरिल्ला परिवार का नित्यकर्म सूर्योदय से लगभग एक घंटा बाद प्रारम्भ होता है। परिवार के सभी सदस्य उठते ही सुबह के नाश्ते में जुट जाते हैं और जम कर जंगली फल, घासें, बांस की पतली गूदेदार टहनियाँ तथा अच्छी मुलायम पत्तियाँ खाते हैं। नाश्ते का यह सिलसिला दोपहर तक चलता है। उसके बाद वे एक स्थान पर इकट्ठे होकर आराम करते हैं। बच्चे तो बच्चे, वे आराम करने के बजाय खेलना ही पसंद करते हैं। तीन चार बजे शाम फिर खाने का सिलसिला शुरू होता है किन्तु इस बार ये जायकेदार मुलायम पत्तियाँ ही खाते हैं। खाने के बाद फिर वे एक स्थान पर एकत्र होते हैं। इस बार जो खेल का कार्यक्रम प्रारंभ होता है तो उसमें छोटे बड़े का भेद मिटा कर सभी भाग लेते हैं। इनके प्रमुख खेल हैं एक दूसरे के पीछे दौड़ना, वृक्षों पर चढ़ना, एक डाल से दूसरे पर झूलना और फिसलना। फिसलने की शुरुआत बच्चे अपनी माँ के शरीर से शुरू करते हैं और फिर पेड़ों के चिकने तनों पर या घासदार ढालानों पर बड़ी कुशलता से फिसलते देखे जा सकते हैं। परिवार का मुखिया इस बात का पूरा ख्याल रखता है कि खेल के बीच किसी बच्चे को चोट न लगने पाये। खाली समय में वे एक दूसरे का बाल साफ करते देखे जा सकते हैं। इस क्रिया को ग्रूमिंग कहते हैं। सूर्यास्त से ठीक पहले इनके भोजन का कार्यक्रम एक बार फिर शुरू हो जाता है जिसके फौरन बाद मुखिया द्वारा तै किये गये स्थान पर सभी सोने की व्यवस्था करने मे जुट जाते हैं। मुखिया तथा काली पीठ वाले नर एक पेड़ के नीचे तने के चारों ओर, मुलायम पत्तियों व टहनियों की सहायता से आवश्यकतानुसार गाँठें बाँधकर अपनी अपनी शैया तैयार करते हैं। मादा तथा बच्चों की सोने की व्यवस्था पेड़ के ऊपर होती है। प्रत्येक सदस्य अपने बिस्तर पर रात भर निद्रा का आनन्द लेता है। विचित्र बात है कि वे एक स्थान पर एक से अधिक रात नहीं गुजारते। इसका कारण संभवतः यह है कि दूसरे दिन प्रातः अपने बिस्तर के पास ही मल मूत्र का त्याग करते हैं।

परिवार के सदस्यों को इस बात की पूरी छूट रहती है कि वे जब भी चाहें एक परिवार को छोड़ कर दूसरे परिवार में शामिल हो सकते हैं। इस प्रकार किसी भी परिवार की संख्या घटती-बढ़ती रहती है। विभिन्न परिवारों के बीच भी सद्भावना का वातावरण पाया जाता है, लड़ाईयाँ नहीं के बराबर ही होती हैं। एक परिवार के बच्चे दूसरे परिवार के बच्चों के साथ खुलकर खेलते भी हैं। प्रायः एक ही स्थान पर दो परिवारों के सदस्य भोजन करते भी देखे जा सकते हैं। कभी भी किसी मादा गोरिल्ला के साथ सहवास की समस्या को लेकर दो नरों के बीच किसी भी प्रकार की शत्रुता या लड़ाई-झगड़ा नहीं देखा जाता। मादा पूरे वर्ष ही सहवास की स्थिति में रहती है और अपने साथी का चयन भी स्वयं करती है। पति-पत्नी का संबंध थोड़े ही समय का होता है क्योंकि इनमें कोई भी भावनात्मक लगाव नहीं होता और इस कारण जोड़े कभी भी अलग हो सकते हैं।

इस प्रकार नर और मादा दोनों ही स्वभाव से बहुविवाही होते हैं।

माँ एक या कभी-कभी जुड़वा बच्चों को हर दूसरे या तीसरे वर्ष जन्म देती है। बच्चे का जन्म कुछ ही मिनटों में हो जाता है। जन्म के तुरन्त बाद माँ नाल तोड़ देती है तथा नवजात बच्चे को चाट-चाट कर साफ करती है और फिर अपने वक्ष से चिपटा लेती है। लगभग दो या ढाई माह के बच्चे में ऊपरी तथा निचले जबड़ों के अगले दाँत निकल आते हैं तथा बच्चा नरम घास तथा कोमल टहनियों को चबाने लगता है। तीन या चार माह का बच्चा अपने चारों पैरों पर उछलने-कूदने लगता है तथा सात माह की आयु तक पहुँचते-पहुँचते यह पेड़ों पर बड़ी कुशलता से चढ़ने-उतरने लगता है। ढाई वर्ष का बच्चा अपना अधिक समय खेल-कूद में ही व्यतीत करता है। आठ-नौ वर्ष तक नर और मादा बच्चे लगभग बराबर ही होते हैं किन्तु अगले तीन वर्षों में नर बच्चे, मादा बच्चों की तुलना में काफी बड़े, लगभग दुगने, हो जाते हैं। बच्चे अपने बाल्यकाल में माता-पिता से बहुत कुछ सीखते हैं, यथा तरह-तरह के फूलों, वृक्षों की टहनियों और घासों को खाने के तरीके, नवजात बच्चे के जन्म व लालन-पालन के तरीके आदि।

मादा बच्चों में पाँच या छः वर्षों की अवधि में प्रजनन क्षमता आ जाती है। मनुष्यों की अपेक्षा ये प्रति वर्ष दुगने बच्चे पैदा करते हैं पर 40-50 प्रतिशत शिशु जन्म के बाद शीघ्र ही कालकवलित हो जाते हैं। गोरिल्ला की औसत आयु 30-35 वर्ष की होती है। वृद्धावस्था के प्रमुख लक्षण हैं—बालों का सफेद होना, थोड़ा झुककर चलना, गर्दन की त्वचा का थोड़ा ढीला होकर फैलना और चेहरे पर झुर्रियाँ दिखना।

आमतौर से गोरिल्ला मनुष्यों को कोई नुकसान नहीं पहुँचाते पर कभी-कभी फसल को भारी नुकसान पहुँचाते हैं। ये केले के फलों को कम मगर तने के गूदे को बड़े चाव से खाते हैं। ऐसी स्थिति में किसान अपने अस्त्रों से इन पर हमला भी कर देते हैं। जंगलों में गोरिल्ला मनुष्यों पर तब हमला करते हैं जब कोई इनके परिवार के सदस्यों को तंग करता है या मारता है। अपने शत्रुओं को बिना कोई नुकसान किये मात्र डराकर भगाने की कोशिश करता है। इसके लिये सबसे पहले परिवार का मुखिया दोनों पैरों पर खड़ा होकर अपना सीना फुलाता है। ऐसा करने से इसके कंधे, छाती और हाथों के बाल सीधे तथा नुकीले हो जाते हैं, फिर गुस्से में अगल-बगल की घास नोच-नोच कर अपने मुँह में रखता जाता है तथा अपनी निगाहें शत्रु पर ही गड़ाये रहता है। अब धीरे-धीरे आगे बढ़ता है और घास तथा पत्तियों को नोंच-नोंच कर हवा में उछालने लगता है। साथ ही साथ अपने हथेलियों से अपनी छाती पीट कर अत्यधिक डरावनी आवाज निकालता है। यदि इससे भी शत्रु नहीं भागता तब यह अपने चारों पैरों पर दौड़ता हुआ शत्रु पर हमला करता है, साथ ही जमीन पर जोर-जोर से तमाचा मारता है और अंत में शत्रु के कंधे पर अपने दाँत गड़ा ही देता है। मनुष्यों से इसकी लड़ाई में नाजुक स्थिति तब आती है जब मुखिया को मार डाला जाता है। मुखिया के मरते ही लड़ाई का रुख बदल जाता है। मादा बच्चे भागने का कोई प्रयत्न नहीं करते और अपने हाथों को सिर पर रखकर पूरी तरह से आत्मसमर्पण कर देते हैं। [चित्र 1-6, पृष्ठ 14]

गोरिल्ला के प्रमुख शत्रु तेंदुआ तथा मनुष्य हैं। तेंदुआ तो इनके बच्चों को खा जाते हैं किन्तु मनुष्य इन्हें मात्र आखेट के लिये मारता रहा है। कभी-कभी सर्कस कम्पनियों व चिड़ियाघरों से अच्छे दाम वसूलने के लिये इन्हें जीवित पकड़ लिया जाता है।

पिछले दिनों जिस तेजी से जंगल काटे गये हैं उसके परिणाम स्वरूप इनके रहने के स्थानों में काफी कमी आ गई है जिससे इनकी आबादी तेजी से घटती ही जा रही है। वैसे कांगो यूगांडा की सरकारें इस विषय में जागरूक हैं और उनके द्वारा, इन्हें विलुप्त होने से बचाने के लिये अनेक कड़े कदम उठाये गये हैं। □

[कृपया चित्र पृष्ठ 14 पर देखें]

पर्यावरण प्रदूषण : मानव क अस्तित्व का संकट

डॉ० अवधेश शर्मा
35 शिक्षक आवास, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

पर्यावरण प्रदूषण वर्तमान समय की एक बहुचर्चित ज्वलन्त समस्या है। उद्योगों से निकले अवशिष्ट पदार्थ वायुमंडल में घुलते जा रहे हैं जिससे वनस्पतियों और जीव जन्तुओं के साथ ही साथ मनुष्य के अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। वैज्ञानिकों का निश्चित मत है कि इन अवशिष्ट पदार्थों के कारण वातावरण के ताप में काफी अन्तर आया है और इसका प्रत्यक्ष प्रभाव वनस्पतियों पर पड़ा है। प्रत्यक्ष या परोक्ष समस्त जीव जन्तु इन्हीं वनस्पतियों पर आधारित हैं। फिर यदि इनके अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो गया है तो इसमें आश्चर्य क्या ?

अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका में ही प्रतिवर्ष 164 मिलियन मीट्रिक टन प्रदूशित पदार्थ वायुमंडल में मिल रहे हैं। इसका 82 मिलियन मीट्रिक टन तो केवल वाहनों से निकले गैसों के कारण है। और इन गैसों में भी 77 प्रतिशत कार्बन मोनोऑक्साइड केवल वाहनों से आती है तथा शेष भाग में हाइड्रोकार्बन व नाइट्रोजन के ऑक्साइड हैं। सल्फर डाइऑक्साइड का अधिक भाग विद्युतगृहों से और शेष कल-कारखानों से आती है। इसके अलावा अवशिष्ट जल व कार्बन डाइऑक्साइड जीवाश्म ईंधन के जलाने से पैदा होती है। अन्य प्रदूषक पदार्थ जैसे लेड (जो सूर्य किरणों के वाहनों द्वारा उत्सर्जित अवशिष्ट गैसों पर पड़ने से बनता है), रेडियोसक्रिय तत्वों जैसे स्ट्रांशियम 90, सीजियम 137, अयोडीन, 131, टंगस्टन 185, मैंग्नीज 54, आयरन 55, रेडियम 102, कैडमियम 109 आदि निरंतर वायुमंडल में मिल रहे हैं।

सन् 1964 में हिन्द महासागर के ऊपर एक उपग्रह जल गया था जिसमें एक छोटी शक्तिमशीन लगी थी। इस मशीन में ईंधन के लिए प्लूटोनियम 238 इस्तेमाल किया गया था, जिसके कारण सम्पूर्ण वातावरण में रेडियोधर्मिता फैल गई। ऊर्जा उत्पादन के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले रेडियोसक्रिय तत्व यूरेनियम के विखंडन से क्रिप्टॉन 85 निकलता है जो तेजी से वातावरण में घुलता जा रहा है।

गैसों की कुछ मात्रा वातावरण में भी उपस्थित है। पौधे कार्बन डाइऑक्साइड ग्रहण कर सूर्य के प्रकाश में भोजन बनाते हैं व ऑक्सीजन छोड़ते हैं। लेकिन रात्रि में ये ही पौधे ऑक्सीजन लेकर कार्बन डाइऑक्साइड उत्सर्जित करते हैं। समुद्र जल में विद्यमान सल्फर जल की सतह से वायुमंडल में मिलता रहता है। इसके अतिरिक्त ज्वालामुखियों के द्वारा सल्फर अत्यधिक मात्रा में वायुमंडल में मिलता है। ओजोन, वातावरण के ऊपरी सतह पर बनता है किन्तु नीचे आकर नष्ट हो जाता है। रेडियोसक्रिय तत्व रेडान व थोरान मिट्टी में पाये जाते हैं जो अपने आप वातावरण में घुल रहे हैं। सूर्य की किरणें जब वायुमंडल में प्रवेश करती हैं तो वायु-कणा से टकराकर बेरेलियम 7, सोडियम 22, कार्बन 12 जैसे रेडियोसक्रिय तत्वों का निर्माण करती हैं जो अंततः पृथ्वी के तल पर आकर बैठ जाते हैं। इन प्रदूषित पदार्थों के अवस्था-परिवर्तन से अनेक पदार्थ बनते हैं। सल्फर डाइऑक्साइड वायु की नमी के साथ मिलकर गंधक का अम्ल बनाती है जो अत्यन्त हानिकारक है।

वायु प्रवाह पृथ्वी के तापमान को नियंत्रित करता है। और वायु प्रवाह द्वारा सूक्ष्म प्रदूषित पदार्थ पृथ्वी के वायुमंडल में फैलते जाते हैं, जैसे ओजोन गैस का निर्माण अणु ऑक्सीजन एवं परमाणु ऑक्सीजन के संवेग से धरातल से 22 किलोमीटर ऊपर होता है। यह गैस ध्रुवों की ओर

तालिका—1

1968 में संयुक्त राज्य अमेरिका में उत्सर्जित प्रदूषित पदार्थ (मिलियन मीट्रिक टन में)

	पार्टीकुलेट	SO_2	नाइट्रोजन ऑक्साइड	CO	हाइड्रोकार्बन
1. शक्ति एवं उष्मा	8·1	22·1	9·1	1·7	0·6
2. वाहन	1·1	0·7	7·3	57·9	15·1
3. अवशिष्ट पदार्थ	0·9	0 1	0·5	7·1	1·5
4. कल कारखानें	6·8	6 6	0·2	8·8	4·2
योग्य	16·9	29·5	17·1	75·5	21·4

तालिका —2

प्राकृतिक एवं मनुष्यकृत प्रदूषित पदार्थ (मीट्रिक टन में)

पदार्थ	प्राकृतिक	मनुष्यकृत
1. ओजोन	2×10^9	कम
2. कार्बन डाइऑक्साइड	7×10^{10}	$1·5 \times 10^{10}$
3. जल	5×10^{14}	1×10^{10}
4. कार्बन मोनोऑक्साइड	?	2×10^8
5. सल्फर	$1·42 \times 10^8$	$7·3 \times 10^7$
6. नाइट्रोजन	$1·4 \times 10^9$	$1·5 \times 10^7$

जाती है और फिर वायुमंडलीय गति के कारण नीचे आकर नष्ट हो जाती है।

प्रत्यक्ष रूप से वायुमंडल में मिलने वाले गैसों में कार्बन डाइऑक्साइड प्रमुख है। अठारहवीं शती के अन्त में पश्चिमी यूरोप में हुए औद्योगिक क्रान्ति के बाद से इस गैस की मात्रा बढ़ी है। 1956 में इस गैस की वार्षिक उत्सर्जन क्षमता 10^{20} मीट्रिक टन थी जो अब प्रतिवर्ष 104^5 मीट्रिक टन की दर से बढ़ रही है। कल-कारखानों के अलावा यह गैस जंगलों की अंधाधुन्ध कटाई एवं प्राकृतिक मिट्टियों से छेड़छाड़ के कारण भी बढ़ी है। सन् 1957 से यह गैस 6 प्रतिशत बढ़ी है और इस समय वायुमंडल में इसकी मात्रा 700×109 मीट्रिक टन है। वायुमंडल में इस गैस के प्रभाव का अध्ययन करने के पश्चात् वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यदि वायुमंडल में इस गैस की मात्रा 25 प्रतिशत बढ़ेगी तो पृथ्वी का तापमान 0 5° सेन्टीग्रेट बढ़ जायेगा। अतः अगली शताब्दियों में वातावरण काफी गर्म हो जायेगा। परिणामस्वरूप ध्रुवों की समस्त बर्फ पिघल

जायेगी तथा समुद्र का तल ऊपर होकर पृथ्वी को अपने में समेट लेगा।

ओज़ोन तह के कारण सूर्य की पराबैंगनी किरणें पृथ्वी तक नहीं पहुँच पाती हैं। वायुयानों से निकले नाइट्रोजन ऑक्साइडों के कारण ओज़ोन तह में अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी और पराबैंगनी विकिरण पृथ्वी तक पहुँचकर हमें संकटग्रस्त कर देगा। एक अनुमान के अनुसार ओज़ोन की तह में 15 प्रतिशत की कमी से पराबैंगनी विकिरण की दर 30 प्रतिशत तक बढ़ सकती है। धूलि कणों एवं रेडियोधर्मी धूलि के कारण पृथ्वी पर आने वाली सूर्य ऊष्मा में भी कमी हो सकती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि प्रतिशत 700 मिलियन मीट्रिक टन ऐसा पदार्थ वातावरण में मिल रहा है। कार्बन मोनोऑक्साइड जब रक्त में प्रवेश करता है तो हीमोग्लोबिन से मिलकर कार्बोक्सीलहीमोग्लोबिन बनाता है। इससे रक्त की ऑक्सीजन को ले जाने की क्षमता का ह्रास होता है। यह निश्चय ही हमारे स्वाथ्य के लिए हानिकर है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पर्यावरण प्रदूषण का मनुष्य के शरीर पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। अब समय आ गया है जब हमें इसके प्रति सचेत हो जाना है। प्रकृति के साथ हमारा अस्तित्व जुड़ा है। इसकी रक्षा में ही हमारा कल्याण है। पर्यावरण की रक्षा मनुष्यमात्र के लिए अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए सबसे निर्मल विकल्प है। □
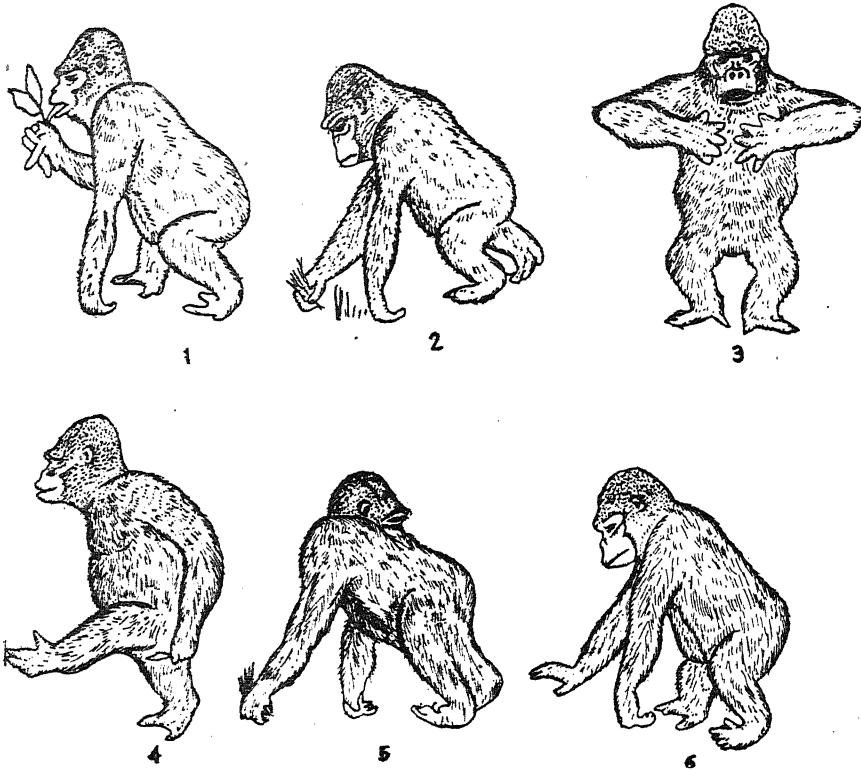
चित्र—मनुष्य के साथ गोरिल्ले के युद्ध की विभिन्न मुद्रायें।

थार मरुस्थल की वनस्पति और खाद्योपयोगी पौधे

डॉ० सुशीला राय
रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर 342001

थार मरुस्थल भारत और पाकिस्तान के, लगभग 4·46 लाख कि०मी० भू-भाग में फैला हुआ है। राजस्थान मरुस्थल जो कि इसका एक भाग है उत्तर में 24° और 30° अक्षांशों व पूर्व में 69° और 78° देशान्तरों के मध्य स्थित है। राजस्थान की मरुभूमि का क्षेत्रफल लगभग 1·96 लाख वर्ग कि०मी० है जो कि देश की सम्पूर्ण मरुभूमि का 62% है। मरुक्षेत्र रेत और रेत के टीलों द्वारा पूर्ण रूप से आच्छादित है। यहाँ प्रचण्ड आँधियाँ चलती हैं, जो रेत के टीलों को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाती हैं। वर्षा नगण्य है और वार्षिक औसत 300 मि०मी० से सदा कम ही रहती है। सैकड़ों वर्षों के मौसम चक्र से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चार वर्ष तक भीषण अकाल रहता है और प्रत्येक चार वर्ष के पश्चात् कुछ क्षेत्रों में अति वृष्टि से बाढ़ की सी स्थिति हो जाती है। इस प्रदेश की प्रमुख नदी 'लूनी' है जो वर्ष में लगभग 10 माह सूखी रहती है और यदाकदा (1974 और 1978) बाढ़ से कहर ला देती है।

भू-जल लगभग 100 मी० की गहराई पर पाया जाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार पेय जल में घुलनशील लवणों की मात्रा 500 मि० ग्रा० प्रति लीटर (500 ppm) से कम होना चाहिये। इस सीमा के अन्तर्गत केवल 9% उपलब्ध भू-जल पीने योग्य है और 91% जल में अत्यधिक मात्रा में लवण पाये जाते हैं। कई स्थानों पर 10,000 मि० ग्रा० घुलनशील लवण प्रति लीटर उपलब्ध है। समुद्र में 35,000 मि० ग्रा० प्रति लीटर घुलनशील लवण पाये जाते हैं। परन्तु राजस्थान के पचपदरा व सांभर आदि स्थानों में अत्यधिक सान्द्र जलीय लवणों के घोल से नमक तैयार किया जाता है।

रेगिस्तानी इलाकों में आबादी अत्यन्त क्षीण है और औसतन 11 व्यक्ति प्रति किलोमीटर भूमि पर निवास करते हैं। प्रमुखतया यहाँ वर्षा के बाद बाजरे की खेती की जाती है। प्रमुख उत्पादन में बाजरा के अतिरिक्त ग्वार, मोठ, रायड़ा, खारची गेहूँ, मूँग, तिल, प्याज व मिर्च आदि सम्मिलित हैं। पशुपालन से प्राप्त दूध, ऊन, और मांस जीविका के स्रोत हैं। प्रत्येक घरों से सेना और सीमासुरक्षा बल आदि में लोग कार्यरत हैं, जो परिवार की आजीविका चलाने में सहायक हैं। रेगिस्तान की मिट्टी प्रमुखतया क्षारीय रेतीली है, जिसमें लगभग 90% अत्यधिक महीन रेत तथा कुछ मामूली महीन रेत होती है। कुछ स्थानों पर जिप्सम और प्राकृतिक गैस के स्रोत प्राप्त हुए हैं। यूनेस्को (*UNESCO*) के एक अध्ययन द्वारा बताया गया है कि लगभग 15,000 वर्ष पूर्व यह एक दलदली भू-भाग था और उसके पूर्व यहाँ एक लहराता हुआ समुद्र था। अत्यधिक खारा जल मिलने की यह अध्ययन पुष्टि करता है।

राजस्थान मरुस्थल की वनस्पति का संकलन सर्वप्रथम ड्यूथी और किंग ने 1880 और 1890 ई० के मध्य किया था। प्रारंभिक गणनानुसार यह निर्णय निकाला गया था कि इस मरुभूमि में 507 जातियों के पेड़-पौधे हैं जिसमें से 116 जातियाँ बाहर से लाई गई हैं। जोधपुर विश्वविद्यालय के हाल के सर्वेक्षणानुसार 592 पेड़-पौधों की जातियाँ मरुभूमि में पाई जाती हैं जो कि 319 जातियों और 82 उपजातियों के अन्तर्गत आती हैं।

सम्पूर्ण मरुभूमि में कुछ पेड़ पौधे बहुतायत से पाये जाते हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण पौधों के नाम निम्न हैं—कूमट (*Accacia senegal*); केर (*Capparis decidua*); तुम्बा (*Citrullus colocynthis*); मतीरा (*Citrullus lanatus*; फोग (*Caligonium polygonoides*); धतूरा (*Calatropis procera*); खेजड़ी या साँगरी (*Prosopis cineraria*); जंगली बबूल (*Prosopis julifera*); जाल (*Saluadora oleoides decne*); बोरड़ी (*Zizyphus numularia*); भूट (*Cenchrus biflorus Roxb.*); बेर (*Zizyphus mauritina*); बबूल या कीलर (*Accacia nilotica*) आदि।

ऊँट, भेड़, बकरी और गायें पालतू जानवर हैं। अपने भोजन के लिये ये चौपाये घास व वनस्पतियों पर निर्भर करती हैं। दक्षिण पश्चिम मानसून के अभाव में राजस्थान काफी वर्षों से अकालग्रस्त होता आ रहा है और इस अकाल के समय जब खाद्यान्न अत्यधिक मँहगे हो जाते हैं व आसानी से नहीं मिलते तब यहाँ के निवासी पौधों की पत्तियाँ, घास के बीज व अन्य वनस्पतियों के फूल व जड़ आदि को खाद्यान्नों के साथ मिला कर खाते हैं। कुछ वृक्षों की पत्तियाँ, फूल, फलियाँ एवं बीज आदि तो हर समय सम्पन्न लोगों द्वारा भी सब्जियों के रूप में उबालकर खाये जाते हैं। उदाहरण के लिए केर (*Capparis decidua*), कूमट (*Accacia senegal*), सांगरी (*Prosopis cineraria*) आदि। बहुत सी झाड़ियाँ और कन्द ग्रामीण लोग इस विश्वास से खाते हैं कि ये मौसमी बीमारियों को दूर करते हैं जबकि इनमें पोषक तत्व बहुत ही कम होते हैं। परन्तु इनमें उपस्थित रेशेदार तत्व की मात्रा अधिक होने से क्षुधा कुछ समय के लिए शांत अवश्य हो जाती है पर अत्यधिक खाने से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव भी पड़ता है और इससे दस्त, पेचिस, खून की कमी, चर्मरोग एवं जलन्धर आदि रोग हो जाते हैं।

सारणी -1 में अकाल के समय खाये जाने वाले वृक्षों-पौधों के स्थानीय नाम, अंग्रेजी नाम और उनके विभिन्न उपयोग संकलित किये गये हैं।

कुछ रेगिस्तानी पौधों के बीजों का रसायनिक परीक्षण कर यह महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला गया है कि इनमें तेल की मात्रा 5-20% तक होती है। सारणी-2 में पौधों के नाम, प्राप्त तेल की मात्रा एवं उपयोग दिये गये हैं।

मरूस्थलीय पादपों का वर्गीकरण चार प्रकार के प्रमुख वर्गों में किया गया है। ये चार वर्ग इस प्रकार हैं:

(1) सूखे से बचने वाले पादप।
(2) लंबी जड़ों के कारण सूखे से बचने वाले पादप।
(3) सूखे में दृढ़ रहने वाले सदाबहार पादप।
(4) मांसल सूखा रोधी पादप।

इन पौधों की प्रमुख विशेषतायें सारणी-3 में दर्शायी गई हैं।

भारत सरकार ने 1959 में जोधपुर में केन्द्रीय रुक्ष क्षेत्र अनुसंधान संस्थान की स्थापना की है। इस संस्थान में रेगिस्तान की रोक-थाम, पशुपालन, खाद्यान्नों की नई जातियाँ व उपजातियाँ और रेगिस्तानों में उगाये जाने वाले पौधों के विषय में महत्वपूर्ण खोज की है। राजस्थान नहर का निर्माण भी शीघ्र होने जा रहा है जो निश्चय ही इस मरुभूमि में हरित क्रांति लायेगी।□

सारणी 1 : अकाल के समय खाये जाने वाले पौधे और उनके उपयोग

	स्थानीय नाम	वानस्पतिक नाम	उपयोग
1.	खेजड़ी, सांगरी	*Prosopis cineraria*	पत्तियाँ एवं फलियाँ मनुष्य तथा जानवरों द्वारा खाई जाती हैं। छाल का महीन आटा बनाकर बाजार के आटे के साथ मिला कर चपाती बनाकर भी खाई जाती हैं। नये पौधों से प्राप्त गोंद (मई, जून माह में अत्यधिक मात्रा में बनती है) बंटाका (Bantaka) कहलाती है, और गरीब व्यक्तियों द्वारा खाई जाती है।

	स्थानीय नाम	वानस्पतिक नाम	उपयोग
2.	फ़ोग	*Caligonium polygonoides Linn.*	फरवरी-मार्च के माह में जब खाद्यपदार्थ उपयुक्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होते तब इसकी कलियाँ (buds) जो लासन (Lassan) भी कहलाती है, गरीब जनता द्वारा छाछ एवं नमक के साथ खाई जाती हैं।
3.	सेवान	*Lasiurus hirsutus*	बीजों का महीन आटा बनाकर बाजरे के आटे के साथ मिलाकर रोटियों के रूप में खाये जाते हैं।
4.	केर, टेंटी	*Capparis decidua*	पके लाल फल खाये जाते हैं। हरे कच्चे फल अचार एवं सब्जी में प्रयोग होते हैं। पुष्प मधु को ग्रामीण बच्चे बड़े चाव से खाते हैं। लाल पुष्प व कलियाँ फोड़े-फुंसी के उपचार हेतु प्लास्टर के रूप में, दाँत दर्द एवं हृदय रोग में काम आती हैं।
5.	जाल	*Salvadora oleoides*	इस सदाबहार वृक्ष के फल मीठे होते हैं अतः ताजे तथा सुखाकर दोनों तरह से प्रयोग में आते हैं। गरीब व्यक्तियों द्वारा यह मान्यता है कि इनके एक-एक कर खाने से मुँह में छाले हो जाते अतः ये मुट्ठी-मुट्ठी भर काफी मात्रा में एक साथ खाये जाते हैं।
6.	तिल	*Sesamum indicum*	बीजों से खाद्य तेल निकाला जाता है। खली भी जानवरों एवं मनुष्यों द्वारा खाई जाती है।
7.	तुम्बा, तसतुम्बा, तास	*Citrullus colocynthis*	बीजों का आटा बाजरा या मोठ (*Phaseolus acutifolius*) के आटे के साथ मिलाकर मोटी रोटी (सोगरा) तथा स्वादिष्ट दलिया (खनकारा, khankara) के रूप में उपयोग होता है।
8.	मतीरा	*Citrullus lanatus*	फलों का रस तथा गूदा मनुष्य की प्यास बुझाने के काम आता है। सूखे बीजों का आटा बाजरे के आटे के साथ मिलाकर चपाती बनाकर खाया जाता है। सूखे भुने बीजों का स्वाद बादाम के स्वाद के समान होता है, अतः ये भी खाये जाते हैं।
9.	बनवालिया, देशी बबूल	*Accacia nilotica*	बीज कच्चे या भून कर खाये जाते हैं। इसकी गोंद च्वन (masticatory) के रूप में प्रयोग होती है।
10.	बोरटी	*Zizyphus numularia*	पके फल ताजे तथा सुखाकर पाउडर के रूप में बाजरे के आटे के साथ रोटी बनाकर शक्कर या गुड़ के साथ खाये जाते हैं।
11.	अन्डीजारो, खारी आल	*Achyranthes aspera*	बीज दूध, छाछ, चाय के साथ उबालकर काढ़ा बनाकर ठंड में टॉनिक के रूप में प्रयोग होता है।
12.	कान्सी	*Tribulus terrestris*	बीज पाउडर के रूप में रोटी बनाकर खाये जाते हैं।
13.	अरूंजा	*Accacia leucophloea*	बीजों का पाउडर बाजरे के आटे के साथ रोटी बनाकर खाया जाता है।
14.	इमली	*Tamarindus indica*	बीज पाउडर ब्रेड के रूप में खाया जाता है। भुने बीज सुपारी की तरह खाये जाते हैं।

	स्थानीय नाम	वानस्पतिक नाम	उपयोग
15.	मोथी	*Cyperus rotundus*	जड़ खाई जाती है।
16.	भुरट	*Cenchrus biflorus*	बीज पाउडर अन्य खाद्यान्नों के आटे के साथ मिलाकर रोटी बनाकर खाया जाता है। मरुभूमि की घास का यह बीज प्रारंभ से ही खाया जा रहा है और इस क्षेत्र में पूरक खाद्यान्नों की रानी के नाम से विख्यात है।
17.	मकरा, मांची	*Dactyloc-terium aegypticum*	इसके बीजों की खिचड़ी बनाकर खाई जाती है।
18.	मदना	*Elensive coracana*	छाछ के साथ गरीब लोग इसकी 'राबड़ी', 'घट' या 'दलिया' बनाकर खाते हैं।
19.	तांतिया घास	*Dactyloc-terium indicum*	मनुष्यों तथा जानवरों द्वारा अकाल एवं अभाव के समय खाई जाती है।
20.	बारू	*Sorghum halepense*	सर्वोत्तम घासों में एक है। यह अकाल के समय चौपायों के खाने के काम आती है।

सारणी 2 : तेल की अधिक मात्रा वाले मरुस्थलीय पौधे

	स्थानीय नाम	वानस्पतिक नाम	तेल (%)	उपयोग
1.	तुम्बा	*Citrullus colocynthis*	16%	साबुन बनाने में
2.	मतीरा	*Citrullus lanatus*	5%	,,
3.	केर	*Capparis decidua*	20%	औद्योगिक उत्पादन प्रारम्भ नहीं हुआ है। साबुन तथा दवाओं में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।
4.	बबूल	*Accacia arabica*	6·7%	,,
5.	सीरिस	*Albizzia lebbek*	5·7%	,,

नव वर्ष शुभ हो

—सम्पादक

सारणी—3 : मरुस्थलीय पौधों की प्रमुख विशेषताएँ

	विशेषताएँ	सूखे से बचने वाले पादप (Drought Evaders)	लंबी जड़ों के साथ सूखे से बचने वाले पादप (Deep rooted phreatophytes)	सूखे में दृढ़ रहने वाले पादप (Drought enduring evergreens)	मांसलीय पादप (Succulents)
1.	जीवनकाल (Life span)	बहुत कम अवधि ज्यादातर मौसमी, कुछ वार्षिक उदाहरण – *Boerhaavia*	ज्यादातर वार्षिक उदाहरण— जंगली बबूल, खेजडी (*Prosopis species*)	ज्यादातर वार्षिक उदाहरण— तुम्बा (*Citrllus colocynthis*)	वार्षिक उदाहरण-नागफनी एवं थोर (*Opuntia and* (*Euphorbia caducifolia*)
2.	वातावरण के अनुसार मुख्य परिवर्तन (Phenotypic Characteristics)	कोई विशेष नहीं	काफी लंबी जड़ें 50-100 फीट लंबी जैसे-खेजड़ी	छोटी या विशेष प्रकार की पत्तियाँ उपस्थित या अनुपस्थित	अक्सर पत्तियाँ अनुपस्थित
3.	प्रकाश संश्लेषण	ज्यादा द्रुतगति से पानी सुलभ होने पर प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया होती है। (जैसे—C_4 प्रणाली) उदाहरण—बाजरा, मक्का	कोई खास नहीं	बहुत ही कम, पर पानी के दबाव पर प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया हो सकती है। (जैसे—C_3 प्रणाली) उदाहरण सूर्यमुखी, अल्फा अल्फा, सोयाबीन	बहुत ही कम गति से सामान्य परिस्थितियों में भी प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया होती रहती है। (जैसे CAM प्रणाली) उदाहरण—कैक्टस एवं क्रैसुलेसी कुल के पौधे
4.	पानी की बचत (Water economy)	पानी की बचत को सुरक्षित रखने के लिए कोई विशेष परिवर्तन नहीं। जैसे—साटा (*Boerhaavia diffusa*)	लंबी गहरी जड़ें जमीन से प्राप्त करने के लिए होती हैं। जैसे—खेजड़ी की अन्य जातियाँ	पानी के दबाव और भार कम या ज्यादा सहने के लिए विशेष परिवर्तन जैसे—तुम्बा	पानी संग्रह करने के लिए विशेष परिवर्तन जैसे कैक्टस एवं क्रैसुलेसी कुल के पादप

विज्ञान का नवम्बर-दिसम्बर अंक अभी प्रेस में है। पाठकों को इससे जो असुविधा हुई है उसके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। वह अंक शीघ्र ही पाठकों की सेवा में भेजा जायेगा। —सम्पादक

पेट्रोल का विकल्प : पावर एल्कोहल

बालकृष्ण चौधरी
द्वारा आर० के० प्रताप, ए० पी० एन० डिग्री कॉलेज, बस्ती 272001

पूरी दुनिया में पेट्रोल का संकट चल रहा है। आगामी 25 वर्षों में पेट्रोल की उपलब्धता बहुत घट जायेगी। अरबों वर्षों से जो पृथ्वी के गर्भ में पेट्रोल का निर्माण रसायन क्रिया द्वारा हुआ था वह सब एक शतक के पूर्व समाप्त हो जायेगा। परिस्थितियाँ बदलने से अब कोई नया पेट्रोल भूमि में नहीं बन सकता।

तेल उत्पादक देशों द्वारा खनिज तेलों के मूल्यों में की जा रही वृद्धि से दुनिया के अधिकतर देशों की अर्थ व्यवस्था को धक्का पहुँचा है। जहाँ इस दिक्कत से छुटकारा पाने के लिए वैज्ञानिक दूसरे ऊर्जा स्रोतों के विकास में लगे हुए हैं वहीं पर तेल के विकल्प में किसी अन्य पदार्थ की भी खोज जारी है। कुछ वैज्ञानिकों ने यह बात भी सामने रखी है कि एल्कोहल का प्रयोग कारों तथा इंजन में पेट्रोल के स्थान पर किया जा सकता है। इसीलिए समझदार देश अपने परिवहन को स्वावलम्बी बनाने के लिए पेट्रोल का स्थान लेने वाले अपने निजी साधनों का विकास कर रहे हैं। ब्राजील जो गन्ने से चीनी बनाने में प्रथम स्थान पर है वह शीरे से पावर एल्कोहल बनाने में भी दुनिया में प्रथम स्थान पर है।

पावर एल्कोहल एक ऐसा एल्कोहल है जो 96% शुद्ध होता है। ब्राजील में कानूनन 10% पावर एल्कोहल तो सभी प्रकार के पेट्रोल में मिलाया जाता है। अनेक पेट्रोल पम्प 20% का मिश्रण भी बेचते हैं। ब्राजील में एल्कोहल बनाने का कारखाना चीनी के कारखाने के साथ ही बनाया जाता है। ब्राजील सरकार का डाक-तार विभाग अपनी सभी गाड़ियों को केवल पावर एलकोहल से चला रहा है। इस विभाग की एक गाड़ी तो दो लाख किमी० से भी अधिक की दूरी केवल एल्कोहल ईंधन द्वारा तय कर चुकी है।

पावर एल्कोहल ईंधन के उत्साहवर्धक परिणामों के कारण ब्राजील सरकार ने एल्कोहल उत्पादन को नियोजित ढंग से विकसित करने का निश्चय किया है। लगभग 3 वर्ष पूर्व ब्राजील 60 करोड़ लीटर एल्कोहल बना रहा था। इस वर्ष वह 380 करोड़ लीटर उत्पादन करेगा तथा 1985 में 10 अरब लीटर पावर एल्कोहल का सालाना उत्पादन होने लगेगा।

उन्होंने एक अजीब फार्मूला भी बनाया है जिसके अन्तर्गत मूल्यों को निश्चित करते हुए डेढ़ किलो चीनी को एक लीटर पावर एल्कोहल के बराबर मान लिया है। अतः फैक्ट्री को जितना मूल्य डेढ़ किलोग्राम चीनी का मिलेगा उतना ही मूल्य एक लीटर पावर एल्कोहल का मिलेगा। इसके परिणामस्वरूप बहुत मोटे दाने की 5-7% चीनी लेने के बाद शेष चीनी पावर एल्कोहल में बदल दी जाती है। आज दुनिया के बाजार में जो चीनी की मन्दी आयी है और भारत को 7 लाख टन चीनी बेचने में जो करोड़ों का घाटा उठाना पड़ रहा है। उसका प्रभाव ब्राजील पर कम पड़ेगा क्योंकि ब्राजील चीनी का उत्पादन घटाकर पावर एल्कोहल का उत्पादन बढ़ा देगा जिसकी माँग पूरी दुनिया में ऊँचे भाव पर बनी हुई है।

यदि भारत सरकार दस वर्षीय चीनी संस्थानों का वृहद योजना बनाकर 9 करोड़ टन चीनी उत्पादन का लक्ष्य बना ले और यदि बाजार में चीनी की माँग कम हो तो ऐसी दशा में ब्राजील की भाँति चीनी का उत्पादन घटाकर पावर एल्कोहल का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है।

इण्डियन आयल की फरीदाबाद अनुसंधान शाला में 1981 में पेट्रोल के साथ पावर एल्कोहल मिलाकर कार चलाने का परीक्षण किया गया। इस परीक्षण के दौरान 80% पेट्रोल व 20% पावर एल्कोहल का मिश्रण प्रयोग में लाया गया था। इस परीक्षण काल में कई पक्षों का अध्ययन किया गया। फलस्वरूप पावर एल्कोहल से कार चलाने में किसी तरह की परेशानी नहीं हुई।

अनुसंधान संस्थान के निदेशक डॉ० अहलूवालिया ने यह कहा कि पावर एल्कोहल की ज्वलनशीलता साधारण पेट्रोल से कहीं अधिक है। दोनों की ज्वलनशीलता में 10·5% का अन्तर है। उनका कहना था कि यदि सभी मोटरकारों में पावर एल्कोहल का प्रयोग होने लगेगा तो देश में प्रतिवर्ष 15 लाख टन पेट्रोल की बचत होगी।

वर्तमान प्रचलित तकनीक के अनुसार जीवाणुओं द्वारा 30 से 36 घन्टों में शीरे का 5-6% एल्कोहल में बदलता है। परन्तु हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय के जीवाणु विभाग ने ऐसी तकनीक खोज निकाली है जो 24 घन्टों में ही 8% शीरे को एल्कोहल में बदल देती है। इस नई तकनीक से उसी कारखाने की क्षमता लगभग दुगनी हो जाती है और उत्पादन लागत घट जाती है। और इस तरह से प्राप्त एल्कोहल पेट्रोल की अपेक्षा काफी सस्ता पड़ता है।

यदि शत-प्रतिशत पावर एल्कोहल पर ही गाड़ी चलाई जाय तो भी इंजन में कोई बड़ा फेर बदल नहीं करना पड़ता, थोड़ी पिस्टन की लम्बाई बढ़ानी पड़ती है। पेट्रोल की तुलना में एल्कोहल भेजने वाला पुर्जा (Part) कार्बुरेटर तथा डिस्ट्रीब्यूटर थोड़ा बदलना पड़ता है। यह मामूली परिवर्तन मोटर निर्माता स्वयं कर देते हैं। इन गाड़ियों के रख रखाव का खर्चा तथा इंजन की दशा पेट्रोल इंजन के समान ही है। एक लाभ पेट्रोल की तुलना में अधिक है कि एल्कोहल चालित इंजन गर्म नहीं होते तथा पेट्रोल की भाँति हवा को प्रदूषित नहीं करते।

भारत में पावर एल्कोहल ईंधन की अपार सम्भावनाएँ हैं। यदि इस दिशा में सुनियोजित प्रयास किया जाय तो हम अपनी आवश्यकता का सारा ईंधन देश में ही पैदा कर सकते हैं। इससे देश में रोजगार के अधिकाधिक साधन उपलब्ध होने की सम्भावना है। भारत का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ एल्कोहल के लिए कच्चा माल उपलब्ध न हो। इथाइल एल्कोहल या इथेनाल को उन विभिन्न चीजों से प्राप्त किया जा सकता है जिसमें चीनी और स्टार्च होता है जैसे—शीरा, आलू, धान की भूसी, बुरादा, चुकन्दर, घास-भूसा और अन्य वनस्पतियाँ। इनके अलावा कृषि कचरे से भी पावर एल्कोहल निकाला जा सकता है। इसे कागज के मिलों के कचरे (सल्फाइड लिकर) से प्राप्त किया जा सकता है। मान लिया जाय कि यदि देश में पूर्ण मद्य-निषेध लागू हो जाता है तो हमारे पास 18 करोड़ लीटर एल्कोहल फालतू बचेगी। इसी तरह खांड़सारियों में जो शीरा बेकार हो जाता है उससे 5 करोड़ लीटर एल्कोहल प्राप्त किया जा सकता है।

चीनी संस्थान के नियोजन के अनुसार देश में कुल मिलाकर लगभग 1100 चीनी मिलों की आवश्यकता होगी। इस समय लगभग 323 चीनी के कारखाने देश में चल रहे हैं। 27 नये कारखाने बनाने के लाइसेन्स दिये गये हैं। अतः प्रत्येक चीनी कारखाने के साथ एक पावर एल्कोहल का कारखाना बनाने के लिए 10 वर्ष का लम्बा समय मिल जायेगा। 100 कारखाना वार्षिक नये बनाने पर 10 वर्षों में चीनी मिलों के साथ-साथ पावर एल्कोहल के 1000 (एक हजार) नये कारखाने खड़े हो जायेंगे, जिनके निर्माण में प्रति कारखाना एक करोड़ की पूँजी लगाने से केवल एक हजार करोड़ रुपया लगाना पड़ेगा। पावर एल्कोहल के इतने बड़े वृहद उद्योग की स्थापना भारत के सड़क परिवहन में क्रान्ति कर देगा।

यहाँ के रसायन उद्योग का यह तीव्र गति से विस्तार कर देगा, अरबों रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित करेगा और संकट काल में बिना गन्ना का क्षेत्रफल घटाये चीनी का उत्पादन घटाने में सहायक होगा जिसके परिणामस्वरूप किसानों को उनके गन्ने का अच्छा मूल्य मिलेगा। इतनी बड़ी योजना पर वार्षिक खर्च मात्र 100 करोड़ रुपया है जो अपने आप में एक बहुत ही आकर्षक बात है।

आधुनिक तकनीक द्वारा एक टन शीरे से 400

लीटर पावर एल्कोहल बनाया जा सकता है सम्प्रति एक टन शीरे का नियंत्रित मूल्य 62 रुपया 30 पैसा है। जबकि पेट्रोल 6-7 रुपये लीटर बिक रहा है। यदि पावर एल्कोहल 2.50 रुपये लीटर भी बेचा जाय तो भी एक टन शीरे से एक हज़ार रुपये का पावर एल्कोहल बनता है। इस एक हज़ार में से 500 रुपया पावर एल्कोहल बनाने तथा टैक्स आदि के खर्चे में मान लिया जाय तो भी चीनी के कारखाने को प्रतिटन शीरे पर 500 रुपये का शुद्ध लाभ होगा।

एल्कोहल की सहायता से वाहन चलाने की बात नई नहीं है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब पेट्रोल का अकाल सा पड़ गया था तो गैसोलिन में एल्कोहल मिलाकर वाहन चलाये जाते थे। इस मिश्रण को गैसोहल (गैसोलिन+एल्कोहल) नाम दिया गया था। उन्ही दिनों निज़ाम सुगर फैक्ट्री ने सर्वप्रथम हैदराबाद में पावर एल्कोहल प्लान्ट (POWER ALCOHOL PLANT) की स्थापना की। यहाँ सिर्फ गैसोहल के उपयोग का ही विधिक प्राविधान था। बाद में जब युद्ध समाप्त हुआ, राशनिंग समाप्त हुई तो कई वर्षों तक इस गैसोहल का उपयोग किया जाता रहा। 25% इथेनाल वाले गैसोहल का उपयोग आज कल के वाहनों, स्कूटरों और मोटर साइकिलों के इंजन में बिना कोई परिवर्तन किये ही किया जा सकता है। गैसोहल से फीयट और अम्बेसडर कारों को चला कर देखा गया तो पता चला कि इससे पांच प्रतिशत इंधन की बचत होती है।

1975 में तमिलनाडु सरकार ने अपने यहाँ सभी पम्प सेटो का एल्कोहल इंजनों से चलाने की इच्छा व्यक्त की थी। उत्तर प्रदेश भी अपने यहाँ की फाल्तू एल्कोहल को इंधन के रूप में बदलने का इच्छुक था।

इसके बावजूद भी भारत पावर एल्कोहल उत्पन्न करने के मात्र दो कारखाने को निर्मित करने का फैसला किया है। दोनों कारखाने महाराष्ट्र में बनेंगे। एक औरंगाबाद के सिलोढ़ नगर और दूसरा जलगांव जिले के कसोदा नगर में। एक कारखाने के निर्माण में कुल पूंजी लागत एक करोड़ आयेगी।

यदि भारत सरकार समस्त चीनी मिलों को चीनी संस्थानों (Sugar Complexes) में परिवर्तित कर दे और इनको सीजन भर तो गन्ना पेर कर चलाये तथा तत्पश्चात् ग्रामीण क्षेत्रों से गुड़ खरीद कर उससे इन संस्थानों को साल भर चलाये तो इससे निम्नलिखित लाभ होंगे—

1. सीजनोपरान्त खेत में खड़ा सूखने वाला गन्ना भी किसानों को पूरा मूल्य देगा।
2. चीनी संस्थानों के द्वारा गुड़ क्रय किये जाने के कारण दूर-दराज के क्षेत्रों में भी गन्ना-किसानों को अच्छा मूल्य प्राप्त होगा, जो मजबूरन अल्प मूल्य पर ही अपना गन्ना बेच देते हैं।
3. पावर एल्कोहल कारखाने के चालू होने पर किसानों को समय पर उचित मूल्य अपने गन्ने का प्राप्त होगा। इससे गन्ना किसान आवश्यकता पड़ने पर गन्ने का उत्पादन बढ़ा देंगे।
4. पावर एल्कोहल काल में खनिज तेलों का आयात नहीं करना पड़ेगा जिससे हमारी एक भारी पूजी बचेगी तथा बसों व ट्रकों को हम सस्ते दर पर चला सकेंगे। ऐसी स्थिति किराये-भाड़े में यकायक वृद्धि इस कारण से नहीं होगी कि तेल उत्पादक देशों ने तेल का दाम बढ़ा दिया है।
5. सूखे से निपटने के लिए हमें तेल उत्पादक देशों का मुंह नहीं देखना पड़ेगा।
6. चरम सीमा पर पहुँचती मंहगाई नीचे खिसक आयेगी क्योंकि उत्पादन व भाड़ा (ढुलाई) का चार्ज कम हो जायेगा।
7. युद्ध काल में कोई महाशक्ति हमारी लाइन ऑव सप्लाई को अवरुद्ध करके राष्ट्रविरोधी शर्तों को मनवाने में हमसे सफल नहीं हो सकेगा क्योंकि हमारे सारे वाहन, कल-कारखाने अपने ही संसाधनों पर आश्रित होंगे।
8. चीनी संस्थानों द्वारा पूरी दुनिया से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मुकाबला करते हुए भारत का चीनी और एल्कोहल उत्पादन में एकाधिकार हो सकता है। किसी भी चीनी उत्पादक देश में भारत

से सस्ता मजदूर और भारत जैसी जलवायु नहीं है।

9. भारत की कृषि ही अर्थतंत्र की रीढ़ है। फिर भी सरकार कृषि को भगवान भरोसे 35 सालों से छोड़े हुए है। पावर एल्कोहल कृषिजगत् में अपने तमाम सारे संयंत्रों के साथ पदार्पण करेगा, सस्ते उर्वरक भी प्राप्त होंगे। बिजली बादल के भरोसे पड़ी कृषि पावर एल्कोहल से चालित इंजनों के द्वारा सदैव हरी-भरी रहेगी। पैदावार निःसन्देह कई गुना ज्यादे होगी।

10. पावर एल्कोहल का भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर व्यापक और अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। जिस दिन भारत पावर एल्कोहल सप्लाई करने की स्थिति में हुआ, तत्काल भारत के पड़ोसी देश जो महाशक्तियों के झोला टांग बने हुए हैं, सभी भारत के दरवाजे पर फिरते नजर आयेंगे क्योंकि भारत के पड़ोसी देश पाकिस्तान बंगलादेश, श्रीलंका, मारीसस, नेपाल, मालद्वीप, तिब्बत आदि की आर्थिक स्थिति डावांडोल है। चूंकि भारत इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में समर्थ नहीं है इसलिए वे इधर-उधर लटके पड़े हैं। यदि भारतीय उपमहाद्वीप के सभी देश एक हो जाते तो हिन्द महासागर व हिमालय क्षेत्र में विचरते महाशक्तियों के महा-विनाशक संयंत्र अपने आप स्वदेश चले जाते।

11. बहुत दुखद बात यह है कि दुनिया के विकासशील देशों को ऊर्जा संसाधनों, तकनीकों, तकनीशियनों की जरूरत है जिससे वे अपनी भूमि पर निहित प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग कर उपयोगी वस्तुओं का निर्माण कर स्वावलम्बी होते। लेकिन तथाकथित विकसित देश विकासशील देशों को हथियार सप्लाई करते हैं और बदले में सस्ते से सस्ते दर पर उनके कच्चे मालों को हड़पते जा रहे हैं। इन्हीं विकासशील देशों की गरीबी और मजबूरी महाशक्तियों के मन में परस्पर विरोधी (एक दूसरे को डस लेने की) भावना पैदा करती है।

12. एल्कोहल से रबड़ बनता है। पूरी दुनिया में रबड़ की मांग है। वृक्षों से रबड़ उत्पन्न करने की क्षमता सीमित है। जिस जलवायु में रबड़ होता है उसी में काजू, सुपारी, इलायची, लौंग और नारियल होते हैं। यदि रबड़ की खेती कम करके उपरोक्त मूल्यवान चीजें पैदा की जायें और रबड़ की आपूर्ति नकली रबड़ (एल्कोहल से निर्मित) से की जाय तो अपेक्षाकृत लाभ अधिक होगा।

भारत में पावर एल्कोहल के लिए कच्चा माल, सस्ता श्रम-पूंजी, तकनीक, कुशल तकनीशियन, बाजार, सर्वोत्तम जलवायु उपलब्ध है। इतना सस्ता और सुलभ ऊर्जा संसाधन पावर एल्कोहल (Power Alcohol) भारत के दरवाजे पर सेवार्थ बैठा हुआ है। अब देखना है कि भारत की नजर कब इस पर पड़ती है।☐

अधिक नमक खाने से हाई ब्लड प्रेशर

यद्यपि इस बारे में पर्याप्त प्रमाण हैं कि नमक की कम मात्रा लेने से हाई ब्लड प्रेशर को कम किया जा सकता है लेकिन इस बारे में बहुत कम साक्ष्य हैं कि कम नमक खाने से हाई ब्लड प्रेशर होने ही नहीं पायेगा। इसके संबंध में एक रिपोर्ट हाल में जर्नल ऑव द अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन में अल्बर्ट हॉफमैन और उनके सहयोगियों ने प्रकाशित की है। उन्होंने इरेसमस यूनिवर्सिटी, मेडिकल स्कूल, रोटरडैम में किये गये प्रयोगों का हवाला दिया है। एक प्रयोग में 6 महीने तक 231 स्वस्थ बच्चों को कम नमकयुक्त भोजन पर तथा 245 स्वस्थ बच्चों को साधारण भोजन पर रखा गया। दोनों समूहों की तुलना करने पर पाया कि पहले समूह का दूसरे समूह की अपेक्षा काफी कम ब्लड प्रेशर था।

—पू० वा०

विज्ञान वार्ता

संकलन : कु० पूनम वार्ष्णेय
द्वारा डॉ० वाई० पी० वार्ष्णेय, ओटावा विश्वविद्यालय, कनाडा

(1) ग्वार का गोंद मधुमेह में लाभदायक

मधुमेह के रोगी के रक्त में चीनी की मात्रा कम करने में ग्वार का गोंद सहायक पाया गया है। राजस्थान विश्वविद्यालय के डॉ० वी० पी० दीक्षित और डॉ० आर० ए० गुप्त ने बताया है कि ग्वार के गोंद से बनी रोटी को मधुमेह का रोगी दिन में किसी भी समय भोजन के तौर पर ले सकता है। मधुमेह के रोगी कुत्तों पर 20 ग्राम ग्वार का गोंद प्रयोग करने से 45 प्रतिशत तक चीनी का स्तर गिर गया और ग्लूकोज़ बर्दाश्त करने की क्षमता भी बढ़ी। यही नहीं, राजस्थान विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग स्थित मधुमेह अनुसंधान केन्द्र द्वारा मधुमेह के रोगियों के लिए अब मधुमेह निरोधी डबल-रोटियाँ भी तैयार की जाएंगी।

(2) दर्द भगाने वाला टेप

जापानी वैज्ञानिकों ने एक ऐसा चिपकने वाला टेप तैयार किया है, जिसमें दर्द निवारक दवा मौजूद है। यह टेप जब दर्द वाले स्थान पर त्वचा के ऊपर चिपका दिया जाता है तो इसमें मौजूद दवा धीरे-धीरे त्वचा में प्रविष्ट हो जाती है और रोगी को दर्द से शीघ्र ही आराम मिल जाता है। यह नया टेप चिकित्सा जांच के बाद शीघ्र ही बाजार में आने वाला है।

(3) यातायात का शोर कम करने में वृक्ष सहायक

व्यस्त सड़कों पर यातायात के शोर को बहुत से वृक्ष लगाकर, कम खर्च में नियंत्रित किया जा सकता है। लन्दन की ब्रेडफोर्ड यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिकों के अनुसार यदि पेड़ों को एक पंक्ति में न लगाकर घनात्मक रूप से पास-पास लगाया जाए, तो वे शोर कम करने में उपयोगी सिद्ध होते हैं। पर्यावरण वैज्ञानिकों के अनुसार शोर कम करने के लिए अन्य उपायों की अपेक्षा पेड़ लगाना अधिक लाभदायक होगा और इन पर खर्च भी कम आयेगा।

(4) पीपल के पेड़ से सर्वाधिक ऑक्सीजन

भारत में पीपल के पेड़ का हिन्दुओं के लिए धार्मिक महत्व है। वे इसकी पूजा भी करते हैं, फिर भी बहुत से लोग इसके वैज्ञानिक महत्व से आज भी अनभिज्ञ हैं। केन्द्रीय खनन अनुसंधान केन्द्र के वैज्ञानिक डॉ० ए० जे० के० सिन्हा ने बताया कि पीपल का पेड़ अन्य पेड़ों की अपेक्षा सर्वाधिक ऑक्सीजन प्रदान करता है। एक पीपल के पेड़ से एक साथ दो सौ व्यक्तियों के लिये पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन प्राप्त होती है।

(5) मधु के ओषधीय गुण

शुद्ध शहद स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक होता है। मिस्र के एक वैज्ञानिक के अनुसार विभिन्न प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि शहद आँख और त्वचा की कई बीमारियों को ठीक कर सकता है। काहिरा स्थित अल अजर विश्वविद्यालय के रेडियोलोजी के प्रोफेसर अली मोतावे ने इस्लामी रिसर्च एकेडमी के नवें सम्मेलन में बताया कि शहद एकमात्र ऐसा पदार्थ है जिसमें 847 रोग प्रतिरोधी तत्व हैं। उन्होंने यह भी बताया कि शहद श्वास प्रणाली के रोगी को भी भली-भाँति ठीक कर सकता है। इसके साथ ही यह आमाशय और आँत के रोगों के उपचार में भी सहायक होता है।

(6) तुलसी की पत्तियाँ तनावमुक्ति में सहायक

भारत में काफी लोग तुलसी की पत्तियों का सेवन करते हैं। बीमारी की हालत में इसकी चाय बनाकर पिलायी जाती है। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् (लखनऊ) के डॉ० के० पी० भार्गव ने बताया कि दिल और दिमाग को तनावमुक्त रखने के लिए तुलसी की पत्तियाँ बहुत ही कारगर हैं। □

विस्फोटित ब्रह्माण्ड

डॉ० जयंत विष्णु नारलीकर
टाटा इंस्टीट्यूट ऑव फण्डामेण्टल रिसर्च, होमी भाभा रोड, बाम्बे 400005

[सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० जयंत विष्णु नारलीकर का यह लेख 'द एक्सप्लोडिंग यूनिवर्स' 'द इलस्ट्रेटेड वीकली ऑव इण्डिया' नामक पत्रिका के नवम्बर 1983 अंक (6-12 नवम्बर) में छपा था। इसका अनुवाद किया है 'विज्ञान' के सुपरिचित लेखक आर० के० प्रताप ने जो ए० पी० एन० डिग्री कॉलेज, बस्ती में शिक्षा विभाग में प्राध्यापक हैं। इस लेख का शेष भाग 'विज्ञान' के आगामी अंकों में छापा जायेगा। अनुवाद और प्रकाशन की अनुमति के लिए 'विज्ञान' लेखक और इलस्ट्रेटेड वीकली पत्रिका के प्रति आभार प्रदर्शित करता है। —सम्पादक]

इस शताब्दी के प्रारंभ में खगोलविदों की एक अंतर्राष्ट्रीय बैठक में एक उत्तेजनापूर्ण विवाद हो रहा था। विषय था : निरीक्षण योग्य ब्रह्माण्ड की सीमाएँ क्या हैं? बहुसंख्यक विद्वान इस पक्ष में थे कि वे जो कुछ देखते हैं वह आकाश गंगा का अंश है। कुछ थोड़े से लोग उन्नीसवीं शती के खगोलविद् आर० ए० प्राक्टर के दृष्टिकोण— कि टेलिस्कोप से दिखाई देने वाली कुछ नीहारिकाएँ आकाश गंगा से परे स्थित हैं— से अधिक सहमत थे।

जैसा आजकल भी बड़ी बैठकों में होता है, इस बैठक में बहुमत का ही पलड़ा भारी रहा। परंतु इस सन्दर्भ में तीन शताब्दियों पूर्व गैलीलियो द्वारा की गयी यह टिप्पणी अधिक समीचीन है कि "वैज्ञानिक प्रश्नों में बहुसंख्यकों के अधिकारिक मतों की तुलना में एक विनम्र तर्क अधिक मूल्यवान होता है।"

'प्रयोग-निरीक्षण-निष्कर्ष' की वैज्ञानिक विधि में एक आंतरिक सुरक्षा उपकरण होता है जो त्रुटिपूर्ण सिद्धांतों को पदच्युत कर देता है। 1924 में माउन्ट विल्सन की वेधशाला के 100 इंच के टेलिस्कोप से किये गये एडविन हबिल के निरीक्षणों से प्राक्टर के दृष्टिकोण की पुष्टि हो गयी। परन्तु हबिल के निरीक्षणों ने प्राक्टर की कल्पना से भी परे कुछ और नाटकीय और चमत्कारपूर्ण तथ्य उजागर किये।

सर्वप्रथम हम आकाश में एक सफेद विसरित पट्टी के रूप में फैली अपनी आकाशगंगा पर ही विचार करें जो अपनी इसी विशिष्टता के कारण यह संज्ञा प्राप्त कर सकी है। इसकी आकृति चकती (डिस्क) की भाँति है जिसका व्यास लगभग एक लाख प्रकाश वर्ष है तथा जिसमें सूर्य के साथ अरबों तारे समावेशित हैं। नीहारिकाएँ तारों की भाँति प्रकाश का बिंदु स्रोत नहीं होतीं वरन् वे विसारित प्रतीत होती हैं। आकाश गंगा में अनेक चमकदार नीहारिकाएँ हैं। परन्तु चमकदार ऐन्ड्रोमीडा नीहारिका के सम्बन्ध में क्या कहा जाए?

यह नीहारिका ही इस लेख के प्रारम्भ में इंगित विवाद का कारण बनी। यह नीहारिका एक या दो तारों से नहीं बनी है वरन् इसमें सहस्त्रों अरब तारे समाहृत हैं—यह स्वयं एक मन्दाकिनी (गैलेक्सी) है। हमसे अपनी दूरी लगभग 20 लाख प्रकाश वर्ष के कारण यह छोटी और धुंधली दिखती है।

1920 के दशक में हबिल और उनके सहयोगी मिल्टन हुमासों ने ऐसी अनेक मंदाकिनियाँ हमारी आकाश गंगा से परे देखी जिससे यह सिद्ध हुआ कि एन्ड्रोमीडा हमारी निकटस्थ मन्दाकिनियों में से एक है तथा दृश्य ब्रह्माण्ड एन्ड्रोमीडा से परे लाखों प्रकाश वर्षों तक विस्तृत है। अब तो खगोलशास्त्री अरबों प्रकाश वर्षों की दूरियों

पर स्थित मन्दाकिनियों के समूहों का चित्र भी खींच सकते हैं।

जब कि हम ब्रह्माण्ड की इस अपरिमित सीमा से चकित हो सकते हैं, बात इतनी ही नहीं है। हबिल के निरीक्षण ने और चौकाने वाले तथ्य उपस्थित किये जिन पर आधुनिक ब्रह्माण्ड विज्ञान (कॉस्मोलॉजी) अवस्थित है। परन्तु इसकी व्याख्या के पूर्व यह जानना उचित होगा कि आखिर आठ दशक पूर्व खगोलशास्त्रियों को ब्रह्माण्ड के आकार के सम्बन्ध में शंका क्यों थी।

इस पहेली के समाधान संकेत आकाश गंगा के चित्रों में दिखाई देने वाले काले धब्बों में निहित हैं। यह धब्बे तारों के प्रकाश का धूलकणों द्वारा शोषण किये जाने से उत्पन्न होते हैं। उस समय यह अंतर्नक्षत्रीय प्रदूषण अज्ञात था और गणनाओं में इसका विचार नहीं किया गया था। प्राक्टर ने यह अनुमान प्रस्तुत किया था जिसकी पुष्टि 1920 के दशक में की जा सकी। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् बनाए गए उन्नत टेलिस्कोप इन धब्बों के पार देख सकने में सफल हुए तथा अनेक धुंधली नीहारिकाओं की अतिरिक्त मन्दाकिनी प्रकृति (एक्स्ट्रा गैलेक्टिक नेचर) का स्पष्ट अनुमान लगा सके।

1920 के बाद के वर्षों में खगोलशास्त्री अन्तरिक्ष-पिण्डों के अध्ययन के लिये दो बिधियाँ उपयोग कर सकते थे। एक विधि में एक तारे से आने वाले प्रकाश को बिम्ब-निर्माण के लिये पर्याप्त समय तक फोटोग्राफिक प्लेट पर डाला जाता था। दूसरी विधि में तारे से आने वाले प्रकाश को विभिन्न तरंग दैर्ध्य वाली प्रकाश तरंगों में उसी प्रकार विभाजित कर लिया जाता था जैसा सूर्य के प्रकाश को त्रिपार्श्व द्वारा सात रंगों में विभाजन के लिये किया जाता है।

हबिल और हुमासों ने अनेक मन्दाकिनियों के वर्ण-क्रम और चित्र साथ-साथ परीक्षित किये। एक मन्दाकिनी के वर्णक्रम में एक चमकदार पृष्ठभूमि में काली रेखाएँ प्राप्त होती हैं। यह उस तारे के वातावरण में उपस्थित गैस के परमाणुओं द्वारा कुछ निश्चित तरंग लम्बाई के प्रकाश के शोषण के कारण होता है। परमाणु वैज्ञानिक वर्णक्रम पर इस काली रेखा की स्थिति (तरंग दैर्ध्य) से यह बता सकते हैं कि ऐसा किन परमाणुओं की उपस्थिति के कारण हुआ। उदाहरण के लिये कैल्शियम की एच और के रेखाएँ अन्तरिक्षीय तारों के वर्णक्रमों में बहुधा प्राप्त होती हैं उनकी तरंग लम्बाइयों का औसत 3950 ए° (ए° = ऐन्गस्ट्राम = 10^{-8} सेमी = सेंटीमीटर का दस करोड़वाँ भाग) होता है।

हबिल और हुमासों द्वारा प्राप्त वर्णक्रमों में एक विशेषता यह थी कि उनमें एच और के रेखाओं के तरंग दैर्ध्य उनके प्रयोगशाला मानो से क्रमबद्ध रूप में अधिक थे। चूंकि एक सामान्य वर्णक्रम में अधिकतम तरंग दैर्ध्य पर लाल रंग और न्यूनतम तरंग दैर्ध्य पर नीला-बैंगनी रंग प्राप्त होता है अत: उपरोक्त वर्णक्रमों को हम 'लाल रंग की ओर बढ़े हुए' पुकारते हैं। एक विशेष वर्णक्रम में जिस भिन्न में यह वृद्धि प्राप्त होती है उसे वर्णक्रम का रक्त विचलन (रेड शिफ्ट) कहा जाता है। कभी-कभी इसकी अभिव्यक्ति इस रक्त विचलन के मान को प्रकाश के वेग से (3×10^{10} सेमी/सेकेंड) गुणित करके प्राप्त की जाती है। जैसे कि हाइड्रा समूह के लिये 61000 किमी प्रति सेकेंड रक्त विचलन की गणना की गयी है।

इस विचलन की सामान्य व्याख्या डाप्लर प्रभाव द्वारा भी की जा सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रकाश का स्रोत निरीक्षक से दूर जा रहा हो तो इसकी प्रकाश तरंगों में रक्त विचलन, दिखाई देगा। यदि इस नियम को हम हाइड्रा मंदाकिनी पर प्रयोग करें तो पता चलेगा कि यह हमसे 61000 किमी/सेकेंड की गति से दूर जा रही है।

खगोलशास्त्रियों के लिए भी यह गति अत्यधिक है। प्रारंभिक खगोलशास्त्रियों ने तारों के वर्णक्रमों में रक्त विचलन देखा था परंतु वे कुछ सौ प्रति सेकेंड से अधिक के मान नहीं थे। जब सहस्त्रों किमी प्रति सेकेंड परिमाण के रक्त विचलन प्राप्त हुए तो हबिल और हुमासों को यह स्पष्ट हो गया कि कुछ असामान्य घटना घटित हो रही है।

यह विशिष्टता यहीं समाप्त नहीं होती। जब अनेक मंदाकिनियों के आंकड़े एकत्रित किये गये तो ज्ञात हुआ कि रक्त विचलन का परिमाण मंदाकिनी के धुंधलेपन

(फैन्टनेस) के साथ बढ़ता जाता है। इस तर्क से कि—जितना अधिक धुंधला कोई अंतरिक्षीय पिण्ड होता है वह हमसे उतना अधिक दूरी पर होता है—हबिल इस नियम पर पहुँचे कि **एक नीहारिका की हमसे परे जाने की गति** (स्पीड ऑव रिसेशन) **उसी अनुपात में बढ़ती है जिस अनुपात में वह हमसे दूर होती है**। उदाहरण के लिए हाइड्रा में स्थित नीहारिका वर्गो में स्थित नीहारिका की तुलना में हमसे पांच गुना अधिक दूरी पर है। वर्गो (कन्या राशि) से हाइड्रा तक जाने में अपगमन वेग (रिसेशन वेलॉसिटी) पाँच गुना बढ़ जाता है।

इसका अर्थ क्या है? हबिल के नियम के अनुसार सारी मंदाकिनियाँ हमसे दूर जा रही हैं जैसे हम जहाँ हैं वहाँ कभी कोई विस्फोट हुआ था। क्या इससे हमारी मंदाकिनी को कोई विशेष स्थान प्राप्त हो जाता है?

प्राचीन यूनानी पृथ्वी को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानते थे। इस विश्वास को कॉपरनिकस और गैलीलियो ने ध्वस्त कर दिया था। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर गतिमान अनेक नक्षत्रों में से एक है। फिर सूर्य की भी विशेष स्थिति नहीं रही। यह स्पष्ट हो गया कि सूर्य भी हमारी आकाशगंगा के खरबों तारों में से एक है और यह वहाँ केन्द्र में भी नहीं है। सत्य तो यह है कि सूर्य आकाशगंगा के केन्द्र से लगभग दो तिहाई दूरी पर स्थित है। क्या हमारी आकाशगंगा ही ब्रह्माण्ड के केन्द्र पर है जो एक महा-विस्फोट का केन्द्र था?

परन्तु ऐसा नहीं है। 1930 के दशक के सिद्धांतकारों ने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि हमारी आकाशगंगा को विशिष्ट स्थान प्रदान करने के स्थान पर हबिल का नियम ब्रह्माण्ड में एक प्रजातांत्रिक प्रणाली आरोपित कर देना है—यह ऐसी प्रणाली है जिसमें हमारी स्थिति चाहे जो भी हो ब्रह्माण्ड का रूप एक जैसा ही रहता है। अतः यदि हम किसी अन्य मंदाकिनी पर किसी निरीक्षक की कल्पना करें तो वह भी हबिल का यह नियम प्राप्त करेगा। सारी मंदाकिनियाँ जिनमें हमारी आकाशगंगा भी सम्मिलित है, उसे अपने से दूर भागती हुई प्रतीत होंगी।

इस स्थिति को एक गुब्बारे, जिस पर बिंदियाँ बनी हों, के उदाहरण से समझाया जा सकता है। जब गुब्बारे में हवा भरी जाएगी तो सारे बिंदु एक दूसरे से दूर जाएंगे यद्यपि इस बिंदु व्यवस्था का कोई केन्द्र नहीं होता है। इसी रूप में यह कहा जा सकता है कि मंदाकिनियों से जड़ा हुआ यह संपूर्ण त्रि-आयामीय दिक् (थ्री डायमेंशनल स्पेस) विस्तारित हो रहा है।

महा-विस्फोट

यद्यपि हबिल के निरीक्षण-परिणाम महत्वपूर्ण थे परन्तु उससे पूर्व ही सैद्धांतिक क्षेत्र में कुछ और महत्वपूर्ण घटित हो चुका था। हबिल की खोज के 15 वर्ष पूर्व 1915 में अल्बर्ट आइंस्टीन, 'सापेक्षता का सामान्य सिद्धान्त' प्रस्तुत कर चुके थे।

सामान्य सापेक्षता अनेक भौतिकविदों की दृष्टि में वैज्ञानिक चिन्तन के क्षेत्र में महानतम बौद्धिक उपलब्धि मानी जाती है। इस छोटे से लेख में उस सिद्धान्त के साथ न्याय कर पाना कठिन है परंतु इतना कहना पर्याप्त होगा कि इस सिद्धान्त के माध्यम से आइंस्टीन ने गुरुत्वीय घटनाओं (ग्रैवीटेशनल फेनामेना) और दिक्-काल की ज्यामिति (ज्यामेट्री ऑव स्पेस ऐण्ड टाइम) के बीच तादात्म्य स्थापित किया था।

विद्यालयों में हम यूक्लिड की ज्यामिति का अध्ययन करते हैं और उसी का व्यवहारिक प्रयोग करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के गणितज्ञ अन्य प्रकार की ज्यामितीय प्रणालियों से भी परिचित थे परंतु वे केवल अमूर्त विषयों के रूप में जिनका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं था, अध्ययन की जाती थीं। आइंस्टीन ने यह प्रदर्शित किया कि यदि उनके द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त सत्य है तो दिक्-काल ज्यामिति को अनिवार्यतः अ-यूक्लिडीय (Non Euclidian) होना चाहिये। 1917 में उन्होंने स्वयं ब्रह्माण्ड के एक सैद्धांतिक नमूने (माडल) का निर्माण किया जिसकी दिकीय (स्पेशियल) ज्यामिति एक त्रि-आयामीय अतिगोलक (हाइपरस्फियर) की तलीय ज्यामिति के समान थी। उस प्रकार जैसे कोई व्यक्ति पृथ्वी के द्वि-आयामी तल पर किसी दिशा में सीधे चलते-चलते पुनः उसी स्थान पर पहुंच जाता है उसी प्रकार आइंस्टीन-ब्रह्माण्ड में प्रकाश की किरण अंततः उसी बिंदु पर पहुँचती

है। ऐसी दिक्-व्यवस्था को बंद या संवृत्त (क्लोज्ड) व्यवस्था कहते हैं क्योंकि इसमें आयतन के निश्चित होने के बावजूद बाहर जाना संभव नहीं है।

1922 में सोवियत भौतिकविज्ञानी अलेक्जेन्डर फ्रीडमैन ने आइंस्टीनी-नमूने से भिन्न प्रकार के सैद्धांतिक रूप प्रस्तुत किये। आइंस्टीन द्वारा प्रस्तुत निर्मिति स्थिर (स्टैटिक) थी, इसमें मंदाकिनियाँ एक स्थान पर स्थिर रहती थीं और एक दूसरे से परे गति नहीं करती थीं। फ्रीडमैन-निर्मिति में ब्रह्माण्ड का विस्तार और मंदाकिनियों की एक दूसरे से दूर गति समावेशित थी।

प्रारंभ में किसी ने फ्रीडमैन द्वारा प्रस्तुत निर्मिति पर ध्यान नहीं दिया क्योंकि उन दिनों खगोलशास्त्री विस्तारित होते ब्रह्माण्ड की संकल्पना से बहुत दूर थे। फिर भी हबिल के निरीक्षणों ने आइंस्टीन द्वारा प्रस्तुत नमूने की असत्यता प्रमाणित कर दी और इंगित किया कि फ्रीडमैन की सैद्धांतिक निर्मिति वास्तविकता के अधिक निकट हैं। आइंस्टीन ने स्वयं यह स्वीकार किया कि उनकी स्थिर निर्मिति (स्टैटिक माडल) अवास्तविक है।

फ्रीडमैन की निर्मितियों की सत्यता स्वीकार करके खगोलशास्त्री इनके पूर्वरूपों का अनुमान लगा सकते थे और यह अनुमान प्रस्तुत कर सकते थे कि सुदूर अतीत में ब्रह्माण्ड की आकृति कैसी थी। इसका जो उत्तर प्राप्त हुआ वह यह था कि निश्चित समय पूर्व संपूर्ण ब्रह्माण्ड एक बिंदु में समाहृत था जिससे वह विस्फोटित हुआ। वर्तमान विस्तारण उस तीव्र विस्फोट का जिसे बहुधा महाविस्फोट (द बिग बैंग) कहा जाता है का मंदित रूप (स्लोड-डाउन वर्शन) है इन निर्मितियों (माडल्स) को गंभीरता पूर्वक स्वीकार करने वाले ब्रह्माण्ड वैज्ञानिक यह गंभीर तर्क उपस्थित करते हैं कि यही बिंदु-अवस्था (प्वाइंट लाइक स्टेट) ब्रह्माण्ड के प्रारंभ या सर्जन को व्यक्त करती है और उस क्षण से पूर्व की स्थिति के संबंध में जिज्ञासा अर्थहीन है और उसका उत्तर भौतिकविद नहीं दे सकते।

ब्रह्माण्ड का भविष्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में फ्रीडमैन की निर्मितियाँ दो विकल्प प्रस्तुत करती हैं। यदि ब्रह्माण्डीय पदार्थ का घनत्व एक क्रांतिक मान (क्रिटिकल वैल्यू) से अधिक है तो दिक् आइंस्टीन निर्मिति की भाँति संवृत्त (क्लोज्ड) हो जाता है। यह निर्मितियाँ प्रतिक्षण मंद होती हुयी गति से विस्तारित होती रहेंगी जब तक कि विस्तार की यह प्रक्रिया रुक नहीं जाएगी और संकुचन (कांट्रैक्शन) प्रारंभ हो जाएगा। यह संकुचन प्रतिक्षण त्वरित गति से घटित होगा और पूरा ब्रह्माण्ड एक बिंदु की स्थिति प्राप्त कर लेगा। यह अवस्था ब्रह्माण्डीय-अंत की अवस्था होगी।

दूसरा विकल्प निम्न है। यदि ब्रह्माण्डीय-पदार्थ का घनत्व क्रांतिक मान से कम हो तो दिक् विवृत्त या 'ओपेन' हो जाता है उस स्थिति में प्रकाश की कोई किरण हमसे परे ही जाएगी। यह विवृत्त ब्रह्माण्ड तब तक एक निश्चित मंदन से सदैव विस्तारित होता रहेगा जब तक अनंत में विलीन न हो जाए।

यहाँ पाठक कुछ प्रश्न पूछ सकते हैं, जैसे "ब्रह्माण्ड की आयु क्या है ?" "यह संवृत्त है या विवृत्त" ? "क्या यह सदैव विस्तारित होता रहेगा ?" आधुनिक ब्रह्माण्ड-विज्ञान इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न करता है परंतु उन समाधानों के पूर्व 1940 के दशक के ब्रह्माण्ड-विज्ञान के क्षेत्र के दो महत्वपूर्ण परिणामों पर विचार करना उचित होगा।

जैसा कि 'महाविस्फोट' से अर्थ निकलता है यह प्रारंभिक विस्फोट अत्यंत उग्र और विक्षोभपूर्ण रहा होगा और फ्रीडमैन की निर्मिति (माडल) के अनुसार इस प्रारंभिक अवस्था में ब्रह्माण्ड का तापक्रम अत्यंत उच्च हो गया होगा। परंतु कितना ?

इस प्रश्न का उत्तर तभी दिया जा सकता है जब हमें ज्ञात भौतिक नियमों में पर्याप्त विश्वास हो, इतना विश्वास कि प्रारंभिक ब्रह्माण्ड के इन आत्यंतिक क्षणों में हम इन नियमों के निष्कर्ष स्वीकार कर सकें। 1946 में जार्ज गैमो ने यह गणना करके उसके परिणाम दृढ़तापूर्वक उपस्थित किये।

उदाहरण के लिये गैमो ने पाया कि जब ब्रह्माण्ड मात्र 1 सेकेण्ड आयु का था, इसका तापक्रम 10 अरब डिग्री केल्विन था (लगभग 10 अरब डिग्री सेलिसयस)। ऐसे तापक्रम पर पदार्थ न ठोस अवस्था में रह सकता है

और न ही द्रव रूप में। इस स्थिति में पदार्थ इलेक्ट्रॉनों, प्रोटानों, न्यूट्रॉनों तथा फोटॉनो (शुद्ध विकिरण के रूप में ऊर्जा की इकाइयों (पैकेट) की गैस-अवस्था में था। यह सारे कण लगभग स्वतंत्रतापूर्वक गति कर रहे थे यद्यपि उनकी घनी संख्या के कारण उनमें आपस में संघट्ट भी होना स्वाभाविक था।

गैमो के विचार से उपरोक्त परिस्थिति संगलन संयंत्र (फ़्यूजन रिएक्टर) के भीतर की परिस्थिति के समान थी जिसमें प्रोटॉनों और न्यूट्रॉनों के संघट्ट और संयोग से परमाणु-नाभिक निर्मित होते हैं। उदाहरण के लिए ड्यूटीरियम (भारी हाइड्रोजन) के नाभिक में एक प्रोटॉन और एक न्यूट्रॉन नाभिकीय बल द्वारा एक दूसरे से संबंधित होते हैं। 10 अरब डिग्री तापक्रम पर प्रोटॉन और न्यूट्रॉन इतनी तीव्र गति करते हैं कि उनके मध्यगत बंधन नगण्य हो जाते हैं। जैसे जैसे ब्रह्माण्ड के विस्तार के साथ तापक्रम कम होता है वैसे ही नाभिकीय बंधन बल अधिक प्रभावी होते जाते हैं और ड्यूटीरियम नाभिक अस्तित्व प्राप्त करने लगता है। यह प्रक्रिया चलती रहती है और अंत में हीलियम नाभिक, जिसमें दो प्रोटॉन और दो न्यूट्रॉन होते हैं, अस्तित्व में आ जाता है।

गैमो को विश्वास था कि इस प्रकार अपेक्षाकृत बड़े नाभिक भी निर्मित हो सकेंगे। उनके सहकर्मियों राल्फर और राबर्ट हर्मन ने प्रारंभिक नाभिकीय संगलन का एक सिद्धांत गैमो के साथ मिलकर प्रस्तुत किया। इस कार्य में उन्होंने एक महत्वपूर्ण भविष्यवाणी की। उनके अनुसार इस अतितापी अवस्था में उपस्थित विकरण ठंडा होने के पश्चात आज भी निरीक्षणीय होगा। उनका अनुमान था कि यह विकिरण मुख्य रूप से सूक्ष्म तरंगों (माइक्रोवेव्स) के रूप में होगा।

1950 के दशक में सूक्ष्म तरंग तकनीक पर्याप्त विकसित थी कि इस अनुमानित अवशेष-विकिरण के लिये उपयुक्त एरियल (एन्टेना) बनाया जाता परंतु किसी ने यह महत्वपूर्ण मापन-कार्य नहीं किया।

विज्ञान के समाजशास्त्रियों ने इस पर पर्याप्त विवाद किया है कि ऐसा क्यों हुआ। इसके दो कारण हो सकते हैं। गैमो की सभी प्रकार के नाभिकों को ब्रह्माण्ड के प्रारंभ के कुछेक मिनटों में ही ठंडे करने की आशा व्यर्थ सिद्ध हुयी। खगोल-भौतिक विदों ने यह निष्कर्ष निकाला कि गैमो की चिंतन-सरणि का अनुसरण करने से भी हीलियम नाभिक से आगे जटिल नाभिकों तक बढ़ना संभव नहीं है। शीघ्र ही ठंडा होता हुआ ब्रह्माण्ड इस प्रक्रिया के लिये सही परिवेश नहीं उपस्थित करता। इसलिये उन्होंने इस पूरे सिद्धांत में रुचि त्याग दी। दूसरी बात यह भी थी कि तीस वर्ष पूर्व भौतिकशास्त्री ब्रह्माण्ड-विज्ञान को आज की तरह गंभीरता से नहीं ग्रहण करते थे। वे इसे अत्यधिक काल्पनिक (स्पेक्यूलेटिव) मानते थे। □

(शेष आगामी अंकों में)

शराब की लत कम करने की दवा

सोवियत वैज्ञानिकों ने एक ऐसी दवा तैयार की है जिसके पीने से शराब पीने की इच्छा का दमन किया जा सकता है।

सोवियत विज्ञान अकादमी के औषधिविज्ञान संस्थान के वैज्ञानिकों द्वारा 'इनमेकर्व' नामक इस दवा पर किए गए परीक्षणों के काफी अच्छे परिणाम सामने आए हैं, और इस बात की आशा व्यक्त की गई है कि इसे कुछ ही महीनों में आम लोगों के उपयोग के लिए तैयार कर लिया जाएगा। इस संस्थान के एक चिकित्सक ने बताया कि स्वाद में यह दवा न तो मीठी है और न ही कड़वी। शराब पीने की इच्छा के दमन के लिए इसे 30 दिन तक प्रतिदिन पाँच बार लेना होगा।

चीन में चालकरहित विमान

चीन ने चालकरहित विमान की प्रशिक्षण उड़ान का दावा किया है। यह विमान नभ से चित्र भी ले सकेगा। समाचार एजेंसी 'सिनहुआ' के अनुसार इस विमान को रेडियो प्रणाली से नियंत्रित किया जाता है। यह 3.3 मीटर लम्बा है। इस विमान को किसी जहाज या ट्रक से भी उड़ाया जा सकता है।

गन्ने की अच्छी फसल हेतु नाइट्रोजन का पर्णीय छिड़काव

डॉ० कन्हैयालाल
गेंदासिंह गन्ना प्रजनन एवं अनुसंधान केन्द्र, सेवरही, देवरिया (यू० पी०)

अन्य फसलों की तरह गन्ने की प्रति हेक्टेयर कम उपज का मुख्य कारण फसल के संतुलित पोषण की कमी है। असंतुलित पोषण के कारण फसल में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं जो प्रारम्भिक अवस्था में दिखायी न देते हुए भी उपज को बहुत नुकसान पहुँचाते हैं। गन्ने की वृद्धि और विकास के समय नयी कोशिकाओं की उत्पत्ति होती है जो परिपक्वता को प्राप्त कर फिर बँटकर अनेक नयी कोशिकाओं को जन्म देती हैं। इससे वृद्धि की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इस प्रक्रिया के सम्पादन हेतु बड़ी मात्रा में नाइट्रोजन के पदार्थों एवं कार्बोहाइड्रेटों की आवश्यकता होती है। कार्बोहाइड्रेट की पूर्ति तो पत्तियों द्वारा सूर्य के प्रकाश में जल और कार्बन डाइऑक्साइड के संयोग से संश्लेषण द्वारा होती है। पर नाइट्रोजन के पदार्थों के संश्लेषण हेतु आवश्यक होता है कि काफी मात्रा में नाइट्रोजन भूमि से लगातार प्राप्त होता रहे। जब भूमि आवश्यकतानुसार नाइट्रोजन पौधे को पहुँचा सकने में असमर्थ हो जाती है, तो नाइट्रोजन के पदार्थों का संश्लेषण रुक जाता है। यही नहीं, नाइट्रोजन की आवश्यकता पत्तियों के हरित पदार्थ हेतु भी होती है, जो कार्बोहाइड्रेट के संश्लेषण में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अतः नाइट्रोजन की कमी से अनेक नाइट्रोजन वाले पदार्थों के अतिरिक्त कार्बोहाइड्रेट का संश्लेषण भी कम हो जाता है। इससे पौधों की वृद्धि घट जाती हैं और अन्ततः उपज कम हो जाती है।

गन्ने की भरपूर उपज प्राप्त करने के लिये नाइट्रोजन, फॉसफोरस, पोटाश आदि वृहद तथा लोहा, ताँबा, बोरान, मालीबिडीनम आदि सूक्ष्म तत्वों की आवश्यकता होती है। उत्तर प्रदेश के सभी क्षेत्रों में नाइट्रोजन का कुछ भाग भूमि से प्राप्त हो जाता है, पर शेष भाग को खाद देकर पूरा करने की आवश्यकता होती है जल के अभावग्रस्त क्षेत्रों में भूमि में उर्वरता की कमी होने पर भी उतना नाइट्रोजन नहीं दिया जा सकता जितना जल सुलभ क्षेत्रों में सम्भव है। नाइट्रोजन देने के समय यदि भूमि की नमी और तापमान दोनों ही सामान्य हो तो कम नमी और कम तापमान की तुलना में अधिक नाइट्रोजन देना पड़ेगा। इस प्रकार विभिन्न अंचलों में वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार 100 कि० ग्राम से 200 कि० ग्राम नाइट्रोजन तक प्रति हेक्टेयर देकर गन्ने का सफल उत्पादन सम्भव है।

पर्णीय छिड़काव क्यों ?

पर्णीय छिड़काव के लिये नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों में यूरिया सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसमें नाइट्रोजन की मात्रा सर्वाधिक (46 प्रतिशत) होती है। साथ ही साथ यह पानी में शीघ्र घुलनशील तथा रसायनिक परिवर्तन होने के कारण बहुत जल्दी फसल पर प्रभाव डालता है।

पर्णीय छिड़काव की इस विधि में पत्तियों पर छिड़का गया घोल पदार्थ उनके पर्णरन्ध्रों (स्टोमेटा) या पत्तियों की बाहरी पर्त पर जमी क्यूटिकिल अथवा दोनों द्वारा शोषित हो जाता है। इस प्रकार नाइट्रोजन की कुल मात्रा का लगभग 80 प्रतिशित भाग पौधों द्वारा प्रयोग कर लिया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप कम से कम 30 से 40 प्रतिशत उर्वरक की बचत हो सकती है। पर्णीय छिड़काव के द्वारा पौधे नाइट्रोजन का उत्तम

[शेष पृष्ठ 8 पर

मत्स्य उत्पादन में कृत्रिम भोजन

अशोक रॉय

सहायक निदेशक, मत्स्य (प्रशिक्षण) कठौताताल, मत्स्य प्रशिक्षण केन्द्र, चिनहट, लखनऊ

पिछले कुछ वर्षों में मछली पालन में भारी 'क्रांति' आई है। आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों से मछली पालन करने के फलस्वरूप उत्पादन बढ़कर 9058 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर से भी अधिक हो चुका है, जिसका मूल्य वर्तमान दर को देखते हुए लगभग 80,000 रुपये प्रति वर्ष प्रति हेक्टेयर होता है। इन आधुनिक विधियों में कृत्रिम भोजन की एक विशेष भूमिका है।

कृत्रिम भोजन से मछली के वजन में जल्दी वृद्धि के साथ ही साथ और भी अनेक लाभ हैं। जैसे—

1—हम एक हेक्टेयर में 5,000 अंगुलिकाये डालते हैं परन्तु कृत्रिम भोजन देने से हम और अधिक संख्या में अंगुलिकाये डाल सकते हैं।

2—मिश्रित भोजन से बढ़ोत्तरी शीघ्र और उत्तम होती है।

3—कृत्रिम भोजन से ब्रूड मछली जल्दी परिपक्व होती है और प्रजनन के लिये शीघ्र तैयार होती है।

कृत्रिम भोजन कैसा होना चाहिए

कृत्रिम भोजन जो हम मछली को दें, सस्ता और जल्दी पचने वाला होना चाहिये। वनस्पति भोजन उत्तम है, हाँलाकि यह देखा गया है कि मछली के बच्चे ऐसे भोजन से जल्दी बढ़ते हैं जिसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है।

जलाशयों के प्रयोगों से यह देखा गया है कि मछली के बच्चे चावल का कना और खली मिलाकर देने से बहुत शीघ्र और अधिक बढ़ते हैं। नरसरी में अब हम जीरा छोड़ते हैं तो आरम्भ में वे प्लवक या जूप्लांक्टान ही खाती हैं, परन्तु जीरा डालने के दिन से ही जूप्लांकटान के साथ-साथ, चावल का कना तथा खली को बहुत बारीक पीस कर इनको दिया जाता है जो कि अतिरिक्त भोजन का काम करता है।

कृत्रिम भोजन की मात्रा

कृत्रिम भोजन नरसरी स्टेज में भी देते हैं तथा तालाबों में भी। नरसरी स्टेज पर प्रथम सप्ताह में जीरे के वजन के बराबर कृत्रिम भोजन दिया जाता है और दूसरे सप्ताह में इसका दूना तथा तीसरे सप्ताह में जीरे के वजन का तीन गुना भोजन दिया जाता है। ब्रूड मछलियों को मछली के वजन का दो या तीन प्रतिशत कृत्रिम भोजन दिया जाता है।

भोजन देने का तरीका

चावल का कना तथा खली को खूब बारीक पीसकर बराबर-बराबर मिलाकर भोजन बना लिया जाता है। नरसरी में इसको पानी में गूँथकर छिड़क दिया जाता है। बड़ी मछलियों को खिलाने के लिए इसके लड्डू बना लिये जाते हैं तथा तालाब के किनारे एक तिपाया बनाकर किसी बर्तन में रख दिया जाता है। यह सुबह या शाम के समय भोजन देने के लिए उपयुक्त है।

मांसाहारी भोजन और फोरेज रेशियो या अनुपात

भोजन के उपयोग और मछली के वजन की वृद्धि को 'फोरेज रेशियो' अथवा 'कनवरशन रेशियो' भी कहते हैं। कृत्रिम भोजन की श्रेष्ठता का यही मापदण्ड है कि किस भोजन का कनवरशन रेशियो कितना अधिक है।

चीन, जापान तथा पूर्वी एशियाई देशों में मछली-पालन बहुत ऊँचे स्तर का है। इन देशों में मछली-पालक,

मछलियों को कृत्रिम भोजन में छोटी मछली (पिसी हुई) तथा जानवर का खून, रेशम के कीड़े तथा अन्य कीड़े भी देते हैं।

कुछ प्रचलित भोजन जो मछलियों को दिया जाता है उनका कनवरशन अनुपात इस प्रकार है:

1—रेशम के कीड़े (सूखे)	1·8
2—काइरोनिमिड (कीड़े)	2·3
3—मूंगफली की खली	2·7
4—चावल का कना	4·5
5—गेहूँ की भूसी	7 0

कुछ विशेष प्रकार की मछलियों के लिये विशेष भोजन

आजकल उत्तर प्रदेश में कुछ विशेष प्रकार की विदेशी मछलियों का पालन किया जा रहा है जिनकी अधिक वृद्धि के लिये विशेष प्रकार का भोजन देने का प्राविधान है।

कामन कार्प मछली करीब प्रत्येक जिले में पल रही है। इसकी विशेष बढ़ोत्तरी के लिए हम जौ की भूसी के साथ जानवर का खून या छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों को सुखाकर तथा पीसकर देते हैं।

ग्रासकार्प नाम की विदेशी मछली भी पल रही है जिसका भोजन मुख्यतः जलीय घास या वनस्पति है। जिन प्रक्षेत्रों में जलीय घास उपलब्ध नहीं है वहाँ हम हाइड्रिला अथवा कोई नरम घास दूसरे स्थान से लाकर छोटे-छोटे टुकड़े कर इनको खिलाते हैं। इसी प्रकार सिलवर कार्प नाम की मछली सूक्ष्म वनस्पतियाँ ही खाती है। पानी में हरी काई पैदा करने के लिये हम अकार्बनिक खाद डालते हैं। इसके डालने से हरी काई अधिक मात्रा में पैदा होती है। □

[पृष्ठ 6 का शेषांश]

तरीके से उपयोग करके मिट्टी में नाइट्रोजन की क्षति को बचाया जाता है।

छिड़काव का उपयुक्त समय

यूरिया का छिड़काव करने के पूर्व यह देख लेना चाहिए कि खेत पौधों से भर गया हो जिससे छिड़का गया घोल जमीन पर न पड़कर पत्तियों पर ही पड़े। बुवाई के सामान्य समय से बोये गये गन्ने की बावक फसल में यह स्थिति मई के अन्त या जून के प्रथम सप्ताह में आती है जबकि पेड़ी में यह स्थिति अप्रैल के महीने में आ जाती है। लेकिन देर से बोये गये गन्ने के खेत में यह स्थिति देर से, लगभग जून के मध्य या अन्तिम समय में आ पाती है। जहाँ तक सम्भव हो, छिड़काव सुबह या शाम, उस समय करना चाहिए जब वायु स्थिर हो, वर्षा होने की सम्भावना न हो, तापक्रम कम हो और खेत में पर्याप्त नमी हो जिससे छिड़के गये घोल का शोषण पत्तियों द्वारा भली भाँति हो जाये।

छिड़काव की विधि

50 कि० ग्राम नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर के समतुल्य यूरिया की मात्रा चार बार में लगभग 30 दिन के अन्तराल से पत्तियों पर छिड़कना चाहिए। छिड़काव जून से सितम्बर तक करना चाहिए। छिड़काव के लिये प्रत्येक बार 27 कि० ग्राम यूरिया को 250 लीटर पानी में घोलकर 5% नाइट्रोजन का घोल तैयार करना चाहिए जो कि एक हेक्टेयर के लिये पर्याप्त है। यूरिया के घोल में 5 मिलीमीटर **सैण्डोविट** नामक रसायनिक द्रव प्रति लीटर घोल की दर से मिला लेना चाहिए। यदि **सैण्डोविट** उपलब्ध न हो तो एक ग्राम सर्फ या सनलाइट साबुन प्रति 10 लीटर घोल की दर से मिला कर काम चलाया जा सकता है। **सैण्डोविट** मिला देने से घोल की बूँदें पत्तियों की धरातल से नीचे नहीं गिरने पातीं। □

प्रोटीन का स्रोत मूँगफली

डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय

बी-12, माडल टाउन, बरेली-243005

जाड़े की ऋतु आ गयी है। अब ताजी और दूध भरी नयी मूँगफली बाजार में बिकने लगी है। नई मूँगफली के स्वाद में काफी मिठास होती है। गरीब हो या अमीर, हर किसी का मन मूँगफली की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है। हमारे गाँवों में रहने वाले अधिकांश लोगों के मस्तिष्क में यह गलत धारणा भरी हुई है कि मूँगफली खाने से अमुक-अमुक रोग (गैस, पेचिश, पेटदर्द, खाँसी, जुकाम आदि) या कष्ट होते हैं। यही कारण है कि वे न तो स्वयं मूँगफली खाते हैं और न ही अपने बच्चों को खाने की सलाह देते हैं। वैसे यह तथ्य वास्तविकता से परे है।

मूँगफली का पौधा, शिम्बीकुल (लेग्यूमिनोसी फैमिली) के अन्तर्गत आता है। अब तक विश्व भर से मूँगफली की कई सारी जातियाँ व प्रजातियाँ अभिलेखित की जा चुकी हैं। मूँगफली को क्षेत्रीय भाषाओं में कई नामों से जाना जाता है—अंग्रेजी में 'ग्राउण्ड नट'; संस्कृत में 'भूशिम्बिका' मराठी में 'मुगाँची'; फारसी में 'मुलियन'; गुजराती में 'मॉडवी'; तमिल में 'बेरकदलाई' तथा लैटिन में 'एराचिस हाइपोजिया'।

हमारे देश के ग्रामीण अंचलों में लोग इसे 'चिनिया बादाम' या 'चीना बादाम' के नाम से जानते हैं। मूँगफली को 'गरीबों का मेवा' या 'देशी काजू' भी कहा जाता है। मूँगफली सर्वसुलभ, सस्ती, उपयोगी तथा पौष्टिक भी है। पोषण की दृष्टि से मूँगफली हमारे शरीर में प्रोटीन की कमी को पूरा करने में पूर्ण सक्षम है। यानी प्रोटीन की न्यूनता से जन्य 'कुपोषण' की समस्या का उचित निदान मूँगफली कर सकती है। मूँगफली से तेल निकालने के बाद अवशिष्ट खली में प्रोटीन की काफी मात्रा शेष रह जाती है।

मूंगफली में प्रोटीन की प्रचुर मात्रा मिलती है, इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि मूँगफली में निम्न अमीनो अम्ल (जो प्रोटीन निर्माण के लिए जिम्मेदार हैं) अभिलेखित किये गये हैं :

अमीनो अम्ल	प्रतिशत (%) मात्रा
आर्थीनिन	13.6
हिस्टीडीन	2.0
लाइसिन	4.4
सिस्टीन	1.2
टायरोसिन	5.4
ट्रिप्टोफेन	0.7

मूँगफली से प्राप्त मक्खन (पी नट बटर) का प्रयोग सैंडविच, कैंडी, केक, डबलरोटी आदि के निर्माण में बड़ी मात्रा में किया जा रहा है। वसा (चर्बी) तथा प्रोटीन से भरपूर होने के कारण मूँगफली की गणना सुपाच्य (जल्दी पचने वाले) खाद्यों में है। खाद्यांश का 96 प्रतिशत अंश पाचन योग्य होता है। अन्य खाद्यान्नों की तुलना में कैलोरी (ऊर्जा-शक्ति) की मात्रा मूँगफली में ज्यादा होती है। मूँगफली से प्राप्त प्रोटीन, मक्खन, दूध, पनीर, बादाम, सोयाबीन व रामदाना से मिलने वाली प्रोटीन की तुलना में उच्चश्रेणी की होती है। मूँगफली में 18 प्रतिशत तक कार्बोहाइड्रेट भी मिलते हैं।

मूँगफली में पाये जाने वाले मुख्य विटामिन हैं—विटामिन 'बी-1'; 'बी-2'; निकोटिनिक एसिड; विटामिन 'ई'; पाइरोडॉक्सीन; 'लिसीथीन' आदि।

[शेष पृष्ठ 14 पर

केर-भारतीय मरुभूमि का उपयोगी पौधा

डॉ० सुशीला राय
रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर—342001

भारतीय मरुस्थल में बहुत से जंगली पौधे पाये जाते हैं जिनसे खाने योग्य फल मिलते हैं और आर्थिक लाभ की पर्याप्त संभावनाएं हैं। थार मरुस्थल के इन पौधों में केर (*Capparis decidua*) एक बहुवर्षीय कँटीली झाड़ी वाला पौधा है। यह कैपैरिडेसी (Capparidaceae) कुल का सदस्य है। इस कुल में लगभग 300 से अधिक जातियाँ हैं, जिसमें लगभग 50 जातियाँ भारत में उपलब्ध हैं। इनमें से 25 जातियों के पौधे मनुष्यों द्वारा भोजन व जड़ी-बूटियों के रूप में उपयोग में लाये जाते हैं। इस कुल के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न पौधों के गर्म मसालों तथा जड़ी-बूटियों के रूप में उपयोग का उल्लेख पुराने साहित्य में भी मिलता है। केर जाति के सभी पौधे गंधकीय यौगिकों के प्रमुख स्रोत हैं।

ज़ेर (Kjaer) और उनके सहयोगियों ने पिछले दो दशकों (1960-1980) में केर जाति के पौधों का गहन रसायनिक अध्ययन किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि सभी पौधों में गंधक के यौगिक मिलते हैं। ये यौगिक आइसोथायोसाइनेट (Isothiocyanate) की मूल संरचना वाले हैं।

केर राजस्थान, गुजरात, हरियाणा, पंजाब और सिंध में बहुतायत से पाया जाता है। यह एक छितरी हुई काँटों वाली लगभग पत्तियों रहित झाड़ी है (चित्र—1)। सामान्यता कहीं-कहीं यह एक छोटे वृक्ष के रूप में मैदानी रेतीली भूमि में गहरे तक जम जाता है और जिन स्थानों पर अच्छी वर्षा और नमी वाली भूमि होती है, पूर्णरूप से विकसित हो जाता है। यह चट्टानी मरुभूमि की रेतीली मिट्टी और रेत के टीलों पर प्रमुख वनस्पति के रूप में भी उगता है।
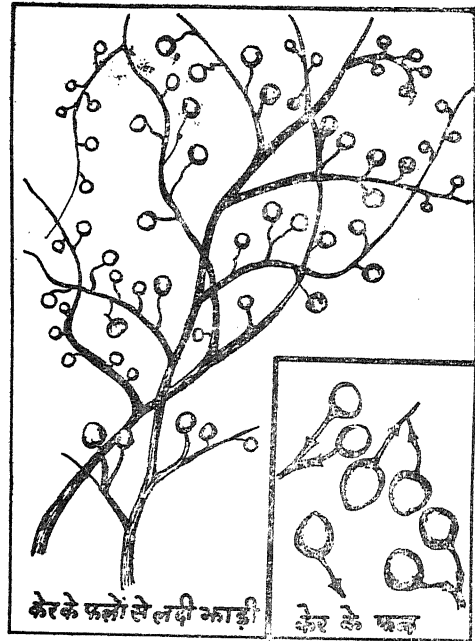
चित्र-1

केर के पौधे की शाखाएँ टेढ़ी-मेढ़ी, पत्तियों रहित तथा चिकनी होती हैं। पत्तियाँ सिर्फ तरुण टहनियों पर ही निकलती हैं। इसमें फूल लगने का समय वर्ष में दो बार मार्च-अप्रैल और जुलाई-अगस्त के बीच आता है। फूल ईंट के रंग की लाली लिए हुए लगभग 2·5 से. मी. व्यास और 2-8 के समूह में होते हैं। तीखी सरसों के तेल की सी गंध इनकी विशेषता है। फल क्रमशः मई-जून तथा सितम्बर-अक्टूबर के महीनों में पकते हैं। फल ·700 से 1·5 से० मी० व्यास के होते हैं। कच्चे फल गहरे हरे रंग एवं स्वाद में तीखे होते हैं तथा पकने पर अंगूरी रंग लिए मीठे

स्वाद वाले होते हैं। देशी भाषा में ये फल केर; टीट या टेंटी, पिंजू, डेला और खरीर के नाम से जाने जाते हैं। सम्पूर्ण भारत में इसके कच्चे फल सब्जी तथा आम के साथ अचार (Pickles) के रूप में बड़े स्वाद से खाये जाते हैं। आम के पंचरंगी अचार बनाने वाली सभी प्रमुख कंपनियाँ मटर के हरे दानों की तरह दिखने वाले केर के फलों का ही उपयोग करती हैं।

सितम्बर-अक्टूबर माह में प्राप्त होने वाले फल प्राय: मनुष्यों के खाने के काम में नहीं लाये जाते। बकरियाँ और भेड़ें फूल एवं फलों को बड़े चाव से खाती हैं। हरे और छोटे आकार के फल अधिक सुस्वादु होते हैं जिन्हें सम्पन्न लोग किशमिश, खोया, सांगरी (*Prosopis julifera*) और कूमट (*Acacia senegal*) के साथ मिलाकर विभिन्न प्रकार की सब्जी बनाकर खाते हैं। 'पचकुटिया' नाम से खाई जाने वाली राजस्थान की प्रमुख सब्जी में केर, सांगरी, कूमट, कच्चे आम तथा लगभग साबुत लाल मिर्च सम्मिलित हैं। हरे फल डंठल समेत नमक के पानी या छाछ में लगभग एक सप्ताह तक मिट्टी के घड़े में रखे जाते हैं; जब तक कि डंठल नर्म होकर तोड़ने योग्य न हो जाये। इस विधि को केर का पकाना या मीठा करना कहते हैं। इस पकने की विधि द्वारा अत्यधिक मात्रा में विद्यमान तीखे यौगिक बाहर निकल जाते हैं। अब इन्हें धूप में सुखाकर सुरक्षित रख लिया जाता हैं तथा पूरे वर्ष खाने के काम में लाया जाता है। ये सूखे केर राजस्थान से कलकत्ता व बंम्बई आदि सुदूर नगरों को निर्यात किए जाते हैं।

केर के फलों से 8·62% अशुद्ध प्रोटीन (Crude Protein) तथा 5% शुद्ध प्रोटीन प्राप्त होती है। प्रोटीन के अतिरिक्त लवण और विटामिन 'सी' (Vitamin C) भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जैसा कि सारणी-1 में दर्शाया गया है।

सारणी-1, केर के फलों में उपस्थित विभिन्न पदार्थों की प्रतिशत मात्रा

नमी	55·10
प्रोटीन	8·62
शर्करा	1·76
फॉस्फोरस	0·06
कैल्शियम	0·055
पोटैशियम	1·03
मैग्नीशियम	0·053
तेल	16·00
एस्कार्बिक एसिड	7·8 मि. ग्रा० /100 ग्राम गूदे में

जड़ी बूटी के रूप में उपयोग—सम्पूर्ण पौधा ओषधि के रूप में विख्यात है। मरुभूमि में इसके फलों का अचार, सब्जी व चूर्ण तो आमाशय के रोगों की प्रचलित चिकित्सा का अविभाज्य अंग बन गया है। इस पौधे का आयुर्वेदिक महत्व नवीन शोधों द्वारा प्रकाश में आया है। गंधक की उपस्थिति के कारण केर त्वचा रोगों में कीटाणुनाशक के रूप में बेजोड़ है। वास्तव में केर में उपस्थित गंधक यौगिक व अल्कॅलायड्स ही वे प्रमुख तत्व हैं जो इसकी रोग निरोधक शक्तियों के लिए उत्तरदायी हैं। पौधे के विभिन्न भागों से प्राप्त रसायन और रोगों के उपचार सारणी नं० 2 में प्रदर्शित किये गये हैं।

केर की उपयोगिता को देखते हुये मैंने स्वयं केर के पुष्पों का विस्तृत रासायनिक परीक्षण प्रारंभ किया। मुझे इसमें से 15 प्राकृतिक रसायन (Natural products) प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हो चुकी है। इनमें से 9 यौगिक पेट्रोलियम-ईथर विलयन, 2 क्लोरोफार्म विलयन और 4 यौगिक एल्कोहॉल विलयन से प्राप्त किये गये। इसमें ग्लूकोज, गेलेक्टोज और शर्कराएं स्वतंत्र रूप में तथा 5 संयुक्त यौगिकों के रूप में मिलीं। इस प्रकार का विस्तृत अध्ययन सर्वप्रथम लेखिका ने ही प्रारंभ किया।

केर आर्थिक दृष्टि से भी एक महत्वपूर्ण पौधा है। इसमें लगभग 16% तेल, 8% प्रोटीन और प्रचुर मात्रा में फॉस्फोरस, पोटैशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम और विटामिन 'सी' विद्यमान है। किन्तु आश्चर्य यह है कि केर की खाद्य उपयोगिता, प्रचुर मात्रा में तेल की उपलब्धि और ओषधीय गुणों के बावजूद इसका समुचित विकास नहीं किया जा सका है।

मेरी दृष्टि में केर मरुभूमि में उगने वाला ऐसा पादप है जिसमें अनेकानेक संभावनायें हैं। इसे वैज्ञानिक विधि से फसल के रूप में उगाकर भरपूर लाभ उठाया जा सकता है।□

सारणी-2, केर के पौधे से प्राप्त रसायन व उपयोग

	पौधे के अंग	अंगों की विशेषता	प्राकृतिक रसायन	उपयोग
1	जड़ और जड़ की छाल	लंबी, गहरी, तीखी और कड़वी	लंबी शृंखला वाले हाइड्रोकार्बन व एल्कोहॉल, स्टीरॉयड, अल्कॅलायड, ग्लाइकोसाइड्स एवं कैरोटीन	पारी बुखार (Intermittant fever) एवं गठिया (Rheumatism) में
2	तने की छाल	तीखी, कड़वी और कँटीली	गंधकीय यौगिक व अन्य रसायन	खाँसी, गले की सूजन, दमा, कब्ज दूर करने, स्वेद-जनक व कृमि-नाशक
3	नर्म टहनियाँ और पत्तियाँ	हरी और चिकनी तीखी व कड़वी	गंधकीय यौगिक व अन्य रसायन	फोड़े-फुंसी एवं फफोलों या घावों के उपचार में; दाँत-दर्द व हृदय-रोग दूर करने में
4	फूल	लाल व सरसों के तेल के समान तीखी गंध लिए हुये	लंबी शृंखला वाले हाइड्रोकार्बन व एल्कोहॉल, निकोटीन, वसा, अम्ल, स्टीरॉयड, ग्लाइकोसाइड्स, एन्थोसाइनीन एवं अल्कॅलायड	कृमि नाशक, सूक्ष्म-जीवाणु एवं फफूंदी नाशक
5	फल	कच्चे फल हरे व तीखे स्वाद वाले एवं पकने पर रंग में अंगूरी व मीठे	लंबी शृंखला वाले हाइड्रोकार्बन, एल्कोहॉल, स्टीरॉयड, अल्कलॉयड, वसा, अम्ल एवं तेल	हृदय-रोग, पित्त संबंधी रोग व कृमि उपचार में

धान के व्यर्थ पदार्थ भी उपयोगी

नरेश बाली
34/4 माउन्टेनशैडो, आजरा, गौहाटी-781017

हमारे देश के चावल-उत्पादक क्षेत्रों में बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध रहने वाली चावल की भूसी को कृषक-गण एकदम बेकार वस्तु समझ कर इसके निपटारे के लिए बस खेतों में जला कर नष्ट कर देते हैं जिससे वायु प्रदूषण तो होता ही है साथ ही हम एक ऐसी वस्तु से वंचित भी हो जाते हैं जिसका उपयोग अत्यन्त लाभदायक परिणामों सहित अनेक प्रकार से किया जा सकता है। अनेक वैज्ञानिकों द्वारा हाल ही में किये गये अनुसन्धानों से यही सिद्ध हुआ है।

इस सम्बन्ध में लीजिए प्रथम उदाहरण प्रस्तुत है—चावल की भूसी से सिलिकन, और यह सिलिकन सौर-ऊर्जा को सीधे विद्युत-ऊर्जा में परिवर्तित करने वाली सौर-बैटरियों के निर्माण में प्रस्तुत किया जायेगा। यह तकनीक इण्डियन इन्स्टीट्यूट आॅव टेक्नोलोजी, खड़गपुर के कर्मठ वैज्ञानिकों ने विकसित की है। इसमें इस संस्था के भौतिकी, रसायन विज्ञान, धातुकर्म इन्जीनियरिंग, कृषि इन्जीनियरिंग तथा द्रव्य विज्ञान विभाग के वैज्ञानिकों ने अपना सहयोग दिया है।

सौर-बैटरियों के निर्माण हेतु सिलिकन का कितनी मात्रा में शुद्ध होना आवश्यक है? औद्योगिक क्षेत्र में तो 98 प्रतिशत तक शुद्ध सिलिकन का भी उपयोग चल जाता है किन्तु सौर-सेलों के निर्माण में इस तत्व का शत-प्रतिशत शुद्ध होना अनिवार्य है। और चावल की भूसी से 100% शुद्ध सिलिकन प्राप्त कर पाना सम्भव है क्योंकि इसे काफी सरलता पूर्वक शुद्ध किया जा सकता है। चावल की भूसी में सिलिका का लगभग 1/5 भाग विद्यमान रहता है।

आई० आई० टी०, खड़गपुर के एक सदस्य डॉ० एच० एन० आचार्य बताते हैं कि एक किलोवाट ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए लगभग 20 किलोग्राम सिलिकन से बनी सौर-बैटरियों की आवश्यकता होती है और पूरे देश में उपलब्ध चावल की भूसी में से इससे कहीं अधिक सिलिकन प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार सिलिकन की प्राप्ति से विदेशी मुद्रा की बचत भी हो सकेगी। इस समय हमारा देश 100 डॉलर प्रति किग्रा० की दर से कच्चे सिलिकन का विदेश से आयात करता है।

चावल की भूसी से डिटरजेंट, साबुन, चिपकावकों, ग्लास फोम, पिगमेंटों, जलरोधी मोरटारों आदि के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ सोडियम सिलिकेट का निर्माण भी किया जा सकता है। इस विधि का विकास केन्द्रीय कांच और सिरेमिक अनुसंधान संस्थान, कलकत्ता ने किया है। चावल की भूसी से सोडियम सिलिकेट बनाने की यह विधि अपेक्षाकृत सरल और सस्ती है तथा इसमें ईंधन भी कम खर्च होता है। इस विधि से तैयार होने वाले सोडियम सिलिकेट में लोहे की मांग काफी कम होती है।

चावल की भूसी एक और रूप में उपयोगी है। इससे सीमेंट भी बनाया जा सकता है। इस विधि का विकास रांची जिला स्थित बिड़ला इन्स्टीट्यूट आॅब टेक्नोलोजी के सिविल इन्जीनियरिंग विभाग के एक प्राध्यापक श्री ए० के० अग्रवाल ने किया है। इस इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रयोगशाला में की गयी जांच के अनुसार चावल की भूसी से निर्मित सीमेन्ट बढ़िया किस्म का होता है तथा दृढ़ता में पोर्टलैंड सीमेंट के समकक्ष है। सीमेंट-निर्माण की यह विधि सरल तथा सस्ती है, इसमें किन्ही मंहगे यन्त्रों की आवश्यकता

नहीं पड़ती। इसी कारण, चावल की भूसी से तैयार किये गये सीमेन्ट का मूल्य अपेक्षाकृत कम पड़ता है। उल्लिखित इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रयोग के तौर पर एक कारखाना स्थापित किया गया है जो चावल की भूसी से प्रतिदिन एक टन के हिसाब से सीमेंट का निर्माण कर रहा है।

चावल की भूसी की भाँति धान की पुआल भी मानव जाति के लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हो सकती है बशर्ते इसे व्यर्थ तथा अनुपयोगी पदार्थ समझ कर बस खेतों में जला कर नष्ट कर देने अथवा बेकार में यूँ ही इधर-उधर कर देने के बजाय हम इसका उपयोग करें। धान की पुआल का उचित उपयोग ऊर्जा-संकट को कम करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

अकेले पंजाब राज्य में ही प्रतिवर्ष लगभग पचास लाख टन धान की पुआल जला कर नष्ट कर दी जाती है। हरियाणा, पश्चिम बंगाल, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा कुछ अन्य प्रान्तों में भी यह एक आम बात है। देश भर में उपलब्ध इस सम्पूर्ण धान की पुआल को एकत्र करके छोटी अथवा मध्यम दर्जे की थर्मल यूनिटों के माध्यम से ऊर्जा उत्पन्न करने के प्रयोग में लाया जा सकता है। धान की पुआल के इस लाभदायक रूप में उपयोग की जानकारी लुधियाना स्थित पंजाब कृषि विश्वविद्यालय के विशेषज्ञों ने दी है। इनके द्वारा इस विषय पर किये गये एक अध्ययन में यह पाया गया है कि ऊर्जा-उत्पत्ति हेतु ईंधन के रूप में धान की पुआल कोयले की अपेक्षा, स्वाभाविक रूप से, कहीं सस्ती पड़ती है।

लगभग 9 प्रतिशत नमी विद्यमान होने पर एक किलोग्राम धान की पुआल से 3200-3500 कील ऊर्जा उत्पन्न की जा सकती है। विचार है कि लगभग एक लाख टन धान की पुआल 5 MW के एक उष्मीय ऊर्जा संयन्त्र को चला सकने के लिए पर्याप्त होगी। विद्युत् उत्पदन के लिए ईंधन के रूप में धान की पुआल का प्रयोग करने वाले दो संयन्त्र मलेशिया के केदाह प्रान्त के उत्तर-पश्चिमी भाग में काम भी कर रहे हैं। वहाँ के 'राष्ट्रीय बिजली बोर्ड' तथा 'नेशनल पैडी एण्ड राइस एथॉरिटी' संयुक्त रूप से इस योजना पर कार्यरत हैं। एक घण्टे की बिजली उत्पन्न करने के लिए वहाँ लगभग एक टन धान की पुआल की आवश्यकता पड़ती है।

अभी प्रगति की सीढ़ियाँ चढ़ रहे हमारे देश में पिछले अनेक वर्षों से विद्युत् की लगातार बढती जा रही माँग को देखते हुए तथा इसकी पूर्ति हेतु इस बात की आवश्यकता है कि अपने ही यहाँ ऊर्जा के ऐसे नये से नये स्रोत खोले जायें जिनमें खर्च की सम्भावना लगभग नहीं के बराबर अथवा बहुत कम हो और इस उद्देश्य की पूर्ति धान की पुआल के प्रयोग से निश्चित रूप से की जा सकती है।☐

[पृष्ठ 9 का शेषांश]

मूँगफली स्वाद में कटु, मीठी, शीघ्र पचनशील, तीक्ष्ण तथा तासीर (प्रभाव) में गर्म होती है। यह उत्तेजक, वायुसारक, अग्निदीपक, क्षयनाशक, मूत्रजनक और पीड़ाहर होती है। मूँगफली का प्रभाव मुख्य रूप से पाचन एवं रक्त परिवहन संस्थान पर पड़ता है।

मूँगफली निश्चित रूप से हमारे स्वास्थ्य की रक्षक और शरीर को पोषण प्रदान करने वाली है। बच्चों को नियमित रूप से, सीमित मात्रा में, मूँगफली खिलाने से वे कुपोषण के शिकार नहीं हो पाते क्योंकि प्रोटीन की कमी की पूर्ति हो जाती है।☐

[पृष्ठ 16 का शेषांश]

बहुत सी अन्य बीमारियाँ, उदाहरणतः मेरुदण्ड की चोट, ट्यूमर, डिस्कप्रोलैप्स आदि अथवा तंत्रिका की चोट व तंत्रिका ट्यूमर भी अब न्युरोसर्जनों द्वारा ठीक की जा रही हैं।

अंततः यह कहा जा सकता है कि तंत्रिका ऊतकों की बहुत ही मुलायम प्रकृति के बावजूद न्यूरोसर्जरी अब काफी केसों में सफल है। यह सुरक्षित (सेफ) है तथा डॉक्टर की राय के अनुसार जब न्युरोसर्जरी की आवश्यकता हो तब न तो घबड़ाना चाहिए और न ही देर करनी चाहिये।☐

न्युरोसर्जरी क्या है ?

डॉ० राम चन्द्र कपूर
रसायन विभाग, क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर—208001

न्युरोसर्जरी आयुर्विज्ञान की एक नवीनतम शाखा है। आधुनिक रूप में इसकी शुरूआत भारत में सर्वप्रथम सन् 1919 में वेलोर मेडिकल कॉलेज, वेलोर (तामिलनादु) के डॉक्टर जेकब चांडी ने की थी। कुछ समय बाद ही मद्रास में डॉ० रामामूर्ति ने तथा बम्बई में डॉ० गिंदे ने आयुर्विज्ञान की इस नयी शाखा की शुरूआत की। पिछले दो दशकों में इसका काफी विकास हुआ। इस समय हमारे देश में लगभग दो सौ से अधिक न्युरोसर्जन हैं तथा इस समय कोई भी ऐसी न्युरोसर्जिकल शल्य क्रिया नहीं है जो विश्व के किसी विकसित देश में हो रही हो और भारत में सफलता पूर्वक न की जा सके।

साधारण बोलचाल की भाषा में न्युरोसर्जरी न्युरोलॉजिकल बीमारियों को दूर करने के लिये तंत्रिका तंत्र उदाहरणतः मस्तिष्क, रीढ़ रज्जु (स्पाइनल कार्ड) व तंत्रिकाओं की शल्य-चिकित्सा को कहते हैं। इसके अंतर्गत खोपड़ी व रीढ़ (जो क्रमशः मस्तिष्क व रीढ़ रज्जु को आच्छादित करते हैं) की शल्यचिकित्सायें भी शामिल हैं।

न्युरोलॉजिकल विकारों, जिनमें शल्यक्रिया की आवश्यकता होती है, से मनुष्य जन्म से लेकर बुढ़ापे तक किसी भी समय पीड़ित हो सकता है। इन विकारों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

पैदायशी दोष—लक्षणात्मक पैदायशी दोषों में से साठ प्रतिशत तंत्रिका तंत्र के ही विकार होते हैं। पैदायशी दोषों के तीन आम उदाहरण हैं : (1) जलकपाल (हाइड्रोसेफेलस), जिसमें मस्तिष्क में अधिक द्रव इकट्ठा हो जाने से सिर काफी बड़ा हो जाता है, (2) मेरुदंडीय दोष, जिसे साधारणतया मैनिन्गोसील्स कहा जाता है, तथा (3) खोपड़ी के दोष, जिनमें मस्तिष्क खोपड़ी के बाहर सूजन के रूप में निकला रहता है। एक खास प्रकार का खोपड़ी का दोष, जो भारत में विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा अधिक देखने में आता है—नासिका एंसेफलोसील है। इसमें मस्तिष्क खोपड़ी के पृष्ठ के एक छिद्र से नाक के क्षेत्र में बाहर निकला रहता है।

इन सभी दोषों को दूर करने के लिये जीवन के प्रारंभ के वर्षों में ही शल्यक्रिया की आवश्यकता होती है। दुर्भाग्यवश ये सभी दोष ठीक नहीं किये जा सकते हैं। अब यह संभव हो गया है कि इन सभी न ठीक होने वाले दोषों को गर्भस्थ शिशु में ही डायेग्नोज कर लिया जाये और ऐसे गर्भ का उचित तरीकों द्वारा समापन कर दिया जाये।

मस्तिष्क की चोट—सिर की चोट सभी लोगों को प्रभावित करती है परंतु बच्चों व नवयुवकों को विशेष रूप से। हमारे देश में प्रतिवर्ष लगभग दो लाख लोग सड़क दुर्घटना के शिकार होते हैं तथा इनमें से सत्तर प्रतिशत लोग सिर की चोट से प्रभावित होते हैं। इनमें से अधिकतर साधारण शल्य चिकित्सकों के उपचार से ठीक हो जाते हैं परंतु दस से पंद्रह प्रतिशत दुर्घटनाग्रस्त लोगों को (जिन्हें सिर की चोट लगी है) न्युरोसर्जरी द्वारा विशेष उपचार की आवश्यकता पड़ती है। उचित समय पर ही यदि इन कम्पाउन्ड इंजरीज़ (सिर की बहुत सी चोटों) व मस्तिष्क के थक्कों की शल्यचिकित्सा कर दी जाये तो बहुत से लोगों की जानें बच सकती हैं, तथा मनुष्य लम्बी अवधि की अपंगता से बच सकता है।

मस्तिष्क का संक्रमण—अस्पतालों में इलाज के लिये भरती होने वाले लोगों में से दस से पंद्रह प्रतिशत तक लोग तंत्रिका तंत्र के संक्रमण से पीड़ित होते हैं। इनमें से अधिकतर संक्रमण ठीक किये जा सकते हैं, तथा बहुतों से मनुष्य बच भी सकता है। ये संक्रमण बच्चों व नवयुवकों को भी काफी प्रभावित करते हैं। जब संक्रमण के कारण फोड़ा अथवा ट्यूमर (गुल्म) जैसा मांस का लोथड़ा उत्पन्न हो जाता है तो शल्यचिकित्सा आवश्यक हो जाती है। निवारक उपाय न अपनाने के कारण हमारे देश में पश्चिमी देशों की अपेक्षा अधिक लोग मस्तिष्क के संक्रमण से प्रभावित होते हैं। इनमें से कुछ, मुख्यतः सिस्टीसर्कोसिस जैसी परजीवी बीमारियाँ, स्वास्थ्य संबंधी गलत तौर-तरीकों के कारण होती हैं।

नीचे दिये हुये उदाहरणों में यह दर्शाया गया है कि मनुष्य मस्तिष्क के संक्रमण से कैसे बच सकता है।

(अ) यदि हम अपने को मच्छरों से बचायें तथा मलेरिया से बचे रहें तो हम प्रमस्तिष्क मलेरिया (सेरिब्रल मलेरिया), जो कि मलेरिया का बहुत ही भयंकर रूप है, से बच सकते हैं। स्थानिकमारी क्षेत्रों में मलेरियारोधक ओषधियों के रोगनिरोधक इस्तेमाल से संक्रमण से काफी हद तक बचा जा सकता है।

(ब) पोलियो वैक्सीन के इस्तेमाल से पोलियो से बचा जा सकता है।

(स) यदि हम बिना पकी हुई, बगैर धुली हुई सब्जियाँ, सलाद न खायें तो हम मस्तिष्क की सिस्टीसर्कस जन्तुबाधा (इनफेसटेशन) से बच सकते हैं।

(द) खोपड़ी में लगी हुई बहुत सी चोटों (कम्पाउन्ड इंजरीज़) को उपयुक्त तथा शीघ्र शल्यचिकित्सा से बाद में होने वाले संक्रमण से बचाया जा सकता है।

(ध) बहते हुये कान का उचित तथा शीघ्र उपचार हमें मस्तिष्क के नब्बे प्रतिशत फोड़ों से बचा सकता है।

मस्तिष्क के ट्यूमर—मस्तिष्क के ट्यूमर प्रति एक लाख लोगों में से दस को प्रभावित करते हैं। उनमें से पचास प्रतिशत ट्यूमर बिनाइन होते हैं तथा ठीक किये जा सकते हैं। आधुनिक विधियों द्वारा इन ट्यूमरों को शीघ्रता से पहचाना जा सकता है। नये-नये संवेदनाहारियों की खोज, तथा शल्यचिकित्सा के लिये आवश्यक सुविधाओं—उदाहरणतः परिचालन माइक्रोस्कोप तथा अन्य उपकरणों की आसानी से प्राप्यता के कारण, इस प्रकार की शल्यक्रियायें अब पिछले दशक की अपेक्षा काफी सुरक्षित (सेफ) हो गयी हैं।

अवघात (स्ट्रोक)—स्थानिक रक्ताल्पता अर्थात् रक्त के संभरण में दोष उत्पन्न होने के कारण एकाएक पक्षाघात का हो जाना, अथवा किसी रक्त-तालिका के फट जाने से होने वाला रक्तस्राव कुछ वर्षों पूर्व तक किसी सक्रिय उपचार द्वारा ठीक नहीं किया जा सकता था, परंतु अब ऐसा नहीं है। वैसे तो स्ट्रोक किसी भी उम्र में हो सकता है परन्तु यह अधेड़ उम्र के लोगों को अधिक होता है। लोगों का जीवनकाल बढ़ने के साथ-साथ स्ट्रोक की बीमारी भी बढ़ती जा रही है और यह अनुमान है कि प्रति एक लाख व्यक्तियों में से लगभग दो सौ व्यक्ति स्ट्रोक से प्रभावित होते हैं। हृदय की बीमारी के साथ सभी विकसित देशों में स्ट्रोक भी मृत्यु का एक आम कारण है।

स्ट्रोक से बचने के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह उच्च रक्त दाब, गरिष्ट भोजन, मधुमेह तथा धूम्रपान से बचे।

निदान तथा शल्यक्रिया की नयी-नयी खोजों से अब यह संभव हो गया है कि इन बीमारियों से प्रभावित कुछ व्यक्तियों को मौत के मुँह में जाने से बचाया जा सके तथा कुछ की शल्यक्रिया, जो अभी विकसित हो रही है, परिचालन माइक्रोस्कोप के इस्तेमाल से काफी सुधर गयी है।

कार्यात्मक विकार—कार्यात्मक विकारों, उदाहरणतः मिर्गी, पार्किन्सन-रोग, दुराराध्य दर्द, आदि से छुटकारा दिलाने के लिये भी अब न्युरोसर्जिकल शल्यक्रियायें अपनायी जा रही हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि मानसिक विकारों के उपचार में न्युरोसर्जरी की कोई खास भूमिका नहीं है। ऐसी शल्यक्रियायें जो सन् 1940 व 1950 में काफी आम थीं अब बहुत ही कम की जाती हैं। आयुर्विज्ञान में हुई बहुत सी नयी-नयी खोजों के कारण अब इनका उपचार बगैर न्युरोसर्जरी के ही किया जा सकता है। [शेष पृष्ठ 14 पर

पुरस्थ ग्रन्थि या प्रोस्टेट ग्लैण्ड

डॉ० देवेन्द्र नाथ सिनहा

रीडर, एनाटमी विभाग, मोतीलाल नेहरू मेडिकल कॉलेज, इलाहाबाद

बढ़ती हुई उम्र पुरुष के लिए अनेक समस्यायें पैदा करती है। यह देखा गया है कि पचास वर्ष के बाद, पुरुष को मूत्र की बीमारी हो जाती है। मूत्रका बार-बार आना, पेशाब आने में परेशानी, पीड़ा, रुक जाना आदि इसके मुख्य लक्षण हैं। यही नहीं, कभी-कभी तो मूत्र एकाएक रुक जाता है और बाद में उसके साथ खून आने लगता है जिससे धीरे-धीरे वृक्क के कार्य में असन्तुलन भी आने लगता है। सर बेन्जामिन ब्राडी ने यह सही ही कहा है :

"जब सिर का बाल सफेद होने लगता है, खून की नली में चर्बी जमने लगती है तथा आँखो की पुतली के ऊपर सफेदी आये तो मैं यह कह सकता हूँ कि प्रोस्टेट ग्लैण्ड (पुरस्थ ग्रन्थि) बढ़ने लगी है।"

पुरस्थ ग्रन्थि के बारे में सर्व प्रथम एरिस्टाटल ने नर जननतंत्र के अन्तर्गत अपने लेखों एवं चित्रों के माध्यम से बताया। एन्ड्रीएस वेजेलियस ने अपनी पुस्तक **दि ह्यूमेनाई फ्रेब्रिका** में पुरस्थ ग्रन्थि का विशेष रूप से वर्णन किया है। इस ग्रन्थि का सर्वप्रथम नामकरण इरेस्सिटेटस ने तीन शताब्दी ई० पू० में किया था। यह शब्द "प्रोस्टेट" ग्रीक भाषा से लिया गया है जिसका अभिप्राय है **वह जो पहले खड़ा रहता है**। पुरस्थ ग्रन्थि मूत्राशय के बाहर उसके खुलने के समय इसको घेरे रहता है।

यह ग्रन्थि पाँच समूहों के नलिका के रूप में भ्रूणावस्था के बारहवें सप्ताह में बढ़ती है और मूत्रमार्ग के चारों तरफ पांच पिंडों के रूप में एक अंग का रूप ले लेती है जो क्रमश: बायें और दाहिने पार्श्व, अभिमध्य, पश्च एवं अग्रभाग के नामों से जाना जाता है। अग्र-पिंड गर्भावस्था के चौथे माह में धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है और अन्त में एक महत्वहीन अवस्था में रहता है।

पुरस्थ ग्रन्थि की नाप अनुप्रस्थ में 4 सेमी० लम्बाई में 3 सेमी ० तथा अग्र एवं पश्च भाग में 2 सेमी० होती है। यह जघन संस्थान के (प्यूबिक सिमफाइसिस) 3/4 इंच नीचे होता है तथा मलाशय के सामने और मलद्वार के ऊपर स्थित रहता है। चूंकि यह मलद्वार के डेढ़ इंच ऊपर होता है इसलिए अंगुलियों के द्वारा मलाशय के रास्ते से इसके पीछे की रचना को अनुभव किया जा सकता है। पुरस्थ ग्रन्थि का अभिमध्य भाग (स्खलन-नलिका (इजेकुलेटरी डक्ट) के ऊपर स्थित होता है तथा पश्च भाग स्खलन नलिका के नीचे होता है। अभिमध्य भाग परिवर्धन (इनलार्जमेंट) के समय अपने को मूत्राशय की ओर केन्द्रित रखता है अतः इसके बढ़ने से मूत्रविसर्जन में परेशानी उत्पन्न हो जाती है। पुरस्थ ग्रन्थि की रचना, ग्रन्थि ऊतकों एवं पेशियों की सम्मिलित रूप से संयोगी ऊतक में सन्निहित होने से होता है। यह ग्रन्थियाँ नलिका के द्वारा मूत्रमार्ग के पुरस्थ मार्ग में खुलती है।

पुरस्थ ग्रन्थि का परीक्षण करने पर यह सामान्य रूप से स्पैनिश चैस्टनट के समान, बराबर संघनता के रूप में अनुभव होता है। पीछे की तरफ मध्य में एक छिछली खतिका होती है तथा इस जगह मलाशय की श्लेष्मलकला गति करती है। जब ग्रन्थि बढ़ने लगती है तो बाहर की तरफ ग्रन्थि ऊतक एक सम्पुट (कैप्सूल) के आकार में बन जाती है जो कि एक दबी हुई पुरस्थ ऊतक के रूप में क्षयित (एट्रोफी) स्थिति में रहती है।

अभिमध्य पिंड
मूत्राशय का स्फींगटर
पोस्ट प्रॉस्टेटिक पाउच
इजैकुलैटरी डक्ट
पश्च पिंड

प्रॉस्टेट ग्रन्थि के भाग
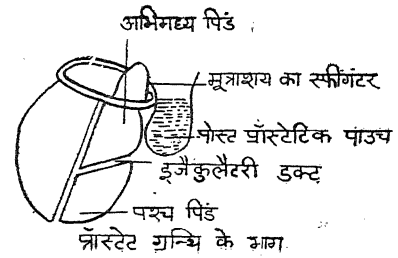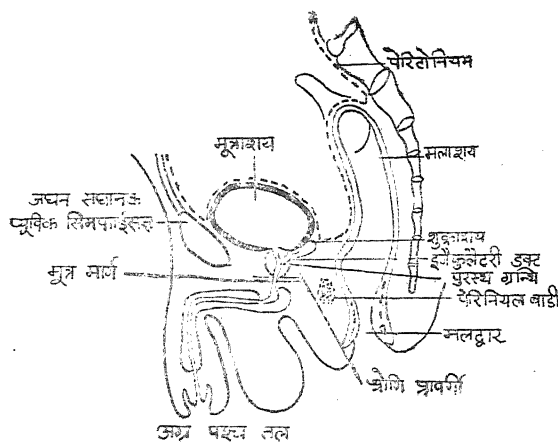
पुरस्थ ग्रन्थि की स्थिति

सम्पुट और पुरस्थ ग्रन्थि के बीच एक दरार बन जाती है जो बढ़ी हुई पुरस्थ ग्रन्थि को भीतर की तरफ से निकालने में मदद करती है। ग्रन्थि के चारों ओर एक आवरण होता है जो संयोगी ऊतकों का बना होता है, जिसे श्रोणि प्रावर्णी (पैल्विक फेसिया) कहते हैं। इसमें शिराओं का,जाल बिछा होता है। बढ़ी हुई पुरस्थ ग्रंथि अपने दबाव के कारण शिराओं में अवरोध उत्पन्न करता है जिसके कारण मूत्राशय में रुधिर आने लगता है और रुधिर-मिश्रित मूत्र निकलने लगता है। बढ़ी हुई पुरस्थ ग्रन्थि सम्पुट के अन्दर की तरफ से निकाली जाती है ताकि शिराओं के जालों पर इसका कोई प्रभाव न पड़े, अन्यथा रुधिर-स्राव होने लगता है जो शल्यक्रिया करते समय घातक सिद्ध हो सकता है।

पुरस्थ ग्रन्थि का बढ़ना

पचास-पचपन वर्ष के बाद पुरस्थ ग्रन्थि बढ़ने लगती है। पार्श्व पिंड के बढ़ने से कोई परेशानी नहीं होती है, लेकिन अभिमध्य पिंड के बढ़ने से पेशाब करते समय तथा मूत्रनली में अवरोध होने के कारण मूत्र-रोग उत्पन्न हो जाते हैं। परिवर्धन के समय पुरस्थ ग्रन्थि, मूत्राशय की तरफ मूत्र मार्ग को दबाते हुए आन्तरिक मूत्रछिद्र की तरफ बढ़ती है। पुरस्थ ग्रन्थि के बढ़ने में अन्तःस्रावी (इन्ड्रोजन) कार्य करता है। प्रारम्भ में यह छोटा होता है लेकिन यौवनारम्भ के समय बढ़ने लगता है और किशोरावस्था में एक अंग के रूप में अपनी रचना को ग्रहण करता है। पचास वर्ष के बाद फिर यह अपनी संरचना में घटने लगता है जो ग्रन्थियों की कार्यकुशलता में कमी के कारण होता है। लेकिन कभी-कभी उन ग्रन्थियों में बढ़ाव आता है और एक बड़े आकार में अपने को परिवर्तित करती है, जो मूत्रमार्ग पर और मूत्र विसर्जन में रोग उत्पन्न करती है। यह भी देखा गया है कि इसका सम्बन्ध विशेष कर वृषण से है और वृषण में एण्ड्रोजन और इस्ट्रोजन दोनों प्रकार के अन्तःस्रावी तत्व हैं। पुरुष में एण्ड्रोजन अधिक मात्रा में होती है तथा अभिवृक्क से निकली हुई एण्ड्रोजन भी पुरस्थ ग्रन्थि को बढ़ने में सहयोग देती है। पुरस्थ ग्रन्थि में एसिड फॉस्फेट्ज़ की मात्रा अधिक होती है और पुरस्थ ग्रन्थि के कैंसर रोग में एसिड फॉस्फेट्ज़ की मात्रा रुधिर में बहुत बढ़ जाती है। लेकिन सामान्य परिवर्धन में इसकी मात्रा रुधिर में नहीं बढ़ती है। ये एसिड फॉस्फेट्ज़ योनि में शुक्र के प्रवेश में मदद देती है। अतः यह नर जनन तंत्र का मुख्य अंग है। यह शुक्र-रस को एक तरह की महक भी प्रदान करता है और शुक्राशय से निकले हुये स्राव में सम्मिलित होकर शुक्राशय-द्रव का रूप ले लेती है।

पुरस्थ ग्रन्थि में जीवाणुओं के द्वारा तरह-तरह के संक्रमण (infection) होते रहते हैं जो पुरस्थ ग्रन्थि में शोथ (इन्फ्लेमेशन) उत्पन्न करती है। क्षय रोग के कीटाणु तथा अन्य बीजाणु भी संक्रमण कर पुरस्थ ग्रन्थि

[शेष पृष्ठ 21 पर]

भारत में विज्ञान गुणवत्ता की समस्या

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

जनवरी वर्ष 1984 में सम्पन्न भारतीय साइंस कांग्रेस के 71 वें अधिवेशन का मुद्दा था—भारत में विज्ञान की गुणवत्ता—साधन तथा परिणाम। इस अवसर पर 17 वैज्ञानिकों को अपने विचार व्यक्त करने थे किन्तु केवल 5 ही उपस्थित हो सके और इन विचारों को सुनने वालों की संख्या अत्यन्त निराशाजनक थी। 2500 प्रतिनिधियों में से केवल 40 उपस्थित थे।

इसमें सन्देह नहीं कि विषय का चुनाव अत्यन्त सामयिक था। देश में विज्ञान का जो स्तर है, वैज्ञानिक प्रगति की जो स्थिति है और वैज्ञानिक जिस प्रकार से विज्ञान को आगे ले जा रहे हैं उसके सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता है और इस प्रकार आत्मालोचन, प्रत्यालोचन या विहंगावलोकन से लाभ हो सकता है। इस अवसर पर जिन पाँच वैज्ञानिकों ने अपने विचार व्यक्त किये वे अत्यन्त प्रेरक हैं और साथ ही आँखें खोलने वाले हैं।

उद्घाटन के अवसर पर प्रधान मन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने वैज्ञानिकों को यथासम्भव समस्त सुविधाएँ प्रदान किये जाने का जो आश्वासन दिया वह अत्यन्त उत्साह-वर्धक एवं सामयिक था। उन्होंने अधिकाधिक लोगों को विज्ञान में लगकर तनमन से विज्ञान की सेवा करने का आह्वान किया। शायद यह भी सुखकर वक्तव्य था किन्तु साइंस कांग्रेस के अध्यक्ष पद से डॉ० बम्बा ने जो भारतीय शोध की स्थिति का चित्र खींचा वह सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: वह वास्तविक स्थिति का परिचायक है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत में वैज्ञानिकों की संख्या अमेरिका तथा रूस के बाद तीसरे नम्बर पर है किन्तु भारत की गणना विकासशील देशों में ही की जाती है। वैज्ञानिकों की इतनी बड़ी संख्या के होते हुये अभी तक जो वैज्ञानिक प्रगति हुई है वह ऐसी नहीं है जिसका उल्लेख करने पर हमें गर्व का अनुभव हो। जब हमारे वैज्ञानिक ही इस देश की वैज्ञानिक प्रगति से सन्तुष्ट नहीं हैं, जब उन्हें ही अनेक दोष दिखते हैं तो फिर बाहरी देशों की दृष्टि में तो हम नीचे ही रहेंगे। केवल अपने भूतकाल की गुणगाथा गाकर या कि इक्की-दुक्की सफलताओं को बताकर हम न तो हाथ पर हाथ धरे बैठ सकते हैं, न ही गर्व का अनुभव कर सकते हैं। जब देश में वैज्ञानिक अभिरुचि का प्रश्न उठाया जाता है तो भी हम अपने देश को पीछे पाते हैं। जब तक राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक विज्ञान की उपयोगिता तथा उसके महत्व को हृदयंगम नहीं कर लेता, तब तक देश में वैज्ञानिक वातावरण नहीं बन पावेगा। जब तक वैज्ञानिक संस्कारों के लिए मजबूत नींव नहीं पड़ जाती, राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध रहेगी।

भारत मे विज्ञान की गुणवत्ता (uality) पर विचार करते हुये यह देखना होगा कि आज विज्ञान की स्थिति क्या है? जब हम गुणवत्ता पर विचार करना चाहते हैं तो इसमें यह भाव निहित है कि हम स्वीकार करते हैं कि भारत में विज्ञान का जो स्वरूप है, या विज्ञान की जो प्रकृति है या भारतीय विज्ञान का जो शील है वह आलोचना से परे नहीं है। अभी तक हम व्यापारिक सामग्रियों की गुणवत्ता पर विचार करते रहे हैं। विज्ञान की गुणवत्ता का अर्थ हुआ उसके उच्चस्तर पर विचार। निश्चय ही भारत में इस समय विज्ञान की जो स्थिति है उसकी ओर अंगुली उठाई जाती है—ऐसा विकसित देशों में विज्ञान के स्तर से

तुलना करने पर स्पष्ट होता है। हमारे वैज्ञानिक तथा कर्णधारों को यह भावबोध है कि कहने के लिये तो हम अन्तरिक्ष विज्ञान या परमाणु शोधों में अग्रसर हो रहे हैं किन्तु हमारे देश में विज्ञान की आधारशिला मजबूत नहीं है।

स्पष्ट है कि देश में विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन अधोगति को प्राप्त है। चारों ओर या तो असन्तोष व्याप्त है या कि विज्ञान की आत्मा को पहचाने बिना ही लोग आर्थिक लाभ के लिये वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रवेश करना चाहते हैं। यदि वास्तविक निष्ठा हो तो विज्ञान की इससे बढ़कर और सेवा क्या हो सकती है। किन्तु जब प्रशिक्षण ही अधूरा तथा निम्नकोटि का हो, जब प्राइमरी पाठशाला से विद्यालयों, महाविद्यालयों तक विद्यार्थियों की रुचि केवल विज्ञान लेकर उत्तीर्ण होने में हो, उसे वे अपना मार्ग दर्शक न बनाना चाहते हों या उसके वे भक्त न बनना चाहते हों तो विज्ञान की गुणवत्ता में सुधार कैसे सम्भव है? निस्सन्देह देश में विज्ञान-प्रतिभाओं का चुनाव, उनका संवर्धन एवं उनको सभी प्रकार का प्रोत्साहन देना इस दिशा में पहला कदम होगा। हमारे पाठ्यक्रम इतने लिजलिजे हैं और हमारा प्रशिक्षण इतना निम्नस्तरीय है कि कॉलेज से निकलने के बाद विज्ञान का विद्यार्थी अपने आप कुछ भी नहीं कर सकता। उसमें तर्कशक्ति का समुचित विकास ही नहीं हो पाता।

विश्वविद्यालयों की दशा तो और भी शोचनीय है। जिस गति से विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ी है और उनमें प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई है, उसके कारण शिक्षा के स्तर में, विशेषतया विज्ञान की शिक्षा की गुणवत्ता में ह्रास आया है। ऐसे विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी जिनका ज्ञान अधूरा है, जिन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण नाममात्र को नहीं मिला, जब शोध के क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं तो वे येन-केन-प्रकारेण डिग्री प्राप्त करके नौकरी ढूँढने में उसका इस्तेमाल करते हैं। बिरला ही शोधार्थी सही अर्थ में जिज्ञासु होता है। जब तक उसे छात्रवृत्ति मिलती है, कार्य करता रहता है और यदि शोध क्षेत्र में पद न मिला तो अन्य क्षेत्र में नौकरी करके शोधकार्य से अपना नाता तोड़ लेता है। 'प्रतिभा का पलायन' एक दूसरा रोग है जो असन्तुष्ट वैज्ञानिकों को बाहर आने के लिए प्रेरित करता है। ऐसा नहीं है कि सारे के सारे वैज्ञानिक उच्च स्तरीय हों, लेकिन इन्हीं में एकाध वास्तविक शोधार्थी भी देश के बाहर चले जाते हैं। देश की सुविधाओं का इससे बड़ा दुरुपयोग और क्या हो सकता है? जब अवसर आता है कि शोधार्थी अपने अनुभवों के आधार पर विज्ञान के स्तर को उठावें, वे विदेशी बन जाते हैं या फिर देश में रहे तो अन्य अनेक कारणों से क्षोभमय जीवन बिताते हैं।

जब तक राष्ट्र के कर्णधार विज्ञान के विकास के लिए पूरी छूट नहीं देते तब तक विज्ञान की गुणवत्ता में सुधार हो पाना सम्भव नहीं लगता। यह छूट वैज्ञानिकों को सारी सुविधाएँ प्रदान करने के रूप में होनी चाहिए। शिक्षकों को पाठ्यक्रम का सुधार करते रहना चाहिए, स्वयं नवीन प्रगति से परिचित होने के लिए प्रशिक्षण ग्रहण करना चाहिए और जिन विद्यार्थियों में विज्ञान के प्रति विशेष रुचि है, उन्हें चुनकर उनको विशिष्ट प्रशिक्षण देना चाहिए। हमारे देश में वैज्ञानिक प्रतिभा की खोज (Sceince Talent Search) होती है, किन्तु उन्हें सामान्य विद्यार्थियों के साथ ही प्रशिक्षण मिलता है जिससे उनकी प्रतिभा चमक नहीं पाती। यही नहीं, बाद में ये प्रतिभायें प्रायः प्रशासनिक सेवाओं में पद ग्रहण करती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि यदि वास्तव में देश में विज्ञान की कोटि को ऊपर ले जाना है तो इन प्रतिभाओं को स्वार्थ से ऊपर उठना होगा, देश के हित में त्याग करना होगा, तभी विज्ञान ऊपर उठ सकेगा।

आजकल शोध के नाम पर धोखाधड़ी या ठगी चल रही है। प्रायः शोधपत्रों के प्रकाशन एवं उनकी संख्या पर अधिक ध्यान दिया जाता है। कुछ लोग ऊबकर यह कहने लगे हैं कि शोधपत्रों का स्तर अत्यन्त निम्न होता है और शोधकार्य भी द्वितीय कोटि का होता है, ज्ञान-वर्धन या विज्ञान की गुणवत्ता को उठाने के लिए नहीं। प्रायः सरकारी अनुदानों द्वारा ऐसा शोधकार्य सम्पन्न कराया जाता है जिसका आज की आवश्यकता से कोई सरोकार नहीं होता।

शिक्षाविदों का मत है कि विश्वविद्यालयों में अध्यापन में अध्यापकों की रुचि घट रही है, वे कक्षा में पढ़ाने जाते ही नहीं, पढ़ाने में परिश्रम नहीं करते। यही नहीं, विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के बीच सौहार्द नहीं रह गया। उनके बीच सम्पर्क घटा है फलस्वरूप जो कठिनाइयाँ छात्रों को होती हैं वे जैसी की तैसी रह जाती हैं।

मेरा तो ऐसा विचार है कि शोध छात्रों को आप कितना ही वेतन क्यों न दें, आप शोध जर्नलों को कितना ही मानक क्यों न बना लें, जब तक प्रतिभाशाली छात्रों को सामान्य छात्रों से पृथक करके सर्वोत्तम प्रयोगशालाओं में सर्वोत्तम पथ-प्रदर्शकों की देख-रेख में रखकर सुनियोजित शोधकार्य में उन्हें प्रवृत्त नहीं करेंगे तब तक देश भर के विश्वविद्यालयों में सर्वसामान्य स्तर का शोध होता रहेगा। जो छात्र विज्ञान के क्षेत्र में आगे जाना चाहें उन्हें ही विज्ञान का प्रशिक्षण दिया जाये। देश के सीमित साधनों को सर्वसामान्य की शिक्षा में समाप्त न होने दें।

यदि शोध में व्यक्तिगत प्रयास के स्थान पर टोली कार्य को वरीयता दी जाये तो बहुत सा संकट टल सकता है। टोली का नायक वही बनेगा जो सर्वोपरि होगा, जिसमें मार्गदर्शन की क्षमता होगी। आज अन्तरिक्ष विज्ञान में जो प्रगति हो रही है वह इसी टोली कार्य के कारण है। सच तो यह है कि सबों के योगदान को स्वीकारने तथा उत्तम कार्य के लिए पुरस्कृत करने से ही विज्ञान की गुणवत्ता में अपेक्षित सुधार हो सकता है। □

[पृष्ठ 18 का शेषांश]

को रुग्ण कर देते हैं। कैंसर होने पर पुरस्थ ग्रन्थि से कैंसर कोशिकायें रुधिर के द्वारा कंकालतंत्र में इकट्ठे हो जाती हैं जो अस्थि को खायी हुई स्थिति में ला देती है। अतः पुरस्थ ग्रन्थि के कैंसर की संभावनाओं का पता लगाने के लिए शरीर के कंकालतंत्र के भागों का एक्सरे लिया जाता है। कैंसर लसिका-केशिकाओं द्वारा भी फैलता है जो लसिका-पर्व का परिवर्धन कर देते हैं। कैंसर का फैलाव खाँसी आने तथा छींक आने से विशेष शिरा-सम्बन्धों द्वारा कंकालतंत्र तथा अन्य भागों में हो जाता है। अतः रोगी का परीक्षण विस्तृत रूप से अन्य साधनों के द्वारा किया जाता है। पुरस्थ ग्रन्थि से वहिर्पर्णन हुई कोशिकाओं का जीव परीक्षण एवं सूई से पुरस्थ ग्रंथि का टुकड़ा निकाल कर उसका विशेष परीक्षण किया जाता है।

परिवर्धित पुरस्थ ग्रन्थि को निकालने के लिए, पुरस्थ ग्रन्थि तक पहुँचने वाले कई मार्गों द्वारा शल्य-क्रिया की जाती है। यह शल्यक्रिया जघ्न के ऊपर (सुपराप्यूबिक) मूत्राशय के द्वारा, जघ्न के नीचे (रिट्रोप्यूबिक) पुरस्थ ग्रन्थि के अग्रभाग से एवं परि-तन्त्रिका (पेरिनियम) मार्ग द्वारा भी किया जाता है। मूत्रमार्ग (ट्रान्सयूरिथ्रल) के द्वारा परिवर्धित (इन्लार्ज्ड) पुरस्थ ग्रन्थि को निकालने के लिए शल्यक्रिया में विशेष दिलचस्पी दिखायी गयी है। इस प्रकार अब चिकित्सकों को पुरस्थ ग्रन्थि के उपचार में पूर्ण विजय प्राप्त हो गई है। □

विज्ञान परिषद् के सभ्य डॉ० रमेश सम्मानित

भुवनेश्वर में पिछले दिनों आयोजित **"आल इण्डिया बोटैनिकल सोसायटी"** के छठवें अधिवेशन में भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण (इलाहाबाद इकाई) के वनस्पतिज्ञ **डॉ० रमेश चन्द्र श्रीवास्तव** को उनके शोधपत्र **"मछलियों में कवकजनित रोग"** प्रस्तुत करने के लिए, **'सर्टीफिकेट ऑव मेरिट'** से सम्मानित किया गया है। डॉ० श्रीवास्तव ने अब तक 100 के लगभग शोधपत्र एवं हिन्दी अंग्रेजी में लोकप्रिय लेख प्रकाशित कर लिए हैं। उन्हें 20 नये पादपों की खोज का श्रेय प्राप्त है। डॉ० श्रीवास्तव विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद के सभ्य हैं और उनके शोधपत्र तथा लेख **'अनुसंधान पत्रिका'** एवं **'विज्ञान'** में प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रद्धांजलि

डॉ० सोमेश्वर नाथ भार्गव

प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

वनस्पति विज्ञान के जगत् में डॉ० सोमेश्वर नाथ भार्गव का नाम अपरिचित नहीं है। यह अति दुर्भाग्य का विषय है कि पिछले 11 नवम्बर को उनकी असामयिक मृत्यु ने एक प्रतिभाशाली वनस्पति विज्ञानी को हमसे छीन लिया।

डॉ० एस० एन० भार्गव का जन्म 5 अप्रैल 1938 को हुआ था और अपनी 45 वर्ष की अल्पायु में उन्होंने विज्ञान और क्रीड़ा जगत् में जो सम्मान प्राप्त किए उन्हें अद्वितीय उपलब्धि की संज्ञा दी जा सकती है। उनकी उच्च शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुई। 1958 में एम० एस-सी० की परीक्षा में उन्होंने अपने सहपाठियों के बीच सर्वोच्च अंक प्राप्त करके योग्यता सूची में सर्वप्रथम स्थान जीता। 4 वर्षों के अंदर ही **"फिजियॉलॉजिकल एण्ड पैथॉलॉजिकल स्टडीज ऑव सम फंजाई काजिंग स्टोरेज राट्स"** विषय पर शोधग्रन्थ प्रस्तुत करके **डी० फिल** की उपाधि भी प्राप्त कर ली। 1964 में डॉ० भार्गव स्थाई प्रवक्ता के रूप में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग में नियुक्त हुये और मृत्युपर्यन्त वहीं रहे। कुछ ही वर्षों में पुनः उन्हें अपनी प्रतिभा के विकास का अवसर मिला—उच्च अध्ययन हेतु **कामनवेल्थ फेलोशिप** के रूप में। 1966 से 68 तक वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग में प्रो० गैरेट के निर्देशन में भूमिगत जड़ों पर लगने वाले कुछ कवकों (फंजाई) पर कार्य करते रहे। **कामनवेल्थ फेलोशिप** के अंतर्गत उन्हें आस्ट्रेलिया में उच्च अध्ययन हेतु जाने का अवसर मिला। भारत में उन्हें सी० एस० आई० आर० और यू० जी० सी० जैसी कई शोधवृत्तियाँ मिलीं। उनके द्वारा अर्जित सम्मानों में नेशनल एकेडमी ऑव साइन्सेज के जीवविज्ञान संबंधी प्रकाशनों के सम्पादन का कार्य विशेष महत्व रखता है। लगभग अपने पूरे कार्य काल में वे किसी न किसी रूप में एकेडमी ऑव साइन्सेज के प्रकाशन कार्यों से जुड़े रहे।

डॉ० भार्गव अपने लगभग 25 वर्षों के कार्यकार जीवन में निरंतर उच्चस्तरीय शोध में व्यस्त रहे। कृषि वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में किए गये उनके शोध अध्ययन, फलों एवं सब्जियों के भण्डारण काल में लगने वाले रोगों, जड़ों पर लगने वाले कवकों, सीड पैथॉलॉजी, कवकों की फिजियॉलॉजी और लीफस्पाट्स जैसे विषयों से संबंध रखते हैं। मृत्यु के समय वे अमरूदों पर लगने

[शेष पृष्ठ 24 पर]

विज्ञान वार्ता

संकलन : कु० पूनम वार्ष्णेय
द्वारा डॉ० वाई० पी० वार्ष्णेय, ओटावा विश्वविद्यालय, कनाडा

(1) बैक्टीरिया की खोज

सोवियत वैज्ञानिकों ने समुद्र की सतह पर पाए जाने वाले 40 प्रकार के बैक्टीरिया की खोज की है जिन से प्रदूषण को रोक सकने में सहायता मिलेगी। समुद्री-जल बैक्टीरिया की सहायता से अपने आप अपनी सफाई कर लेता है। ये बैक्टीरिया दूषित तत्वों को सोख लेते हैं और उन्हें हानिरहित बना देते हैं। और तो और औद्योगिक प्रदूषण को भी ये आसानी से साफ कर देते हैं।

(2) पैरों से चलने वाली कार

जापान के वैज्ञानिकों ने एक ऐसी कार का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की है जो पैरों की सहायता से चलाई जा सकती है। यह कार उन विकलांग लोगों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकती है जिनके बाँहें नहीं है। इस कार के बाहर नीचे लगे एक बटन को पैर से दबाने पर कार के द्वार खुल जाते हैं। कार को चलाने और उसको संचालित करने सम्बन्धी सभी कार्य पैरों से ही किये जाते हैं। एक सौ किलोमीटर प्रति घंटा की गति से चलने वाली इस कार में विशेष प्रकार के टायर लगाये गये हैं जिसके पंक्चर होने के बावजूद भी कार 60 किलोमीटर प्रति घंटा की गति से चल सकती है।

(3) समुद्री-जल से चीनी

अब समुद्र के पानी से नमक ही नहीं, चीनी भी बनाई जा सकेगी। अमेरिका के कृषि वैज्ञानिक डॉ० राबर्ट एस० शैलेनबर्ग का कहना है कि अब समुद्र से कुछ ऐसे एन्ज़ाइम प्राप्त किए जा सकते हैं, जिससे स्थायी कार्बोहाइड्रेट को आसानी से चीनी में बदला जा सकेगा। डॉ० शैलेनबर्ग के अनुसार यदि ऐसे एन्ज़ाइम का बड़े पैमाने पर उत्पादन हो सका तो चुकन्दर, आलू, सेब आदि के कार्बोहाइड्रेट को भी आसानी से चीनी में बदला जा सकेगा।

(4) जुकाम से कैसे बचें ?

जुकाम से बचना है तो हर प्रकार के मानसिक तनाव से बचिए और खूब हंसिए हंसाइए। ब्रिटिश चिकित्सा संस्थान के शोध विभाग के अध्ययन के अनुसार मनुष्य के स्वभाव तथा भावनाओं का सर्दी जुकाम से गहरा सम्बन्ध है। मानसिक तनाव की स्थिति में शरीर में 'स्टराइड' नामक एक तत्व बनने लगता है जो शरीर में मौजूद संक्रमण-नाशक तत्वों को कमजोर कर देता है तथा व्यक्ति बीमारी को रोक नहीं पाता। इसलिए नज़ला-जुकाम से दूर रहना है तो तनाव से दूर रहें। हंस नहीं सकें तो रो ही लें—इससे भी तनाव दूर होकर मन हल्का हो जाता है। तभी शायद अन्तर्मुखी लोग जुकाम के ज्यादा शिकार होते हैं।

(5) फूलों के रंगों से खनिजों की खोज

दिल्ली विश्वविद्यालय में वनस्पतिशास्त्र विभाग के शोधकर्त्ताओं के एक दल ने व्यापक खोज के बाद ऐसे पौधे ढूंढ़ निकाले हैं, जिनके आधार पर खनिज भंडारों का अनुमान लगाया जा सकता है। इनके अनुसार भारी धातुओं और फूलों के रंगों के बीच सीधा सम्बन्ध है और इसका उपयोग खनिजों के सर्वेक्षण के लिये किया जा सकता है।

उदाहरण के तौर पर **'एस्फोडिलस टेनुईफोलियस'** नामक एक पौधा, जिसके फूल सफेद होते हैं, तांबा, मेंगनीज, निकल, जस्ता आदि धातुओं की मौजूदगी की

सूचना देता है। प्राय: यह भी देखा गया कि जिन क्षेत्रों में यह पौधा उगता है वहाँ की मिट्टी में जस्ते की मात्रा काफी अधिक होती है। इसी प्रकार **'वेरोनिया सिनेरा'** नामक पौधा ताँबा, मेंगनीज, जस्ता और निकल धातुओं का संकेत-चिन्ह कहा जा सकता है। इस पौधे के गुलाबी फूल उस मिट्टी में पाये गए जहाँ ताँबा, जस्ता, कोबाल्ट और निकल जैसी धातुएँ उच्च मात्रा में मौजूद थी।

वनस्पतिशास्त्रियों का कहना है कि ऐसे पौधों को पहचानने की विधि बहुत ही सरल है और इसके लिए विशेष कौशल की आवश्यकता भी नहीं है। यह विधि फूलों के रंग और उनकी सघनता आदि भौतिक गुणों पर आधारित है और इन गुणों की पहचान करना बहुत ही ही आसान है।

(6) विगलन ऊर्जा : ऊर्जा का अनन्त स्रोत

सोवियत वैज्ञानिकों को आशा है कि वे एक नई यंत्र-युक्ति अंगारा-5 पर इतना गरम प्लाज्मा उत्पन्न कर सकेंगे जिसका तापमान 10 करोड़ अंश के ग्रहीय तापमान के बराबर हो सकेगा। ताप-नाभिकीय विगलन का प्रभावकारी नियंत्रण करने के लिए इतना तापमान आवश्यक है। इस प्रकार ऊर्जा का ऐसा स्रोत प्राप्त हो सकेगा जो कभी खत्म नहीं होगा। इसके लिए अंगारा-5 की यंत्र-युक्ति में आवश्यक परिवर्तन किये जा रहे हैं। इससे सोवियत संघ में नये ताप-नाभिकीय बिजलीघरों का निर्माण संभव हो सकेगा।

(7) बिजली बत्तकों का उत्पादन

सोवियत पक्षी-विज्ञानियों ने जीवविज्ञानियों के सहयोग से शिकार के पक्षियों की संख्या में वृद्धि की एक नई विधि निकाली है। इसमें जब जंगली बत्तकें झाड़ियों में अंडे देती हैं उन्हें बटोर लिया जाता है और उन्हें इंक्यूबेटरों में सेने के लिए रख दिया जाता है। उधर जब बत्तकों के अंडे झाड़ियों से गायब हो जाते हैं वे नये अंडे देती हैं और बच्चों के निकलने तक उन्हें सेती हैं और उनकी देखभाल करती हैं। इस विधि से जंगली बत्तकों की संख्या में 70 प्रतिशत वृद्धि करने में सफलता प्राप्त हुई है।

(8) कंप्यूटर से चिकित्सा

सोवियत बाल्टिक जनतंत्र लातविया में हृदयरोग के निदान और चिकित्सा के लिए कंप्यूटर की सहायता ली जा रही है, और इसके बड़े अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं। कंप्यूटर रोगी की जांच-पड़ताल करता है और रोग के छह मुख्य समूहों के बारे में सूचना देता है। इसके विशेष पर्दे पर क्रमिक रूप से कुछ प्रश्न आते हैं और उनके कुछ उत्तर दिये गये होते हैं। इस सभी पर संख्याएं लिखी होती हैं। रोगी बटन दबा कर उत्तर देता चलता है। यह संवाद पांच से पंद्रह मिनट तक चलता है। इसके बाद कंप्यूटर रोग के बारे में अपना विचार बताता है और आवश्यक चिकित्सा का सुझाव देता है। □

[पृष्ठ 22 का शेषांश]

वाले विल्ट और उसके नियंत्रण पर कार्य कर रहे थे। उनके सुयोग्य निर्देशन में डी०फिल तथा डी०एस-सी उपाधि के लिए शोध छात्र कार्य करते रहे थे। उनके 100 से अधिक शोधपत्रों और टिप्पणियों (नोट्स) का भारतीय तथा विदेशी शोधपत्रिकाओं में प्रकाशन उनकी विद्वता और कार्यक्षमता का परिचायक है। यही नहीं वे अपने विषय से संबंधित अनेक देशी-विदेशी संस्थाओं के **आजीवन सदस्य और फेलो** रहे। **'इण्डियन बोटैनिकल सोसायटी', 'नेशनल एकेडमी ऑव साइन्सेज, इण्डिया', 'ब्रिटिश माइकॉलॉजिकल सोसाइटी', 'अमेरिकन फाइटोपैथॉलॉजिकल सोसायटी', 'विज्ञान परिषद्'**, इलाहाबाद, जैसी एक दर्जन से अधिक अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संस्थाओं से प्रकाशित शोधपत्रिकायें उनके पास बराबर आती रहती थीं।

हिन्दी भाषा के माध्यम से डॉ० भार्गव विज्ञान के प्रचार प्रसार के लिए सदैव सक्रिय रहे। देश की प्रमुख हिन्दी विज्ञान सेवी संस्था—**विज्ञान परिषद्**, प्रयाग के वे **आजीवन सभ्य** थे और परिषद् द्वारा प्रकाशित शोध पत्रिका—**'अनुसंधान पत्रिका'** तथा **'विज्ञान'** में उनके अनेक शोधपत्र और लेख प्रकाशित होते रहे हैं।

ऐसी बहुमुखी प्रतिभावाले व्यक्तित्व का असमय ही कालकवलित हो जाना न केवल इलाहाबाद विश्वविद्यालय वरन् उन सभी संस्थाओं की भी अपूरणीय क्षति है जिनसे वे संवद्ध थे। विज्ञान परिषद् परिवार को उनका अभाव सदैव सालता रहेगा। □

विस्फोटित ब्रह्माण्ड

डॉ० जयंत विष्णु नारलीकर

टाटा इन्स्टीट्यूट ऑव फंडामेण्टल रिसर्च, होमी भाभा रोड, बाम्बे-400005

[सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० जयंत विष्णु नारलीकर का यह लेख 'द एक्सप्लोडिंग यूनिवर्स' 'द इलस्ट्रेटेड वीकली ऑव इण्डिया' नामक पत्रिका के 6-12 नवम्बर अंक में छपा था। इसका अनुवाद किया है 'विज्ञान' के सुपरिचित लेखक आर० के० प्रताप ने जो ए० पी० एन० डिग्री कालेज, बस्ती में शिक्षा विभाग में प्राध्यापक हैं। इसका पहला भाग 'विज्ञान' फरवरी 1984 अंक में छप चुका है। इसका अंतिम भाग (तीसरा भाग) मई अंक में छापा जायेगा। अनुवाद और प्रकाशन की अनुमति के लिए 'विज्ञान' लेखक और 'इलस्ट्रेटेड वीकली' पत्रिका का आभारी है। —सम्पादक]

स्थिर अवस्था का सिद्धान्त (स्टेडी स्टेट थियरी)

1948 में तीन अंग्रेज सिद्धान्तकारों ने एक नवीन ब्रह्माण्डीय निर्मित प्रस्तुत की और यह दावा किया कि इस नवीन सैद्धान्तिक निर्मित में फ्रीडमैन निर्मितियों के दोष उपस्थित नहीं है।

एक दोष, यदि उसे दोष कहा जाये तो, महाविस्फोट की अवधारणा में ही है। यह विचार कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड एक बिंदु में संकुचित किया जा सकता है न केवल कल्पना में कठिन है वरन् इसे गणितीय अभिव्यक्ति देना भी असम्भव है। गणितज्ञ ऐसी स्थितियों को 'असाधारण' (सिन्गुलैरिटीज़) पुकारते हैं। फ्रीडमैन निर्मिति में एक दिक-काल-संबंधित असाधारणता निर्माण के प्रारम्भ काल ($t=0$) पर उपस्थित होता है।

ऐसे विलक्षण उदाहरण, भौतिक विज्ञानियों की दृष्टि में निहित विवरण के दोष या कमियाँ व्यक्त करते हैं और वे सिद्धान्त को इस प्रकार परिष्कृत करने का प्रयास करते हैं कि यह असाधारणताएँ नवीन विवरणों में न उपस्थित हो सकें। 1948 में हर्मन बोंदी, थामस गोल्ड और फ्रेड हायल ने एक परिष्कृत विवरण, जिसे उन्होंने ब्रह्मांड का स्थिर अवस्था सिद्धान्त कहा, प्रस्तुत किया।

स्थिर अवस्था निर्मिति में ब्रह्मांड सदैव विस्तारित होता रहता है परन्तु इसका प्रारम्भ या अंत नहीं होता। जैसे किसी व्यापार में लगाई गई पूंजी चक्रवृद्धि ब्याज से तेजी से बढ़ती है उसी प्रकार मंदाकिनियों से बँधा हुआ दिक-आयतन भी ब्रह्माण्डीय विस्तार के साथ विस्तारित होता जाता है। परन्तु इस प्रक्रिया में ब्रह्माण्डीय घनत्व के स्थिर रहने की कल्पना की गई है। भला वह कैसे संभव है?

स्थिर अवस्था सिद्धान्त के प्रणेताओं का तर्क था कि ऐसा पदार्थ सतत निर्माण द्वारा ही सम्भव हो सकता है। जब ब्रह्माण्ड विस्तारित होता है तो इसका घनत्व कम होना चाहिये परंतु नवीन पदार्थ का सृजन इसे स्थिर रखता है। स्वाभाविक है कि अपने प्रारम्भ से ही यह सिद्धान्त विरोधी आलोचनाओं का शिकार रहा है।

महा-विस्फोट के पक्षधरों ने इसकी आलोचना एक कारण से की है जबकि भौतिक विज्ञानियों की आलोचना का आधार दूसरा है। 1950 और परवर्ती दशक के प्रारंभ में अनेक खगोलीय निरीक्षण इस सिद्धान्त को असत्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये थे। यह निरीक्षण ब्रह्माण्ड के दूरस्थ भागों के थे। जब हम किसी दूरस्थ पिंड को देखते हैं तो वास्तव में हम यह देखते हैं कि जब प्रकाश उस पिण्ड से हमारी ओर निश्चित वेग

से चला तो पिण्ड कैसा था। जब किसी मंदाकिनी जो हमसे 1 अरब प्रकाश वर्ष दूर है, बिम्ब फोटोग्राफिक कागज पर उतारा जाता है तो यह 1 अरब प्रकाश वर्ष पहले की मंदाकिनी का चित्र होता है। यदि ब्रह्माण्ड स्थिर अवस्था में हो (अर्थात अपरिवर्तनीय) तो दूरस्थ पिण्डों के चित्र निकटस्थ पिण्डों के समान ही होने चाहिये।

खगोलीय निरीक्षणों के अनुसार दूरस्थ पिण्डों के चित्र निकटस्थ पिण्डों के समान नहीं थे। परन्तु सूक्ष्म परीक्षणों से पता चला कि यह दावे या तो त्रुटिपूर्ण थे या अनिश्चित।

1760 में मुझे फ्रेड हायल का शिष्यत्व प्राप्त हुआ। मुझे स्मरण है कि जब एक स्नातक छात्र के रूप में मैंने स्थिर अवस्था सिद्धान्त पर कार्य करने की इच्छा व्यक्त की तो हायल ने यह कहते हुए कि यह सिद्धान्त विवाद पूर्ण है अतः शोध विषय के रूप में उचित नहीं है, मुझे निरुत्साहित किया। तब भी मैं इस ब्रह्माण्डीय विवाद में हायल के साथ मार्टिन राइल और सहकर्मियों के रेडियो-स्रोतों के निरीक्षणों के विरुद्ध स्थिर अवस्था सिद्धान्त के पक्षपोषण में पहुँच गया।

अन्य पूर्व आपत्तियों की भाँति राइल की आलोचनाओं के समक्ष भी स्थिर अवस्था सिद्धान्त टिका रह गया और अब भी जीवित है।

भौतिकशास्त्रियों की आपत्ति दूसरे प्रकार की थी। पदार्थ के सतत सर्जन की संकल्पना, उनके अनुसार कुछ आधारभूत संरक्षण नियमों—जैसे पदार्थ और ऊर्जा के संरक्षण का नियम—की अवज्ञा करती थी। इस आपत्ति का उत्तर यह था कि पदार्थ की सर्जना एक ऋणात्मक ऊर्जा विकिरण भण्डार (रिजर्वायर ऑव निगेटिव एनर्जी रेडियेशन) जिसे सी-फील्ड कहा गया, से हो रही थी। फिर भी सी-क्षेत्र पर कार्य करते हुए हायल और मुझको यह प्रतीत हुआ कि यद्यपि स्थिर ब्रह्माण्ड में पदार्थ और ऊर्जा के संरक्षण का नियम अभी भी सत्य था परन्तु बेरयान-संख्या के संरक्षण का नियम भंग हो रहा था।

आखिर यह बेरयान-संख्या क्या है ? पदार्थ के सभी परमाणु भारी कणों-प्रोटॉन और न्यूट्रॉन से मिल कर बने नाभिक के चारों ओर इलेक्ट्रॉन कक्षों से आवृत्त होते हैं इलेक्ट्रॉन इन भारी कणों जिन्हें बेरयान कहते हैं से अपेक्षाकृत बहुत हल्के होते हैं। बेरयान अनेक प्रकार के होते हैं परन्तु प्रोटॉन और न्यूट्रॉन सबसे सामान्य कोटियाँ हैं। कण-अंतक्रियाओं (पार्टिकिल इंटरऐक्शन) द्वारा यह बेरयान एक प्रकार से दूसरे प्रकार में परिवर्तित हो जाते हैं परन्तु बेरयान संख्या के संरक्षण नियम के अनुसार न तो उन्हें नष्ट किया जा सकता है और न ही नवीन बेरयान निर्मित किया जाना सम्भव है। संक्षेप में ब्रह्माण्ड में बेरयानों की संख्या निश्चित होनी चाहिये।

बीस वर्षों पूर्व भौतिकविज्ञानी इस नियम की सत्यता में इतनी अधिक आस्था रखते थे कि कोई सिद्धान्त जो इस नियम के विरुद्ध होता था, सहज ही अस्वीकार कर दिया जाता था। और इसीलिये स्थिर अवस्था सिद्धान्त संदिग्ध माना जा रहा था। शायद यह सिद्धान्त उपयुक्त समय से दो दशकों पूर्व प्रस्तुत किया गया था। इस पर मैं पुनः टिप्पणी करूँगा।

स्थिर अवस्था सिद्धान्त के विरोधी भी यह मानते हैं कि इस सिद्धान्त ने ब्रह्माण्ड विज्ञान पर दो लाभकारी प्रभाव डाले हैं। प्रथमतः तो महाविस्फोट का प्रतिद्वन्दी सिद्धान्त उपस्थित कर तथा निश्चित निरीक्षणात्मक भविष्यवाणियों के द्वारा इसने अनेक निरीक्षकों को कठिन ब्रह्माण्डीय निरीक्षण के लिये प्रेरित किया है। इससे 1960 के दशक में मंदाकिनी-खगोल विद्या और ब्रह्माण्डीय खगोल में पर्याप्त परिपक्वता प्राप्त कर ली थी और अब यह केवल अटकलबाजी नहीं रह गये थे।

इसका दूसरा योगदान तारों के भीतर परमाणु-नाभिकों के प्रारम्भ सम्बन्धी अध्ययनों में है। चूँकि स्थिर अवस्था सिद्धान्त में अतीत में अति तप्तकाल की स्थिति नहीं है, गैमो द्वारा प्रस्तुत प्रक्रिया प्रोटॉनो और न्यूट्रॉनों से तत्वों के परमाणु निर्मित नहीं कर सकेगी। अतः ब्रह्माण्ड में ऐसे दूसरे स्थान होने चाहिये जहाँ यह प्रक्रिया चलनी चाहिये। परन्तु वह स्थान कहाँ हैं ? ज्याफ्रे और मारगरेट बरब्रिज, विलियम फाउलर और फ्रेड हायल ने 1957 में यह प्रदर्शित किया कि तारों का आन्तरिक भाग नाभिकों के संगलन के लिये आदर्श स्थान हैं। न

केवल हलके वरन भारी नाभिक भी तारों में निर्मित हो सकते हैं और अंतरिक्षीय विस्फोटों द्वारा बाहर वितरित हो सकते हैं। 1965 में स्थिर अवस्था सिद्धान्त को एक ऐसाअनपेक्षित आघात लगा जिससे वह अभी भी मुक्त नहीं हो पाया है। बेल टेलीफोन लेबोरेटरीज (होल्मडेल, न्यू जर्सी, यू० एस० ए०) के दो भौतिकशास्त्री हमारी आकाशगंगा के किसी भाग से आने वाले लघु तरंगी-विकिरण के मापन के लिये अपने उपकरणों का परीक्षण कर रहे थे। यह उपकरण एक बड़ी तुरही के आकार का ऐन्टेन्ना था जो 7.3 सेमी के तरंग दैर्ध्य पर समस्वरित था।

जब दोनों भौतिक विज्ञानियों—आरनो पेंजियाज तथा राबर्ट विल्सन—ने अपने निरीक्षणों का विश्लेषण किया तो उन्हें एक आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त हुआ—विकिरण के सभी स्रोतों का लेखा-जोखा करने के पश्चात् उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका ऐंटेन्ना सभी दिशाओं से एक-सा तीव्र विकिरण प्राप्त कर रहा है। इस विकिरण का सम्बन्ध किसी विशिष्ट स्रोत से स्थापित नहीं किया जा सका—जैसे ब्रह्माण्डीय स्तर पर कोई 'शोर' उत्पन्न हो रहा हो। तब इसका क्या कारण हो सकता था ?

हमें याद है कि 1950 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में गैमो और उनके सहकर्मियों ने अति तप्त महा विस्फोट के अवशेष के रूप में लघु तरंग दैर्ध्य वाले विकिरण की भविष्यवाणी की थी। क्या यह विकिरण-शोर जो पेंजियाज और विल्सन द्वारा खोजा गया था वही अवशेष विकिरण था ?

आज के तीव्रगामी सूचना प्रसारण के युग में यह बड़ा आश्चर्यपूर्ण लगता है कि पेंजियाज और विल्सन गैमों की भविष्यवाणी से अपरिचित रहे हों। परन्तु उन्होंने तत्काल दोनों घटनाओं का सम्बन्ध नहीं जोड़ा। यद्यपि उनकी यह खोज 1964 में हुई थी परन्तु इसे यांत्रिक त्रुटि मान कर उन्होंने इसे प्रकाशित भी नहीं किया। जब यह सूचना प्रिंस्टन विश्वविद्यालय पहुँची तो वहाँ राबर्ट डिक और जिम पेबिल्स ने तत्काल महा-विस्फोट के अवशेष विकिरण के रूप में इसका महत्व पहचान लिया। वास्तव में गैमों के प्रयोगों के पन्द्रह वर्ष बाद यह दोनों भी उसी समस्या पर कार्य कर रहे थे और अवशेष विकिरण के मापन के लिये एक एंटेन्ना बनाना चाहते थे। इस प्रकार 1965 में पेंजियाज-विल्सन शोध पत्र ऐस्ट्रोफिजिकल जर्नल में एक विनम्र शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ—'4080 मेगासाइकिल प्रति सेकेण्ड पर ऐंटेन्ना के अतिरिक्त तापक्रम का मापन'। परन्तु ब्रह्माण्ड विज्ञानियों को इसमें महाविस्फोट का बहुप्रतीक्षित साक्ष्य प्राप्त हुआ। यह खोज 1978 में नोबुल-पुरस्कार-योग्य समझी गयी। निश्चित रूप से यदि अवशेष-व्याख्या सत्य हो तोयह खोज ब्रह्माण्ड विज्ञान के लिये हबिल की खोज की भाँति ही महत्वपूर्ण है। यदि 1930 में ब्रह्माण्ड-विज्ञान की सामाजिक प्रतिष्ठा रही होती तो हबिल को अवश्य ही नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ होता।

अवशेष व्याख्या इस विकिरण के वर्णक्रम से श्याम-पिण्ड (ब्लैक बाडी) नियम के पालन की अपेक्षा रखती है। आदर्श रूप में एक श्याम-पिण्ड एक ऐसा बन्द स्थान है जिसमें से प्रकाश का विकिरण नहीं हो सकता। ऐसे बन्द स्थान (इन्क्लोजर) में प्रकाश फोटोन दीवारों और एक-दूसरे से टकराते हैं और बिखर कर इस प्रकार वितरित हो जाते हैं कि विभिन्न ऊर्जा वालों फोटानों का वितरण स्थिर मान प्राप्त कर लेता है। इन फोटानों के वितरण में एक विशेष आवृत्ति वाले फोटानों की संख्या महत्तम होती है। यदि किसी भट्ठी की दीवालों से होने वाले ऊष्मा-विकिरण पर ध्यान न दिया जाये तो भट्ठी का भीतरी भाग एक श्याम-पिण्ड से लगभग समानता रखता है। जब हम कहते हैं कि भट्ठी का तापक्रम 250° से० है तो हमारा मंतव्य यह होता है कि भट्ठी के भीतरी भाग के फोटान-वितरण में एक विशेष आवृत्ति (जिसका सम्बन्ध इस तापक्रम से होता है) के फोटोनों की महत्तम संख्या है। यह आवृत्तिमान तापक्रम (परम मापनीय) के बढ़ने के साथ बढ़ता जाता है। इस प्रकार 250° से० का परम मान 523° के० (250+273) है और इसके संगत उच्चतम आवृत्ति 30,000 गीगासाइकिल प्रति से० है। पेंजियाज और विल्सन के अनुसार पृष्ठभूमि तापक्रम 3° कें० और संगत लघुतरंग आवृत्ति लगभग 180 गीगासाइकिल प्रति से० है।□

जैव प्रौद्योगिकी

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

यदि कोई पूछे कि बीसवीं शती की सबसे क्रान्तिकारी उपलब्धि क्या है तो उत्तर होगा **पुनर्योगज डी एन ए** (Recombinant DNA)। इसे ही एक अन्य आकर्षक नाम **जीन समबन्धन** (Gene Splicing) से पुकारते हैं। इसमें जीनों को नये किन्तु अनोखे ढंगों से संयुक्त किया जाता है। **क्लोनिंग** अथवा **एकपुन्जन** (Cloning) से भी इसी का बोध होता है। जीन क्लोनिंग अत्यधिक प्रचलित शब्द है जिसके द्वारा विशिष्ट जीन का सम्वर्धन सूचित होता है। शायद जीनी इंजीनियरी की यह सबसे महत्वपूर्ण आधुनिक देन है। पशुओं तथा पौदों के प्रजनन के लिए यह सर्वोत्कृष्ट प्रविधि सिद्ध हो रही है। इसने उद्योग क्षेत्र में नई-नई सम्भावनाओं के द्वार खोल दिये हैं। फलतः विकसित देशों में, विशेषकर अमेरिका तथा जापान में एक नया शब्द गढ़ा गया है जिसे **जैव प्रौद्योगिकी** या बायोटेक्नोलॉजी (Biotechnology) कहते हैं। इसका सर्वाधिक उपयोग कृषि तथा उससे सम्बद्ध क्षेत्रों में किया जा रहा है। अनुमान है कि विश्व भर के 27 विभिन्न देशों की 1000 कम्पनियाँ, संस्थान तथा विश्वविद्यालय इस नवीन प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में कार्यरत हैं।

आप कहना चाहें तो कह सकते हैं कि जैव प्रौद्योगिकी मनुष्य के लिए कोई नया क्षेत्र नहीं क्योंकि सभ्यता के विकासकाल से ही मनुष्य मद्य बनाने या दही जमाने में जीवाणुओं का उपयोग करता है, वह पशुओं की उन्नत किस्में तथा पौदों की नवीन प्रजातियों को विकसित करने में रुचि लेता रहा है। लेकिन यह तथ्य है कि जीन की खोज 100 वर्ष पुरानी है और उसी के बाद से नये क्षेत्रों में क्रान्तिकारी खोजें हुई हैं।

जैव प्रौद्योगिकी का मूलाधार है जीन समबन्धन जो सम्प्रयुक्त जीवविज्ञान की महत्वपूर्ण प्रविधि है। इसमें वांछित उत्पादन की प्रप्ति के लिये किसी **पोषी** (Host) यथा जीवाणु या वाइरस में बाह्य जीन **कोडिंग** (Coding) को समाविष्ट किया जाता है जिससे पोषी या जीवाणु वांछित उत्पाद की अधिकाधिक मात्रा उत्पन्न करने लगता है। इसका जीता जागता उदाहरण है **इन्सुलिन** का उत्पादन। पहले इसे बछड़ों के पित्ताशय से प्राप्त किया जाता था फलतः इसकी प्राप्ति के लिये कसाईघरों पर निर्भर रहना होता था और बछड़े के पित्ताशय से केवल थोड़ी मात्रा में इन्सुलिन मिल पाता था। किन्तु अब मनुष्य से जीन प्राप्त करके उसे जीवाणुओं में स्थापित कर देने पर सस्ते दामों में और अधिक मात्रा में इन्सुलिन प्राप्त किया जाने लगा है। इस प्रकार बछड़ों या सुअरों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। यही नहीं, इस जैव प्रौद्योगिकी से एक नवीन लाभ यह हुआ है कि मनुष्य से ही प्राप्त जीन द्वारा इन्सुलिन तैयार होने से अब मनुष्य के शरीर पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसी तरह से अनेक प्रोटीन तथा हार्मोन प्राप्त किये जा सकते हैं जिनका उपयोग मनुष्यों में बौनेपन के इलाज के लिये किया जा सकेगा। अनेक एंटीबयोटिक ओषधियों तथा टीकों के निर्माण की भी सम्भावनाएँ बढ़ गयी हैं। जैव प्रौद्योगिकी का यह बहुत बड़ा लाभ होगा।

जैव प्रौद्योगिकी का सबसे उर्वर क्षेत्र कृषि है जिसमें उपज बढ़ाने, जीवनाशियों की प्रतिरोध क्षमता बढ़ाने तथा अन्नों की गुणवत्ता (क्वालिटी) में वृद्धि करने का कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। 'हरित क्रान्ति' का

मूलाधार यही जैव प्रौद्योगिकी है जिसके द्वारा ऐसे बीज विकसित किए जा सके जिनके बोने से उपज में कई गुनी वृद्धि सम्भव हो सकी जिसे प्राय: बीज जनन द्रव्य (Seed germplasm) कहा जाता है, जैव प्रौद्योगिकी का ही वरदान है। ऐसे बीज विकसित किए जा चुके हैं। जिनमें ओषधीय गुण हो, अधिक प्रोटीन हो और तेल की मात्रा भी अधिक हो। जैव प्रौद्योगिकी से बीजों में ऐसे अनेक नवीन अभिलक्षण प्रविष्ट किए जा सकते हैं जिनकी अभी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आजकल पौदों (विशेष रूप से शस्य पौदों) की जड़ों में ही उर्वरक उत्पन्न करा देने पर विशेष बल दिया जा रहा है। यह विदित तथ्य है कि दलहनों की जड़ों में विशिष्ट सूक्ष्म जीव पाये जाते हैं जिनमें वायुमण्डल की अक्रिय नाईट्रोजन को संयुक्त करने की विलक्षण क्षमता है। इस प्रकार दलहनों की खेती से दुहरा लाभ होता है—फसल को नाइट्रोजनी उर्वरक नहीं देना पड़ता और दलहन वाले खेत में आगे भी नाइट्रोजन उर्वरक डालने की आवश्यकता नहीं रहती। विश्व में ऊर्जा संकट को देखते हुए उर्वरकों के उत्पादन में किसी प्रकार की वृद्धि कर पाना असम्भव है। ऐसी दशा में गेहूँ या धान जैसी अदलहनी फसलों की जड़ों में नाइट्रोजन स्थिर करने वाले जीवाणु प्रविष्ट कराये जा सकें, तो उर्वरण की समस्या हल हो सकती है।

यही नहीं, जीवनाशियों की विषाक्तता से बचने के लिए पौदों में नवीन जीन प्रविष्ट किए जा रहे हैं जिससे वे नाशीजीवों (Pests) का डटकर मुकाबला कर सकेंगे।

समुद्रों में प्रदूषण का सबसे बड़ा स्रोत है तेल। इससे अन्ततः मछलियों की संख्या पर बुरा प्रभाव पड़ता है अत: ऐसे सूक्ष्म जीवणुओं का विकास किया जा रहा है जो तेल की पतली सतह को देखते ही देखते चटकर जायें और समुद्रों की स्वत: सफाई होती रहे।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी जैव प्रौद्योगिकी अपने पाँव पसार रही है। आशा है कि कैंसर के उपचार में यह प्रौद्योगिकी सहायक हो सकती है। लेकिन कुछ वैज्ञानिकों की धारणा है कि इस प्रकार मनमाने ढंग से नये जीनों की उत्पत्ति से लाभ होने के बजाय मानवता को हानि पहुंच सकती है क्योंकि सम्भावना बनी हुई है कि कहीं ऐसे सूक्ष्म जीवों का विकास न हो जो अन्त में मनुष्य के लिये घातक सिद्ध हो सकें। मनुष्य से 'विराट मानव' की उत्पत्ति को लेकर अनेक शंकाएँ एवं दुश्चिन्ताएँ व्यक्त की जाती रही हैं फलत: मानवजाति पर इस जैव प्रौद्योगिकी के सम्प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की जाती रही है। किन्तु अब यह अन्ततः सिद्ध हो चुका है कि ऐसी शंकाएँ निर्मूल हैं।

भारत उन भाग्यशाली देशों में से हैं जहाँ इस नवीन प्रौद्योगिकी के लिए बौद्धिक तथा राजनीतिक वातावरण अनुकूल है। देश में विज्ञाननीति या कि प्रौद्योगिकीनीति का पालन करते हुए 1981 में नेशनल बायोटेक्नोलॉजी बोर्ड (N B T B) की स्थापना हो चुकी है जिसका कार्य जीनी इंजीनियरी, प्रकाश संश्लेषण, ऊतक सम्वर्धन, एंजाइम इंजीनियरी, ऐल्कोहॉल किण्वन तथा रोध क्षमता (Immunology) के क्षेत्र में सभी प्रयोग से जैव प्रौद्योगिकी के सम्प्रयोग को बढ़ावा देना है। इनसे स्वास्थ्य, कृषि तथा उद्योग को लाभ मिलेगा। हैदराबाद तथा चंडीगढ़ स्थित अणुजैविकी (Molecular Biology) से सम्बद्ध शोधसंस्थानों के साथ ही सीबागीगी, होएकेस्ट, ग्लैक्सो, हिन्दुस्तान लीवर्स जैसी कम्पनियों का सहयोग लिया जा रहा है। किन्तु तो भी ऐसा लगता है कि जब तक देश में जीवविज्ञान के प्रशिक्षण का ढाँचा पूरी तरह बदल नहीं दिया जाता, आवश्यक कर्मियों की पूर्ति नहीं हो सकेगी। स्पष्ट है कि विश्वविद्यालयों को समुचित आर्थिक सहायता देकर नवीन पाठ्यक्रम का शुभारम्भ कराया जाये, बड़ी-बड़ी पशुशालाएँ स्थापित की जायें और आवश्यक कच्चे माल के साधन जुटाये जायें।

जैव प्रौद्योगिकी का क्षेत्र अभी भी प्रयोगिक अवस्था में है फलत: सही दिशा में प्रयत्न करने से लाभ हो सकता है। विकासशील देशों के लिए तो यह वरदान स्वरूप है क्योंकि इन देशों में अपार जैव साधक प्राप्त हैं—जो सस्ते हैं। समुचित पारस्परिक सहयोग से इन संसाधनों का समन्वित उपयोग करके दीर्घकालीन योजनाएँ बनाये जाने की आवश्यकता है। हमारे देश में प्रचुर वैज्ञानिक कर्मी हैं। यह जैव प्रौद्योगिक रासायनिक संयन्त्रों को खड़ा करने की अपेक्षा सस्ती है अत: विकासशील देशों के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इसका हमें लाभ उठाना चाहिए। □

नींद और स्वप्न : एक विवेचन

प्रो० अलेक्सान्देर वोन
(भारत स्थित सोवियत दूतावास के सूचना विभाग से साभार)

खास तौर से बीमारियों के प्रारंभ होने के समय दिन में अंग में कुछ गड़बड़ी होने की चेतावनी के संकेत इतने क्षीण हो सकते हैं कि कोई व्यक्ति उनका ख्याल पूरी नहीं कर पाता। दिन में वातावरण का प्रभाव रोगी पर सीधा और जबर्दस्त पड़ता है। दिन में मस्तिष्क असंख्य परिणाम में प्राप्त सूचनाओं को "आत्मसात करने" में व्यस्त रहता है पर रात में जब वह बाहर से अपने पर कार्यरत प्रभावों से मुक्त होता है तो यह क्षीणतम संकेतों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।

आधुनिक औजारों से मरीज की निद्रावस्था में अंगामों में जो कुछ भी हो रहा है, उनका अनुश्रवण करना संभव हो गया है। यह बहुत महत्वपूर्ण बात है क्योंकि सामान्यतया हमारे जीवन का जो तिहायी भाग नींद में बीत जाता है, वह कई मायनों में रहस्यपूर्ण बना रहा। परन्तु रक्तावरोध से होने वाले अतिक्षय (इन्फार्कशन), मस्तिष्क-सम्बन्धी चोट और सभी प्रकार के संकट अक्सर सुनिश्चित रूप में निद्रा काल में आते हैं।

निद्रा अंगों की सक्रिय अवस्था है जिसके दो चरण है: एक मद्धिम चरण और एक द्रुत चरण, इनमें हर चरण अपनी तरह से पेचीदा है। और यद्यपि निद्रा समग्र पेशी रचना को आराम देती है, क्योंकि उस समय मस्तिष्क को कोई नयी सूचना नहीं मिलती, पर पर्याप्त शरीर क्रिया विज्ञान सम्बन्धी रासायनिक और शारीरिक प्रक्रियाएँ रात में मानवांगों में होती हैं।

यदि मद्धिम नींद की अवधि में हृत्वाहिका प्रणाली के क्रियाकलाप और सांस लेने की गति और गहराई जाग्रतावस्था की अपेक्षा थोड़ी घटी होती है तो निद्रा के द्रुत चरण में उनमें रक्तवाहिका दबाव में वृद्धि के कारण तीव्र उतार-चढ़ाव होता है, नाड़ी की गति तीव्र हो उठती है और हृत्स्पन्दन बढ़ जाता है।

निद्राकाल में मानवांगों के अन्दर हो रही प्रक्रिया के अध्ययन से डॉक्टर को दिन और रात में सही ढंग से विभिन्न बीमारियों का इलाज करने में मदद मिलती है। यहाँ तक कि दिन और रात के विभिन्न समयों में औषधियों का इस्तेमाल कर कुछ बीमारियों को रोक सकते हैं, जो निद्रा के दोनों चरणों के दौरान चयनात्मक रूप में काम करती है।

संवेगात्मक कारकों से उत्पन्न बीमारियों में शोध का विशेष महत्व है। इनमें हृदय की रक्ताल्पता, अति तनाव और पेट का फोड़ा शामिल हैं जिनके विकास में उन प्रक्रियाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है जो निद्राकाल और चलते रहने की स्थिति में हो रही होती है। इन प्रक्रियाओं पर सोद्देश्य कार्यवाई से उन व्यापक रूप में फैली बीमारियों को बेहतर ढंग से समझाना और अधिक सफलतापूर्वक इलाज करना संभव होता है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह पता चलता है कि औषधि का एक नया क्षेत्र निर्मित करने का वक्त आ गया है। वह है "निद्राकाल की औषधि।"

वैज्ञानिक यह समझने की कोशिश कर रहे हैं कि सपने क्या है। निस्सन्देह वे "सपनों को पढ़ने" का काम नहीं करते जैसा कि कुछ स्वघोषित ज्योतिषी करते हैं। इन भविष्यवक्ताओं द्वारा सपनों का अर्थ निकालना सरल है और अधिकांश मामलों में शब्द और ध्वनि के साहचर्य पर आधारित है। जो किसी बच्चे का सपना देखते हैं वे निश्चित रूप से विपत्ति में पड़ेंगे और जो अपने सपने

में खून देखते हैं वे निश्चित रूप से ऐसे रिश्तेदारों को देखते हैं जिनसे उनका रक्त सम्बन्ध होता है।

वैज्ञानिक इन प्रतीकों को अलग हटाकर सपनों और आसन्न बीमारियों के बीच सम्बन्ध खोजने की कोशिश कर रहे हैं। सबको याद होगा कि हम लोग पहले मस्तिष्क में संकेतों की चर्चा कर चुके हैं। हमारी बामारियाँ स्वप्न में छवियों या घटनाओं के रूप में आती हैं और ये संकेत प्रतिमाओं में "रूपान्तरित" हो जाते हैं।

सपने हमारे मस्तिष्क में चल रही अवचेतन प्रक्रियाओं के प्रतिबिम्ब होते हैं। इसमें शक नहीं कि मानसिक गड़बड़ियों के मामले में बढ़ी हुई सचलता, धीमा स्वर या जब व्यक्ति चिन्तित होता है तो सपनों में प्रतिमाएँ रोगाक्रान्त रूप ग्रहण करती हैं। किन्तु केवल अत्यधिक दुर्लभ मामलों में हम रोगों के निदान के लिए उनके महत्व की बात कर सकते हैं।

कभी-कभी संवेगों का, अपने चतुर्दिक संसार के संवेगों का, प्रत्यक्ष रूप से हम अनुमान नहीं करते बल्कि विचित्र समायोजन के माध्यम से करते हैं। वे एक प्रकार से चमत्कार में "रूपान्तरित" हो जाते हैं जिनका अनुभव हम असली जिन्दगी में नहीं करते। ठण्डी हवा के झोंके से हिम-झंझा का आभास हो सकता है, घड़ी के अलार्म की घंटी की आवाज का आभास हो सकता है। किसी क्लिनिक में सोते हुए मरीज की बगल में लैम्प रख दिया गया तो उसने आग का सपना देखा……

सपनों में सम्बद्धता प्रायः हमेशा पूरी तरह स्वतन्त्र है और उसकी सीमा कोई नहीं है। यह विचित्र बात होगी कि ऐसी स्थितियों में ऊटपटांग नहीं बल्कि यथार्थवादी सपने नजर आयें। आखिरकार सोता हुआ व्यक्ति ही सर्वदा अपने सपने में मुख्य पात्र है: वह स्वयं अपना नाटककार, अभिनेता और दर्शक होता है और सपने में हम जो देखते हैं वह विचित्र नहीं लगता क्योंकि सपने में हम जितने चमत्कार देखते हैं, वे हमारे विचार, भावनाएँ और आकर्षण हैं। पर यह अवश्य कहा जायेगा कि हम अच्छे सपनों की तुलना में बुरे सपने दुगने देखते हैं। इसमें शक नहीं कि यह जैवीय आवश्यकता है, क्योंकि यह हमारे लिए मनोवैज्ञानिक सुरक्षा के रूप में काम करता है, असली जीवन की अपेक्षा सपने में दुर्भाग्य या संकट का होना कहीं ज्यादा अच्छा है।

अनिद्रा शब्द मुझे पसंद नहीं। शायद यह भावुकता उपन्यासों के लिए ज्यादा बेहतर है, पर यह औषधि और स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं है। बात यह है कि यह वास्तविक स्थिति को प्रतिबिम्बित नहीं करता है। मैंने ऐसे लोगों के बारे में सनसनीखेज कहानियाँ पढ़ी हैं जो कभी नहीं सोते। मैं यह कहना चाहूँगा कि मुझे ऐसी रिपोर्टों की प्रमाणिता पर सन्देह है। बहुत हो सकता है तो यही कि कोई व्यक्ति पूरा नहीं सो पाये। और इसी कारण नींद में गड़बड़ी की बात करना बेहतर होगा। किन्तु वह अपने आप में बीमारी नहीं है पर अंगों के कार्य-कलाप में विभिन्न गड़बड़ियों का लक्षण है। डॉक्टर को चाहिए कि प्रारम्भिक कारण ढूंढ़े और उसे दूर करें। पर नींद की गोलियाँ खाना जैसा कि आजकल कुछ लोग करते हैं, नुकसानदेह हो सकता है। वे सोने के स्वरूप को बदल देती हैं। और इस प्रकार किसी व्यक्ति के स्वास्थ्य की अवस्था को बिगाड़ देती हैं। अच्छी और गहरी नींद के लिए संघर्ष सोने की गोलियाँ लेकर नहीं शुरू करना चाहिए बल्कि जीवन को सामान्य बनाकर तथा मानसिक और शारीरिक काम को विवेकपूर्वक सम्बद्ध करना चाहिए। आपको निद्राकाल में थोड़ी कमी होने पर जो भय होता है, उस पर काबू पाना चाहिए।

पूरी नींद नहीं ले सकने पर भयभीत नहीं होना चाहिए। यदि आपको नींद नहीं आये तो रोशनी जला कर पुस्तक पढ़िये। ऐसी स्थिति में आप आसानी से सो जायेंगे क्योंकि अंधेरे में पड़े रहने और करवटें बदलते रहने तथा यह सोचते रहने से कि आपको नींद नहीं आयी, उससे यह अच्छा है। हम सभी अपनी नियति के निर्माता है, और निद्रा सख्त न्यायाधीश के समान हमारे जागरणकाल के कार्यकलाप के परिणामों का मूल्यांकन करती है।□

विज्ञान और मानव जाति

डॉ० भारतेन्दु प्रकाश

विज्ञान शिक्षा केन्द्र, तेरही मापी, तिंदवारी, बाँदा-210128

विज्ञान मानव का मानस पुत्र है, उसकी स्वभावगत प्रेरणा तथा बुद्धि की उपज है। मनुष्य स्वभाव से जिज्ञासु होता है। एक बालक अपने आस-पास की वस्तुओं तथा घटनाओं पर न जाने कितने सवाल करता है। यदि सही वातावरण मिले तो मनुष्य की यही जिज्ञासा परत दर परत ज्ञान का भण्डार खोज लेती है, उसकी तमाम वैज्ञानिक खोजों तथा आविष्कारों को जन्म देती है।

विज्ञान की मूल प्रकृति है प्रेक्षण और प्रयोगों पर आधारित विश्लेषण और उसका लक्ष्य रहा है विश्व को अच्छी तरह समझने की चेष्टा करना। अपने व्यावहारिक पक्ष, जिसे हम प्रयोग विज्ञान, प्राविधि या टेक्नोलॉजी कहते हैं, द्वारा विज्ञान मानव समाज के हितों से सीधा जुड़ा है। अग्नि की खोज तथा पहिये के आविष्कार ने मानव की प्रागैतिहासिक काल से ही मदद की। शनैः शनैः उसके भण्डार में एक के बाद एक खोज तथा आविष्कार जुड़ते गये। विस्तृत अंतरिक्ष में बिखरे ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र तथा तारों का ज्ञान, समुद्र तल से लेकर पर्वत की ऊँचाइयों तक प्राप्त होने वाले खनिज, जीव-जन्तु तथा वनस्पतियों का ज्ञान, अणु-परमाणु की आंतरिक रचना तथा उसके अंदर सुसुप्त ऊर्जा की जानकारी तथा अनेक प्राविधियाँ आदि ये सब मिलाकर विज्ञान का विराट रूप प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार प्रकृति की कई प्रत्यक्ष व परोक्ष क्रियाएँ जानी समझी जा सकती हैं। जो कुछ आज अज्ञात है उसे भी समझने तथा उस पर प्रयोग करने की प्रक्रिया चल रही है, प्रयास जारी है।

विज्ञान ने अपनी विकास प्रक्रिया में विचार एवं कार्य के लिए जिस पद्धति को जन्म दिया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है—विज्ञान की चार मूल अपेक्षाएँ हैं :

(1) देश जाति, वर्ण, धर्म निरपेक्षता।

(2) संचित ज्ञान का सामाजिक स्वामित्व।

(3) प्रचार तथा बनावटीपन का सहारा न लेना।

(4) अंधश्रद्धा की अस्वीकृति।

आज इन अपेक्षाओं से जुड़े विचार को वैज्ञानिक दृष्टिकोण के रूप में समझा जाता है। सोचने का वैज्ञानिक तरीका प्रश्न प्रवृत्ति को महत्व देता है। विज्ञान में व्यवहार से वंचित सिद्धान्त बहुत देर नहीं जी सकता।

हर युग में मनुष्य ने अपनी जरूरत के आधार पर नये अध्ययन तथा आविष्कारों पर जोर दिया है। आज से चार पाँच सौ साल पहले यूरोप के कुछ राष्ट्र व्यापारिक जरूरतों के लिए समुद्र यात्रा पर जोर दे रहे थे—उसी समय उन्हें खगोल विद्या, चंद्रमा की गति, सूर्य की दूरी तथा अन्य बातें जानने की प्रबल आवश्यकता महसूस हुई। पिछली कुछ सदियों तथा इसी सदी के कुछ दशकों में विज्ञान के आधारभूत तथ्य तथा व्यावहारिक, दोनों ही पक्षों पर बहुत ही अधिक अनुसंधान हुए हैं। पिछली सदी के अंत तक आकाश मार्ग से यात्रा एक सुखद स्वप्न थी। यह कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि वह खुद अथवा बिना खुद गये, यंत्रों को चंद्रमा की भूमि पर उतार सकेगा। दूसरे उपग्रहों के नजदीक जाकर खोज-खबर ले सकेगा या कृत्रिम उपग्रहों द्वारा लिये गये चित्रों से ही पृथ्वी के अन्दर-बाहर की तमाम जानकारियाँ पा सकेगा।

किसी अन्य क्षेत्र को लीजिये—चिकित्सा क्षेत्र में आज इतना व्यापक अनुसन्धान हुआ है कि मानव शरीर के अन्दर रोगों के कारणों, सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवाणु तथा विषाणु की खोज निकाला गया है। शल्यक्रिया द्वारा

हृदय प्रत्यारोपण अब असम्भव बात नहीं रही। न जाने कितने असाध्य रोग साध्य हुए हैं और न जाने कितनों पर अभी अध्ययन जारी है। मनुष्य की जीवनशीलता बढ़ी है। कृषि क्षेत्र में नये प्रयोगों तथा बीजों के विकास से उपज बढ़ी है तथा यह सम्भावना असत्य नहीं कि यदि पृथ्वी पर दूने लोग भी हों तो उन्हें भोजन सुलभ कराया जा सकता है। हवाई जहाज की यात्रा एक सर्व सुलभ साधन है। गति की तीव्रता तो इस सदी की देन है—आज यह आश्चर्य नहीं कि सुबह दिल्ली से नाश्ता करके बंबई में अपना कार्य करके वापस घर पर ही खाना खाया जाय। यातायात की तेजी ने तो ध्वनि को भी पीछे छोड़ दिया है।

आज जहाँ एक ओर मानव ने लगभग सभी क्षेत्रों में इतना व्यापक ज्ञान विज्ञान-प्राविधि का विकास किया है कि कभी-कभी ऐसे प्रस्ताव भी आने लगते हैं कि आगे अनुसंधान पर कुछ वर्षों के लिए रोक लगा दी जाये। मानव आज तक उपलब्ध जानकारी तथा प्राविधि का प्रयोग कर आगे एक लम्बे समय तक सुविधापूर्ण सुखी जिन्दगी जी सकता है। दैनिक जीवन में उसकी रसोई से लेकर उसके खेत, खान तथा फैक्ट्री के काम तक में विज्ञान कदम-कदम पर मदद करता है। भोजन, स्वास्थ्य, मनोरंजन, गृह निर्माण, यातायात, दूर बैठे लोगों से वार्ता तथा साक्षात्कार, हजारों-लाखों किलोमीटर दूर ग्रह-उपग्रहों द्वारा लिये जाने वाले चित्र तथा जानकारी विज्ञान की ही उपलब्धियाँ है—जिनसे मानव जाति को अपार लाभ की सम्भावनाएँ हैं। पेट्रोलियम की खोज एक अभूतपूर्व घटना थी, उसने यन्त्रों, यातायात के साधनों, पदार्थ विज्ञान तथा रसायनों के निर्माण में विस्फोट-सा किया—कृत्रिम रेशे, उर्वरक तथा प्लास्टिक गुण वाले विभिन्न उत्पाद उसी की देन हैं—पर जैसे समुद्र मंथन में अमृत के साथ विष भी निकला, वैज्ञानिक अनुसंधान तथा प्रकृति के अनियंत्रित दोहन के परिणामस्वरूप आज अनेक समस्याएँ भी पैदा हो गई हैं। आज पेट्रोलियम, कोयले, धातु-अधातु खनिज का इस प्रकार दोहन हो रहा है कि अपनी जरूरत के लिए ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं उद्योग के लिए उनका खनन तथा उपयोग लगातार अनियन्त्रित रूप से जारी है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो वह दिन कोई बहुत दूर नहीं होगा जब पेट्रोलियम नाम की कोई प्राकृतिक वस्तु धरती पर नहीं होगी और उस समय सभ्यता व विकास के नाम पर बनाए हुए अनेक यंत्र, साधन, उर्वरक या वस्त्र केवल अजायबघर में देखने के लिए मिलेंगे।

विज्ञान का विकास शुरू में भले ही तटस्थ रहा हो पर उसके व्यावहारिक पहलू का विकास कभी तटस्थ नहीं रहा क्योंकि उसका सम्बन्ध सीधे मानव हित से रहा है। "हित" शब्द जुड़ते ही "निहित स्वार्थ" भी सक्रिय हो जाता है। "हित साधक विज्ञान" उन्हीं निहित स्वार्थों के हाथों कठपुतली बन गया जो उन पर अधिकार कर सका, उसने दूसरों को पास नहीं फटकने दिया। एक ओर जहाँ आधुनिक विज्ञान में मानव जीवन को अधिक सक्षम, सुविधापूर्ण तथा सुरक्षित बनाने की शक्ति है वहीं दूसरी ओर युद्ध विज्ञान के विकास ने अपनी विस्तृत खोजों तथा आविष्कारों के कारण सम्पूर्ण मानव जाति को एक क्षण में नष्ट कर देने की संभावना भी पैदा कर दी है। अनियन्त्रित कम्प्यूटर तथा रोबोट से अनेकों आदमी बेकारी का शिकार होंगे––बड़े-बड़े राष्ट्रों की प्रतिष्ठामूलक लड़ाइयों से मानवता नष्ट होगी––ऐसी भी परिस्थिति आ खड़ी हुई है।

पिछले कुछ दशकों में विज्ञान का अत्यधिक औद्योगिकरण भी हुआ है। फलतः उसका नाता अधिक से अधिक राजनेताओं, सैनिक शक्तियों तथा उद्योगपतियों से जुड़ा है। सत्ता, प्रतिष्ठा तथा धन की भूख ने प्रकृति को पूरी तरह चूस लिया है। आज नदी, पहाड़ तथा जंगल प्रकृति के पर्यावरणीय संतुलन के लिए नहीं अपितु किसी राष्ट्र या उद्योगपति के बैंक बैलेंस के रूप में देखे जा सकते हैं। आज की कमाई तथा सुख सुविधाओं को स्वयं भोगने की प्रवृत्ति ने मानव जाति के भविष्य को भी दाँव में लगा दिया है। आज विज्ञान का अनुसंधान इतना व्ययसाध्य, विशेषज्ञों और महँगे सूक्ष्म यंत्रों का दास बन गया है कि कुछ धनी राष्ट्रों ने उस पर एकाधिकार कर लिया है। उन क्षेत्रों में जहाँ विश्व की सत्तर प्रतिशत आबादी है पूरे अनुसंधान का केवल लगभग चार प्रतिशत कार्य हो रहा है।

गरीब देशों के लिए तो विज्ञान केवल आतंक तथा आश्चर्य की वस्तु है। आज विज्ञान की खोजों में से यह चुनना कठिन है कि अमुक मानव हित में है अमुक नहीं। देखा यह जाता है कि जैसे ही विज्ञान की कोई खोज या उपलब्धि प्रकाशित होती है निहित स्वार्थ उसे हथिया लेता है तथा उससे अपने लिए सामाजिक, सामरिक तथा आर्थिक लाभ उठाता है। आज परमाणु ऊर्जा के विभिन्न विकासकारी उपयोग विदित होने के बावजूद विश्व में परमाणु अस्त्रों के विकास तथा जखीरेबाजी की होड़ चल रही है। वैसे यह बताना यहाँ तर्क-संगत ही है कि परमाणु ऊर्जा का उपयोग हर तरह से समाज के लिए बहुत महँगा है। परमाणु ऊर्जा को उत्पन्न करने का खर्च बहुत ज्यादा है। परमाणु इकाई की कार्यशीलता के समय व उसके बाद उसके रख-रखाव में अनेक वर्षों होने वाला खर्च उसके द्वारा प्राप्त लाभ की अपेक्षा हजार गुना अधिक है। इसी कारण अब विकसित राष्ट्र परमाणु ऊर्जा इकाइयाँ लगाने से कतराते हैं।

जिस हरित क्रांति ने भोजन की समस्या का हल प्रस्तुत किया है उसी का इस्तेमाल कर विश्व के कुछ राष्ट्र अधिक शक्तिशाली बन गये हैं। आज भोजन एक हथियार के रूप में इस्तेमाल हो रहा है। कुछ बड़े किसान तथा उद्योगपति संपन्न हो रहे हैं तथा छोटे गरीब देश तथा व्यक्ति भरपूर लूटे जा रहे हैं। यंत्रीकरण की मृगतृष्णा ने अनेक देशों को कृषि की अपनी प्राकृतिक पद्धति से हटाकर, उर्वरकों तथा कृषि रसायनों पर आधारित एक ऐसी पद्धति में ला पटका है जिसने छोटे गरीब राष्ट्रों को धनी तथा विकसित राष्ट्रों के हाथों बेंच सा दिया है। अपने देशवासियों को भोजन तथा सुविधा देने का सुखद स्वप्न लेकर चलने वाले लोग भी जाने अनजाने दूसरों के गुलाम बन गये हैं। परमाणु अस्त्रों की व्यापक होड़ ने प्रशान्त महासागर स्थित छोटे-छोटे द्वीपों तथा वहाँ के निवासियों की जिन्दगी नर्कपूर्ण बना दी है—अधिकांश लोग मर रहे हैं।

विज्ञान का मानव जाति के लाभ के लिए प्रयोग होने की दशा आज सामाजिक ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन की अपेक्षा रखता है। जब तक वैज्ञानिक की सामाजिक समझ व्यापक नहीं होगी कि वह जनसाधारण से जुड़कर उसके हित अहित को समझे और अपना स्वार्थ सारे समाज के स्वार्थ के साथ जोड़े, जब तक ऐसी सामाजिक व्यवस्था नहीं होगी कि विज्ञान द्वारा विकसित प्राविधि पर जनसामान्य का नियंत्रण हो, जब तक प्राविधि का रूप सरल करके उसे "रहस्य पिटारा" बनने से रोका नहीं जायेगा और जब तक जनसाधारण की समझ तथा उसका विश्वास बढ़ाने का लगातार प्रयास नहीं होगा, तब तक विज्ञान सही रूप में मानव की सेवा में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता।

लगभग सभी इस बात से सहमत हैं कि विज्ञान अच्छा सेवक है पर बुरा स्वामी, अगर जिन्दा रहना है तो विज्ञान की दासता से बचना होगा। यही वह मूल मंत्र है जिसके आधार पर यह तय किया जा सकता है कि विज्ञान मानव जाति की सेवा कर सकेगा। □

वर्ष 1983 का डॉ० गोरख प्रसाद पुरस्कार घोषित

1. डॉ० ओम प्रभात (रोहतक)
2. श्री नरेश बाली (गौहाटी)
3. डॉ० बिमलेश चन्द्र श्रीवास्तव (इलाहाबाद)

हिमयुग का आगमन कैसे होता है ?

डॉ० दुर्गा पद कुइति

बी० 30/77 ए० नगवा, लंका, वाराणसी-221005

अत्याधुनिक विज्ञान के युग में अपनी असीमित संहारक क्षमता के बावजूद भी हम पृथ्वी के व्यवहार को समझ पाने में असमर्थ हैं। इन्हीं असमर्थताओं में पृथ्वी पर आने वाले हिमयुग भी हैं। पृत्वी पर उपलब्ध साक्ष्यों से यह प्रमाणित हुआ है कि हिमयुग अब तक तीन बार आ चुका है। इस युग में अधिकांश स्थल भाग बर्फ से हजारों वर्ष ढके रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि निम्न ताप-मान के कारण शीत-तापी जन्तु एवं असमर्थ उष्ण रुधिर जन्तु तथा वनस्पतियाँ नष्ट हो गयीं। हिमयुग का प्रथम प्रमाण 1799 में साइबेरिया के बर्फीले क्षेत्रों से मिले **मैमुथ** (आदि हाथी) के जीवाश्म से हुआ है। तब से इस क्षेत्र में तथा अन्य क्षेत्रों में काफी संख्या में जीवाश्म मिले।

पृथ्वी के वायुमण्डलीय ताप में गिरावट (थोड़ी या अधिक) इस पर काफी घातक प्रभाव छोड़ती है। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वायुमण्डलीय ताप में 0·5डिग्री की कमी समस्त महासागरों को बर्फ में बदलने के लिए पर्याप्त है। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि अतीत में आये तीनों हिमयुगों में सम्पूर्ण पृथ्वी हिम से आच्छादित थी। वर्तमान में उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुवों पर लगातार बर्फ बनी रहती है जिसकी औसत मोटाई 2000 मीटर से कम नहीं है।

आज हमारे पास जो कुछ भी अतीत में पृथ्वी पर आये हिमयुग के प्रमाण हैं उनसे बहुत सारे प्रभाव तो अधूरे ही रह गये हैं। यह भी असम्भव नहीं है कि एक हिम युग के सारे प्रमाण दूसरे हिमयुग में नष्ट हो गये हों। किन्तु अब तक पृथ्वी पर तीन हिमयुग आ चुके हैं। भौमिकीय शब्दावली के अनुसार प्रथम हिमयुग कैम्ब्रियन युग से पूर्व, द्वितीय हिमयुग पर्मोकर्बोनिफेरस एवं तृतीय प्लिस्टोसीन समय में आया था। सबसे ताजा (प्लिस्टोसीन) हिमयुग का विस्तृत अध्ययन ब्रिटेन तथा आल्प्स में किया गया है। इन स्थानों पर पाये गये निक्षेपों के आधार पर वैज्ञानिकों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि एक हिमयुग अनेक छोटे-छोटे हिमकालों का प्रमाण है। आल्प्स के उत्तर की ओर गोलाश्म, मृत्तिकाओं तथा कंकड़ों की चार तहें विद्यमान हैं, जिससे हिमयुग में चार चक्र के होने का संकेत मिलता है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दोनों गोलार्द्धों में प्लिस्टोसीन हिमयुग लगभग एकसाथ हुआ। पर्मोकार्बो-निफेरस हिमयुग के अनेक प्रमाण भारत में मिलते हैं। उड़ीसा के तालचीर क्षेत्र में पाये जाने वाले टिलाइट इसके प्रमाण हैं। ये टिलाइट राजस्थान, मध्य प्रदेश एवं हिमालय के तराई क्षेत्रों के अनेक स्थानों पर मिलते हैं। हिमालय क्षेत्र में हिमयुग की दो अवस्थायें रही हैं जो इससे प्रमाणित हो जाती हैं।

अनेक वैज्ञानिकों ने हिमयुग के आने के कारणों के विषय में अध्ययन किया। ध्रुवों के अध्ययन से पता चलता है कि ये एक स्थान पर स्थिर नहीं हैं। इनकी स्थिति में परिवर्तन होता रहता है। प्लिस्टोसीन हिमकाल में इयो-सीन युग तक उत्तरी ध्रुव (आर्कटिक सागर) तथा दक्षिणी ध्रुव (अण्टार्कटिका) पर नहीं थे जिस कारण ध्रुवीय क्षेत्रों का ताप कम था। फलस्वरूप हिम का प्रसार टर्शियरी युग के बाद प्लिस्टोसीन काल में आरम्भ हुआ। कुछ विद्वानों ने ज्वालामुखी से निकले राख को हिमकाल के आने का कारण बताया है। ज्वालामुखी उद्गार के साथ प्रचुर परिमाण में राख भी निकलती है जिसके वायु-

मण्डल में मिलने से सौर उष्मा के पृथ्वी तक आने का रास्ता अवरुद्ध हो जाता है। परिणाम यह होता है कि पृथ्वी की जलवायु अत्यधिक शीतल हो जाती है एवं हिम-काल का आगमन होता है। सागर में गर्म एवं ठण्डी धाराओं का निरन्तर प्रवाह एक निश्चित दिशा में होता रहता है जिससे तापमान लगभग एक सा बना रहता है। इसके प्रवाह में परिवर्तन होने से तापमान में अन्तर आ जाता है। सागरीय गर्म धारायें जो ध्रुवों की ओर प्रवाहित होती हैं, उनका मार्ग अवरुद्ध होने से ध्रुवीय क्षेत्रों का तापमान और भी अधिक गिर जाता है तथा हिम-चादर का विस्तार होने लगता है। पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद से ही उथल-पुथल होती रही है। एक ही स्थान पर कई बार गढ़े पर्वतों में परवर्तित हो गये पर्वत जब सामान्य हिम रेखा के ऊपर उठ जाते हैं तो उनके शिखरों पर हिम का जमना स्वाभाविक है। इस प्रकार पर्वत निर्माण के समय अनेक पर्वतों पर हिम के जमने से हिम की मात्रा तथा आयतन में निरन्तर वृद्धि होती रहती है जिसके परिणामस्वरूप हिमनद तथा हिमचादर का चारों ओर विस्तार होता है तथा हिम काल का आगमन होता है।

कुछ वैज्ञानिकों ने महाद्वीपों के विस्थापन को हिम-काल के आने का कारण बताया है। सभी महाद्वीप एक साथ कार्बोनिफेरस युग तक जुड़े हुए थे। इसे **पैंजिया** के नाम से जाना जाता है। पैंजिया के चारों ओर **पेंथालेसा** नाम का सागर था। उस समय इंग्लैंड भूमध्य रेखा पर था। उस समय जो हिमकाल आया उससे दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, मैडागास्कर, भारत, आस्ट्रेलिया, अण्टार्कटिका हिमाच्छादित हो गये। कालान्तर में पैंजिया के टूटने से सभी महाद्वीप एक दूसरे से अलग हो गये। चैम्बरलेन महोदय की परिकल्पना के अनुसार हिमकाल के लिए वायुमण्डल में उपस्थिति कार्बन डाइ ऑक्साइड उत्तरदायी है। उनके अनुसार वायुमण्डल में यह गैस पृथ्वी से उष्मा को बाहर जाने से रोकती है। यह गैस जब कम हो जाती है तो पृथ्वी से बाहर जाने वाला ताप आसानी से वायुमण्डल पार कर जाता है। इस प्रकार तापक्रम में कमी होने से हिमकाल का आविर्भाव होता है। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार सौर विकिरण में भौमिकीय काल में लगातार परिवर्तन होता रहा है। सूर्य-धब्बों (जिसके कारण सूर्य से पृथ्वी को मिलने वाली उष्मा की मात्रा में कमी हो जाती है) के कारण पृथ्वी के तापमान में कमी हो जाती है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि सूर्य की नाभि के विस्तार एवं संकुचन के कारण सौर विकिरण कि मात्रा में परिवर्तन होता है। ये वैज्ञानिक सूर्य-धब्बों में वृद्धि तथा इसके नाभि में परिवर्तन को हिमकाल के आगमन का कारण मानते हैं।

सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन से प्रतीत होता है कि हिमकाल किसी एक कारण से नहीं आता। इसके आने के लिए अनेक परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। सबसे महत्व-पूर्ण बात यह है कि कोई भी विचारधारा इसके आने के कारणों को पूर्णरूप से स्पष्ट करने में सक्षम नहीं है। अब तक वैज्ञानिकों के अनुसार तीन हिमकाल आये परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि ये तीनों एक निश्चित समय (लगभग 250—300 मिलियन वर्ष) के पश्चात् प्रभावशील हुए। इसी कारण वैज्ञानिकों ने किसी ऐसी प्राकृतिक घटना का पता लगाने का प्रयास किया जो इसी निश्चित अवधि में घटी हो। कोई ऐसा ठोस कारण नहीं मिलता जिससे यह निश्चित रूप से कहा जा सके कि हिमकाल इसके परिणाम हैं—जैसे पर्वत का निर्माण, सौर विकिरण में परिवर्तन, गैलेक्सी की परिक्रमा आदि कोई भी निश्चित अवधि में नहीं हुआ। □

पश्चिमी भारत के आदिवासियों का कल्पवृक्ष : भेरली-मॉड

डॉ० आर० सी० श्रीवास्तव

भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण, इलाहाबाद-211002

आधुनिक सभ्यता के अत्यधिक विकास के बाद भी संसार के बहुत से भागों में आज भी ऐसे लोग हैं जिनका इस विकास से कोई सम्पर्क नहीं है। हमारे देश के भी सुदूर अंचलों में ऐसी अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं जो अपनी प्राचीन जंगली परम्पराओं में आज भी जकड़ी हुई हैं। अंडमन-नीकोबार एवं पूर्वोत्तर भारत के दुर्गम जंगलों से लेकर महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, बिहार इत्यादि के पहाड़ी या मैदानी भागों में ऐसी जनजातियाँ आज भी पल रही हैं। भाषा आदि की विषमता के कारण जहाँ इन लोगों से सम्पर्क स्थापित कर पाना अपने में एक विकट समस्या है वहीं पेड़-पौधों के विभिन्न अज्ञात उपयोग का ज्ञान प्राप्त करना एक अत्यन्त सुखद अनुभव है।

प्रस्तुत लेख में पश्चिम भारत की कुछ जनजातियों द्वारा एक विशेष प्रकार के पाम (खजूर की तरह का पौधा) के विभिन्न उपयोगों का वर्णन है।

भारतीय संस्कृति में 'कल्पवृक्ष' का नाम बड़े ही आदर से लिया जाता है। इसे 'देव-वृक्ष' कहते हैं अर्थात् ऐसा वृक्ष जिससे सभी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं। महाराष्ट्र क्षेत्र के लगभग पाँचवें भाग में (पहाड़ी भागों में) तथा गोवा तक बहुतायत से पाया जाने वाला, 20-25 मीटर लम्बा, खूबसूरत 'ताड़' कुल का पौधा "**कैरियोटा यूरेन्स**" भी इसी प्रकार का एक पौधा है जो स्थानीय 'कथोडी', 'वार्ली', 'ठाकुर' तथा 'महादेव-कोली' नामक जनजातियों के लिए 'कल्पवृक्ष' का ही कार्य करता है क्योंकि मात्र इसी एक वृक्ष से ही उनके जीवन की लगभग सभी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। सर विलियम डब्लू० राक्सबर्ग ने तो यहाँ तक लिखा है कि अकाल के दिनों में इसी वृक्ष ने वहाँ के लोगों के जीवन की रक्षा की।

प्रसिद्ध वनस्पतिज्ञ लीनियस ने इसे 'पादप जगत् का राजकुमार' की संज्ञा दी है क्योंकि इसे विभिन्न नाम दिए गए हैं। भाषाओं की जननी संस्कृत में इसे 'ध्वाज वृक्ष' कहते हैं अर्थात् वह वृक्ष जिससे जीवन की सभी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। प्रागैतिहासिक काल में यह वृक्ष भारत में बहुतायत से पाया जाता था। अंग्रेजी भाषा में इसे 'फिशटेल पाम', 'वाइन पाम', 'इण्डियन सैगो पाम" 'बास्टर्ड पाम', 'किटुलपाम', या 'जगरी पाम' इत्यादि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। मराठी भाषा में इसे 'भेरली-मॉड, कहते हैं। 'भेरली' शब्द संकेत करता है मस्तिष्क की अनियंत्रित अवस्था का तथा 'मॉड' का तात्पर्य है 'नारियल की तरह का कोई वृक्ष'। इसी प्रकार गुजराती भाषा में इसे 'शिव-जटा' या 'शंकर-जटा' के नाम से संबोधित किया जाता है क्योंकि यह भगवान शिव की लटों की तरह प्रतीत होता है। 'कोन्कन' क्षेत्र में इसे भूनकर सुपारी की तरह प्रयोग करते हैं। फलों के आकार के आधार पर ही इसे अर्धसुपारी नाम भी दिया गया है। 'घाट' क्षेत्र में इसे 'सारे-मॉड' अर्थात शराब वाला पाम कहते हैं।

कैरियोटा शब्द वस्तुतः ग्रीक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है खजूर पाम की एक किस्म जिससे ज़हरीली एवं मस्तिष्क पर तुरन्त प्रभाव डालने वाली शराब प्राप्त होती है और **यूरेन्स** शब्द का प्रयोग, कच्चे फलों के उपयोग से होने वाली जलन व वेदना के कारण किया गया है।

इन सब तथ्यों के बावजूद स्थानीय लोग इसे 'दैवी

[शेष पृष्ठ 19 पर]

विद्यार्थियों, शिक्षकों एवं छात्रों को कम मूल्य पर उपलब्ध हमारे लब्ध प्रतिष्ठित प्रकाशन

शैवाल	रु० 22·50	कास्मिक किरणें	रु० 9·00
पौधों का जीवन	रु० 5·00	प्रकाश का विद्युत चुम्बकीय सिद्धांत	रु० 15·50
वनस्पतियों के स्वलेख	रु० 8·50	विद्युत एवं चुम्बकत्व के सिद्धांत	रु० 19·00
अपृष्ठवंशीय प्राणी	रु० 19·00	ऊष्मा भौतिकी	रु० 17·50
द्रव्य के गुण	रु० 8·00	ऊष्मा और उसके मूल सिद्धांत	रु० 17·00
प्रायोगिक भौतिकी	रु० 12·00	प्रकाश संश्लेषण	रु० 8·00
ध्वनि और कम्पन	रु० 19·00	ऊष्मा और ऊष्मागतिकी	रु० 20·00
एक्स किरण	रु० 9·00	उच्च प्रायोगिक भौतिकी	रु० 25·00
भौतिकी रसायन	रु० 11·00	प्रत्यास्थता का सिद्धांत	रु० 14·50
अकार्बनिक रसायन	रु० 14·00	विद्युत एवं चुम्बकत्व	रु० 27·50
प्रायोगिक रसायन	रु० 12·00	विद्युत के सिद्धांत	रु० 26·50
प्रकाश रसायन	रु० 11·00	भारी हाइड्रोजन	रु० 10·25
कार्बनिक रसायन	रु० 29·00	मुक्त मूलक	रु० 10·00
बीजगणित	रु० 7·50	रसायन गणित	रु० 28·00
त्रिकोणमिति	रु० 6·00	अणुस्पेक्ट्रमिकी	रु० 17·00
गति विज्ञान	रु० 8·00	विटामिन रसायन	रु० 15·50
अवकलन गणित	रु० 18·00	कार्बनिक रसायन भाग—2	रु० 23·50

इनके अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों पर 500 से अधिक ग्रंथ, सूचीपत्र निःशुल्क, आर्डर के साथ पुस्तक का मूल्य मनीआर्डर से भेजें। बी० पी० पी० नहीं भेजी जायेगी।

सम्पर्क सूत्र

निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
विज्ञान परिषद भवन,
महर्षि दयानन्द मार्ग,
इलाहाबाद।

पहले भारतीय की अंतरिक्ष उड़ान

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

3 अप्रैल 1984

आखिर वह घड़ी आ गई। भारतीय समय के अनुसार सायंकाल 6 बजकर 38 मिनट पर 50 मीटर लम्बा राकेट मनोरम कजाखिस्तान के बैंकोनूर स्थित अंतरिक्ष केन्द्र से कर्णभेदी गड़गड़ाहट और सुर्ख चमकीले प्रकाश के बीच धुयें के अम्बार छोड़ता हुआ आकाश की दिशा में उड़ चला। कुछ पलों को सारा दृश्य धुयें में छिप गया किन्तु थोड़ी ही देर बाद जब श्वेतनीलाभ अंतरिक्षयान सोयूज टी-11 पुनः दिखाई देने लगा तो रुकी हुई साँसें फिर सामान्य हो उठीं। उड़ान बिल्कुल पूर्व नियोजित निर्देशों के अनुसार चल रही थी। इस उड़ान के साथ भारत ने अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में ऐतिहासिक कदम बढ़ाया क्योंकि यान के तीन यात्रियों में भारतीय वायुसेना के स्क्वाड्रन लीडर राकेश शर्मा भी सम्मिलित हैं जिन्हें प्रथम भारतीय अंतरिक्ष यात्री होने का गौरव प्राप्त हुआ है। इस अभियान के साथ ही भारत अंतरिक्ष क्लब का 14वां सदस्य बन गया है और अब अंतरिक्ष पर भारत का भी हस्ताक्षर देखा जा सकता है। 8 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड की गति से चलता हुआ यह अंतरिक्षयान 9 मिनट बाद बाह्य अंतरिक्ष में अपनी कक्षा में पहुँच गया। इस अंतरिक्षयान में राकेश शर्मा के सहयोगी हैं सोवियत संघ के कमाण्डर यूरी वॉसिलेविच मैलिशेव तथा इंजीनियर गेन्नाडी मिखाइलोविच स्त्रेकालोव।

4 अप्रैल 1984

आज रात 8 बजकर 2 मिनट पर बिना किसी कठिनाई के अपनी 18वीं परिक्रमा में अंतरिक्षयान सोयूज टी-11 और पूर्व स्थापित अंतरिक्ष प्रयोगशाला सेल्यूत-7 का सफल संयोजन हो गया। सेल्यूत-7 अंतरिक्ष में स्थापित एक बड़ी प्रयोगशाला जैसी है जिसमें अंतरिक्ष संबन्धी प्रयोगों के आधुनिकतम उपकरण लगाये गये हैं। इसके एक ओर पहले से 8 फरवरी 1984 को अंतरिक्ष में जाने वाला सोयूज टी—10 जुड़ा हुआ था। संयोजन से पूर्व सेल्यूत—7 का परिक्रमापथ थोड़ा परिवर्तित कर दिया गया था जिससे सोयूज टी—11 के जुड़ते समय कोई कठिनाई न हो। संयोजन स्थल को भली प्रकार सील किया गया ताकि दोनों तरफ का वातावरण आपस में मिलने न पाये। इस प्रक्रिया में लगभग 3 घंटे लगे। इसके पश्चात् सर्वप्रथम राकेश शर्मा ने 7 मीटर लम्बे सुरंग जैसे मार्ग से मछली की तरह तैरते हुये सेल्यूत—7 में प्रवेश किया। फिर उनके पीछे आये दोनों रूसी सहयात्री। सेल्यूत—7 में पिछले 55 दिनों से रह रहे तीन रूसी अंतरिक्ष यात्रियों ने उनका स्वागत किया। 11 बजकर 18 मिनट पर यह जुड़ा हुआ यान भारत के ऊपर से भी गुजरा।

5 अप्रैल 1984

आज राकेश शर्मा और उनके 5 रूसी सहयोगियों ने अपने-अपने निश्चित प्रयोग किए। शर्मा ने कुछ चुने हुये योगासन—प्राणायाम, स्थितिकरण, पादहस्तासन, उष्ट्रासन, परिव्रतत्रिकोणासन किए। रूसी यात्रियों ने कुछ दूसरे प्रकार के व्यायाम किए। शर्मा ने 'आप्टो-काइनेक्स' नामक एक अन्य प्रयोग किया जिसके द्वारा अंतरिक्ष यात्रियों की एक विशेष बीमारी 'मोशन सिकनेस'

के समाधान की संभावना है। सायंकाल 8 बजकर 5 मिनट पर श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने राकेश शर्मा से पहले हिन्दी में और फिर अंग्रेजी में लगभग 10 मिनट तक बातचीत की। श्रीमती गाँधी ने उन्हें और उनके सहयोगियों को सारे देश की तरफ से बधाई दी और सोवियत संघ के सहयोग की सराहना की। उन्होंने यह भी कहा कि यह भारत-रूसी अभियान अंतर्राष्ट्रीय मैत्री और विश्व शान्ति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। श्रीमती गाँधी द्वारा यह जिज्ञासा करने पर कि 'आपको वहाँ से भारत कैसा लग रहा है ?' शर्मा ने उत्तर दिया, 'जो मैं बिना किसी झिझक के कह सकता हूँ, सारे जहाँ से अच्छा।' उन्होंने यह भी बताया कि उनका और उनके साथियों का स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक है, कोई परेशानी नहीं है और जरूरत से ज्यादे ही खा रहे हैं।' इस पर श्रीमती गाँधी हँस पड़ीं।

6 अप्रैल 1984

आज राकेश शर्मा ने अपने योगासन के प्रयोगों पर संतोष प्रकट किया। उन्होंने अनेक प्रकार की अंतरिक्ष अस्वस्थता दूर करने के लिए योगासन किये। और शरीर के विभिन्न अंगों की क्रियाओं पर अंतरिक्ष के वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है इस पर भी प्रयोग किये। दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अंतरिक्ष से शक्तिशाली कैमरों द्वारा भारत भूमि के छायाचित्र लेना था। इस छायाचित्र कार्यक्रम को 'टेरा' प्रयोगों का नाम दिया गया है क्योंकि इसके द्वारा भारत की खनिज सम्पदा के नये स्रोतों की विस्तृत जानकारी प्राप्त होने की आशा है। सेल्यूत—7 द्वारा एक परिक्रमा में खींचे गये छायाचित्रों से जितनी जानकारी मिलेगी उतनी पारम्परिक तरीके से कई साल के सर्वेक्षण से प्राप्त होगी। इन चित्रों के आधार पर भूमि की उर्वरता, जल के उपयोग और कृषि विकास सम्बन्धी योजनाएँ तैयार करने में बहुत सहायता मिलेगी। इन चित्रों से खनिज सम्पदा, तेल-गैस, वन और मछलियाँ कहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, इसका भी पता चलेगा। इस कार्य में रूसी सहयात्रियों ने भी राकेश शर्मा की सहायता की। एक दूर-दर्शन रिपोर्ट में राकेश शर्मा ने सेल्यूत—7 के विभिन्न भागों का परिचय दिया और अनेक रोचक बातें बताईं जैसे वे कैसे खाना गर्म करते हैं, किस प्रकार दीवार या छत से टिककर कहीं भी सो सकते हैं। किस प्रकार भारहीनता (जीरो ग्रैविटी) के कारण हवा में उल्टे लटके हुए बात-चीत कर सकते हैं और किस प्रकार बचा हुआ सामान बाहर फेंक सकते हैं आदि-आदि।

7 अप्रैल 1984

आज भारत के ऊपर से गुजरते हुए अंतरिक्ष यात्री शर्मा ने मध्य बर्मा के जंगलों में लगी भीषण आग देखी और उसी आधार पर दिल्ली के माध्यम से यह समाचार बर्मा को दिया गया। शर्मा ने जंगलों से उठता हुआ सफेद और भूरा धुआँ देखा। यह दावानल लगभग 20-30 किलोमीटर की दूरी पर फैला था। अंतरिक्षयात्रियों ने आज सम्बाददाताओं द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भी दिए। यह पूछे जाने पर कि धरती पर अनेक धर्म, मत, देश और भाषायें है और आप को वहाँ से धरती कैसी लगती है। राकेश शर्मा ने बताया कि वहाँ से किसी प्रकार की सीमा नहीं दिखती। सब कुछ एक दिखता है। इस कारण यहाँ से एकता (Oneness) की अनुभूति होती है।

सोयूज टी—11 के तीनों यात्रियों ने 320 तस्वीरें खीचीं। इन्हें लेने के लिए एम० के० एफ० 6 और के० ए० टी० ई० 140 कैमरे प्रयोग में लाये गये। एवरेस्ट के ऊपर से गुजरते हुए उन्होंने भारतीय पर्वतारोहियों के एक दल को चढ़ाई करते हुए देखा, इसकी सूचना उन्होंने कालिनिग्राद नियन्त्रणकक्ष को दी। सेल्यूत—7 अंतरिक्ष में लगभग 300 कीलोमीटर ऊपर स्थित है। वहाँ से लिए गये एक छायाचित्र में पृथ्वी का 140 किलोमीटर क्षेत्र आ जाता है। अपने साथियों की मदद से वे अब तक 20 प्रतिशत भारतीय भूमि की तस्वीरें ले चुके हैं।

8 अप्रैल 1984

आज शर्मा द्वारा यह सूचित किया गया कि वे लगभग 40 प्रतिशत भारतीय भू-भाग के 937 छायाचित्र खींच

चुके हैं। सिल्वर-जर्मेनियम धातुओं को गला कर एलाय (Alloy) बनाने वाली भट्ठी में आज कुछ खराबी आ गई थी जिसे बाद में ठीक कर लिया गया। शून्य गुरुत्वाकर्षण के कारण वहाँ बनाये गये धातुओं के आकार (गोले, चिप्स आदि) धरती की अपेक्षा बेहतर (Perfect) बनेंगे।

9 अप्रैल 1984

आज प्रश्नोत्तर के दौरान राकेश शर्मा ने अपने योगासन के प्रयोगों और कैमरों के विषय में जानकारी दी। उन्होंने यह भी बताया कि शून्य गुरुत्वाकर्षण के कारण वहाँ काम करने में दोगुना समय लगता है। जो कार्य धरती पर 10 मिनट में किए जा सकते हैं उन्हें अंतरिक्ष में सम्पादित करने पर 20 मिनट लग जाते हैं। किन्तु कुछ सुविधायें भी हैं क्योंकि भारहीनता के कारण किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान तक बिना किसी बल प्रयोग के सरलता से ले जाया जा सकता है। शर्मा को कैमरा देने के लिए उनके एक साथी ने कैमरा शर्मा की दिशा में करके छोड़ दिया और वह तैरता हुआ अपने आप शर्मा तक पहुँच गया। अंतरिक्ष में राकेश शर्मा और उनके साथियों का स्वास्थ्य अब तक बहुत ठीक रहा और उनकी भूख पर कोई असर नहीं पड़ा है। भारतीय अनन्नास का रस और आम का रस तथा आम की जेली उनके साथी चाव से खा रहे हैं। ये सामान भारत में खाद्य अनुसंधान संस्थान, मैसूर द्वारा बनाये गये थे। शर्मा जो कैमरे अंतरिक्ष में ले गये हैं वे भी भारत में ही निर्मित हैं।

उनके द्वारा संपादित चिकित्सा सम्बन्धी प्रयोग भी सफल रहे। उन्होंने आज थोड़ी थकान की सूचना दी पर वह अधिक श्रम के कारण थी। उनसे जब अनुरोध किया गया कि वे वहाँ से चन्द्रमा और सूर्य के छायाचित्र ले आयें तो उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त की और कहा कि उनके पास वह विशिष्ट अतिरिक्त फिल्में नहीं हैं। उन्हें वहाँ धरती से इतर, किसी सभ्यता का संकेत नहीं मिला है और न तो उन्हें कोई आलौकिक वस्तु या घटना देखने को मिली है। उन्होंने यह भी बताया कि अंतरिक्ष में दिन और रात धरती की तरह नहीं होता। हर 45 मिनट बाद वहाँ दिन और रात बराबर आते जाते रहते हैं। उनसे जब दुबारा अंतरिक्ष में जाने के सम्बन्ध में उनकी इच्छा पूछी गई तो उन्होंने उत्तर दिया कि वे चाहते हैं कि अब पहले रवीश मलहोत्रा (उनके सहयोगी ट्रेनी) अंतरिक्ष में हो आयें तो उन्हें प्रसन्नता होगी। उनके भविष्य के कार्यक्रम के विषय में जिज्ञासा किये जाने पर शर्मा ने भारत लौटकर पुनः अपनी वायुसेना के रोमांचक जीवन में लौट जाने की इच्छा व्यक्त की है।

10 अप्रैल 1984

आज रात 8 बजकर 30 मिनट पर भारतीय दूरदर्शन के माध्यम से पता चला कि राकेश शर्मा और उनके सहयात्रियों ने अपने सभी प्रयोग पूरे कर लिए हैं और वापस आने की तैयारी कर रहे हैं। उन्होंने भारतभूमि के 9 के स्थान पर 11 बार छायाचित्र उतारे। रीलें निकाल कर एक डिब्बे में रख लीं। योगासन, चिकित्सा, टेरा प्रयोग किए, सिल्वर और जर्मेनियम को गलाकर मिश्र धातु से कुछ वस्तुएँ बनाई। शर्मा ने बताया कि वापस धरती पर आने के बाद ही उनके प्रयोगों की सफलता का ठीक-ठीक पता चलेगा। उन्होंने अपने रूसी सहयात्रियों द्वारा मैसूर खाद्य संस्थान द्वारा बनाये गये खाद्य पदार्थों के बहुत पसंद किए जाने की बात भी बताई। आज का पूरा दिन अंतरिक्ष यात्रियों ने मुख्यतः सोयूज टी—10 नामक अपने वापसी अंतरिक्षयान के उपकरणों के निरीक्षण में लगाया।

11 अप्रैल 1984

आज शाम 4 बजकर 19 मिनट 20 सेकेण्ड पर मास्को से लगभग 5,600 कि०मी० दूर अर्कालिक नामक स्थान पर सोयूज टी—10 अंतरिक्षयान से राकेश शर्मा और उनके दोनों साथी सकुशल वापस आ गये। इस अभियान से वैज्ञानिक अनुसंधानों की दिशा में महत्वपूर्ण परिणाम प्राप्त होंगे। भारत इससे एक सर्वथा नये युग में प्रवेश कर गया है। अंतरिक्ष यात्रियों को बधाई। □

नयी पत्रिकायें

(1) संस्थान समाचार (त्रैमासिक)

सम्पादक : डॉ० प्रेमचन्द्र मिश्र

प्रकाशक : मोतीलाल नेहरू फार्मर्स ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट फूलपुर, इलाहाबाद

मुद्रक : देश सेवा प्रेस, 10 सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

वर्ष : दिसम्बर 1983 (प्रवेशांक)

'संस्थान समाचार' कृषकों को वैज्ञानिक ढंग की खेती के विषय में शिक्षित करने के ध्येय से प्रकाशित की गई है और पत्रिका का प्रवेशांक देखने से लगता है कि पत्रिका अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में सफल होगी। इस पत्रिका में कुल 7 लेख हैं जो कृषि विज्ञान से संबंधित नवीन जानकारी सरल भाषा में देते हैं। सभी लेख सामयिक और ज्ञानवर्धक हैं चाहे वह बीजोत्पादन, उर्वरक, गेहूँ की खेती, सब्जियों पर हों या दुधारू पशुओं के लिए चारे की व्यवस्था पर हों। लेखों का चयन अच्छा है, छपाई सुन्दर है और कवर आकर्षक है। मुद्रण की कुछेक भूलें रह गई हैं। कुल मिलाकर पत्रिका का प्रवेशांक बढ़िया है और इसके लिए इसके सम्पादक डॉ० प्रेमचन्द्र मिश्र बधाई के पात्र हैं।

(2) गंडक परियोजना पत्रिका

सम्पादक : आई० पी० सिंह, दयाशंकर लाल श्रीवास्तव, डॉ० जी० सी० गुप्ता एवं विद्यासागर तिवारी

प्रकाशक : गंडक समादेश क्षेत्रविकास परियोजना का जन सम्पर्क प्रभाग, गोरखपुर

मुद्रक : पर्यवेक्षक प्रेस, बक्शीपुर, गोरखपुर

आलोच्य 'गंडक परियोजना पत्रिका' का दिसम्बर 1983 अंक इसके पूर्ववर्ती अंकों की भाँति कृषकों एवं प्रसार कार्यकर्त्ताओं के लिए प्रकाशित की गयी है। इस अंक में कुल 9 लेख हैं। लेखों की भाषा सरल है और नवीन जानकारियों से युक्त भी। पत्रिका अपने उद्देश्य में सफल है। इसके लिए प्रकाशक, लेखक, सम्पादक मण्डल सभी बधाई के पात्र हैं।

(3) विज्ञान शिखर (प्रवेशांक) अक्टूबर 1983

प्रधान सम्पादक : डॉ० एस० एन० दास

प्रकाशक एवं सम्पादक : अजयकुमार सिंह, गाँधी पथ, सरिताबाद रोड, पटना-800001

मुद्रक : प्रशान्त प्रेस एण्ड कम्पनी, मान्दिरि, पटना

मूल्य : 1 रु० 25 पैसे

विज्ञान शिखर (मासिक) पत्रिका का प्रवेशांक बिहार राज्य में विज्ञान प्रचार-प्रसार के ध्येय से प्रकाशित किया गया है। इसे हाई स्कूल स्तर तक के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी बनाने हेतु अनेक स्तम्भ दिये गए हैं। 10+2 स्तर के विद्यार्थियों के लिए वस्तुनिष्ठ प्रश्न भी दिए गए हैं। सम्पादक और प्रकाशक श्री अजयकुमार सिंह का प्रयास सराहनीय है किन्तु पत्रिका को स्तरीय बनाने के लिए अभी काफी परिश्रम की आवश्यकता है।

(4) ज्ञानवापी (मासिक जनवरी, 1984)

प्रकाशक एवं सम्पादक : श्रीमती उपासना मिश्रा

प्रबंध सम्पादक : हरि नारायण मिश्र

3, भरतपुरी कालोनी, फैजाबाद-224001

'ज्ञानवापी' (मासिक) का वर्ष 1, अंक 4, जनवरी 1984 अंक पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि इस पत्रिका ने अल्पावधि में ही प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। 32 पृष्ठों की इस पत्रिका में साहित्य, विज्ञान, धर्म, राजनीति जैसे विभिन्न विषयों पर ज्ञानवर्धक, रोचक और उपयोगी सामग्री का समावेश है। यह सम्पादिका श्रीमती उपासना मिश्रा के सम्पादकीय कौशल का कमाल है। इस पत्रिका में सभी वय और विभिन्न रुचियों वाले पाठकों के लिए अच्छी सामग्री है। विज्ञान विषयक लेखों की प्रधानता है।

लेखों का चयन, मुद्रण, बढ़िया कागज, आकर्षक कवर सभी सराहनीय है। पत्रिका पठनीय और संग्रहणीय है।

(5) समता क्रान्ति (मार्च 1984)

प्रधान सम्पादक : डॉ० राकेश चतुर्वेदी
संपादक : शुकदेव प्रसाद
प्रकाशक : समता क्रान्ति प्रकाशन एवं मुद्रण प्रा० लि०
एवं मुद्रक एच—64 पनकी औद्योगिक क्षेत्र, कानपुर-208022
मूल्य : तीन रु०

समीक्ष्य 'समता क्रान्ति' (मासिक) का प्रकाशन विश्व बंधुत्व, साम्प्रदायिक सद्भावना, समतावादी समाज रचना, राष्ट्रभाषा—राष्ट्रलिपि की सर्वग्राह्यता, जातिवादी-संरक्षण समाप्ति, एवं सामाजिक आर्थिक शोषण के विरुद्ध पुरअमन बगावत के लिए वैचारिक क्रान्ति का उद्घोष करने के संकल्प से किया गया है। पत्रिका अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल होगी यह तो समय ही बतायेगा किन्तु 72 पृष्ठों की अच्छे कागज पर खूबसूरती से मुद्रित आकर्षक कवर वाली यह पत्रिका बरबस अपनी ओर खींचती है। इस अंक में हिन्दी जगत् के अनेक ख्यातिप्राप्त लेखकों के लेख या कवितायें हैं। स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, डॉ० विद्या निवास मिश्र, डॉ० जगदीश गुप्त, डॉ० मोहन अवस्थी, डॉ० शिवगोपाल मिश्र, डॉ० रामकुमारी मिश्रा, श्री अमर गोस्वामी, डॉ० राकेश चतुर्वेदी जैसे रचनाकार जिस पत्रिका में एक साथ विविधतापूर्ण इन्द्रधनुषी छटा बिखेरें उसका क्या कहना। कुल मिलाकर पत्रिका पठनीय और संग्रहणीय है। इसके लिए प्रधान सम्पादक, सम्पादक, लेखक और मुद्रक सभी साधुवाद के पात्र हैं।

समीक्षक : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
संयुक्त मंत्री
विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

[पृष्ठ 13 का शेषांश]

वृक्ष' मानते हैं क्योंकि यह उनके दैनिक जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसके जड़, तना, पत्ती, फूल, फल इत्यादि प्रत्येक भाग का अलग-अलग महत्व है। पुष्पविन्यास के ऊपर के 'स्पैडिक्स' को चीरकर ताजा, मीठा, स्फूर्तिदायक पेय 'नीर' प्राप्त होता है जिसे उबाल कर गाढ़ा कर लिया जाता है तथा इससे विशेष प्रकार की 'पाम सुगर' (ताड़गुड़ या तालचीनी) बनती है। परन्तु इस 'नीर' को यदि पड़ा रहने दिया जाये तो 'फरमेन्टेशन' होकर ताड़ी बन जाता है। लोग जिसे नशे के लिए पीते हैं।

वृक्ष के शीर्ष भाग में अधखुली पत्तियाँ एक बड़ी कली के आकार की होती हैं। इनसे बंदगोभी की तरह की सब्जी बनाई जाती है। अग्रभाग के ही कड़े अंश तथा पत्तियों के डंठल को छीलकर नावों को बाँधने की रस्सी बनाने में उपयोग किया जाता है।

यही नहीं, तने के अंदर के गूदे से साबूदाना बनाते हैं। स्थानीय आदिवासी इस गूदे के आँटे को ज्वार या बाजरा के साथ मिलाकर एक विशेष प्रकार की रोटी बनाते हैं।

प्रसिद्ध 'किटुल फाइबर' जो चिकनाई, मजबूती एवं लचीलेपन के लिए प्रसिद्ध है, इसी वृक्ष की पत्तियों के ठंडल से निकलता है। इसे झाड़ू व टोकरी बनाने से लेकर फर्श-गलीचे बनाने में भी उपयोग किया जाता है। तमिलनाडु एवं केरल में इसे जंगली हाथी बाँधने, धनुष की रस्सी तथा मछली के जाल इत्यादि बनाने में इस्तेमाल किया जाता है।

इस वृक्ष का तना मजबूत एवं टिकाऊ होता है जिसके कारण इसका उपयोग खेती के विभिन्न कार्यों, घर बनाने तथा ड्रम बनाने में किया जाता है।

इसकी जड़ों से एक विशेष प्रकार का कोयला बनाते हैं जो स्वर्णकारों (सुनारों) द्वारा उपयोग किया जाता है। पुष्पविन्यास एवं डंठल सहित फलों को घरों में सजावट के लिए भी उपयोग करते हैं। फलों को बटन, रंग और पालिश बनाने में उपयोग करते हैं तथा 'हेमीकार्निया, के उपचार में भी प्रयुक्त किया जाता है।□

पुस्तक समीक्षा

हिन्दी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रकाशन निदेशिका (1966—1980)

प्रधान संपादक—योगराज चड्ढा
संपादक द्वय—श्यामसुन्दर शर्मा एवं तुरशनपाल पाठक
प्रकाशक—प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय (पी.आई.डी.) वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सी.एस.आई.आर.) हिलसाइड रोड, नई दिल्ली (10012)
प्रकाशन वर्ष—1983

आज जब अनेकानेक वैज्ञानिक और तकनीकी पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ हिन्दी भाषा की समृद्धि पर चार चाँद लगा रही हैं तो प्रकाशित साहित्य की एक निदेशिका का संकलन अत्यावश्यक हो गया था। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् ने आलोच्य निदेशिका का प्रकाशन करके इस आवश्यकता की पूर्ति का प्रशंसनीय कार्य किया है। वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य की दृष्टि से भाषा की उन्नति और क्षमता के लिए यह आवश्यक है कि पूर्ववर्ती साहित्य का आकलन और लेखा-जोखा किया जाए। यह निदेशिका इस क्षेत्र में कार्यरत विशेषज्ञों के लिए बहुत सहायक सिद्ध होगी। पुस्तकों की वैज्ञानिक ड्यूई दशमलव पद्धति के प्रयोग के साथ ही साथ अलग-अलग पुस्तकों, लेखकों व प्रकाशकों के नामों की अनुक्रमाणिका देने के कारण निदेशिका की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। साथ ही विषयानुकूल 'भारत की सम्पदा' विश्वकोष के विवरणों का यथास्थान समावेश भी जानकारी उपलब्ध कराने की दृष्टि से उपादेय है। पुस्तक का सुरुचिपूर्ण और साफ मुद्रण तथा अशुद्धियों का अभाव सम्बन्धित अधिकारियों और सम्पादकों के अथक परिश्रम का सूचक है और इसके लिए मुख्य सम्पादक तथा उनके समस्त सहयोगी बधाई के पात्र हैं। निदेशिका में पुस्तकों का विषय के अनुसार वर्गीकरण और प्रविष्टियों का सांख्यकीय विवरण सम्पादक मण्डल की लगन और सूझबूझ के साथ ही यह भी प्रदर्शित करता है कि हिन्दी भाषा को वैज्ञानिक साहित्य के लिए अब भी अक्षम मानना एक भारी भूल है या गहरी चाल। आशा है निदेशिका प्रचलित भ्रम का निवारण कर अपनी उपादेयता को सिद्ध करेगी। प्रत्येक पुस्तकालय में इस निदेशिका का होना अनिवार्य कहा जा सकता है। □

—प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

[पृष्ठ 19 का 'नयी पत्रिकायें' का शेषांश]

(6) फसल संदेश (जनवरी 1984) **प्रवेशांक**
मुख्य सम्पादक : सूरजपाल सिंह यादव
प्रकाशक : श्रीमती विष्णो यादव, 1108/8 सदर बाजार, करनाल, हरियाणा
मूल्य : आजीवन सदस्यता शुल्क : 201 रु०
वार्षिक : 30 रु०

कृषि एवं ग्रामीण विकास केन्द्र, करनाल (हरियाणा) द्वारा प्रकाशित 'फसल संदेश' नामक पत्रिका का प्रकाशन न केवल करनाल (हरियाणा) वरन् भारत के उन सभी राज्यों के किसानों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा जो हिन्दी जानते समझते हैं और जहाँ यह पत्रिका पहुँच सकेगी। 'फसल संदेश' का प्रवेशांक अपने में कृषि विज्ञान से सम्बन्धित जानकारियों का खजाना है। इसमें 9 लेख और दो कवितायें—कुल मिलाकर 11 रचनायें हैं।

किसानों के विकास में, भारत कृषक समाज के योगदान से लेकर गाँवों में मछलीपालन, गाय-भैंसों के गर्भाधान का सही समय, अण्डमान में तेलताड़, चूहों से फसलों का संरक्षण, गन्ने का तनाबेधक, भूमिगत जल शोधक यंत्र, गोबर के उपयोग और हमारे पौष्टिक भोजन पर सरल भाषा में उपयोगी जानकारी इस पत्रिका में उपलब्ध है। छपाई संतोषजनक है, चित्र स्पष्ट हैं और कवर आकर्षक है।

प्रकाशक, सम्पादक मण्डल, लेखक और मुद्रक सभी साधुवाद के पात्र हैं। □

—प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान वार्ता

(1) यूरेनियम-परमाणु से समस्त इलेक्ट्रॉनों का अलगाव

प्रकृति में पाया जाने वाला प्रत्येक द्रव्य अनेक अतिसूक्ष्म कणों से मिलकर बना है जिन्हें परमाणु कहते हैं। प्रत्येक परमाणु का अपना एक संसार होता है। हर एक परमाणु के मध्य में एक नाभिक स्थित होता है जिसमें प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन नामक कण—क्रमशः धनावेशित तथा विद्युत् उदासीन कण—विद्यमान रहते हैं। और, इस नाभिक के इर्द-गिर्द विभिन्न कक्षाओं में भिन्न-भिन्न ऊर्जा स्तरों वाले ऋणावेशित कण चक्कर काटते रहते हैं जिन्हें इलेक्ट्रॉन के नाम से पुकारा जाता है। प्रत्येक द्रव्य के परमाणु में इन इलेक्ट्रॉनों की कुल संख्या अलग-अलग होती है। परमाणु भट्ठियों में ईंधन के रूप में प्रयोग किये जाने वाले तत्व **यूरेनियम** के परमाणु में इनकी कुल संख्या 92 होती है।

यूरेनियम के परमाणु में से इसके इन्हीं सभी 92 इलेक्ट्रॉनों को अलग करके अमेरिका की **लॉरेन्स लिवर-मोर प्रयोगशाला** के वैज्ञानिकों ने परमाणु अनुसन्धान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण सफलता अर्जित की है। वैज्ञानिकों को यह सफलता यूरेनियम के परमाणुओं को 1,60,000 मील प्रति सेकेण्ड की गति, जो कि प्रकाश की गति की 87% बैठती है, प्रदान करके फिर अचानक इन सभी को तांबे की एक पतली पत्ती पर पटक कर मिली है। यूरेनियम के परमाणुओं को 1,60,000 मील प्रति सेकेण्ड जितनी अति तीव्र गति प्रदान करने हेतु वैज्ञानिकों द्वारा दो विशाल त्वरकों (Accelerators) का प्रयोग किया गया। **सुपर-हाइलैक** नाम की एक मशीन के द्वारा यूरेनियम के परमाणुओं को बहुत अधिक गति प्रदान कर फिर अचानक इन्हें कागज जितनी मोटी तांबे की एक पतली पत्ती पर पटकने से इसमें के 68 इलेक्ट्रॉन इससे अलग हो गये और इसके बाद जब इन परमाणुओं को एक बेवाट्रॉन में डालकर इन्हें अधिकतम गति प्रदान करके तांबे की पत्ती पर पटका गया तो इनके भीतर बाकी बचे रह गये 24 इलेक्ट्रॉन भी अलग होकर बाहर आ गये। इस विधि का सिद्धान्त यह है कि 1,60,000 मील प्रति सेकेण्ड की गति प्रदान करने पर परमाणु की गति इसके भीतर स्थित नाभिक के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहे इलेक्ट्रॉनों की तुलना में अधिक हो जाती है और फिर इसी स्थिति में जब इसे तांबे की पतली पत्ती पर पटका जाता है तो इलेक्ट्रॉन परमाणु से पीछे छूट जाते हैं।

परमाणुओं में से इलेक्ट्रॉन अलग करने की यह विधि काफी कारगर सिद्ध हुई है क्योंकि बाद में देखने पर यह पाया गया कि सम्मिलित किये गये परमाणुओं में से 85 प्रतिशत में से तो पूरे-पूरे इलेक्ट्रॉन अलग हो गये तथा केवल 15 प्रतिशत में मात्र एक इलेक्ट्रान बाकी बचा रह गया। अनुसन्धानकर्ता अब यूरेनियम के इलेक्ट्रॉन-रहित परमाणु तथा इसके 'नग्न' नाभिक पर प्रयोग करके परमाणु के जटिल कार्यकलापों का और अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

प्रस्तुति: नरेश बाली, गौहाटी, असम

(2) शैवालों से प्रतिजैविक ओषधियाँ

वर्तमान दो दशकों में एंटीबायोटिक्स की खोज और उनका विकास, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है, एक विशिष्ट उपलब्धि है। एन्टीबायोटिक्स ऐसे रासायनिक पदार्थ हैं जो सूक्ष्म-जीवियों (जीवाणुओं या बैक्टीरिया, कवकों, शैवालों एवं एक्टिनोमाइसीज् समुदाय) से प्राप्त किये जाते हैं और साथ ही कुछ सूक्ष्मजीवियों (बीमारी फैलाने वाले बैक्टीरिया,

प्रोटोजोआ, कवक, शैवाल, कुछ बड़े वाइरस आदि) की वृद्धि पर अकुंश लगाते हैं। अब डॉक्टरों द्वारा न्यूमोनिया, टी० बी०, डिप्थीरिया तथा अन्य बैक्टीरिया-जन्य रोगों के उपचार हेतु प्रतिजैविक ओषधियों का प्रयोग शुरू हो गया है।

लुई पाश्चर (1877) ने सर्वप्रथम एन्टीबायोटिक्स की उपस्थिति तथा संभावित उपयोगों के विषय में जानकारी दी। अलेक्जेंडर फ्लेमिंग (1928) ही ऐसे वैज्ञानिक थे, जिन्होंने 'पेनिसिलीन' नामक एंटीबायोटिक को एक नील-हरित मोल्ड (कवक)—'**पेनिसिलियम नोटेटम**' से अभिलेखित किया। पेनिसिलीन की खोज तथा इसका निरन्तर बढ़ता हुआ उपयोग विज्ञान के लिए वरदान सिद्ध हो चुका है। वाक्समैन (1940) ने 'एंटीबायोटिक्स' शब्द का प्रयोग सूक्ष्मजीवियों की वृद्धि में अंकुश लगाने वाले रासायनिक पदार्थों के लिये किया।

कवकों की तरह शैवालों से भी एंटीबायोटिक पदार्थों को अभिलेखित किया गया है और विस्तृत अध्ययन की दिशा में प्रयास जारी है। वैसे यह बात अभी स्पष्ट रूप से तय नहीं हो पायी है कि एंटीबायोटिक पदार्थ कोशा में स्थित रहते हैं या उनके द्वारा माध्यम में स्रावित किये जाते हैं।

स्वच्छ जलीय-शैवालों की तरह, समुद्री-शैवालों से प्राप्त एंटीबयोटिक्स पदार्थों का विवरण नीलसन (1955) ने समुद्री पारिस्थितिकी में दिया है। शैवालीय प्रतिजैविक, जीवाणु एवं कवकों की वृद्धि को प्रभावित कर 'सागर प्रदूषण' रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

प्राचीन काल से समुद्री शैवालों का ओषधि के रूप में प्रयोग चीन, जापान तथा अन्य एशियाई देशों में किया जा रहा है। चीन में 1330 ए० डी० से ही घेंघा (ग्वॉयटर) रोग के उपचार में समुद्री शैवालों का प्रयोग हो रहा है। आयोडीनयुक्त समुद्री शैवालों का प्रयोग करने के कारण ही जापान देश के तटवर्ती क्षेत्रों पर बसे लोगों में घेंघा रोग का प्रकोप नहीं हो पाता।

कुछ समुद्री शैवालों का उपयोग 'कृमिनाशी' के रूप में किया जाता है। ये हैं— **एल्सीडियम हेल्मिंथोकौथन**, '**कोरेलाइना, कोडियम, डाइजोनिया**, काड्रप्स आदि। इन शैवालों में पाया जाने वाला **डोमोइकाम्ल** ही कृमिनाशक अभिकर्ता है। **अल्वा और फ्यूकस** की कुछ जातियाँ 'आमाशयीविकार, तथा जलने' की चिकित्सा हेतु प्रयुक्त की जाती हैं। **एसिटाबुलेरिया मेजर** का इस्तेमाल मूत्राशय व किडनी (वृक्क) के रोगों के निदान में किया जा रहा है। **काण्ड्रस क्रिस्पस व जिगार्टिना स्टोलेटा** का प्रयोग वक्ष तथा उदर-विकारों के नियंत्रण में किया जाता है। **लैमिनेरिया क्लासटोनाई** से प्राप्त लैमिनेरिन सल्फेट, रुधिर प्रत्यातंचक के रूप में प्रयोग किया जाता है। **अगार अगार** को भी आमाशयी रोगों के उपचार में प्रयुक्त किया जाता है।

समुद्री शैवालों का प्रयोग नेत्रोंसेंधी गलगंड, स्थूलता (मोटापा), अत्यधिक कृशकायता (उच्च रक्तचाप या हाई ब्लड प्रेशर), कब्ज, पैत्तिकता, तनाव तथा तंत्रिका अग्निमान्द्य के उपचार में होता है। **स्टिफेन्सन** (1968) के अनुसार समुद्री शैवालों का लाभकारी प्रभाव पित्ताशय, पित्तवाहिनी, अग्न्याशय, वृषण, प्रॉस्टेट ग्लैण्ड, गर्भाशय, अण्डाशय, अकंटुग्रन्थि पर पड़ता है।

लैमिनेरिया का प्रयोग आधुनिक यंत्र के रूप में गर्भस्त्राव में किया जाता है।

रोडोमेला, एस्कोफिल्लम, हेलोड्रिस, पेल्विटिया, लैमिनेरिया, डिजीटाटा व **पॉलीसाइफोनिया** जैसे अन्य शैवालों से प्रतिजैविक पदार्थ प्राप्त किये गये हैं।

रोडोमेला एवं **सिम्फोक्लैडिया** की प्रतिजीवाणुविक प्रक्रिया सम्भवतः ब्रोमीनीकृत फीनोलिक पदार्थ (2, 3 डाईब्रोमोबेंजिल एल्कोहॉल; 4, 5 डाइसल्फेट डाइपोटेशियम लवण) के कारण है।

समुद्री शैवालों तथा पादपप्लवकों में पाया जाने वाला एक्रिलिक अम्ल प्रतिजीवाणुकारक है।

हाल में केन्द्र सरकार ने लखनऊ स्थित **केन्द्रीय ओषधि अनुसंधान संस्थान** की देखरेख में एक प्रायोजना, जिसके अन्तर्गत समुद्री शैवालों से ओषधियों के बनाने की योजना शामिल है, का शुभारम्भ किया है। यह आशा की जाती है कि आने वाले वर्षों में समुद्री शैवालों से बड़े पैमाने पर ओषधियाँ बनने लगेंगी।

प्रस्तुति : डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय, बरेली कॉलेज, बरेली

(3) तारे कैसे बनते हैं ?

आकाश में झिलमिलाते तारे हम सभी का मन मोह लेते हैं। कभी-कभी तो सारा आकाश तारों से भरा दीखता है फिर भी हमारी आकाशगंगा के तारों के बीच बड़ी लम्बी-लम्बी दूरियां होती हैं। क्या ये स्थान खाली हैं ? नहीं ये खाली लगने वाले स्थान वास्तव में खाली नहीं हैं। इसमें असंख्य प्रज्वलित धूलिकण और गैस के बादल हैं। नये तारों का निर्माण भी इन्हीं से होता है। बार्ट जे० बाक नामक एक विख्यात अमेरिकी खगोलशास्त्री ने बताया कि ऐसे अन्तरतारकीय प्रज्वलित धूलिकण और गैस के बादल घने, अपारदर्शक, आकार में नियमित अलग-अलग गोले का रूप लिए हुए होते हैं। इन रचनाओं के खोजकर्ता के नाम पर इन्हें 'बाक गोले' का नाम दिया गया। इन छोटे गोलों में मुख्यतया हाइड्रोजन होता है। इनका तापमान लगभग 10° केल्विन होता है। खगोलशास्त्रियों के अनुसार ये छोटे गोले सम्भावित तारे के निर्माण की प्राथमिक अवस्थायें हैं।

बाक एवं उनके सहकर्मी रेली ने 1947 में दो तरह के अन्तरतारकीय धुँधले बादलों की पहचान की। पहला समूह, जिसका आसानी से अध्ययन किया गया है, 'बाक' के बड़े गोले कहलाते हैं और दूसरा समूह जिसके बारे में अधिक ज्ञात नहीं है, पूर्णतया अपारदर्शक एवं संघनित होते हैं।

'बाक' ने सुझाव दिया कि ये गोले गुरुत्वाकर्षित अस्थायी पदार्थ हैं और अन्त में सिकुड़कर एक या अधिक तारे बनाते हैं। फिर इसके बारे में कोई ऐसा तथ्यपूर्ण प्रमाण नहीं है कि यह निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि इन तारों की उत्पत्ति इन्हीं गोलों से ही हुई है। जहाँ तक ज्ञात है ये गोले तारों के निर्माण स्थल नहीं हैं बल्कि बड़े आणविक बादल हैं। केवल भौतिक प्रवस्थाओं एवं सिकुड़ने की अवस्थाओं के अतिरिक्त 'बाक' के अनुमान की सत्यता के परीक्षण के लिये कोई दूसरा विकल्प नहीं है। गोले का द्रव्यमान, त्रिज्या और आन्तरिक तापमान प्रायः अपरिवर्तित, एक समान एवं वृत्तीय माने जाते हैं। बादल का गुरुत्वाकर्षण इन गोलों को दबाने की प्रवृत्ति रखता है जो उसकी त्रिज्या एवं द्रव्यमान पर आधारित है। सिकुड़ने की प्रवृत्ति बादलों के आन्तरिक दबाव के द्वारा समझी जाती है जो गोलों के आन्तरिक तापमान के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। गोलों की त्रिज्या का मूल्यांकन 'क्रान्तिक मान' कहलाता है फिर भी, नीचे पहुँचने के बाद गुरुत्वाकर्षण आन्तरिक दबाव डालता है और पूर्ण प्रभावित आन्तरिक गति बादलों को सिकुड़ने के लिये बाध्य करती है।

अमेरिकी वैज्ञानिक राबर्ट एल० डिकमैन ने 'बाक गोलों' के 8 नमूनों को लेकर उनका अध्ययन किया। ये द्रव्यमान में सूर्य के द्रव्यमान (लगभग 12×1030) की की तुलना में 19 से लेकर 240 गुने होते हैं तथा त्रिज्या में लगभग 1 प्रकाशवर्ष से लेकर 3.8 प्रकाशवर्ष तक होते हैं। बर्नार्ड-5 के अपवाद के साथ सभी गोलों का आन्तरिक तापमान 10° केल्विन होता है, जो कि अन्तरतारकीय घने बादलों के प्रारूप हैं। परीक्षण किये हुये 8 गोलों की त्रिज्यायें 'क्रान्तिक मान' की अपेक्षा बहुत छोटी होती हैं जिसे एक दिये हुये ताप एवं द्रव्यमान पर सिकुड़ जाना चाहिए। इसलिये, यदि त्रिज्या, द्रव्यमान एवं ताप एकमात्र नियंत्रक पैरामीटर हों तो, आठों गोले पूर्णरूप से सिकुड़ने की प्रबल अवस्थाओं में होंगे।

इसके अतिरिक्त तापीय दबाव एवं तीन अतिरिक्त प्रभावीकारक जैसे घूर्णन, चुम्बकीय क्षेत्र एवं जल गतिकीय विक्षोभ मान्य हैं। बादल के केन्द्र के चारों तरफ घूर्णन से उत्पन्न अपकेन्द्रीय बल, स्वगुरुत्वाकर्षण को रोक सकते हैं। दूसरे यदि कोई दो चुम्बकों के ध्रुवों को साथ-साथ धक्का देने की कोशिश करता है तो उसका चुम्बकीय क्षेत्र तेजी से सिकुड़ने से रोकता है। यही प्रभाव बाक गोलों के लिये प्रयुक्त होता है और गुरुत्वाकर्षण बलों को रोकता है।

तीसरे, विक्षोभ पूर्णतया किसी द्रव में अनियमित एवं भँवरदार गति पैदा करते हैं क्योंकि भँवर धारायें कभी-कभी बादल के प्रत्येक विक्षोभ के साथ टकराती हैं, जो दूसरे पर अतिरिक्त दबाव उत्पन्न करते हैं और स्वगुरुत्वाकर्षण रोकने में सक्षम होते हैं। परीक्षणोपरान्त ज्ञात हुआ कि बादल की त्रिज्यायें क्रान्तिक मान की

अपेक्षा बहुत छोटी होती हैं। प्रयोगों के अनुसार ये तीनों बल, सिकुड़ने की अवस्था रोकने के लिये सक्षम नहीं हैं। इसलिये बाक की प्रस्तावित परिकल्पना को निश्चित करना एक समस्या है, जिसके लिये कम से कम एक बाक गोले की प्राप्ति अतिआवश्यक है, जो एक नया तारा या छोटी तारक समूह निर्माण की प्रावस्था में हो। इस प्रकार के आविष्कार की सम्भावना कम ही है क्योंकि गोलों का द्रव्यमान बहुत कम होता है।

डब्ल्यू० ई० हर्बर्ट (अमेरिका) एवं डो० जी० टर्नर (कनाडा) ने लिण्ड्स-810 नामक गोले का निर्माण किया, जो कि एक बढ़ता हुआ, स्पष्टरूप से गर्म तारे की तरह था। लिण्ड्स-810 की त्रिज्या 4-5 प्रकाशवर्ष के लगभग होती है, जो कि बर्नार्ड-5 के नमूने और बाक के बड़े गोले की अपेक्षा बड़े होते हैं।

अमेरिका के एम० एल० कटनर, आर० एल० डिकमैन और के० डो० टकर ने हाल ही में इन अन्तर-तारकीय बादलों का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जो कि प्रतिबिंबित नीहारिकाओं के साथ मिलते हैं। यदि इनमें से कुछ वस्तुओं के द्रव्यमान, एक से कई सौ गुने सौर द्रव्यमान के क्रम में बदल दिये जायें तो डिकमैन के अनुसार यह निष्कर्ष निकालना कठिन होगा कि अधिक बड़े बाकगोले वास्तव में तारों के निर्माण के सक्रिय स्थल हैं अथवा नहीं। किन्तु आज वैज्ञानिक जिस तरह से इस प्रकार के अध्ययनों में जुटे हुये हैं, उससे यह आशा बँधती है कि वे शीघ्र ही इस जटिल गुत्थी को सुलझा लेंगे।

प्रस्तुति : प्रद्युम्न कुमार यादव
वनस्पति विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

(4) श्रेष्ठ वानिकी पुरस्कार विजेता

श्री ए० पी० द्विवेदी, भारतीय वन सेवा अधिकारी, भोपाल को "वनवर्धन के सिद्धान्त" ग्रंथ पर 5 हजार रुपये का श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार विजेता घोषित किया गया है। 3 हज़ार रुपये का उत्तम लेखन पुरस्कार विजेता ग्रन्थ है 'वनवर्धन' जिसके रचयिता देहरादून के श्री लक्ष्मण सिंह खन्ना हैं। श्री खन्ना वानिकी विषयक लगभग एक दर्जन हिन्दी पुस्तकों के जाने-माने लेखक हैं और उनकी लिखित यह तीसरी पुस्तक है जिसे अखिल भारतीय पुरस्कार मिला है। एक हज़ार रुपये का सराहनीय लेखन पुरस्कार लेखक-द्वय श्री गिरजा शंकर त्रिवेदी एवं कु० सविता भट्ट, देहरादून द्वारा लिखित ग्रन्थ "वाल्मीक के वन और वृक्ष" ने जीता है।

लेख पुरस्कारों के अन्तर्गत पांच सौ रुपये का प्रथम पुरस्कार 'ऊसर भूमि में सफल वृक्षारोपण' लेख को दिया गया है जिसके लेखक-द्वय लखनऊ के श्री वीरेन्द्रचन्द्र एवं श्री नरेशचन्द्र हैं। साढ़े तीन सौ रुपये के द्वितीय पुरस्कार विजेता श्री बाबूराम वर्मा, देहरादून हैं जिन्होंने "मौर्य काल में वन और वानिकी" लिखा है। दो सौ रुपये का पुरस्कार जोबनेर, राजस्थान के श्री रूपनारायण काबरा ने अपने लेख "मानव की सेवा में कृषि वानिकी एवं सामाजिक वानिकी" के लिए जीता है। एक सौ रुपये का सराहनीय लेखन पुरस्कार अजमेर के श्री वीरेन्द्र सहाय सक्सेना के लेख "नीम लगाइये, स्वस्थ रहिये" को दिया गया है।

ये पुरस्कार वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून की अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना, 1983 के अन्तर्गत घोषित किए गए हैं।

प्रस्तुति : दुर्गा शंकर भट्ट
वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, देहरादून

विस्फोटित ब्रह्माण्ड

डॉ० जयंत विष्णु नारलीकर
टाटा इन्स्टीट्यूट ऑव फंडामेण्टल रिसर्च, होमी भाभा रोड, बाम्बे-400005

[सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० जयंत विष्णु नारलीकर का यह लेख 'द एक्सप्लोडिंग यूनिवर्स' 'द इलस्ट्रेटेड वीकली ऑव इंडिया' नामक पत्रिका के 6-12 नवंबर अंक में छपा था। इसका अनुवाद किया है 'विज्ञान' के सुपरिचित लेखक आर० के० प्रताप ने जो ए० पी० एन० डिग्री कॉलेज, बस्ती में शिक्षा विभाग में प्राध्यापक हैं। इसका पहला और दूसरा भाग 'विज्ञान' फरवरी और मई 1984 अंकों में छप चुका है। यह अंतिम भाग (तीसरा भाग) है। अनुवाद और प्रकाशन की अनुमति के लिए हम लेखक और इलस्ट्रेटेड वीकली पत्रिका के आभारी हैं। —सम्पादक]

प्रारंभिक ब्रह्माण्ड

सिद्धांत और निरीक्षणों के मध्य सहमति तप्त महाविस्फोट निर्मित के हेतु प्रत्यक्षतः पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करती है। आधुनिक नाभिकीय सिद्धांत से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर पुनः की गयी गैमो की गणनाओं के सैद्धांतिक मानों और हल्के नाभिकों की बहुलता के निरीक्षणों के मध्य स्पष्ट समानता है। भारी नाभिकों का जन्म तारों के भीतर माना जाता है।

विज्ञान का उद्देश्य ज्ञान के क्षितिज का अनवरत विस्तार करना है। इस उद्देश्य का ब्रह्माण्डविज्ञान में उपयोग करते हुए हम प्रश्न कर सकते है कि "अवशेषी विकिरण के साक्ष्य के आधार पर यह स्वीकार करते हुए कि आदिम संगलन संयंत्र में हलके नाभिक बन रहे थे क्या हम इस संगलन प्रक्रिया के पहले की ब्रह्माण्डीय स्थिति की खोज नहीं कर सकते ?"

तप्त महाविस्फोट-आदर्श के अनुसार हलके नाभिकों का निर्माण ब्रह्माण्ड के कुछ अरब डिग्री से० से लाखों डिग्री से० तक ठंढे होने में हुआ। आधुनिक गणना के अनुसार यह प्रक्रिया ब्रह्माण्ड के जन्म के कुछ सेकेंडों पश्चात् आरम्भ होकर लगभग तीन मिनटों की अवधि तक घटी। इस अवधि के प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड में परमाणु नाभिकों की निर्माण इकाइयों के रूप में प्रोटॉन न्यूट्रॉन की अस्तित्व में थे।

आधुनिक ब्रह्माण्डविज्ञानियों के प्रश्न बहुधा इस प्रकार के होते हैं, "यह निर्माण इकाइयाँ कैसे अस्तित्व में आई ? क्या उनका निर्माण महाविस्फोट के समय हुआ अथवा वे ब्रह्माण्ड के जन्म के प्रारम्भिक क्षणों में किसी और वस्तु से निर्मित हुए ?"

कण-भौतिकशास्त्री (पार्टिकिल फिजिसिस्ट) विश्वास करते हैं कि प्रोटॉन और न्यूट्रॉन अथवा सामान्य रूप से बेरयान (अभी तक न खोजे जा सके) क्वार्क-कणों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। सिद्धान्तकारों के अनुसार क्वार्क अनेक प्रकार, रंग और प्रभाव (कलर्स ऐण्ड फ्लेवर्स) के होते हैं, यद्यपि यह गुण सामान्य प्रचलित अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं करते। तीन क्वार्क कण एक दूसरे से संयोगित होकर बेरयान निर्मित करते हैं। एक बेरयान के निर्माण या नष्टीकरण के लिये हमें त्रि-क्वार्क संयोग या भंजन में सक्षम होना चाहिये। सिद्धांतकारों के अनुसार यह संयोजी-बल इतने शक्तिशाली होते हैं कि सामान्य रूप में उपरोक्त प्रक्रिया संभव नहीं होती। और इसी विश्वास से

बेरयान संख्या का 'संरक्षण नियम' अस्तित्व में आया था। इसी कारण एक दशक पूर्व तक कण-भौतिक विज्ञानियों ने महाविस्फोट के साथ-साथ गैमो की चर्चा के केन्द्र प्रोटॉनों और न्यूट्रॉनों की उत्पत्ति की धारणा को समर्थन दिया होता।

परंतु निकट के वर्षों में कण-भौतिकी की नई खोजों ने इस विश्वास के संशोधन की प्रक्रिया प्रारंभ की है। ये खोजें महान एकीकरण सिद्धांत (ग्राण्ड यूनीफाइड थियरी, GUT) जो आधारभूत भौतिक अंतर्क्रियाओं से संबंधित है, से जुड़ी हैं। लेकिन पहले हम भौतिकी की चार प्रकार की ज्ञात आधारभूत अंतर्क्रियाओं को समझने का प्रयास करें।

इन चारों में सबसे प्राचीन गुरुत्व है जिसका भौतिक बल के रूप में परिमाणन (क्वांटीफिकेशन) सर आइजक न्यूटन ने प्रिंसिपिया में 1687 में किया था। यह किन्हीं भी दो पदार्थों के बीच कार्यरत सार्वभौमिक बल है और ग्रहों की गतियों, तारों की संरचना, समुद्री ज्वार इत्यादि घटनाओं के लिये उत्तरदायी है। दूसरा विद्युत-चुम्बकीय बल है जो हमारे चतुर्दिक स्थित पदार्थ के परमाणुओं और अणुओं की संरचना निर्धारित करता है। शेष दोनों बलों—बली और निर्बल अंतर्क्रियाएँ—का प्रभाव क्षेत्र अत्यन्त अल्प है और उनके प्रभाव परमाणु खण्डों पर ही देखे जाते हैं। 1915 में जब अल्बर्ट आइंस्टीन ने सामान्य सापेक्षता सिद्धांत को गुरुत्व-बल की व्याख्या-हेतु आविष्कृत किया तब केवल दो बल ही ज्ञात थे। आइंस्टीन इन दोनों बलों का एकीकरण करने के प्रयास में थे परंतु उनकी आशा उनके जीवन काल में पूर्ण नहीं हुई।

1970 के दशक के प्रयोगों ने यह सिद्ध किया कि अब्दुस्सलाम और स्टीफेन वियनबर्ग के विद्युत् चुम्बकीय तथा निर्बल अंतर्क्रियाओं को एकीकृत करने के सैद्धांतिक प्रयास सही दिशा में थे। इस विद्युत् निर्बल सिद्धांत (इलेक्ट्रोवीक थियरी) ने यह विश्वास जगाया कि एक महान एकीकरण सिद्धांत भी प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें बलीअंतर्क्रियाएं 'भी सम्मिलित हों। अनेक प्रयत्नों के बाद भी यह अभी किया नहीं जा सका है परन्तु गुरुत्व को भी अपनी परिधि में समेटने वाले अति-महान एकीकरण सिद्धांत के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किये जा चुके हैं।

सभी प्रस्तुत महान एकीकरण सिद्धांत इस बात पर सहमत हैं कि बेरयान उत्पन्न भी किये जा सकते हैं और नष्ट भी। इससे दो सम्भावनाएँ सामने आती हैं। प्रायोगिक विधि में यह पदार्थ के भीतर प्रोटॉन-क्षय (प्रोटॉन डिके) की खोज से संबंधित है। ऐसे परिणाम संभवतः सर्वप्रथम भारत के कोलार स्वर्ण खदानों में हो रहे प्रयोगों से प्राप्त होने चाहिये।

दूसरी प्रविधि सैद्धांतिक है जिसमें भिन्न-भिन्न गट (Gut) आदर्शों का उपयोग किया जाता है। अभाग्यवश ऐसे सभी प्रयत्नों में यह माना जाता है कि गट-भविष्यवाणियाँ तभी महत्वपूर्ण होती हैं जब हमारे पास अति तीव्र गति कण संघट्टशील हों। तभी बेरयानों को विखन्डित किया जा सकता है। परन्तु इतनी तीव्रगति के लिये अपेक्षित ऊर्जा क्या होगी?

विश्व में फर्मीलैब पार्टिकिल ऐक्सीलरेटर जो बटाविर इलिनाय में है सबसे बड़ा है, के निर्माण में अरबों डालर खर्च हुए हैं और यह खरबों इलेक्ट्रॉन वोल्ट ऊर्जा वाले कण उत्पन्न करता है (इलेक्ट्रॉन वोल्ट ऊर्जा की इकाई है। यदि विश्राम स्थिति में एक इलेक्ट्रॉन पूरी तरह ऊर्जा में परिवर्तित कर दिया जाये तो पाँच लाख इलेक्ट्रॉन वोल्ट ऊर्जा उत्पन्न होगी) गट-भविष्यवाणियों के परीक्षण के लिये हमें ऐसे ऐक्सीलरेटर्स (कण-त्वरकों) की आवश्यकता है जो फर्मीलैब द्वारा उत्पन्न कणों की ऊर्जा से लाखों लाख गुना अधिक ऊर्जायित हों। यह सम्भावना न तो आर्थिक और न ही तकनीकी दृष्टि से ही व्यवहारिक है।

तब गट भौतिकविज्ञानियों के लिये एकमात्र विकल्प अंतरिक्ष में ऐसे स्थानों की खोज है जहाँ ऐसी ऊर्जावाले कण उपलब्ध हों। अभी तक खगोलशास्त्री ऐसी ऊर्जा का एक ही उदाहरण जानते हैं—वह है प्रारम्भिक ब्रह्माण्ड। महाविस्फोट के तत्काल बाद की अवधि में इतनी उच्च ऊर्जा वाले कण उत्पन्न हुए थे यद्यपि यह अवधि बहुत कम—एक सेकेण्ड का

करोड़वां करोड़वां करोड़वां करोड़वां भाग था यानि 10^{-36} सेकेण्ड ।

इस अत्यल्प अवधि में कणों की ऊर्जाएँ इतनी अधिक रही होंगी कि महान एकीकरण सिद्धांत का अनुभव सम्भव था । आज के विश्व की संरचना उसी क्षणांश में निश्चित हुयी होगी ।

ब्रह्माण्डविज्ञानी और कण-भौतिकशास्त्री जिन प्रश्नों से जूझ रहे हैं वे इससे संबंधित हैं कि ब्रह्माण्ड की रचना के इन प्रारंभिक क्षणों में कैसे, कब और कहाँ यह संरचना निश्चित हुयी । विशेष रूप में वे यह अनुमानित करना चाहते हैं कि इस क्रांतिक-काल में बेरयान कैसे और कितने परिमाण में निर्मित हुए— यह वह समस्या है जिसके समाधान के लिये दो दशक पूर्व स्थिर-स्थिति-ब्रह्माण्डविज्ञानी इसलिये आलोचना के शिकार हुए थे क्योंकि उनके समाधान से भौतिक-विज्ञान के संरक्षण-नियम की अवहेलना होती थी ।

क्वांटम-ब्रह्माण्ड

क्या इस निर्माण-काल के और निकट जाना संभव है ? साधारण तर्क के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पहले 10^{-33} सेकेण्ड में ब्रह्माण्ड का व्यवहार क्वांटम-सिद्धान्तों से संचालित था । यह वह सिद्धांत है जिससे परमाणुओं और अणुओं के आकार के कणों की गति-समस्याओं को हल किया जाता है ।

क्वांटम-सिद्धांत महत्वपूर्ण 'अनिश्चितता धारणा' से परिचित कराती है । जिसकी प्रारंभिक चर्चा 1920 में वर्नर हीजेनवर्ग द्वारा की गयी थी । न्यूटन के परवर्ती काल में विकसित शास्त्रीयभौतिकी में निश्चय-वाद (डिटरमिनिज्म) एक स्थापित धारणा थी । अर्थात् यदि किसी भौतिक प्रणाली की वर्तमान स्थिति के संबंध में पर्याप्त तथ्य ज्ञात हों तो उसके भावी व्यवहार की भविष्यवाणी की जा सकती थी । डीजेन वर्ग के 'अनिश्चितता नियम' के अनुसार यह भविष्य-वाणी पूरी तरह संभव नहीं है । भौतिकी के नियमों में एक वस्तु की स्थिति-निर्धारण की सीमाएँ हैं और इसलिये उसकी भविष्यवाणियों में अनिश्चितता निहित है । अतएव यह बताने के स्थान पर कि कोई प्रणाली किस प्रकार का निश्चित व्यवहार करेगी भौतिक विज्ञानी प्रणाली को उपलब्ध अनेक विकल्प मार्गों की अनिश्चितताएँ प्राप्त कर सकता है ।

शास्त्रीय भौतिकी की अद्वितीयता, क्वांटम-सिद्धांत में एक प्रणाली के संभावित भावी-व्यवहार का परास व्यक्त करती है ।

ब्रह्माण्डविज्ञान में इस समस्या को विपरीत रूप में प्रस्तुत करके यह तर्क दिया जा सकता है कि क्वांटम-अवधि में ब्रह्माण्ड का पूर्व इतिहास विशिष्ट और निश्चित नहीं था । इसके स्थान पर, ब्रह्माण्ड के विकास की अनेक संभावनाएँ उपस्थित थीं और हम नहीं जानते कि किस मार्ग का अवलम्बन किया गया । क्या हम अनेक विकल्प-मार्गों से उसी रूप में अनिश्च-यता संयुक्त कर सकते हैं जैसे एक परमाणुविज्ञानी एक इलेक्ट्रॉन के किसी विशेष स्तर से संबंधित होने पर करता है ?

क्वांटम ब्रह्माण्डविज्ञान में भी अनेक दिशाओं से कार्य हो रहा है और सभी के परिणाम एक जैसे भी नहीं हैं । मैं संक्षेप में पिछले छः-सात वर्षों में अपने द्वारा विकसित की गयी विधि का परिचय देना चाहूँगा । इस विधि में विस्तारित होते ब्रह्माण्ड के मापक-तत्व (स्केल फैक्टर) के इतिहास के निश्चय पर बल दिया गया है । शास्त्रीय फ्रीडमैन-निर्मित में मापक तत्व जो किसी विशेष अवधि में किन्हीं दो विशेष निरीक्षकों के बीच की दूरी बताता है महाविस्फोट के पश्चात् शून्य मान से प्रारंभ करके स्थिर रूप से बढ़ता रहता है । क्वांटम-ब्रह्माण्ड विज्ञान में हम यह जिज्ञासा करते हैं कि "इस विशेष मापक तत्व के इतिहास की बाधा कितनी है ?" महत्वपूर्ण रूप में हम यह जानना चाहते हैं कि क्या अतीत की किसी अवधि मे बाधाएँ अतीव प्रभावशाली और मापक तत्व शून्य था ? यदि इसका उत्तर 'हाँ' हो तो हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड का प्रारम्भ महाविस्फोट से हुआ था ।

परन्तु मनोरंजक रूप में, मेरी गणनाएँ ऐसा

प्रदर्शित नहीं करतीं। यह असंभावना कि विश्व शून्य आयतन से प्रारंभ हुआ, वहां शून्य है। अर्थात महाविस्फोट के द्वारा ब्रह्माण्ड का प्रारंभ जो फ्रीडमैन-समाधान में निहित है अपवाद बन जाता है। ब्रह्माण्ड का शून्य से अलग कोई निश्चित आकार रहा होगा और इसलिए इसका कोई प्रारम्भ नहीं हुआ होगा (अनादि)। यह परिणाम स्थिर अवस्था सिद्धांत से बौद्धिक निकटता प्रदर्शित करता है जिसमें ब्रह्माण्ड अनादि है, यह स्वीकृत है।

अपनी पुस्तक नीहारिकाओं का क्षेत्र (द रेल्म ऑव द नेबुला) में एडविन हबिल ने लिखा था, "खगोल का इतिहास पीछे छूटते हुए क्षितिजों का इतिहास है।" आइंस्टीन के शोधपत्र के प्रकाशन के पैंसठ वर्षों में ब्रह्माण्डविज्ञानियों ने इस क्षितिज को और परे ठेल दिया है। यदि हबिल और आइंस्टीन आज जीवित होते तो निश्चय ही निकट के वर्षों में ब्रह्माण्डविज्ञान के निरीक्षणात्मक और सैद्धांतिक पक्षों की प्रगति से बहुत प्रभावित हुए होते।

मैंने प्रस्तुत लेख में सैद्धांतिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यह सैद्धांतिक खोजें खगोल-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं, उपग्रहों और अन्य स्थानों पर लगाए गये दूरवीक्षणयंत्रों के निरीक्षणों का परिणाम हैं। अगले दो-तीन वर्षों में लगाये जाने वाली अंतरिक्ष-दूरबीने (स्पेस टेलिस्कोप) इस ज्ञान में और वृद्धि करेंगे—ऐसी आशा वैज्ञानिकों को है।

यद्यपि महाविस्फोट आज का स्वीकृत सिद्धान्त है फिर भी इसकी अपनी कमियाँ तो हैं ही। इस सिद्धांत से ब्रह्माण्ड की आयु 8 से 12 अरब वर्ष होनी चाहिये परन्तु हमारी अपनी आकाशगंगा इससे अधिक आयु की हो सकती है, अन्य मंदाकिनियाँ तो हैं ही। तब माँ-बाप से अधिक उम्र के बच्चे? अजीब परिस्थिति है।

महाविस्फोट के पक्ष में सर्वाधिक शक्तिशाली साक्ष्य लघुतरंगी अवशेषी विकिरण में भी व्याख्या की कुछ समस्याएँ हैं। अधिकांश ब्रह्माण्डविज्ञानियों का विश्वास है कि मंदाकिनियों का निर्माण इस विकिरण अवशेष के निर्माण के समय विषमांग तत्वों के चतुर्दिक वृद्धि से हो सका। यदि ऐसा हुआ हो इन असमांगताओं का कुछ प्रभाव निरीक्षित अवशेष पर प्राप्त होना चाहिये।

परंतु सांख्यिकीय जाँच से अवशेषी लघुतरंगी विकिरण के वर्णक्रम और अनुमानित श्याम-पिण्ड वक्र के बीच पर्याप्त सहमति नहीं प्राप्त होती। क्या इसका यह निष्कर्ष है कि वर्णक्रम अवशेषी-विकिरण का नहीं है वरन् कभी बाद के काल में निर्मित हुआ? अवशेषी-व्याख्या के विकल्प लोकप्रिय तो नहीं है परन्तु उन पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जा रहा है।

यह कहना अनावश्यक है कि यदि यह सिद्ध हो जाए कि अवशेषी लघुतरंगी विकिरण अपेक्षाकृत निकट अतीत में उत्पन्न हुआ तो स्थिर अवस्था सिद्धान्त को पुनर्जीवन प्राप्त हो सकेगा।

प्रारंभिक ब्रह्माण्ड संबंधी अनुसंधानों ने भी अनेक कठिन समस्याएं प्रस्तुत कर दी हैं। एक समस्या अवांछित एकाकीध्रुव (मानोपोल) की है। शास्त्रीय विद्युत्-चुम्बक सिद्धांत में स्वतंत्र चुम्बकीय ध्रुवों का अस्तित्व स्वीकार्य नहीं है। यह ध्रुव सदैव द्विध्रुवी संयोगों (डाइपोल काम्बीनेशन) में प्राप्त होते हैं। परंतु गट-भविष्यवाणियों के अनुसार प्रारंभिक ब्रह्माण्ड में अनेक एकाकीध्रुव उत्पन्न हुए थे। वे सभी आज कहाँ हैं? सिद्धांतकार उन स्थितयों पर कार्य कर रहे हैं जहाँ इन एकाकीध्रुवों की संख्या बहुत न्यून रह गयी हो क्योंकि उनकी उपस्थिति बड़े गंभीर प्रभाव उत्पन्न करेगी।

पाठकों ने उपरोक्त विवरण में जीव-विज्ञान और पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर जीवन-प्रणालियों की चर्चा का अभाव महसूस किया होगा। यह विश्वास करना अत्यंत कठिन है कि जीवन का विकास एकाकी रूप में हमारी पृथ्वी पर ही हुआ। क्या जीवन का अस्तित्व अन्य कहीं भी है? जीवन के उद्भव और विकास की समय मापितियों की विशेषताएँ कौन सी हैं? उनकी ब्रह्माण्डीय समय से कैसे तुलना की जा सकती है? फ्रेडहायल और चंद्रा विक्रमसिंघे का

[शेष पृष्ठ 7 पर]

चिंतनपरक लेख

हमारी विज्ञान शिक्षा

डॉ० शिवगोपाल मिश्र
रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शिक्षा स्वयं में शास्त्र है। विज्ञान शिक्षा (Scince Education) का अर्थ होगा विज्ञान सम्बन्धी शिक्षा शास्त्र—ऐसा शिक्षा शास्त्र जिसकी मुख्य विषयवस्तु विज्ञान हो। स्पष्ट है कि विज्ञान में जो भी ज्ञान अन्तर्भुक्त है उसकी शिक्षा या पढ़ाई या कि अध्ययन-अध्यापन ही विज्ञान शिक्षा है।

इस वैज्ञानिक युग में विज्ञान की प्रगति जिस प्रकार हो रही है उसकी मूलधारा को समझना आवश्यक है। उसी के द्वारा एक सामान्य विद्यार्थी नीचे से ऊपर की सीढ़ी तक पहुँच सकता है और उसके अभाव में वह दिग्भ्रमित रह जाता है। विज्ञान शिक्षा का अर्थ है ऐसी शिक्षा जो विज्ञान की मूल आत्मा का बोध कराने में समर्थ हो। चाहे स्कूल, कॉलेज या विश्वविद्यालयों का ढांचा हो, अध्यापक हो, या कि पाठ्यक्रम या शिक्षा सामग्री ये सभी विज्ञान शिक्षा के स्तर को बताने वाले हैं। पुस्तकें, पत्रिकाएँ, पुस्तकालय भी उतने ही आवश्यक अंग हैं जितने कि प्रयोगशाला, उसमें उपकरण तथा रसायन। लेकिन यदि सारी साज-सज्जा सुलभ हो और पढ़ने वाले विद्यार्थी सही न हों तो? आखिर कैसे विद्यार्थी की अपेक्षा रहती है? रट-रटाकर उत्तीर्ण होने वाले परीक्षा के निमित्त काम चलाऊ ज्ञान अर्जित करने वाले छात्रों से विज्ञान की प्रगति सम्भव नहीं है।

लोग हर अवसर पर प्रश्न करते रहते हैं कि हमारे देश का विज्ञान का शिक्षा स्तर अन्य देशों की अपेक्षा निम्न है। किन्तु यह भी सच है कि विदेश जाने वाले या वहाँ से लौटकर आये हुए विज्ञानवेत्ताओं, शिक्षकों आदि की कमी नहीं है और कुछ लोगों के अनुसार हमारे छात्र तथा हमारे पाठ्यक्रम भी निम्नस्तर के नहीं हैं तो फिर वह कौन सा अभाव है जिसके कारण देश में 38 वर्ष बाद भी वास्तविक वैज्ञानिक प्रगति नहीं हो पाई?

विज्ञान शिक्षा का उत्तरदायित्व वैज्ञानिक या विज्ञान अध्यापकों का माना जाता रहा है किन्तु हाल के वर्षों में यह स्पष्ट हो गया है कि उत्पादकता, आर्थिक विकास और यहाँ तक कि राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाये रखने में विज्ञान शिक्षा का अत्यधिक महत्व है। सौभाग्यवश हमारे देश में सरकार कभी बाधक नहीं रही। हमारी सरकार ने 1958 में ही विज्ञान नीति की घोषणा की क्योंकि उसके समक्ष पाश्चात्य देशों का आदर्श था जिसमें विज्ञान ही के विकास से राष्ट्र की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है और विज्ञान की शिक्षा अपनाकर ही ऐसा कर पाना सम्भव है। इसी उद्देश्य से 1968 में देश में दसवीं कक्षा तक विज्ञान की शिक्षा अनिवार्य कर दी गई।

किन्तु इतने पर भी हम उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पाये—स्पष्ट है कि इसका कारण विज्ञान शिक्षा का दोष नहीं। तो फिर और क्या है? अनुमान है देश के 6 लाख प्राइमरी स्कूलों में से अभी भी कुछ हजार स्कूलों में ही विज्ञान का शिक्षण प्रारम्भ हो पाया है और इसके लिए जो साइंस किट प्रदान किये गये थे उनमें अभी तक ताले बन्द हैं। अनेक संस्थाओं तथा राष्ट्रीय शिक्षण संस्थान द्वारा खोजी गई नई-नई विधियों से अभी भी अधिक से अधिक 3% स्कूल ही लाभ उठा पाते हैं। इसी तरह देश के समस्त कॉलेजों में से केवल 10% ही विज्ञान शिक्षा के उपयुक्त

हैं। और देश भर के सैकड़ों विश्वविद्यालयों में से शायद ही कोई विश्वविद्यालय पश्चिमी देशों के समान सुसज्जित हो।

यदि इन स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में जो भी पढ़ाया जाता है उसकी गुणवत्ता (guality) पर ध्यान दिया जाये तो पता चलेगा कि स्थिति अत्यन्त दयनीय है। स्कूलों में विज्ञान विषयक पुस्तकों से पढ़कर वैसे ही सुनाया जाता है जैसे कहानी सुनाई जाती है। कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम ऊपर से अत्यन्त भव्य लगते हैं किन्तु सारा पाठ्यक्रम केवल कुछ व्याख्यानों में समाप्त करा दिया जाता है और परीक्षा ले ली जाती है। यह घिसीपिटी परीक्षा प्रणाली जिसमें व्याख्यान-परीक्षा का क्रम चलता है और कुछ ही प्रश्नों के उत्तर से योग्यता परखी जाती है अत्यन्त उबाऊ एवं निम्न-गामिनी है। यदि किसी कॉलेज या विश्वविद्यालय में कुछ प्रयोगात्मक कार्य सम्पन्न कराया जाता है तो केवल थोड़े ही प्रयोगों को वर्षानुवर्ष कराया जाता है। जिससे विद्यार्थी अपने पूर्ववर्ती विद्यार्थियों के नोट्स लेकर उसमें से नकल उतार कर उत्तीर्ण होते रहते हैं। उन्हें कुछ भी नया सीखने का अवसर नहीं मिल पाता अतः उनमें बुद्धि विकास या बौद्धिक क्षितिज का विकास हो तो कहाँ से?

अब बचता है शोध का क्षेत्र जो अत्यन्त उर्वर है क्योंकि आज भी उसमें परिश्रम किया जाता है। यह सच है कि हमारे देश में विश्व भर की तृतीय वैज्ञानिक जनशक्ति प्राप्त है किन्तु हमें इससे न तो सन्तुष्ट होना है न थोड़ा भी निश्चिन्त। भले ही कुछ क्षेत्रों में अच्छे वैज्ञानिक उत्पन्न हुए हों किन्तु कुल मिलाकर शोध के क्षेत्र में भी अध्ययन अध्यापन की सी गम्भीर स्थिति बनी हुई है।

यदि देश में विज्ञान शिक्षा अधोगति को प्राप्त है तो उसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं—

1. **साधनों की कमी**—हमारे देश में शिक्षा पर उस अनुपात से खर्च नहीं किया जाता है जितना कि प्रारम्भ में सोचा गया था। उदाहरणार्थ कृषि तथा सुरक्षा पर विशेष बल है और लोग यह भूल जाते हैं कि कृषि की सारी क्रियाएं—बीज संरक्षण से फसल सुरक्षा तक के लिए विज्ञान शिक्षा आवश्यक है।

2. **संस्थानों की उपेक्षा**--देश के संस्थानों का समुचित विकास नहीं होने दिया जाता। प्राप्त अनुदान का 90% तक केवल वेतन पर व्यय कर दिया जाता है। यदि हम चाहते हैं कि स्कूल तथा कॉलेज ठीक से प्रगति करें तो कम से कम 10% स्कूलों तथा 25% कॉलेजों में सन्तोषजनक विज्ञान की शिक्षा दी जाये।

विद्यार्थियों के अधिकाधिक कार्यक्रमों में सम्मिलित होने, शिक्षकों के वेतन मान सुधारने, शिक्षकों को नवीन पाठ्यक्रमों के लिए प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है। जिस रूप में विज्ञान की शिक्षा विद्यार्थियों को दी जाती है वह तथ्यों से बोझिल होने के कारण उबाऊ तथा नीरस लगती है। वे घोटकर परीक्षा में अधकचरे ज्ञान को उगलने में ही अपनी कुशलता समझते हैं। कहाँ मिलती है उन्हें वह अन्तर्दृष्टि जिससे वे अर्जित ज्ञान का सदुपयोग कर सकें? वे इस ज्ञान को व्यवहार जगत् से अलग-थलग पाते हैं। वे शुष्क विज्ञानी बनकर रह जाते हैं—वैज्ञानिक मनोवृत्ति का उनमें पूर्ण अभाव दिखता है।

देश के दिग्गज तथाकथित विज्ञानी स्वान्तः सुखाय शोध करते हैं। उनको तो ज्ञानवर्धन से प्रयोजन रहता है। वे बन्द कमरों की अपनी दुनियाँ में बने रहना चाहते हैं। उन्हें न तो इसकी चिन्ता है कि बाहरी संसार में क्या हो रहा है या कि अन्य लोग उनके विषय में क्या क्या कहते हैं। ऐसी संकुचित मनोवृत्ति का कारण विश्वविद्यालयी वातावरण हो सकता है जहाँ ऐसे लोगों को ही उत्पन्न किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि इस समय ऐसे लोगों की संख्या स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय की अपेक्षा अधिक है। आज भी विदेशी डिग्रियाँ श्रेष्ठ समझी जाती हैं और विदेश जाने वालों को लौटने पर उच्च स्थान प्रदान किये जाते हैं—पूल की स्थापना की गई और आजकल विज्ञान बस्ती (Science Cities) या विज्ञान सौधों की चर्चा चल निकली है।

आज सबों को डिग्री की हवस है जिसका उपयोग मौलिक शोध कार्य के लिए नहीं अपितु सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए किया जाता है। संरक्षकों की भी यही मनोवृत्ति है इसीलिए विश्वविद्यालयों में इतनी भीड़ और इतनी सरगर्मी रहती है। यह जन शक्ति का अपव्यय नहीं तो क्या है ? विश्वविद्यालय मानो डिग्री की फैक्टरी बन गये हैं।

आज शोधकार्य शोध के लिए नहीं किया जाता। समाज में शोध को सम्मान नहीं मिलता। इनका कारण यही है कि समाज ऐसे शोध पर व्यय नहीं करना चाहता जो उसके लिए लाभप्रद एवं उपयोगी न हो।

देश के कर्णधारों में स्वर्गीय जवाहर लाल नेहरू असाधारण दूरदृष्टि वाले व्यक्ति थे। अब तो हमारे राजनीतिज्ञों को फुरसत ही नहीं मिलती कि वे वैज्ञानिकों की समस्याओं को समझें या उनके विषय में जाने। केवल थोड़े से वैज्ञानिक जो राजनीति के प्रति उन्मुख होते हैं सरकार उन्हीं का मुखौटा लगाती है। ऐसे वैज्ञानिकों को कहाँ समय है कि वे वैज्ञानिक संस्थाओं या संस्थानों से सम्पर्क करें, उनसे परामर्श लें और देश में विज्ञान शिक्षा का समुचित मानदण्ड स्थापित करें। वे दीर्घकाल तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते, उन्हें तुरन्त फल चाहिए। ऐसे वातावरण में विज्ञान शिक्षा का वास्तविक परिणाम निकल पाना असम्भव है। देश में विज्ञान शिक्षा की दुर्गति का यही कारण है।

जब तक देश के विज्ञानी समाज की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर शिक्षा की योजना नहीं करते, जब तक सामान्य जनता में विज्ञान को सुबोध बनाने के लिए एक सरल भाषा का उपयोग नहीं किया जायेगा या विदेशी उच्चतर वैज्ञानिक साहित्य को देशी भाषाओं में रूपान्तरित करने की सुदृढ़ व्यवस्था नहीं की जाती और विश्वविद्यालयों को यह उत्तरदायित्व नहीं सौंपा जाता कि अपने स्नातकों या शोधार्थियों को वे विभिन्न उद्योगों की ओर मोड़ सकें तब तक देश में विज्ञान शिक्षा में यथेष्ठ सुधार की आशा नहीं की जा सकती।

स्मरण रहे विज्ञान को जन-जन तक पहुँचाना होगा जिसके लिए लोकोपयोगी विज्ञान का सृजन करना होगा। यह सृजन उच्चकोटि के विज्ञानियों द्वारा होना है। अधकचरे लेखक देश को वैज्ञानिक मानचित्र में स्थान नहीं दिला सकते। लाख विज्ञान की पत्रिकाएँ निकालें किन्तु यदि प्रामाणिक या वरिष्ठ लेखक अपनी कलम नहीं उठाते, यदि वे देशी भाषा में अपने विचार व्यक्त नहीं करते तो देश का उन्नयन कठिन है। यह सच है कि आज विज्ञान जगत् में अंग्रेजी का बोलबाला है, उसी से उत्कृष्ट साहित्य रचा जाता है। किन्तु भारत के अपने सपने तभी पूरे होंगे जब नीचे से ऊपर तक सभी विज्ञानियों द्वारा हिन्दी विज्ञान की भाषा अंगीकार कर ली जावेगी। यदि वे संकोच में पड़े रहे तो भावी पीढ़ियों के लिए आगे घनांधकार है। अन्तरिक्ष युग में विज्ञान शिक्षा की उपेक्षा करके कोई देश आगे नहीं जा सकता।□

[पृष्ठ 4 का शेषांश]

तर्क है कि जैविक-उद्देश्यों के लिए ब्रह्माण्डीय समय-मापितियाँ बहुत छोटी हैं। उन्होंने ऐसे तर्क प्रस्तुत किये हैं जिनसे अनादि ब्रह्माण्ड और श्रेष्ठ बुद्धि का अस्तित्व जो जीव-रूपों की रचना के लिये कार्बनिक अणुओं को प्रेरित करता है, संस्तुत होता है।

यह तर्कधारा सही हो अथवा त्रुतिपूर्ण, हायल के दार्शनिक तर्क में दोष खोज पाना कठिन है। मानवीय मस्तिष्क की जटिलता और इसकी चिंतन और विचार उत्पन्न की क्षमता की सीमा को ध्यान में रखते हुए हायल की धारणा है कि यह मस्तिष्क आज ब्रह्माण्ड के प्रारंभ की गुत्थी सुलझा नहीं सकता। ब्रह्माण्ड की प्रकृति मानवीय मस्तिष्क की सीमितग्राह्यता की अपेक्षा अत्यन्त गंभीर है और इसे वह संम्पूर्णता में ग्रहण नहीं कर पाता। बार-बार मनुष्य को भ्रम होता है कि उसने समस्या का समाधान खोज लिया है, पर सावधान ! महाविस्फोट के पक्षधरों ! सावधान !!

फिर भी यदि कोई ब्रह्माण्डविज्ञानी आपको निश्चित रूप में यह बताने लगे कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कैसे हुयी तो प्रसिद्ध सोवियत भौतिकशास्त्री लन्दाउ के इस कथन का पुनर्स्मरण करलें : "ब्रह्माण्ड विज्ञान बहुधा गलत होता है परन्तु कभी भी संदिग्ध नहीं होता।"□

मानव सेवा में द्रव क्रिस्टल की प्रासंगिकता

ज्ञानेन्द्र सिंह
रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर (राजस्थान)

द्रव क्रिस्टल क्या है ?

हम प्रतिदिन देखते हैं कि पदार्थों में ठोस से द्रव अवस्था में परिवर्तित होते समय केवल एक संक्रमण की प्रक्रिया होती है जैसे बर्फ गर्म करने पर पानी बन जाती है। लेकिन बहुत से कार्बनिक पदार्थ ऐसे भी हैं जिनमें ठोस से द्रव में परिवर्तन के समय एक से अधिक संक्रमण प्रक्रियायें होती हैं जो इस बात की द्योतक हैं कि उस पदार्थ में परिवर्तित होते समय एक या अधिक अन्तरिम अवस्थायें विद्यमान होती हैं। इन अन्तरिम अवस्थाओं को मध्यप्रावस्था के नाम से जाना जाता हैं। मध्यप्रावस्थामें अणुओं की क्रमबद्धता ठोस और समदैशिक द्रव (ISOTROPIC LIQUID) के बीच की होती हैं। मध्यप्रावस्थायें दो प्रकार की होती हैं—

(1) **अक्रमबद्ध क्रिस्टल मध्यप्रावस्था :** ऐसी प्रावस्था जिसमें त्रिविमीय क्रिस्टल जालक (Lattice) सुरक्षित रहतो है परन्तु घूर्णनीय क्रम विकार द्वारा विशिष्टता लिये होती है उसे अक्रमबद्ध क्रिस्टल मध्यप्रावस्था कहते हैं और प्लास्टिक सुघट्य क्रिस्टल के नाम से जाना जाता है। सुघट्य क्रिस्टल गोलाकार अणुओं से बनते हैं जिनके लिये जालक ऊर्जा की अपेक्षा घूर्णन बन्धन कम होता है। ऐसे पदार्थों का तापमान बढ़ाने पर एक स्थिति ऐसी आती है जब अणुओं में ऊर्जा इतनी आ जाती है कि घूर्णनीय ऊर्जा बन्धन समाप्त हो जाता है परन्तु अणुओं में ऊर्जा इतनी नहीं होती कि वह जालक को तोड़ सकें। परिणामस्वरूप एक ऐसी प्रावस्था आती है जिसमें अणुओं में स्थानान्तरणीय क्रमबद्धता सुरक्षित रहती है परन्तु घूर्णनीय अक्रम उत्पन्न हो जाता है। ऐसी ही अवस्था को प्लास्टिक क्रिस्टल के नाम से जाना जाता है। इस लेख का उद्देश्य इस प्रावस्था की जानकारी देना नहीं है इसलिये इसको यहीं समाप्त किया जाता है।

2. **क्रमबद्ध तरल मध्यप्रावस्था :** ऐसी प्रावस्था जिसमें जालक टूट जाती है परन्तु घूर्णनीय क्रम होता है, उसे क्रमबद्ध तरल मध्यप्रावस्था कहते हैं और द्रव क्रिस्टल के नाम से जाना जाता है। द्रव क्रिस्टल दीर्घित अणुओं से बनते हैं। यद्यपि जालक टूट जाती है परन्तु अणु कुछ मात्रा में घूर्णन क्रम दर्शाते हैं (कुछ परिस्थितियों में स्थानान्तरणीय क्रम भी) और जालक के अभाव का अर्थ है कि ये मध्यप्रावस्थायें तरल हैं। इन क्रमबद्ध तरल मध्यप्रावस्थाओं को द्रव-क्रिस्टल कहते हैं।

द्रव क्रिस्टल में ऐसे अणु विद्यमान होते हैं जो इधर-उधर घूम सकते हैं, फिर भी समूहों में रहते हैं। इसीलिये द्रव क्रिस्टल ठोस नहीं होते और मन्द गति से बहते हैं। इनके अणु छड़ों जैसा आकार लिये होते हैं तथा दोनों छोरों पर विद्युत् बल होता है जिसके कारण ये निश्चित रूप में सजे रहते हैं। एक ही प्रावस्था में द्रव जैसी तरलता और साथ ही साथ ठोस जैसा अणुक्रम द्रव क्रिस्टल को अद्वितीय बना देता है।

द्रव क्रिस्टल की खोज

सन् 1888 में रेनिट्जर (RENITZER) ने कोलेस्टेराल (cholesterol) के विभिन्न एस्टरों (Esters) को बनाते और उनका परीक्षण करते समय देखा कि कोलेस्टेरिल बेंज़ोएट (cholesteryl

Benzoate) का ठोस से द्रव में संक्रमण असतत नहीं था। यद्यपि क्रिस्टल 145.50 से० पर पिघल गया और द्रव पदार्थ की तरह बहने लगा परन्तु पिघला हुआ पदार्थ साफ नहीं था और गँदलापन लिये हुए था। इसको और अधिक गर्म करने पर उन्होंने देखा कि द्रव का गँदलापन अदृश्य हो गया और 178. 5° से० पर समदैशिक द्रव बन गया। सन् 1890 में लेहमान (LEHMANN) ने प्रयोग करते समय देखा कि अमोनियम ऑलियेट और पी-एजॉक्सी फिनेटोल भी क्रिस्टलीय और द्रव अवस्थाओं के मध्य में अविल अवस्था (Turbid State) दर्शाते हैं। लेहमान ने यह भी प्रदर्शित किया कि अविल द्रव में अणुक्रमबद्धता का कुछ अंश है। क्रासित ध्रुवणों (crossed polarizers) द्वारा देखने पर स्पष्ट दिखा कि यद्यपि अविल द्रव बहता है परन्तु प्रकाशीय असमदैशिकता दर्शाता है जो कि क्रिस्टल की विशिष्टता होती है। लेहमान ने इस अवस्था को तरल क्रिस्टल कहा और अंत में इसका नामकरण "द्रव क्रिस्टल" कर दिया। तभी से यह नाम चला आ रहा है।

फ्रीडेल (FRIEDEL) नामक वैज्ञानिक ने द्रव पर इतना अधिक शोधकार्य किया है कि उनको द्रव क्रिस्टल का जनक कहा जाता है। सन् 1922 में फ्रीडेल ने सबसे पहले द्रव क्रिस्टल को तीन वृहत् वर्गों में बाँटा—

(1) नेमैटिक (NEMATIC) (2) कोलेस्टेरिक (CHOLESTERIC) (3) स्मेक्टिक (SMECTIC)

नेमैटिक—इस प्रावस्था में अणु एक दूसरे के समानान्तर रहने की कोशिश करते हैं। ये प्रावस्थायें एक अक्षीय हैं और सममित अक्ष को साधारणतया 'निदेशक' कहा जाता है। अणुओं का स्थानान्तरण समीप वाले अणुओं से किसी भी दिशा में हो सकता है परन्तु फिर भी कुछ सीमा तक नेमैटिक निदेशक के समानान्तर ही रहते हैं।

कोलेस्टेरिक—इस प्रावस्था में अणुओं की सजावट सतहों में होती है और सतहों में परस्पर निश्चित सम्बंध होता है। अगली सतहों का पिछली सतहों से निश्चित मात्रा घुमाव में रहता है और प्रत्येक सतह का तीनों अक्षों के चारों ओर भी घुमाव सुनिश्चित रहता है। तात्पर्य यह है कि कोलेस्टेरिक निदेशक कुन्डलिनी (Helix) का रूप धारण किये रहता है।

स्मेक्टिक—इस प्रावस्था में अणुओं की सजावट का क्रम नेमैटिक से ऊँची श्रेणी का होता है और अणु एक दूसरे के समानान्तर ही नहीं अपितु उनकी स्थिति दीर्घ अक्ष के समानान्तर निश्चित होती है। इस प्रावस्था में अणु पास-पास झुंडों या सतहों में व्यवस्थित रहते हैं। सतहों में कोई घुमाव नहीं होता और सतहें एक दूसरी से समानान्तर रहती हैं एवं स्मेक्टिक द्रव क्रिस्टल की श्यानता (Viscosity शेष दोनों प्रावस्थाओं से अधिक होती है। स्मेक्टिक प्रावस्थायें अब तक आठ विभिन्न रूपों में पायी गयी हैं इन्हें स्मेक्टिक ए, बी, सी०······ के नाम से जाना जाता है। अणुओं की सजावट दिशा अर्थात् स्मेस्टिक निदेशक की दिशा में अन्तर से ही आठ रूप बनते हैं।

द्रव क्रिस्टल की विशेषतायें

इन पदार्थों की अनेक विशेषतायें हैं। इनमें से कुछ का विवरण निम्न है—

1. **मध्य प्रावस्थाओं में संक्रमण** : कुछ ऐसे द्रव क्रिस्टल पदार्थ ज्ञात हैं जो एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित किये जा सकते हैं। उदाहरण स्वरूप कोलेस्टेरिल स्टीयरेट कुछ ताप परास में कोलेस्टेरिक व नेमैटिक दोनों रूप दर्शाता है। स्मेक्टिक व नेमैटिक दोनों रूपों में पाये जाने वाले भी द्रव क्रिस्टल पदार्थ ही हैं। यह संक्रमण क्रिया दो प्रावस्थाओं के मध्य विशेष तापमानों पर होती है एवं प्रतिवर्ती होती है। ऐसे द्रव क्रिस्टल पदार्थ जो निश्चित ताप परास में एक से अधिक संरचना दर्शाते हैं उन्हें बिम्बप्रतिबिम्ब कहते हैं। कुछ ऐसे भी द्रव क्रिस्टल पदार्थ हैं जो दो भिन्न स्मेक्टिक रूपों को धारण कर सकते हैं। इस व्यवहार को बहुमध्यकायत्व कहते हैं।

2. **रंग प्रदर्शन क्षमता** : हम सभी ने देखा है कि

साबुन के बुलबुले में कितने चमकीले रंग दिखते हैं। इसी तरह की रंग प्रदर्शन क्षमता अनेक द्रव क्रिस्टलों में पायी जाती है। भिन्न-भिन्न तापमानों पर अधिकतर कोलेस्टेरिक द्रव क्रिस्टलों द्वारा विभिन्न रंग प्रदर्शित किये जाते हैं और विशिष्ट तापमान पर विशिष्ट रंग ही प्रदर्शित किया जाता है। आवर्तित प्रकाश के विक्षेपण के परिणामस्वरूप ही रंग दिखते हैं। विक्षेपण क्रिया द्रव क्रिस्टल पदार्थ में अणुओं की परस्पर दूरी व सजावट के ढंग पर निर्भर करती है। सूक्ष्म ताप परिवर्तन अणुओं की व्यवस्था को बदल देता है।

3. विद्युत् क्षेत्र, चुम्बकीय क्षेत्र व प्रतिबल का प्रभाव : द्रव क्रिस्टल पदार्थों के मध्य क्षीणबल के कारण अणुओं की सजावट को विद्युत् अथवा चुम्बकीय बल अथवा प्रतिबल लगाने पर विकृत या विरूपित किया जा सकता है। सभी प्रकार के द्रव क्रिस्टल इन बलों द्वारा प्रभावित होते हैं। रंग प्रदर्शित करने वाले द्रव क्रिस्टलों का रंगक्रम स्थानान्तरित हो जाता है। पारदर्शी शीशे को अपारदर्शी बनाया जा सकता है जैसे नेमैटिक द्रव क्रिस्टल पदार्थ (एम० बी० बी० ए० M B B A) को दो शीशे की प्लेटों के बीच दबाने पर शीशा पारदर्शी होता है परन्तु सूक्ष्म विद्युत्धारा प्रवाहित करने पर शीशा अपारदर्शी हो जाता है।

4. मिश्रण द्वारा प्रभाव : द्रव क्रिस्टलों में थोड़ी अशुद्धि या परस्पर मिश्रण अणुओं में क्षीणबल का लाभ उठाकर अणुओं की सजावट व संरचना में भारी परिवर्तन कर देती है। अतः परस्पर मिश्रण या अशुद्धि से इच्छित तापमान पर इच्छित रंग प्रदर्शित किये जा सकते हैं। एक कोलेस्टेरिक को दूसरे कोलेस्टेरिक में मिलाकर, कोलेस्टेरिक को नेमैटिक में मिलाकर अर्थात् सभी तरह की परस्पर अदला-बदली द्वारा उत्पन्न मिश्रणों से विभिन्न विशेषतायें उत्पन्न की जा सकती हैं।

द्रव क्रिस्टल की उपयोगितायें

द्रव क्रिस्टल पदार्थों की अद्वितीय विशेषतायें ही उनकी अनूठी उपयोगिताओं का आभास दे देती हैं। कुछ उपयोगिताओं का विवरण निम्नलिखित है—

1. आंकिक प्रदर्शन पट्टिकायें : विज्ञान तकनीकी के क्षेत्र में इनका उपयोग इतना बढ़ा है कि अधिकतर उपकरणों में मापक पट्टी पर आंकिक प्रदर्शन के लिए द्रव क्रिस्टल पदार्थों का प्रयोग किया जाता है जिसे एल० सी० डी० कहते हैं। आजकल बाजारों में एल० सी० डी० घड़ियों और परिकलनों या कैलकुलेटरों की बाढ़ सी आ गयी है एवं बहुत ही सस्ते दामों पर उपलब्ध हैं। इलेक्ट्रॉनिक गणकों या कम्प्यूटरों में यही द्रव क्रिस्टल प्रदर्शन-युक्ति प्रयोग में लायी जा रही है। जापान में द्रव क्रिस्टल घड़ी पट्टिकाओं वाली कारें उपलब्ध हैं। द्रव क्रिस्टल प्रदर्शन पर्दे वाले जेब में रखने लायक छोटे दूरदर्शन (Pocket Television) का प्रारूप भी तैयार हो चुका है और थोड़े ही समय में जेबी दूरदर्शन आम बात हो जायेगी।

2. प्रकाश ध्रुवीकरणीय छन्ने : पोलाकोट (Polacoat) विधि द्वारा बनाने गये प्रकाश ध्रुवीकरण छन्ने (Light Polarising Filters) काफी प्रचलित हैं। इनमें द्रववर्ती (Lyotropic) नेमैटिक द्रव क्रिस्टल घोल प्रयोग में लाया जाता है। नेमैटिक घोल को दो शीशे की पारदर्शक प्लेटों के बीच दबा दिया जाता है और घोलक का सावधानी से वाष्पीकरण कर ध्रुवीकरणीय पदार्थ के अणुओं को उचित स्थिति में सजा दिया जाता है। जो द्रव क्रिस्टल पदार्थ वर्णक्रम स्पेक्ट्रम के विभिन्न भागों में प्रकाश अवशोषण करने की क्षमता रखते हैं, उनका प्रयोग कर सादे या रंगीन ध्रुवीकरणीय छन्नों के साथ-साथ पराबैंगनी क्षेत्रों के लिये भी छन्ने बनाये जाते हैं।

3. क्षति रहित परीक्षण : किसी निश्चित तापमान पर रंगों की प्रकाश विक्षेपण की विशेषता कोलेस्टेरिक द्रव की उपयोगी विशिष्टता है। यह विशेषता प्रतिवर्ती एवं संवेदनशील है। इसलिए ऐसे पदार्थों को सुगमता से सही तापमान ज्ञात करने के लिये प्रयोग में लाया जाता है। बिना क्षति पहुँचाये वस्तुओं की बनावट में दोष का पता द्रव क्रिस्टल थर्मामीटर द्वारा तापान्तर ज्ञात करके किया जाता है। उचित मात्रा में द्रव क्रिस्टल पदार्थ को वस्तु पर फैलाकर भी रंग में अन्तर से दोष पता कर सकते हैं।

[शेष पृष्ठ 13 पर]

विचारपरक लेख

भारत में विज्ञान नगरी का औचित्य ?

श्रीमती मंजुलिका लक्ष्मी
5 ई/4 लिडिल रोड, जार्जटाउन, इलाहाबाद

न जाने कब से मनुष्य अपनी कल्पनाओं के एक आदर्श लोक—एक यूटोपिया—का स्वप्न देखता चला आ रहा है। यूटोपिया अर्थात् सुख-सुविधाओं और सम्पन्नता की एक काल्पनिक नगरी जहाँ चिन्ताओं कठिनाइयों और अभावों का प्रवेश तक नहीं। भारत सरकार ने जब 30 जून 1983 को अपने देश में 'विज्ञान नगरी' स्थापित करने और उसमें विदेशों में जा बसे भारतीय मूल के वैज्ञानिकों को बुलाकर बसाने की घोषणा छपायी तो ऐसा ही लगा कि शायद यह वैज्ञानिकों का एक यूटोपिया होगा जहाँ सुविधाओं और साधनों की कोई कमी न रहेगी और वैज्ञानिक परीशानियों से मुक्त होकर प्रयोगशालाओं में अपने इच्छित अनुसंधान कार्य कर सकेंगे। विज्ञान नगरियों की स्थापना विश्व के अन्य देशों में भी की गई है और वहाँ यह योजना सफल भी रही है। समृद्ध देश इसमें अग्रणी रहे हैं। सोवियत रूस के नोवोसिबिर्स्क नामक स्थान पर ऐसी ही एक विज्ञान नगरी का निर्माण किया गया है जहाँ वैज्ञानिक किसी दबाव या निर्देश के अन्तर्गत नहीं वरन् अपने मनोनुकूल विषय में अनुसंधान करते हैं।

भारत की इस सम्भावित विज्ञान नगरी का मूल उद्देश्य होगा विदेशों में कार्यरत भारतीय वैज्ञानिक की प्रतिभा का अपने देश के हित के लिए उपयोग। अर्थात् सरकारी निमंत्रण पर ये वैज्ञानिक कम या ज्यादा दिनों के लिए उस विज्ञान नगरी में आकर बसेंगे और अपनी बौद्धिक क्षमता तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रभाव से स्वदेश को कृतार्थ करेंगे। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि यह विज्ञान नगरी प्रमुख रूप से विदेशों में जा बसे भारतीय मूल के वैज्ञानिकों के लिए होगी जिन्हें अपने देश का वैज्ञानिक माहौल या वेतन संतोषप्रद नहीं लगा। इस योजना के तहत उन्हें विदेशों में प्राप्त होने वाली अधिकतम सुविधायें और आधुनिकतम उपकरणों और यंत्रों से लैस प्रयोगशालायें यहीं उपलब्ध कराकर बसाने का उपक्रम किया जायेगा।

अब प्रश्न यह है कि क्या हमारे देश में इस प्रकार की योजनायें सफल हो सकती हैं? हमारी आवश्यकतायें और समस्यायें क्या इसके लिए अवसर प्रदान करती हैं? और क्या हमारी सरकारी व्यवस्था इसमें सक्षम है? इस समय देश प्रतिभा पलायन (Brain Drain) और प्रतिभा मंडूरण (Brain Rusting) की समस्याओं से ग्रस्त है। अवसर मिलते ही देश के युवा वैज्ञानिक अच्छे जीवन स्तर और बेहतर वैज्ञानिक वातावरण के लोभ में विदेशों में जा बसते हैं और उनमें से अधिकांश पुनः देश में लौटकर आना नहीं चाहते। उनपर व्यय किया गया धन और समय इस दृष्टि से बिल्कुल व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि देश को उनकी प्रतिभा का लाभ नहीं मिलता। ऐसे ही वैज्ञानिकों को एक 'विशिष्ट प्रलोभन' के तहत देश में बुलाकर उनसे कार्य कराने की योजना ही विज्ञान नगरी की पृष्ठभूमि में है। इस योजना के साथ सबसे बड़ी खामी तो यही है कि हम मानकर चलते हैं कि विदेश में कार्यरत या विदेश से लौटा वैज्ञानिक अपनी बुद्धि और योग्यता में स्वदेशी वैज्ञानिकों से

श्रेष्ठतर है। वस्तुस्थिति यह है कि देश से प्रतिबद्धता के अभाव में ही इन वैज्ञानिकों ने यहाँ की अपेक्षा विदेशों में जाकर रहना स्वीकार किया है। कुछ विशेष परिस्थितियों और व्यक्तियों की बात छोड़ दी जाये तो इनमें अधिकांश वही लोग हैं जिनपर सुविधा-भोगी होने की मुहर आसानी से लगाई जा सकती है। क्या ऐसे लोगों के लिए ही विज्ञान नगरी सजाकर वहाँ स्वदेशी हितों की दृष्टि से अनुसंधान कार्य कराये जायेंगे ? और क्या यह मान लेना उचित होगा कि जो सुविधाओं की तलाश में बाहर नहीं भटका और वातावरण की घुटन तथा उपकरणों के अभाव को स्वीकार करके भी अपने ही देश में कार्य करने में जुटा रहा वह स्वदेशी वैज्ञानिक 'फारेनरिटर्न्ड' वैज्ञानिकों से योग्यता की दृष्टि से हीन है ? एक अन्य आरोप इस योजना पर यह भी है कि नीति निर्धारित करने वाले तत्वों ने कुछ व्यक्तिगत कारणों से ऐसी योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत उनके प्रवासी वैज्ञानिक सम्बन्धी सरकारी खर्चे पर आने जाने की या अपने जीवन के मध्याह्न में सम्मान-जनक शर्तों पर स्वदेश में आकर बसने की अपनी इच्छा की पूर्ति कर सकें।

सरकार का शायद यह भी विचार हो कि विदेशों से आमंत्रित किये जाने वाले वैज्ञानिकों को जो वेतन या सुविधायें वहाँ प्राप्त हैं वे ही यहाँ भी उपलब्ध कराना सैद्धांतिक दृष्टि से आवश्यक होगा। किन्तु इस बात पर आसानी से शंका की जा सकती है कि ऐसी सुविधा केवल विदेश से लौटे वैज्ञानिकों को ही क्यों ? जो यहीं पर कार्य करने वाले वैज्ञानिक हैं उन्हें ही यह सुविधायें देकर उनसे और सार्थक काम क्यों न लिया जाये ? इस दोहरी नीति के लिए क्या यह तर्क काफी जोरदार है कि यहां रहने वाले वैज्ञानिक तो इन सुविधाओं के आदी नहीं हैं अतः उन्हें उससे वंचित रखने में कोई हानि नहीं।

एक दूसरा प्रश्न है अनुसंधान के लिए आदर्श वातावरण प्रदान करने का। आज देश के लगभग सभी सरकारी वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों की लालफीता-शाही और शोधकार्य में बाधक वातावरण पर बहुत कुछ लिखा-कहा जा रहा है। इस सरकारी तंत्र और उसकी जड़ता से मुक्त शोधानुकूल वातावरण वहाँ तैयार किया जा सकेगा, यह संदेहास्पद है। वर्तमान स्थिति को देखते हुये मूलभूत अनुसंधान कार्य के उप-युक्त वातावरण की सृष्टि के आश्वासन पर विश्वास करना भी कठिन है। इन स्थितियों में एक संभावना यह भी है कि वहाँ के वे उच्च श्रेणी के वैज्ञानिक जिनका योगदान महत्वपूर्ण और लाभप्रद होगा शायद उपयुक्त वातावरण के अभाव में यहाँ आना ही न चाहें। उच्च-कोटि के वैज्ञानिक की अपनी एक विशिष्ट चिंतनधारा और कार्यपद्धति होती है। उसके समक्ष अपना कार्य ही सर्वोपरि होता है अतः यदि हम भारतीय विज्ञान नगरी की प्रयोगशाला में वह शोधोपयुक्त वातावरण निर्मित करने में असमर्थ रहे। (जो वर्तमान स्थिति में अधिक सम्भाव्य है) तो ज्यादा उम्मीद यही है कि इस योजना से शोधकार्य के एक उचित अवसर की तलाश में नहीं बल्कि सुविधाओं के लोभ में मध्यम श्रेणी के वैज्ञानिक ही विज्ञान नगरी में अधिकाधिक संख्या में आ बसें।

हमें देश की वैज्ञानिक प्रतिभाओं के असंतोष के प्रति भी सचेत रहना होगा। यदि देश के एक बड़े वर्ग के प्रति उदासीनता दिखाकर विदेश से लौटे थोड़े से लोगों को अधिकाधिक प्रश्रय देने की नीति बढ़ती रही तो यह वैज्ञानिक प्रगति पर कुठाराघात होगा।

एक और विचारणीय तथ्य है कि विज्ञान नगरी की यह योजना मूलभूत अनुसंधान (Basic or Fundamental Research) के लिए बनाई गई है। शायद इसकी पृष्ठभूमि में हमारे उच्चस्तरीय वैज्ञानिक क्षेत्रों में व्याप्त यह भावना कार्यशील है कि 'अप्लायड रिसर्च' (Applied Research) 'फण्डामेंटल रिसर्च' से निम्नतर है। इस संबंध में प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० आत्माराम की एक उक्ति बरबस याद आती है, "विज्ञान द्वारा 'कैसे' का उत्तर खोजने के साथ ही 'क्यों' का जवाब पाना भी जरूरी है।" इसके अनुसार मूलभूत अनुसंधान का विरोध न करते हुये भी यह देखना होगा कि उससे देश का कितना भला होता है।

इसी से जुड़ी हुई एक और धारणा है कि वैज्ञानिक अपने इर्द-गिर्द के समाज से अलग रहकर अधिक अच्छा कार्य कर लेता है। शायद इसीलिए विज्ञाननगरियों की आवश्यकता भी महसूस हुई। यहाँ पर कार्य की स्वतन्त्रता और समाज से कट जाने को एक ही मान लेने की भूल हुई है। सच्चाई तो यह है कि जनहित के लिए वैज्ञानिक अनुसंधान समाज से कटकर नहीं किये जा सकते।

ऐसे भी अनेक वैज्ञानिक हैं जिनकी सम्पूर्ण शिक्षा दीक्षा विदेशों में हुई है और वे केवल स्वदेश के प्रति अपने कर्त्तव्यबोध के कारण ही वापस आकर यहाँ की प्रयोगशालाओं में कार्यरत हैं। किंतु दुर्भाग्य का विषय है कि उनकी इस वापसी को बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं समझा जाता है। उल्टे इनकी अपेक्षा वे वैज्ञानिक अधिक स्तरीय समझे जाते हैं जिनकी शिक्षा तो यहाँ हुई और जो विदेशों में जाकर बस गये तथा जिन्होंने व्यक्तिगत आकांक्षाओं को देशहित की अपेक्षा अधिक महत्व दिया।

विज्ञान नगरी से जुड़े कुछ और भी प्रश्न हैं जो देश की अनेक वर्तमान समस्याओं को सुलझाने से भी संबंधित हैं। प्रथम तो यह है कि यदि एक पृथक विज्ञान नगरी की स्थापना पर बल न देकर वर्तमान विश्वविद्यालयों, अनुसंधानशालाओं और तकनीकी संस्थानों की कार्यक्षमता को बढ़ाने पर एवं उनमें व्याप्त जड़ता को समाप्त करने तथा बाधक तत्वों के मूलोच्छेदन पर बल दिया जाये तो विज्ञान की उतनी ही प्रगति संभव है जितनी इन विज्ञान नगरियों से अपेक्षित है। इस बात की पूरी आशा है कि यदि यहाँ की कार्यकारी परिस्थितियों और वातावरण में सुधार हो और सम्बद्ध वैज्ञानिकों को कार्य की सार्थकता का संतोष मिल सके तो बिना किसी उच्चपद या वेतन के प्रलोभन के भी विदेशी भारतीय वैज्ञानिक स्वदेश में लौटने की ओर उन्मुख होंगे।

विज्ञान की उन्नति के लिए यह भी आवश्यक है कि विदेशी सहयोग पर निर्भरता की स्थिति को समाप्त नहीं तो न्यूनतम किया जाये। इसके स्थान पर अपने ही वैज्ञानिकों और तकनीशियनों को परिवेश की समस्याओं के अनुरूप अनुसंधान के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करना बेहतर होगा। निश्चय ही यह नीति देशहित की दृष्टि से अधिक सार्थक और लाभप्रद सिद्ध होगी। ऐसी उद्देश्यपूर्ण योजनायें बनाई जायें जो युवा वैज्ञानिकों को नये अनुसंधान की प्रेरणा दें तथा तकनीकी क्षेत्र की उत्पादकता को बढ़ाने में सहायक हों तो विदेशी तकनीकी ज्ञान और विदेशी वैज्ञानिकों पर पराश्रयता को काफी हद तक खत्म किया जा सकता है।

भारतीय विज्ञान को भारतीय समस्याओं से ही जुड़कर चलना होगा। विज्ञान नगरियों से हमारी वर्तमान समस्यायें सुलझती नहीं दिखतीं। अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक प्रगति से होड़ लेने की नीयत से विज्ञान नगरियों की स्थापना कहीं अन्यान्य संस्थानों और परिषदों की तरह 'सफेद हाथी' ही न साबित हों इसकी तरफ से हमें पूर्णतया सचेत रहना होगा।☐

[पृष्ठ 10 का शेषांश]

4. **शारीरिक अनियमितता परीक्षण** : वस्तुओं के अतिरिक्त मानव शरीर में कैंसर व ट्यूमर जैसे विकारों कोभी द्रव क्रिस्टल थर्मामीटर आसानी से बता देते हैं। आजकल इनका उपयोग अमेरिका या रूस जैसे विकसित देशों में किया जाता है। द्रव क्रिस्टल से बनी चक्रिका को शरीर पर रख दिया जाता है और कुछ क्षणों पश्चात् चक्रिका के रंग द्वारा तापमान मालूम कर लिया जाता है। शरीर के विभिन्न भागों पर चक्रिका को रखने से रंगों के परिवर्तन ही शरीर में अनियमितता का संकेत देते हैं। द्रव क्रिस्टल पदार्थों के मिश्रण द्वारा बनी अंगूठियाँ भी मिलती हैं, जिनसे मानव की मन:स्थिति का पता किया जा सकता है। इन अंगूठियों को मूडरिंग्स (Mood Rings) कहा जाता है। हमारे देश में द्रव क्रिस्टल पर शोध कार्य में बहुत से वैज्ञानिक कार्यरत हैं। नोबेल पुरस्कार से सम्मानित भारतीय मूल के अमेरिकी वैज्ञानिक डा० एस० चन्द्रशेखर और जे० एस० दवे के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। द्रव क्रिस्टल की खोज ने अब संभावनाओं के अनेक द्वार खोल दिए हैं।☐

महान आनुवंशिकीविद् ग्रेगर जॉन मेन्डल (1822-1984) की पुण्यशती पर

आनुवंशिकी के सौ वर्ष

अरविन्द मिश्र

मत्स्य प्रशिक्षण केन्द्र चिनहट, लखनऊ (उ० प्र०)

जिन बुनियादी सिद्धान्तों की आधारशिला पर आज के जीव विज्ञान की नींव टिकी हुई है, उनमें डार्विन और मेन्डल के सिद्धान्त सर्वप्रमुख हैं। 1982 में समूचे विश्व में, डार्विन के सौवें पुण्य वर्ष पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की व्यापक समीक्षा हुई थी। यह वर्ष मेन्डल की मृत्यु का सौवाँ वर्ष है। डार्विन के ठीक विपरीत मेन्डल अपने जीवन काल में बिल्कुल अनजाने ही थे। इनके आनुवंशिकी के सिद्धान्त भी एक लम्बे समय तक गुमनामी में रहे। जहाँ डार्विन को एक वैज्ञानिक के रूप में अपने जीवन काल में ही बड़ी प्रसिद्धि मिली, वहीं इस महान वैज्ञानिक की मृत्यु के लगभग दो दशक तक भी चन्द लोग उन्हें बस एक पादरी के रूप में ही जानते थे। किन्तु कौन जानता था कि डार्विन के सिद्धान्तों के ही स्तर के आनुवंशिकी के कुछ मूल नियम जन्म ले चुके हैं—और आने वाली बीसवीं शताब्दी में जीवविज्ञान के क्षेत्र में एक नया तहलका मचने वाला है। आइये, आनुवंशिकी के प्रणेता इस महान वैज्ञानिक की पुण्य शताब्दी पर आनुवंशिकी के ही सौ वर्षीय अतीत पर एक दृष्टि डालें।

आस्ट्रिया निवासी मेन्डल की जिज्ञासा जीव-जन्तुओं के आकार-प्रकारों तथा रंगों की विविधता में थी। साथ ही उनकी रुचि जीव-जन्तुओं में पीढ़ी दर पीढ़ी होने वाले अन्तरों में भी थी। मटर के पौधों, (Garden Pea, *Pisum sativum*) पर किये गये प्रयोगों के आधार पर उन्होंने क्रान्तिकारी नियमों का सूत्रपात किया। इन्हीं नियमों ने आनुवंशिकी के विज्ञान की नींव रखी।

अपने एक प्रयोग में मेन्डल ने दो प्रकार के लम्बे तथा बौने मटर के पौधों को उगाया। जब लम्बे पौधों के पुष्पों का आपस में परागण हुआ तो निषेचित बीजों से उत्पन्न सभी पौधे लम्बे ही हुए। इसी तरह बौने पौधों के आपसी संयोग से उत्पन्न सभी सन्तति बौनी हुई। सिद्ध हुआ कि लम्बे पौधे से लम्बे पौधों तथा बौने पौधों से बौनों की ही उत्पत्ति होती है। इस प्रक्रिया में वातावरणीय कारकों का प्रभाव तो देखा गया किन्तु उससे वंशानुगमन की निश्चित प्रक्रिया परिवर्तित नहीं हुई। उन्होंने देखा कि प्रयोगों में आनुवंशिकी ने निर्णायक भूमिका निभायी। लम्बे पौधे 6 से 7 फीट तक लम्बे थे, जब कि बौने पौधों की लम्बाई केवल 6 से 18 इंच तक ही थी।

अब मेन्डल ने लम्बे तथा बौने पौधों का संयोग कराया। इसमें, पहली संतति (F_1) के सभी पौधे लम्बे थे। इस प्रथम संतति में बौने पौधों की पहचान अदृश्य थी। जब इस संतति के लम्बे पौधों का आपसी संयोग हुआ तो आने वाले वंश (F_2 की दूसरी पीढ़ी) में बौनापन पुनः दृश्य हो गया। इसमें कुछ तो लम्बे पौधे थे और कुछ बौने। औसत 3 लम्बे तथा 1 बौने पौधे का अनुपात पाया गया। अपने अन्य प्रयोगों में मेन्डल ने कई अन्य जोड़ों में परस्पर विरोधी गुणों के वंशानुगमन का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि दूसरी पीढ़ी (F_2) में सभी एक संकरित (Mono-

hybrid) पौधों से 3:1 का अनुपात मिला। एक जोड़े का कोई सदस्य दबंग (Dominant) होता था तो दूसरा गौण (Recessive)। मेन्डल इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जीवों में आनुवंशिकी इकाइयों का संवहन निषेचन के दौरान, स्वतन्त्र भौतिक इकाइयों (?) के जरिये सम्पन्न होता है। तब उन्हीं कल्पित भौतिक इकाइयों को उन्होंने जर्मन शब्द एनलाग (Anlage, pl. Anlagen) का नाम दिया। मेन्डल की अवधारणा में, कुछ गुणों का पहली पीढ़ी में अदृश्य होना तथा पुनः उन्हीं गुणों का दूसरी पीढ़ी में प्रकटीकरण एनलाग की एक विशेष अवस्था में ही सम्भव था। एनगेलान (आज का जीन, Gene) की वह अवस्था उनके जोड़े में होने की थी।

मेन्डल ने अपने पहले प्रयोगों के आधार पर जो सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला वह "परिशुद्धता के नियम" से विख्यात हुआ। इसमें वंशाणुओं (Genes) के जोड़ों में अलगाव की बात कही गयी थी। इसके उदाहरण में उन्होंने ऐसे पौधों में संयोग कराया जिनमें वंशाणुओं के दो जोड़े विभिन्नता लिये हुए थे इसमें, F_1 पीढ़ी में तो सभी सन्तति दबंग वंशाणुओं के प्रभाव में थी, किन्तु दूसरी पीढ़ी (F_2) में पौधों की विभिन्नता में 9:3 : 3:1 का अनुपात मिला। इस पर मेन्डल का निष्कर्ष था कि वंशाणुओं के दोनों जोड़े एक दूसरे से स्वतन्त्र थे। इसे ही उनके दूसरे नियम "वंशाणुओं के स्वतन्त्र अपव्यूहन" (Independent assortment) के रूप में मान्यता मिली। अपने इन्हीं प्रेक्षणों को उन्होंने एक प्रपत्र के रूप में तत्कालीन अलब्रुन सोसायटी के सामने रखा था। किन्तु उस समय विद्वानों ने उस पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। इस तरह आनुवंशिकी की ये प्रारम्भिक मान्यतायें आरम्भ में गुमनामी की शिकार हो गयीं।

ठीक 1900 में तीन वैज्ञानिकों ने मेन्डल की मान्यताओं को गुमनामी के अन्धेरे से उबार लिया। ये तीन वैज्ञानिक थे—ह्यूगो डी व्रीज, कार्ल कोरेन्स और इरिक वान टेशरमॉक—सेसनेग। इन तीनों वैज्ञानिकों ने स्वतन्त्र रूप से मेन्डल के नियमों को खोजा था और उसके महत्व को स्वीकारा था। इसमें डी व्रीज ने मेन्डल के नियमों को विशेष महत्व दिया। अब आनुवंशकी के एक नये युग का श्री गणेश हो चुका था।

ह्यूगो डी व्रीज ने 1901 में अपने प्रसिद्ध उत्परिवर्तन सिद्धान्त (Mutation theory) को वैज्ञानिकों के समक्ष रखा। उत्परिवर्तन का आशय जीवों के जननकोशाओं (Germplasm) में होने वाले वे तात्कालिक परिवर्तन हैं जो वातावरणीय कारकों से उत्पन्न हो सकते हैं और जिनसे जीवों की सन्तति परिवर्तित रूप ले सकती है। डी व्रीज की इस मान्यता से प्रकृति में विकास के दौरान हो रहे विभिन्नताओं (Variations) की एक कोटि की व्याख्या सम्भव हुई। यद्यपि इस मत का पहले डार्विनवादियों ने (जो विकास की धीमी गति से उत्पन्न विभिन्नता के अनुयायी थे) तीव्र विरोध किया, किन्तु बाद में विभिन्नता के मूल में मिले इस नये कारण से डार्विन के सिद्धान्त को ही बल मिला। क्योंकि इससे पूर्व विभिन्नता के लिये दिया गया लैमार्क का सिद्धान्त, डार्विन के सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं था। लेकिन विभिन्नता की एक उपयुक्त व्याख्या के अभाव में डार्विन ने लैमार्क के मत को विवशता से स्वीकारा था। जीवविज्ञान के इस क्षेत्र में इस शताब्दी का श्रीगणेश, उत्परिवर्तन के सिद्धान्त से हुआ और आनुवंशिकी के लिये प्रगति के नये द्वार खुल गये।

अंग्रेज वैज्ञानिक विलियम बैटेसन ने इंग्लैड में सबसे पहले (8 मई, 1900) मेन्डल के अनुसन्धान को प्रचारित किया। 1901 की शुरुआत में ही मेन्डल का कार्य इंग्लैण्ड की मशहूर रायल हार्टीकल्चर सोसाइटी की कार्यवाही-प्रकाशन में प्रकाशित हुआ। बैटेसन ने मेन्डल द्वारा मटर के पौधों पर किये गये अनुसन्धानों को पशुओं पर दोहराया और उन्हें उन पर भी लागू पाया। बैटेसन के दो प्रकाशनों, "मेन्डल्स प्रिंसिपल ऑव हेरेडिटी—ए डिफेंस (1902) तथा मेन्डल्स प्रिंसिपल ऑव हेरेडिटी (1909) ने मेन्डल के अनुसन्धानों की पृष्ठभूमि में आनुवंशिकी के कुछ मूल सिद्धान्तों की स्पष्ट व्याख्या दी। बैटेसन ने ही इस

नये विज्ञान के लिये 'जेनेटिक्स' शब्द भी गढ़ा। 1909 में, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में "जेनेटिक्स" विभाग स्थापित हुआ और बैटेसन उसमें पहले प्रोफेसर बने।

फ्रांसीसी वैज्ञानिक कुयेनाट (Cuenot) ने 1911 में मेन्डल की खोजों का अनुसरण करते हुए चूहा परिवार के कुछ सदस्यों पर आनुवंशिकी के अपने प्रयोगों (Rodent Genetics) को प्रकाशित किया। ठीक इसी समय डब्लू ई० कैसिल नाम के अमेरिकन वैज्ञानिक ने मेन्डल के नियमों को स्तनपायी जानवरों पर प्रयोग कर देखा। जोहान्सन ने 'जीन' शब्द 1903 में दिया। और 'जेनेटिक्स' पर विश्व की प्रथम पुस्तक 1905 में इन्हीं के द्वारा "एलिमेन्ट्स ऑव जेनेटिक्स" के नाम से प्रकाशित हुई।

इस शताब्दी के दूसरे दशक में टी० एच० मोर्गन, ए० एच० स्टर्टवन्ट, और एच० जे मुलर ने क्रमश: वंशानुगमन के वंशाणु (Gene) सिद्धान्त, गुणसूत्रों का मानचित्रण (Chromosome mapping) एवं ड्रासोफिला नाम की मक्खी में 'लिंग सह' उत्परिवर्तनों पर महत्वपूर्ण अनुसन्धान किया। तीसरे दशक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था एच० जे मुलर द्वारा एक्स किरणों से उत्परिर्तन (1927) उत्पन्न करना। 1930 में आर० ए० फिशर ने प्रसिद्ध 'जेनेटिकल थियरी ऑव नेचुरल सेलेक्शन' का प्रतिपादन किया। इस पुस्तक एवं 1931 में प्रकाशित एस० राइट की पुस्तक 'इवोलूशन इन मेन्डेलियन पापुलेशन' ने जनसंख्या आनुवंशिकी के गणितीय आधारों की नींव रखी। 1937 में आर० बी० गोल्डस्मिथ ने वंशाणु को एक रासायनिक इकाई के रूप में घोषित किया। इसी वर्ष आयी, टी० डोब्झैन्स्की की प्रसिद्ध पुस्तक "जेनेटिक्स एण्ड ओरिजिन ऑव स्पीशीज"। अब तक आनुवंशिकी की खोजों ने जीवशास्त्र की लगभग सभी विधाओं को प्रभावित कर लिया था।

वंशणुओं द्वारा एन्जाइम का संश्लेषण होता है, यह सिद्ध किया जी० डब्ल्यू० बीडल और इ० ल० ढैटम ने 1941 में। अब तक यह भी ज्ञात हो चुका था कि वंशाणुओं का एक प्रमुख पदार्थ डी० एन० ए० आनुवंशिक गुणों का पीढ़ी दर पीढ़ी, संवाहक भी है। 1950-1955 तक ई० चारगाफ ने न्यूक्लीय अम्लों की रासायनिक संरचना पर महत्वपूर्ण अनुसंधान किया। 1953 में, एफ० एच० सी० क्रिक और जे० डी० वाट्सन ने 'आनुवंशिकी पदार्थ डी० एन० ए०' का माडल प्रस्तुत किया। यह बहुत ही महत्वपूर्ण खोज थी। इसमें डी० एन० ए० को एक लहरियादार सीढ़ी के रूप में बताया गया था, जिसके दोनों डंडों के बीच में नियमित पौड़ियाँ थीं—इसे क्रिक और वाटसन ने "डबुल हेलिक्स" नाम दिया। पाँच वर्षों बाद जे० हर्बर्ट टायलर ने गुणसूत्रों में डी० एन० ए० की व्यवस्था की तथा डी० एन० ए० द्वारा अपनी अनुकृति बनाने की खोज की। 1961 में एफ० जैकब एवं जे० मोनाड ने प्रोटीन संश्लेषण और वंशाणुओं में आपसी सम्बन्ध और आनुवंशकीय गुणों के संवहन की क्रियाविधि समझायी। इससे "जेनेटिक कोड" यानी "वंशाणुओं की कूट भाषा" भी समझ ली गयी। इससे यह पता लगा कि कैसे वंशाणुओं का एक निश्चित समंजन, निश्चित अमीनो अम्ल को संश्लेषित करने में सहायक है। 1966 में जोन कैरन्स ने बैक्टीरिया के गुणसूत्र की संरचना और उसके द्विगुणित होने की प्रक्रिया को दर्शाया। इसी वर्ष क्रिक ने एक कोशिका में प्रोटीन संश्लेषण की प्रक्रिया भी दर्शायी। 1968 में एम० डब्ल्यू० नीरेनबर्ग और जे० एच० मैथी ने प्रोटीन संश्लेपण की प्रक्रिया की सम्पूर्ण व्याख्या की। 1973 में, भारतीय मूल के आनुवंशिकीविद डॉ० हरगोविन्द खोराना ने पहला क्रियात्मक डी० एन० ए० संश्लेषित किया। 1974 में, के० ए० कोर्नबर्ग ने भी डी० एन० ए० संश्लेषित किया और फ्रैंक रडल ने मानव की देही (Somatic) कोशाओं को संयुक्त करने का प्रयास किया। ठीक पाँच वर्ष पश्चात् 1979 में चार्ल्स वीजमैन ने उन वंशाणुओं को पहचाना, जो महत्वपूर्ण विषाणुरोधी औषधि "इन्टरफेरान" का संश्लेषण करते हैं।

1980 में, इलि लिली और कम्पनी ने

व्यावसायिक स्तर पर इन्सुलिन का उत्पादन "आनुवंशकीय अभियान्त्रिकी" के जरिये किया। इसी वर्ष वीजमैन ने मानव के इन्टरफेरान को जीवाणु द्वारा संश्लेषित किया। दो वर्ष पश्चात् प्रथम मानव निर्मित इन्सुलिन बाजार में आया। इसी वर्ष (1983) डॉ० एन्ड्रयू म्यूरी और डॉ० जैक स्जोस्टैक ने पहला सक्रिय, कृत्रिम गुणसूत्र रचा। और इसी खोज के साथ आनुवंशिकी ने महान विचारक जार्ज आर्वेल के बहुचर्चित "1984" में पदार्पण किया।

अभी पिछले वर्ष राजधानी दिल्ली में सम्पन्न हुये दस दिवसीय पन्द्रहवें अन्तर्राष्ट्रीय आनुवंशिकी कांग्रेस (12-21 दिसम्बर 1983) के अधिवेशन का उल्लेख किये बिना यह लेख अधूरा रहेगा। इस सम्मेलन में डॉ० हरगोविन्द खोराना, डी० एस० बोरगोनकर, एस० ए० नारंग, ओटो फ्रैंकनेल, सी० एफ० कर्टिस, डेविड आर० रोव, एस० बेन्जर, आनन्द मोहन चक्रवर्ती, के० जे० फेरी, ए० सारसेन, डी० टी० कोपीको, लैवरेन्स फिशबीन, डी० वी० गीडेल और चार्ल्स वीजमैन प्रभृत वैज्ञानिकों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में "आनुवंशिक अभियान्त्रिकी" और जैव तकनीकी के विभिन्न व्यवहारिक पक्षों पर चल रहे शोधों पर विशद चर्चा हुई। डॉ० खोराना ने जहाँ ऊर्जा उत्पादक के रूप में एक नये 'हैलो बैक्टेरियम' का आविष्कार किया है, वहीं एक दूसरे भारतीय वैज्ञानिक आनन्द मोहन ने तेल पीने वाले 'बग' का निर्माण कर डाला है। इसी सम्मेलन में, भारत के हरित क्रान्ति के मसीहा, डॉ० एम० एस० स्वामीनाथन ने जैवमंडल के संरक्षण का मुद्दा उठाया। उन्होंने कहा कि इसके पहले कि इस लोक से महत्वपूर्ण पशु और वनस्पति प्रजातियाँ लुप्त हो जायें, उनके 'जर्म प्लाज्म' सुरक्षित कर लिये जायें। इसी अवसर पर प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी ने विश्व के आनुवंशिकीविदों को आनुवंशिकी अभियान्त्रिकी से जुड़े खतरनाक परिणामों से भी आगाह किया। किन्तु मशहूर ब्रितानी पत्रिका 'नेचर' के सम्पादक डॉ० मैडाक्स का कहना था कि आनुवंशिकी के प्रयोगों पर आशंका वेबुनियाद है। आनुवंशिकी, मानव हित के लिये ही सदैव तत्पर रहेगी। आनुवंशिकी अभियान्त्रिकी की खोजों से मानव का भविष्य खुशहाली से भर उठेगा। कृषि, उद्योग और चिकित्सा के क्षेत्र में होने वाली क्रान्तिकारी खोजें मानव स्वप्नों को साकार कर देंगी। महान मानवतावादी वैज्ञानिक मेन्डल ने जिस विज्ञान का सूत्रपात किया, वह निश्चय ही मानवता की गोद में अपने आविष्कार सुमन अर्पित करता रहेगा। □

इंडिया सोसायटी ऑव इंजीनियर्स का चुनावफल घोषित

वर्ष 1984 के लिए 'इण्डिया सोसायटी ऑव इंजीनियर्स' के पदाधिकारियों के नाम निम्नलिखित है :

अध्यक्ष— श्री एस० सामादार, आई० ए० एस०

उपाध्यक्ष—श्री डी० एन० मुकर्जी, डॉ० एस० के० बासु, डॉ० बी० सेन

महामंत्री—श्री अनुपम हालदार

प्रबंध मंत्री—श्री वी० एस० बाजपेयी

कोषाध्यक्ष—श्री एन० के० सारा ओगी

संयुक्त मंत्री—डॉ० जे० के० तिवारी, श्री एस० के० मैत्री, श्री एच मुकर्जी, श्री आर० के० वर्मा, श्री बी० के० डे

सम्पादक—श्री जे० एन० रे

प्रस्तुति : अनुपम हालदार, महामन्त्री।

माइक्रोवेव हथियार

पीयूष कुमार बनर्जी
20 क्लाइव रोड, इलाहाबाद

इसमें कोई शक नहीं कि विज्ञान जहाँ एक ओर मानवता की सहायता और सेवा में जुटा हुआ है वहीं दूसरी ओर वह मानवता के नाश के उपकरण बनाने की ओर भी अग्रसर है। माइक्रोवेव किरण के हथियार भी उन्हीं में से एक है। माइक्रोवेव हथियारों को बनाने की टेक्नॉलॉजी तो लेसर हथियारों से, जिनकी चर्चा काफी हुई है, कहीं ज्यादा पक्की हो चुकी है। माइक्रोवेव के साधारण तथा ऊँची शक्ति के स्रोतों का विकास द्वितीय विश्वयुद्ध में ही रेडार के प्रयोग के लिए हो चुका था। पहले व्यवहार में लाये जाने वाले लेसर का विकास उसके 20 वर्ष बाद हुआ। इसलिये जब अमेरिकी रक्षा मन्त्रालय के इंजनियर कहते हैं कि माइक्रोवेव हथियारों के विकास में ऊँची ऊर्जा के लेसर के पर्टिकल बीम्स (कण किरणों) से कम बाधाएँ उत्पन्न होंगी तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

माइक्रोवेव्स आखिर हैं क्या? आप ये न सोच बैठें कि ये मूलरूप से कोई नई चीज हैं। वास्तविकता तो यह है कि रेडियो तरंगों में कोई ज्यादा अंतर नहीं है। माइक्रोवेव्स अतिसूक्ष्म रेडियो वेव्स तरंगें हैं। साधारण शॉर्टवेव तरंगों में जो तरंगें इस्तेमाल होती हैं उनसे 5 लाख गुना छोटी। उनका उपयोग आजकल भी हो रहा है। उदाहरण के लिए निर्धारित स्थानों के बीच संचार में, रेडार में, उपग्रह दूर संचार में और खाना बनाने के घरेलू उपकरणों में। इन सारे उपयोगों में और सम्भवतः हथियार बनाने में भी माइक्रोवेव का विशेष गुण यह है कि उनमें एक बहुत ही छोटे केन्द्र-बिन्दु में ऊर्जा को केन्द्रीभूत करने की क्षमता है। इस लिहाज से माइक्रोवेव्स में और इन्फ्रारेड किरणों में, जिसको कि विद्युत् चुम्बकीय स्पेक्ट्रम में उसका निकटतम प्रवर्त्ती माना जा सकता है, बहुत थोड़ा ही अन्तर है। फर्क है तो दोनों को क्रमशः पैदा करने की टेक्नॉलॉजी में और वायुमण्डलीय कुहासे को भेदने की दोनों की शक्ति में।

इन्फारेड और विज़िबल लाइट बीम (दृश्य प्रकाश किरण) के हथियार, जो कि लेसर पर आधारित हैं, के विपरीत माइक्रोवेव्स का जनन उन कम्पोनेन्ट्स (घटकों) में होता है जिनका इलेक्ट्रॉनिक्स के क्षेत्र से उनकी बनिस्बत ज्यादा सम्बन्ध है। अभी तक की जानकारी के अनुसार करीब-करीब सारी उच्च शक्ति की माइक्रोवेव मशीनरी, मैग्नेट्रॉन नामक एक उपकरण पर आधारित है जो कि रेडियो वाल्व की तरह निर्वात (वैक्यूम) में पड़ी इलेक्ट्रॉन किरण पर आश्रित एक घटक है।

मैग्नेट्रॉन का आविष्कार हुए 40 वर्ष से ऊपर हो गये और अबतक मात्र ज़रा से परिष्करण (रिफाइनमेण्ट) के बाद वह माइक्रोवेव चूल्हे और पानी के लिए तथा हवाई जहाज में लगे रेडार के लिए, माइक्रोवेव ऊर्जा श्रोत प्रदान करता है। हालाँकि यह ज्ञात है कि खराब हुए माइक्रोवेव चूल्हे खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं और उच्च शक्ति के रेडार असावधानी से अपनी राह में भटके जानवरों को मार गिराते हैं। फिर भी, आक्रमण हेतु माइक्रोवेव्स के प्रयोग का विचार करीब-करीब नया ही है। अमेरिका और सोवियत रूस भी मूलरूप से माइक्रोवेव हथियारों को मानव के विरुद्ध उपयोग करने का उद्देश्य नहीं रखते।

माइक्रोवेव्स सीधी और तंग किरण पुंजों में चलती

हैं। उनका यही गुण उनसे बने हथियारों को जन-संहार का साधन बनाने के रास्ते में प्रभावपूर्ण बाधा डालता है। पर हवाई जहाज़ों, कम ऊँचाई पर उड़ने वाली मिसाइल्स और उपग्रहों के खिलाफ माइक्रो-वेव्स, कम दूरी तक मार करने वाले हथियार (शॉर्ट रेंज कैपिटल वेपन्स) का काम कर सकता है।

माइक्रोवेव्स से ताप पहुँचाने की शक्ति के अलावा ऊँची शक्ति की विद्युत्धारा पैदा करने की भी क्षमता है। इनका इलेक्ट्रॉनिक्स, सामान और मानव पर फौरन भारी विध्वंसकारी असर हो सकता है। करोड़ों वाट शक्ति के माइक्रोवेव उपकरण अब भी मौजूद हैं यानि किसी भी लेसर किरण उपकरण से कहीं ज्यादा शक्तिशाली।

माइक्रोवेव हथियारों के बारे में पूछे जाने पर एक अमेरिकी भौतिकशास्त्री ने कहा, "हम संभावना की दहलीज तो लाँघ चुके हैं पर ये हथियार अभी संभाव्य के कगार पर पूरी तरह नहीं पहुँचे हैं।" और मानवता के तो यह हित में ही होगा कि कभी भी न पहुँचे।□

अब सातवें वर्ष में—

वन अनुसन्धान संस्थान एवं महाविद्यालय, देहरादून के
अखिल भारतीय

वानकी साहित्य पुरस्कार 1984

वानिकी विषयों पर मूलतः हिन्दी में लिखित वैज्ञानिक
व तकनीकी ग्रन्थों और लेखों को देय

ग्रन्थ पुरस्कार :	श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार	5,000 रु०
	उत्तम लेखन पुरस्कार	3,000 रु०
	सराहनीय लेखन पुरस्कार	1,000 रु०
लेख पुरस्कार :	श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार	500 रु०
	उत्तम लेखन पुरस्कार	350 रु०
	सराहनीय लेखन पुरस्कार	200 रु०
	प्रोत्साहन पुरस्कार	100 रु०

प्रविष्टियाँ 31 जुलाई 1984 तक स्वीकार्य

विहित आवेदन प्रपत्र, नियम व विवरण अपना पता लिखा व बिना टिकट लगा 10 सेंमी० × 25 सेंमी० आकार का लिफाफा भेजने पर निम्न से 15 जुलाई 1984 तक प्राप्य।

दुर्गाशंकर भट्ट
सचिव
अ० भ० वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना,
वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय,
डा०घ०, न्यू फारेस्ट (देहरादून)—248006

भोज्य पदार्थों की विषाक्तता

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद—211002

भीषण गर्मी के इस मौसम में आये दिन समाचार पत्रों में भोजन की विषाक्तता की खबरें पढ़ने में आती हैं। विषैले भोजन के प्रभाव से सिर में चक्कर, बेचैनी, पेट दर्द, कै-दस्त तो आम बात है, कभी-कभी यह जानलेवा भी सिद्ध होता है। यह मानव जीवन पर चोरी से आक्रमण करने वाला शत्रु है।

भोजन की विषाक्तता के अनेक कारण हो सकते हैं—कुछ प्राकृतिक और कुछ कृत्रिम। खाद्य पदार्थों में मिलावट इसका प्रमुख कारण है। उदाहरण के लिये दूध में मिलाया जाने वाला जल यदि संदूषित है तो वह मानव स्वस्थ्य के लिये हानिप्रद हो जाता है। कुछ अन्य पदार्थों जैसे खाद्य तेल में मिश्रित किये जाने वाले खनिज तेल, हल्दी में मिलाया जाने वाला रासायनिक पीला रंग, पिसे मसालों में मिलाया जाने वाला लकड़ी का बुरादा आदि सभी शरीर में पहुँच कर तरह-तरह की व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं।

अक्सर स्वच्छता का पूरा ध्यान न रखने से या खाद्य पदार्थों के ठीक से न पकने के कारण भोजन जीवाणुओं (बैक्टीरिया) से संदूषित हो जाता है। बासी या खुले रखे हुए भोजन में भी ये जीवाणु तेजी से वृद्धि करते हैं। जीवाणुओं के हानिकर प्रभाव सेपेट में ऐंठन, दस्त, केन्द्रीय स्नायुतंत्र की बीमारियाँ हो जाती हैं। मिट्टी में पाये जाने वाले **क्लास्ट्रिडियम बॉट्यूलिनम** (*Clostridium botulinum*) नामक जीवाणु वहाँ पर बोई जाने वाली सब्जियों में प्रवेश कर जाते हैं और फिर भोजन के रूप में मानव शरीर के अन्दर पहुँच कर पक्षाघात, सिर दर्द, दोहरी दृष्टि, हृदय की गति रुक जाने आदि के कारण बनते हैं। 65 प्रतिशत रोगी तो इसके कारण जान से हाथ धो बैठते हैं।

हमारे भोजन में कुछ विषैले तत्व तो प्राकृतिक रूप से विद्यमान रहते हैं। आलू पर फूटते हुए हरे कल्लों में **सोलैलिन** नामक **एल्कलॉयड** इतनी मात्रा में होता है कि वह **पीलिया** और दस्त जैसे रोगों को जन्म दे सकता है। अधपकी दालों में भी कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जो खाये जाने पर पाचनक्रिया में गड़बड़ियाँ पैदा करते हैं। बहुचर्चित सोयाबीन में छिपा फाइटिक अम्ल मानव शरीर में जस्ते या जिंक की कमी को जन्म देता है। **अमानिता** नामक कवक की विषाक्तता ने तो पेट दर्द और पीलिया के अतिरिक्त लोगों के प्राण भी लिए हैं।

भोजन की विषाक्तता का कारण कभी-कभी खाद्यान्नों को दूषित करने वाले कवक संक्रमण भी होते हैं। इनमें **एस्पर्जिलस फ्लेवस** (*Aspergillus flavus*) नामक कवक भारत में सर्वाधिक पाया जाता है। अनाज के दानों के अन्दर इस कवक की वृद्धि साधारणतया अनदेखी रह जाती है। कभी-कभी निर्धनता के कारण विवशतावश कृषक इनका उपयोग करते हैं। संक्रमण का उपरोक्त प्रकार अचारों तथा अन्य भण्डारित भोज्य पदार्थों पर भी आक्रमण करता है। जानवरों के चारे और भूसे पर इस संक्रमण का प्रभाव बहुत जल्दी होता है। इससे निकलने वाला **अफ्लाटाक्सिन** (*Aflatoxin*) नामक विष सबसे अधिक मनुष्य के केन्द्रीय स्नायुतंत्र पर अपना प्रकोप दिखाता है। इसके कारण पक्षाघात या लकवा तो सामान्य बात है।

यदि इसे निरंतर लिया जाता रहे तो यह जीवन के लिए घातक भी सिद्ध हो सकता है।

कृषि उत्पादन को बढ़ाने की दृष्टि से प्रयोग किए जाने वाले जीवनाशी और कीटनाशी रसायन आज प्राकृतिक विषों से कहीं अधिक नुकसान पहुँचा रहे हैं। डी॰ डी॰ टी॰, गैमेक्सीन और कार्टमेलेट्स में पाये जाने वाले जहरीले कार्बनिक रसायनों की भयंकरता आज वैज्ञानिकों के लिए चिंता का विषय बन गई है। इन कीटनाशियों में सीसा, पारा, सेलेनियम और कैडमियम जैसी विषैली धातुयें भी मिली रहती हैं।

भोजन ही मानव जीवन का आधार है। अतः उसे संदूषित और विषाक्त होने से बचाने के लिए हमें भोजन को सही ढंग से पकाने, रसोईघरों की स्वच्छता, खाने-पीने वाली चीजों को ढककर रखने, जिससे उसमें सूक्ष्म जीवों का संक्रमण न हो सके—आदि पर विशेष बल देना होगा। खाद्यानों का भण्डारण भी ठंढे और सूखे स्थानों पर करना चाहिए जिससे उनमें कवक की वृद्धि न हो सके। खाने के पूर्व सब्जियों और फलों को भलीभाँति धोना चाहिए ताकि उन पर से कवक-रोधी और कीटनाशी रसायनों का कुप्रभाव हटाया जा सके। कृषि पदार्थों के उत्पादन में केवल ऐसे ही रसायनों का प्रयोग किया जाये जिनका मानव स्वास्थ्य पर बुरा असर न पड़े।

इस सम्बन्ध में हम सभी इतना तो कर ही सकते हैं कि आजकल की भीषण लू और गर्मी के मौसम में जहाँ तक हो सके खाना गर्म खायें। बासी खाना न खायें। द्रव पदार्थों और पानी का अधिक सेवन करें। तली-भुनी चीजें अधिक न खायें। बाजार की खुली हुई चीजों का बिल्कुल परहेज करें। कटे हुये फल या सूखे और सड़े फल और सब्जियाँ न खरीदें और पानी वाले फल जैसे खरबूजा, ककड़ी आदि अधिक खायें और हल्का भोजन करें।□

[पृष्ठ 24 का शेषांश]

तथा मानव निर्मित उपग्रह पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं—ये सब ब्रह्मांड का एक अद्भुत नजारा पेश करते हैं। अथवा कोई चाहे तो पृथ्वी के किसी दूसरे हिस्से में पहुँच कर वहाँ होनेवाली विचित्र लीलाओं, जैसे उत्तरी ध्रुव में अरोरा बोरेलिस, फिनलैंड की 'दूधिया रातें', लेप्पलैंड में मध्य रात्रि का सूर्य और आस्ट्रेलिया में प्रसिद्ध सदर्न क्रास का आनन्द ले सकता है। ऐसी घटनाओं से जो व्यवहारिक दृष्टि से पृथ्वी के किसी कोने से कभीकभार ही दिख पाती है, जैसे सूर्य का पूर्ण ग्रहण, लगातार प्रदर्शित किया जा सकता है। लाखों वर्ष के समय को मिनटों में बिताया जा सकता है और आकाश को कई युगों पूर्व की स्थिति में देखा जा सकता है तथा यह भी देखा जा सकता है कि आकाश भविष्य में कैसा लगेगा। कोई चाहे तो दिन की लम्बाई नाप सकता है, ग्रहों-नक्षत्रों के उदय और अस्त होने का समय पता लग सकता है और कैलेंडर सम्बन्धी प्रश्नों का जवाब देने के लिए चन्द्रमा की गतियों का इस्तेमाल करना सीख सकता है।

इनसे भी अत्यन्त रोमांचक बात यह है कि तारामण्डल के माध्यम से हम वाह्य अंतरिक्ष में जाकर आकाश में होने वाले तमाम परिवर्तनों को, पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे एक अंतरिक्षयान के चालक-मण्डल के सदस्य की तरह ही देख सकते हैं, अथवा यह देख सकते हैं कि चन्द्रमा से अथवा मंगल से ब्रह्मांड कैसा दिखाई देता है। विशालकाय बृहस्पति ग्रह को उसके चमकते हुए चार चन्द्रमाओं के साथ अपने सिर के ऊपर झांकते हुए देखा जा सकता है, अथवा हम ब्रह्मांड की गहराइयों से पूरे सौर मण्डल का नजारा देख सकते हैं।□

विज्ञान वार्ता

संकलन : प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव
जार्ज टाउन, इलाहाबाद

(1) राकेश शर्मा की पृथ्वी पर वापसी

11 अप्रैल 1984 को सायंकाल 4 बजकर 19 मिनट 20 सेकेण्ड पर प्रथम भारतीय अंतरिक्ष यात्री राकेश शर्मा अपने दो रूसी सहयोगियों वाई० मालीशेव और स्त्रेकालोव के साथ 8 दिनों के बाद सकुशल धरती पर वापस लौट आये। संपूर्ण अभियान सुरक्षित और सफल रहा। इस यात्रा की सफलता पर हर्ष प्रकट करते हुए श्रीमती गांधी ने इस अभियान को ज्ञान और अनुभव तथा सोवियत-भारत मैत्री की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम बताया। शर्मा व उनके सहयोगियों द्वारा सम्पादित इस साहसिक कार्य का सम्मान करते हुये उन्हें भारत सरकार की ओर से 'अशोक चक्र' प्रदान किए गये हैं। विंग कमान्डर रवीश मल्होत्रा को और उनके साथ के दो स्टैण्डबाई अंतरिक्षयात्रियों, जी० ग्रेच्को और ए० बेरेजोवोय को 'कीर्त्ति चक्र' दिया गया। पहली बार विदेशियों को 'अशोक चक्र' और कीर्त्तिचक्र' दिये गये हैं। ये अंतरिक्ष यात्री 5 दिनों तक डॉक्टरी निरीक्षण में रखे गये।

इस अभियान के फलस्वरूप लगभग आधे भारतीय भू-भाग के खनिज संपदा सम्बन्धी अमूल्य आँकड़े प्राप्त हुये हैं। इनके अतिरिक्त सिल्वर और जर्मेनियम की एक मिश्रधातु तथा कुछ अन्य चिकित्सीय क्षेत्र की उपलब्धियाँ भी महत्वपूर्ण हैं। अंतरिक्ष अस्वस्थता निवारण के लिए योगासन के प्रभाव पर भी इस अभियान के फलस्वरूप प्रकाश पड़ेगा। यह दल अंतरिक्ष प्रयोगशाला में 8 फरवरी से स्थित पहले के तीन अंतरिक्षयात्रियों द्वारा दिए गये प्रयोगों के परिणाम भी साथ लाया है। इसके अतिरिक्त शर्मा और उनके सहयोगियों ने एक ऐसा प्रयोग भी वहाँ सम्पन्न किया जो पूर्व निर्धारित उनके कार्यक्रम में नहीं था। यह प्रयोग सूक्ष्म गुरुत्वाकर्षण की स्थिति में गैलियम-बिसमथ (Gallium-Bismuth) नामक मिश्रधातु के क्रिस्टलीकरण में क्रिस्टल संयंत्र (Crystal Plant) के उपयोग से संबंध रखता है।

स्क्वाड्रन लीडर राकेश शर्मा तथा उनके सहयोगियों को सोवियत सरकार द्वारा वहाँ का सर्वोच्च सम्मान 'हीरो ऑव सोवियत यूनियन' तथा 'ऑर्डर ऑव लेनिन' और 'गोल्ड स्टार' पदक प्रदान किया गया है। राकेश शर्मा के साथी दूसरे भारतीय ट्रेनी रवीश मल्होत्रा को अंतरिक्ष उड़ान की तैयारी में पूरी तरह से भाग लेने और 'स्टैण्ड बाई' रहने के कारण 'आर्डर ऑव फ्रेण्डशिप' सम्मान से विभूषित किया गया है। यही नहीं, एक रूसी दम्पति जिन्हें 3 अप्रैल को पाँचवी संतान हुई, उन्होंने बच्चे का नाम राकेश रखा है।

(2) मानव मस्तिष्क के दो नये कोषाणुओं की खोज

दो अमेरिकी वैज्ञानिक, डॉ० सिमूर बैंजर और डॉ० कैरोल मिलर ने फलों पर पायी जाने वाली मक्खी, **ड्रोसोफिला** के स्नायुमण्डल में विद्यमान संकेतक कोष समूह मानव मस्तिष्क में भी पाया जाता है इसका पता लगा लिया है। **ड्रोसोफिला** के इस 'एण्टीजेन' की आनुवंशिक संरचना सरल है और इससे

मानव मस्तिष्क के कोषों का अध्ययन करने और विभिन्न तंत्रिका रोगों के कारणों का पता लगाने में सहायता मिलेगी तथा मानव मस्तिष्क में इन कोषों के अभाव या उनकी विकृति का अध्ययन किया जा सकेगा। अभी तक मानव मस्तिष्क का अध्ययन **ड्रोसोफिला के** कोषाणुओं को दृष्टि में रखकर नहीं किया गया था। इन दोनों वैज्ञानिकों ने मानव मस्तिष्क के दो नये संकेतक कोषाणु **'मोनोक्लोनल एण्टीबाडीज'** को पहचानने में सफलता प्राप्त कर ली है। इन्होंने अब तक मानव मस्तिष्क के 146 किस्म के **'मोनोक्लोनल एंटीबाडीज'** का पता लगाया है। इन वैज्ञानिकों के अध्ययनों से मस्तिष्क की स्थिति निर्धारित करने और तंत्रिकाओं के दोषों के अणुगत आधार का अध्ययन करने में सहायता मिलेगी किन्तु इसके लिए अभी लम्बी दूरी तय करनी होगी।

(3) भारतीय नदियों का प्रदूषण

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग के डॉ० बी० डी० त्रिपाठी के अनुसार वाराणसी के गंगा नदी के विभिन्न घाटों पर प्रति वर्ष लगभग 30 हजार शव जलाये जाते हैं और इसमें 11 से 15 हजार टन लकड़ी का उपयोग होता है। प्रतिवर्ष अधजली लाशों के लगभग 150 टन मांस के साथ बड़ी मात्रा में राख भी होती है। इस राख में नाइट्रोजन और फॉस्फोरस प्रचुर मात्रा में विद्यमान होता है। यह सब कुछ गंगा नदी में बहा दिया जाता है और इससे गंगाजल निरंतर प्रदूषित होता रहता है। एक अनुमान के अनुसार देश के 142 नगर, जिनकी आबादी एक लाख से अधिक है, अनवरत रूप से गंगा, ब्रह्मपुत्र, गोदावरी, ताप्ती आदि नदियों को प्रदूषित कर रहे हैं। यही नहीं, लगभग 700 करोड़ लीटर दूषित जल प्रतिदिन नदियों में छोड़ा जा रहा है। इसका लगभग 36 प्रतिशत नगरपालिकाओं का सीवर जल है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि कुछ ही नगरपालिकायें ऐसी हैं जो गन्दे जल का उपयोग कर पाती हैं। अतएव नदियों के प्रदूषण को तभी रोका जा सकता है जब जन-मानस में इसके प्रति चेतना जाग्रत हो।

(4) भारत में कैंसर

कैंसर जानलेवा रोग है। भारत के कुछ बड़े शहरों—मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद हैदराबाद, कानपुर से प्राप्त आँकड़ों के अनुसार पुरुष और महिला दोनों ही इस रोग के शिकार हैं। जहाँ पुरुषों में अमाशय, मुख, कंठ, खाने की नली और लिंग कैंसर ग्रस्त हो जाते हैं वहीं महिलाओं में योनि द्वार और स्तन कैंसर बहुतायत में पाया जाता है। इसका सहज अनुमान निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है—

भारत में कैंसर (प्रति 1,00,000 की जनसंख्या पर)

	मद्रास	बम्बई	कलकत्ता	अहमदाबाद	हैदराबाद	कानपुर
पुरुष						
मुख	28.3	11.7	13.7	6.9	16.3	53.1
कंठ	10.0	20.0	16.0	21.8	16.7	10.7
आमाशय	38.3	31.7	29.7	28.7	33.0	63.8
खाने की नली	7.7	11.3	5.9	8.3	3.4	2.6
लिंग (पुरुष)	2.2	1.8	3.1	1.6	1.3	3.5
स्त्री						
योनिद्वार	51.0	35.5	52.2	32.1	42.6	67.7
स्तन	12.2	17.9	10.6	16.7	12.2	6.6

(5) खनिजों से ऊन

सेंट एगिडियन में लावा बहता है लेकिन वहाँ कोई ज्वालामुखी नहीं है। यह लावा निकिल उत्पादन में प्राप्त होने वाले बेकार पदार्थों से एक मिल में तैयार किया जाता है। इसका इस्तेमाल खनिज ऊन के निर्माण में किया जाता है जिसकी जरूरत इंसुलेटिंग मैट्स में पड़ती है।

इसके लिए निकिल-रहित बसाल्ट को कोयले के साथ मिलाया जाता है और इस मिश्रण को गलाया जाता है। इससे जो तरल पदार्थ हासिल होता है वह देखने में लावा जैसे लगता है।

इस लावे को एक विशेष स्पिनिंग मिल में डाला जाता है जहाँ पहियों की दो जोड़ियाँ विपरीत दिशा में घूमती हैं जो लावे के प्रवाह को तोड़कर उसे रेशों में बाँट देती हैं। इसके पश्चात् दाबयुक्त हवा रेशों को उड़ा कर एक ऐसे चैम्बर में ले जाती है जहाँ उनको पुनः साफ किया जाता है। चैम्बर में छोड़े जाने वाली हवा को जब बाहर खींचा जाता है तो वहाँ एक वैक्यूम (हवा शून्य स्थिति) बन जाता है जिससे रेसे फर्श पर बिछ जाते हैं और एक ऊन सी बन जाती है। उसी समय कृत्रिम रेसिन लगाया जाता है जिससे रेशे नरम होकर एक दूसरे से चिपक जाते हैं। इस पदार्थ को एक बेकिंग भट्ठी से गुजारा जाता है जहाँ रेशों को आवश्यकतानुसार मोटाई और घनत्व प्राप्त करने के लिए दबाया जाता है। अगला कदम चादरों और मैट्स की कटाई का होता है।

प्रतिदिन खनिज ऊन की चादरों और मैट्स से लदे 35 डिब्बों की गाड़ी निकिल फैक्ट्री से रवाना होती है। निकिल उत्पादन के इस सह-उत्पादन का प्रयोग पाइपिंग और बायलर निर्माण उद्योग, रेल वैगनों, जहाजों, बिजली घरों और घरों में गर्मी और शीत के रोकथाम के लिये किया जाता है। इन्सुलेशन में काम आने वाली परम्परागत चीजों की तुलना में सेंट एगिडियन के रेशे मौसमी परिवर्तनों को अधिक कारगर ढंग से झेल सकते हैं। ये रेशे सड़ते नहीं हैं और पानी को अन्दर नहीं आने देते।

(6) दिल्ली में नया तारामंडल

फरवरी 1983 में नयी दिल्ली में तीन मूर्ति भवन के उद्यान में एक तारामण्डल का उद्घाटन किया गया जहाँ अत्यन्त रोचक और मनोरंजक ढंग से ब्रह्मांड के रहस्यों से मुलाकात की जा सकती है।

भारत में अब तक निर्मित किए गए सभी 14 तारामण्डलों की आपूर्ति जर्मन जनवादी गणतंत्र के राष्ट्रीय स्वामित्व वाले कार्ल साइस्स येना द्वारा की गयी है। कलकत्ता में एक बड़ा तारामण्डल और कुछ छोटे तारामण्डल 20 वर्षों से अधिक समय से कार्य कर रहे हैं। अन्य तारामण्डल बड़ौदा (1976), बम्बई (1977) और इलाहाबाद (1980) में स्थापित किए गये।

रात को सितारों से आच्छादित आसमान के सौंदर्य और वहाँ होने वाली विविध लीलाओं और घटनाओं के रहस्य ने मनुष्य को हजारों वर्षों से आश्चर्यचकित कर रखा है।

क्वाजार, पल्जार और एक्स-रे नक्षत्रों की सनसनीखेज खोजों तथा अन्तर्राष्ट्रीय उड़ानों में हासिल शानदार सफलताओं ने सामयिक समस्याओं और खगोलशास्त्रीय अनुसंधान के परिणामों में लोगों की रुचि को लगातार बढ़ाया है। आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान के इस आकर्षक क्षेत्र के बारे में वैज्ञानिक तौर पर विश्वसनीय जानकारी प्राप्त करना आज अनेक लोगों की अभिलाषा बन गयी है।

एक रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत करने के कई तरीके हैं। पृथ्वी के किसी भी स्थान से देखे जा सकने वाले समूचे ब्रह्मांड लोक का चित्रण किया जा सकता है, इनमें मन्दाकिनी की मद्धिम रोशनी, नक्षत्र समूह, दूरस्थ नक्षत्र पुन्ज और आकाशगंगाएँ शामिल हैं। सूर्य, चन्द्रमा और विभिन्न ग्रहों को अपनी-अपनी अलग कक्षाओं में देखा जा सकता है; एक रात्रि की अवधि में अथवा एक पूरे वर्ष के दौरान तारा समूहों की हलचल को महसूस किया जा सकता है; पुच्छल तारे और उल्कापिंड आकाश को आलोकित करते हैं

[शेष पृष्ठ 21 पर]

पर्यावरण अनुसंधान में भारत की नयी उपलब्धि

प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव

5 ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद—211002

जनसंख्या विस्फोट, खाद्य समस्या, कच्चे माल के चुकते स्रोत, ऊर्जा की कमी के साथ ही आ जुड़ा है पर्यावरण का संकट। पर्यावरण का मतलब है—हवा, पानी, धरती तथा धरती का समस्त जैवमंडल जिसका केन्द्र विन्दु है मानव। आज बढ़ते औद्योगिकीकरण से पर्यावरण जिस प्रकार दूषित हुआ है उसके परिणामस्वरूप स्वच्छ हवा में साँस लेना भी कठिन हो गया है। न केवल औद्योगिक देश बल्कि तीसरी दुनिया के देश भी इसकी चपेट में आ गए हैं। आर्थिक रूप से उन्नत देशों ने तो इस समस्या से निपटने के लिए तकनीकें विकसित कर ली हैं। वहाँ के वैज्ञानिक वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, स्थल प्रदूषण, अम्ल वर्षा, शोर प्रदूषण, रेडियोधर्मिता, कीटनाशी एवं रसायन प्रदूषण आदि ख़तरों के मानव, जीव-जन्तुओं, वनस्पतियों और मौसम पर पड़े प्रभावों के अध्ययनों में लगे हैं। किन्तु आर्थिक रूप से पिछड़े देशों के पास न तो विकसित तकनीकें ही है और न ही साधन। फिर भी हाल में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार बम्बई में नगर महापालिका द्वारा 18 लाख रुपये की सहायता से डॉ० एस० आर० कामत के नेतृत्व में चिकित्सकों के एक समर्पित दल ने बम्बई नगर में रहने वाले लगभग 4000 लोगों के स्वास्थ्य पर वायु प्रदूषण के प्रभावों का जो उपयोगी अध्ययन किया है उसे निश्चय ही एक बड़ी उपलब्धि कहा जा सकता है। इसके पूर्व इस प्रकार का विस्तृत अध्ययन भारत में अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ था। इस शोध का वास्तविक महत्व यह है कि इससे भारत में पर्यावरण को सुरक्षित और स्वस्थ रखने की दिशा में जनमानस में एक सर्वथा नवीन चेतना का निर्माण होगा और इसका आकलन इसी दृष्टि से होना भी चाहिए।

इस अध्ययन के लिए बम्बई नगर के 4129 व्यक्तियों का चुनाव किया गया। 1977 से 1980 के बीच उनके स्वास्थ्य की परीक्षा की गई। इन सभी लोगों को एक-एक डायरी दी गई जिसमें वे प्रतिदिन अपने स्वास्थ्य सम्बन्धी आँकड़े लिखते रहे। इन व्यक्तियों की आय, आहार में पोषक तत्वों की मात्रा, धूम्रपान की आदत, पेयजल की उपलब्धि, सफाई, भोजन बनाने का ईंधन, सड़क पर मोटर-गाड़ियों की भीड़, जल में प्रदूषण की मात्रा और आस-पास की हरियाली आदि पक्षों को ध्यान में रखा गया। इसके अतिरिक्त मानव-स्वास्थ्य संबंधी कुछ दूसरी बातों का भी समुचित ध्यान रखा गया। इस कारण इस सबसे लम्बे सर्वेक्षण की अवधि खिचकर 1982 के प्रारम्भिक कुछ माहों तक आ गई।

अध्ययन के प्रारम्भ में ही बम्बई नगर को चार हिस्सों में विभाजित किया गया—पश्चिमी उपनगर खार या अल्प प्रदूषित शहरी क्षेत्र, चेम्बूर या मध्यम प्रदूषण का शहरी क्षेत्र जहाँ अनेक रासायनिक उद्योग स्थित हैं, लालबाग़ (मध्य बम्बई) में भीड़ भरा कपड़ा मिलों का क्षेत्र या भारी प्रदूषण वाला शहरी क्षेत्र और बम्बई नगर से 40 किलोमीटर दूर पोयनाड में तीन गाँवों या देहात का अल्प प्रदूषित क्षेत्र।

इन क्षेत्रों में प्रदूषण का स्वास्थ्य पर प्रभाव देखने के लिए जिन 4000 लोगों को चुना गया था उनके स्वास्थ्य की जाँच लगातार तीन वर्षों तक भलीभाँति

की गई। यही नहीं, इन क्षेत्रों में सल्फर डाइ ऑक्साइड, नाइट्रिक ऑक्साइड और कुछ निलम्बित कणिकीय पदार्थों की मात्रा का अलग-अलग अध्ययन भी किया गया।

खोजों के प्रारम्भिक चरण में जब प्रदूषण और कुस्वास्थ्य में संबंध स्थापित किया गया तो पता चला कि पुरानी खाँसी या क्रानिक क़फ से ग्रस्त रोगियों की संख्या भारी प्रदूषण वाले शहरी क्षेत्र में मध्यम प्रदूषण वाले क्षेत्र की अपेक्षा दुगुनी और अल्प प्रदूषित क्षेत्र के रोगियों की अपेक्षा चौगुनी पाई गई।

पुराने श्वसनी शोथ या क्रानिक ब्रांकाइटिस के रोगियों की संख्या भारी और मध्यम प्रदूषित क्षेत्रों—लालबाग़ और चेम्बूर—में लगभग बराबर ही पाई गई पर खार के अल्प प्रदूषित क्षेत्र के रोगियों की संख्या से दुगुनी थी। श्वास-रोगियों की संख्या में प्रदूषण के कारण वृद्धि देखी गई। सर्दी-जुकाम के रोगी चेम्बूर में असामान्य रूप से अधिक मिले जहाँ तेल और उर्वरक कारखानों से निकले नाइट्रिक ऑक्साइड ने वायु को बुरी तरह प्रदूषित कर रखा था। देहाती क्षेत्रों में भी स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान न देने और आहार में पोषक तत्त्वों के अभाव के कारण चेम्बूर की तरह ही श्वास रोगी अधिक दिखे किन्तु शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामों में हृदय-रोगियों की संख्या कम थी।

प्राप्त आँकड़ों को डॉ० कामत के चिकित्सक दल ने आधार बनाकर प्रदूषण के स्वास्थ्य पर पड़े प्रभाव की विस्तार से विवेचना की है और विभिन्न आँकड़ों के विश्लेषण में कम्प्यूटर की भी मदद ली गई है। लोगों ने ठीक से डायरी भरी या नहीं इसके लिए अन्तिम 6 माहों में तो उनके स्वास्थ्य की जाँच भी शोधार्थी चिकित्सक लगातार करते रहे। और इस प्रकार जो परिणाम प्राप्त हुये उन्हें निश्चय ही विस्मयकारी कहा जा सकता है।

चेम्बूर में लगभग सभी बड़े उद्योगों ने पारम्परिक ईंधनों के दहन के स्थान पर बाम्बे हाई गैस का इस्तेमाल प्रारम्भ कर दिया तो वायु में छोड़ी जाने वाली सल्फर डाइ ऑक्साइड की मात्रा भी कम हो गई। इसका परिणाम क्या हुआ ? हुआ यह कि जहाँ प्रारंभिक वर्ष में चेम्बूर में रोगियों की संख्या अधिक थी वहीं 1979 और 1980 में भारी कमी देखी गई। मौसम के बदलने के साथ प्रदूषण की मात्रा में अन्तर और उसका मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव भी ज्ञात किया गया। खार और पोयनाड के निवासी चूँकि हरे-भरे वृक्षों के बीच में रह रहे थे इस कारण वहाँ की प्रदूषित वायु को वृक्षों की पत्तियाँ शुद्ध कर देती थीं। और इसी के फलस्वरूप वहाँ श्वासरोगियों की संख्या कम थी। नगर निवासियों के स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा असर पड़ा है। यही नहीं, शहरी क्षेत्रों में चिकित्सा के ऊपर भी अत्यधिक धन व्यय करना पड़ा है। अनियोजित ढंग से नगर बसाने के दुष्परिणाम हमारे सामने लाने में इस शोधदल ने अपनी भूमिका बख़ूबी निभायी। भारत में पर्यावरण विज्ञान के क्षेत्र में इस अनुसंधान के निश्चय ही दूरगामी प्रभाव होंगे।

आज आवश्यकता इस बात की है कि जल्दी से जल्दी सरकार ऐसे कदम उठाये जिससे बम्बई के निवासियों को दमघोंटू वातावरण से मुक्ति मिल सके। जरूरत इस बात की भी है कि पूर्व इसके कि देश के अन्य स्थानों को भी प्रदूषण अपनी चपेट में ले ले, हम सावधान हो जायें। अब समय आ गया है जब हमें इस समस्या का डटकर मुकाबला करना है। और यदि हम ऐसा करने में चूक गये तो आनेवाली पीढ़ियाँ हमें कभी क्षमा नहीं करेंगी। स्मरण रहे, यह धरती हमें अपने पूर्वजों से विरासत में नहीं मिली है बल्कि यह आनेवाली पीढ़ियों की अनमोल धरोहर है। हमें इसकी रक्षा करनी ही होगी।□

वर्ष 1984

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कोई वर्ष युद्ध के कारण, कोई शान्ति के कारण और कोई प्रकृति के प्रकोप के कारण याद किया जाता है लेकिन 1984 का वर्ष एकमात्र ऐसा वर्ष है जो पिछले 35 वर्षों से एक उपन्यास "नाइन्टीन एट्टी फोर (वर्ष 1984)" के कारण याद किया जाता है। इस उपन्यास के लेखक हैं एरिक आर्थर ब्लेयर अथवा जार्ज आरवेल। इनका जन्म 25 जून 1903 को बिहार प्रान्त के मोतीहारी में हुआ था जहाँ इनके पिता इंडियन सिविल सर्विस में थे। 19 वर्ष की आयु में ये विश्वविद्यालय न जाकर पुलिस में भरती होकर बर्मा में पुलिस अधिकारी बन गये। बर्मा में 5 वर्ष रहने के बाद ये इंगलैंड चले गये। वहाँ यह नौकरी छोड़ दी और मुक्त लेखन करने लगे। 1937 में गृह-युद्ध के विषय में पुस्तक लिखने के उद्देश्य से स्पेन चले गये। आर्वेल का विश्वास था कि स्टालिन स्पेन के मास्को समर्थक साम्यवादियों की ही मदद कर रहा है। आर्वेल फ्रांस और ब्रिटेन के साथ गठबंधन करने का प्रयत्न कर रहा था अतः वह ब्रिटेन लौट आया और रूस द्वारा किये गये विश्वासघात का पर्दाफाश करने में जुट गया। उसने लिखा, "सभी पशु बराबर हैं लेकिन कुछ पशु औरों की अपेक्षा अधिक बराबर हैं।" 1945 में इनकी पत्नी एलीन का निधन हो गया तो ये अपने एकमात्र पुत्र को लेकर लंदन के एक एकान्त स्थान में रहने लगे और 1948 में प्रस्तुत उपन्यास का लेखन प्रारम्भ किया। उन्होंने लिखा है—"मैं जानता हूँ कि जिस समाज का मैंने चित्रण किया है वैसा समाज कभी नहीं आयेगा लेकिन मेरा विश्वास है कि इससे मिलते-जुलसे समाज की जरूर स्थापना होगी।" यह पुस्तक जून 1949 में प्रकाशित हुई और सितम्बर में वे बीमार पड़े। 21 जनवरी 1950 को उनकी मृत्यु हो गई।

आर्वेल को लोग निराश व्यक्ति के रूप में जानते है। वह इसी उपन्यास के कारण, जिसका नायक अधिनायकवादी शासन के भयानक दुःस्वप्न में भटक जाता है। उस समय अमानवीय मशीनी समाज फैल रहा था और व्यक्ति राज्य का दास होता जा रहा था। आर्वेल ने इस पुस्तक की कल्पना भविष्यवाणी के रूप में नहीं बल्कि चेतावनी के रूप में की थी कि अपने संसार को बड़ी शक्ति के हाथ में मत जाने दो।

आर्वेल की लोकप्रियता दो कारणों से है—एक तो रोमांचक भविष्य की कल्पना जिसका कुछ अंश 1984 तक सत्य घटित हो चुका है तथा कुछ ऐसे वाक्यों की देन जो आज क्या सदा-सदा के लिए अमर रहेंगे। ये हैं—*The big brother is watching* (मनहूस देख रहा है), *War is peace* (युद्ध ही शान्ति है), *Freedom is slavery* (स्वतन्त्रता का अर्थ है गुलामी), *Ignorance is strength* (अज्ञानता ही शक्ति है)। वस्तुतः वैज्ञानिकों तथा राजनीतिज्ञों को समान रूप से मथने वाले विचार आर्वेल कृत "वर्ष 1984" में निहित हैं।

स्वाभाविक है कि वर्ष 1983 के बीतने पर जब अखबारों ने वर्ष 1984 का अभिनन्दन किया तो प्रायः सबों को आर्वेल के इसी उपन्यास की याद आ गई। भारत की आम जनता को न सही, किन्तु शिक्षित समाज को एक बार आर्वेल की फिर याद आई। हमने भी इस उपन्यास को पढ़ा। बड़ा उबाऊ

लगा किन्तु एक-दो तथ्य जिनकी ओर "साइंस टुडे" पत्रिका ने इंगित किया है, हमें भी मार्मिक लगे। लेकिन उसी समय हमें यह लगा कि हम दूसरों की आँखों से देखने के आदी हो चुके हैं। यही नहीं, भविष्यवाणियों में हमारा विश्वास है।

लेकिन हमीं क्यों दोषी बनें, सारा विश्व ऐसी ही मनोवृत्ति वाला है। यह मानवीय दुर्बलता है। किन्तु लोगों का विश्वास है कि ऐसी कल्पनाओं या भविष्यवाणियों के द्वारा ही मनुष्य रोमांचित या पुलकित होने के साथ-साथ प्रगति भी करता है। एच० जी० वेल्स के उपन्यासों ने मानवीय चिन्तन को व्यापकता प्रदान करने के साथ ही वैज्ञानिक प्रगति करने का मार्गदर्शन किया है। किन्तु आर्वेल के विषय में ऐसा कुछ कहना या सोचना निरी भूल होगी। तब भी विज्ञान और साहित्य के क्षितिज जहाँ कहीं भी मिलते हैं, वहाँ विश्वकल्याण एवं मानव उन्नति छिपी हुई है। उसी की खोज की जानी है।

आर्वेल ने दो बातें स्पष्ट की हैं – एक तो यह कि मनुष्य विज्ञान का दास बनता जा रहा है और दूसरे यह कि उसकी कामवासना पर प्रतिबन्ध लग रहा है और कृत्रिम साधनों से गर्भाधान किया जाने लगा है। विचारों की उन्मुक्तता नहीं रह गई—विचार पुलिस चतुर्दिक लगे हुए हैं। आर्वेल के समय मशीनीकरण प्रारम्भ हो चुका था अत: उसका चिन्तित होना स्वाभाविक था जिसकी परिणति विचार पुलिस में होती है। यद्यपि उस समय तक ट्रांजिस्टर तथा कम्प्यूटर का ठीक से प्रचलन नहीं हुआ था किन्तु आर्वेल ने इनके दूरगामी प्रभावों का अनुमान लगा लिया था। किन्तु कृत्रिम गर्भाधान के विषय में उसे कैसे पूर्वाभास हुआ ? उस समय तक डी. एन. ए. का रहस्य ठीक से प्रकट नहीं हो सका था। कृत्रिम गर्भाधान पशुओं तक ही सीमित था किन्तु आज "परखनली शिशु" के द्वारा न जाने कितने सन्तानहीन दम्पतियों ने सुख की साँस ली है। आज तो वीर्य-बैंक स्थापित हो चुके हैं। आजकल तो विचारों को भी बदलने या कि स्मरणशक्ति को स्थानान्तरित करने में सफलता प्राप्त हो चुकी है। मस्तिष्क के विषय में न जाने कितनी खोजें की गई हैं। आर्वेल ने अन्तरिक्ष यात्राओं के विषय में कुछ नहीं कहा जो इस दशक की महानतम उपलब्धियों में से हैं। निस्सन्देह आर्वेल की भविष्यवाणियाँ मानवमात्र को आगाह करने के लिए हैं।

हम यहाँ पर श्रीमद्भागवत में वर्णित दो विवरणों का उल्लेख करना चाहेंगे। श्रीमद्भागवत एक पौराणिक ग्रन्थ है जिसकी रचना आज से 1200 वर्ष पहले हुई। देवकी के गर्भ से बलदेव को निकाल कर रोहिणी के गर्भ में स्थापित करना और कर्दम मुनि द्वारा देवहूति के लिए विशेष यान की रचना जो अन्तरिक्ष में इच्छानुसार विचरण कर सके—ये दो अत्यन्त लोमहर्षक घटनाएँ हैं। इतने वर्षों से हम इन घटनाओं को कोरी कल्पना कहकर इनका उपहास करते हुए अपने पौराणिक साहित्य का उपहास उड़ाते रहे हैं। किन्तु अब समय आ गया है कि हम व्यास जैसे पुराण लेखकों की विचारधाराओं की ठीक से विवेचना करें। वर्ष 1984 हमारे लिए आत्म-निरीक्षण का वर्ष होना चाहिए। जब एक भारतीय श्री राकेश शर्मा अन्तरिक्ष यात्रा करके वापस आ चुके हैं तो उन्हें चाहिए कि श्रीमद्भागवत के इस प्रसंग को पढ़कर इसका विश्लेषण करें और बतावें कि प्राचीन भारतीय मनीषा कितनी उर्वर थी।

ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिसकी सार्थकता आज के युग में है।□

विनोदी आइंस्टीन

एक सभा के दौरान प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन जैसे ही भाषण देने के लिये खड़े हुये कि पीछे से आवाज आयी, "मिस्टर आइंस्टीन आपको याद होगा आपके पितामह गधे की सवारी करते थे।"

"जी हाँ याद है, लेकिन आप उन्हे छोड़ कर यहाँ क्यों चले आये ?" आइंस्टीन ने दहला मारा।

ये खूबसूरत बत्तखें

कु० मीना अष्ठाना
प्राणि विज्ञान विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

अगर आपको प्रकृति विचरण का शौक है तो आपने नदी, तालाब और पोखरों के आस-पास कुछ सुन्दर सफेद पक्षियों को जमीन पर तेजी से दौड़ते या पानी में तैरते हुए देखा होगा और इनकी क्वेक-क्वेक की आवाज़ को भी सुना होगा। ये सुन्दर पक्षी हैं बत्तखें। क्या आपने ये अनुभव किया है कि शरद ऋतु में बत्तखें अधिक संख्या में दृष्टिगोचर होती हैं। इसका कारण यह है कि सितम्बर माह आरम्भ होते ही भारत के उत्तरी भाग, हिमालय के पार से इनके झुंड के झुंड इस पार आने लगते हैं और उत्तरी भारत के नदी-तालाब हजारों पक्षियों से भर जाते हैं। धीरे-धीरे ये बत्तखें, भारत के दक्षिण की ओर बढ़ती हुई पूरे भारत में फैल जाती हैं। पूरी सर्दियाँ भारत में बिताने के बाद मार्च माह के अन्त तक ये वापस हिमालय पार लौट जाती हैं। किन्तु कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जो बारहों मास दिखाई देती हैं। अधिकतर बत्तखों का शरीर रुई की तरह सफेद पंखों से ढँका रहता है। जिन बत्तखों की चोंच पीले रंग की लम्बी और चपटी होती है वे घरेलू बत्तखें होती हैं किन्तु जिन बत्तखों की चोंच कुछ पतली और आगे की ओर हुक के आकार में मुड़ी रहती है वे जंगली बत्तखें होती हैं।

चाहे घरेलू हों या जंगली, ये जल और थल दोनों प्रकार की स्थितियों में भली भाँति रह सकती हैं। और यही कारण है कि इनका शरीर दोनों ही प्रकार के वातावरण के अनुकूल होता है। पानी में तैरते समय इनका शरीर नाव के आकार का दिखाई देता है, गरदन तनी रहती है और ये बड़ी शान से तैरती हुई दिखाई देती हैं। तैरने में इनके पैर विशेष रूप से सहायक हैं क्योंकि पैरों का आकार नाव की पतवार जैसा होता है। इनके पिछले पैरों के पंजों की उंगलियाँ मुड़ नहीं सकतीं, फैली रहती हैं और तीन उँगलियों के बीच में एक मजबूत झिल्ली जैसी रचना लगी रहती है। इसी झिल्ली की वजह से पैर के पंजे पतवार की तरह चौड़े हो जाते हैं और तैरने में सहायता देते हैं। चौथी उँगली छोटी होती है और उँगलियों से अलग रहती है और पीछे की ओर मुड़ी होती है। तैरते समय पंजे दिखाई नहीं देते। ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है जैसे बत्तख को तैरने में कोई श्रम नहीं करना पड़ता पर वास्तविकता यह है कि अंदर ही अंदर इनके पैर चलते रहते हैं। जमीन पर भी इन्हीं पैरों की सहायता से ये तेजी से दौड़ती हैं। तैरते समय पानी से पंख भीग कर भारी न होने पाएँ इसका भी समुचित प्रवंध रहता है। इसके लिए पूँछ के पास एक विशेष ग्रन्थि होती है जिसे यूरोपाइजियल ग्रन्थि (**Uropygial gland**) कहते हैं। यह ग्रन्थि पानी में तैरने वाले पक्षियों में पीठ पर पुच्छपंखों के आधार पर पाई जाती है। इस ग्रन्थि से एक प्रकार का तैलीय पदार्थ निकलता रहता है जो पंखों के ऊपर फैल कर उन्हें चिकना कर देता है। इस प्रकार जब पंखों पर पानी पड़ता है तो फिसल जाता है और पंख भीगने नहीं पाते।

इन्हें पानी में नहाना भी खूब पसन्द है, चाहे जितना भी जाड़ा हो ये खूब तैरती और नहाती हैं। इनकी चमड़ी के नीचे चर्बी की एक मोटी तह होती है जो जाड़े से रक्षा करती है। कभी-कभी ये कंकड़

स्नान (Dry cleaning) भी करती हैं। कंकड़ स्नान के लिए ये देर तक धूल में लोटती रहती हैं और उसके बाद पंख फड़फ़ड़ा कर धूल झाड़ देती हैं, लो हो गया स्नान और शरीर शुद्ध। नहाने के बाद ये अपनी चोंच से कंघे का काम लेती हैं और पंख सँवार लेती हैं।

बत्तखें उड़ भी सकती हैं, उड़ने में इनके डैने सहायता देते हैं। इनके अगले पैर डैने बनाते हैं। डैने में बाहर की ओर 10-11 बड़े पंख या प्राइमरीज (Primaries) होते हैं। इसके बाद छोटे पंख या सेकेंडरीज (Secondaries) होते हैं। ये पंख (Flight feathers) उड़ने में सहायता देते हैं। जहाँ घरेलू बत्तखें मात्र 2-3 मीटर की ऊँचाई तक ही उड़ पाती हैं वहीं जंगली बत्तखें काफ़ी ऊँचाई पर उड़ते हुए लाखों मील का सफ़र तय कर सकने में सक्षम पायी गई हैं। ये लम्बी यात्राओं की प्रेमी होती हैं और भारत में जब गर्मी बढ़ने लगती है तब ये अपनी गर्मियाँ हिमालय पार बिताने के लिए एशिया-योरप की सुदूर यात्रा पर निकल पड़ती हैं। इन दिनों इन्हें मानसरोवर झील, लद्दाख, काराकोरम के दक्षिणी प्रदेशों में भी देखा जा सकता है। सितम्बर-अक्टूबर माह में पुनः भारत लौट आती हैं।

इनके शरीर को ढकने वाले पंख छोटे और नर्म होते हैं। इन्हें डाउन (Down) पंख कहते हैं। ये शरीर को वस्त्र की तरह ढके रहते हैं।

खाने में इन्हें छोटी-छोटी मछलियाँ, पानी में उगने वाली घास, छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े, घोंघा, सीप आदि पसन्द हैं। मछली पकड़ने के लिए इनकी चोंच की बनावट विशेष रूप से उपयोगी है। चोंच चपटी और आगे से हुक की तरह मुड़े होने के कारण यदि इसमें कोई भी जन्तु फँस जाए तो उसका फिसल कर निकल पाना संभव नहीं होता। चीन में तो बत्तखों से मछली पकड़वाने का काम भी लिया जाता है। इसके लिए उसकी गर्दन में एक छल्ला फँसा दिया जाता है। जब इसकी चोंच में कोई मछली फँस जाती हैं तो ये छल्ले के कारण मछली अंदर नहीं निगल सकती। फँसी मछली को इसकी चोंच से निकाल कर अलग कर लेते हैं। जंगली बत्तखें अधिकतर रात में खाना ढूँढ़ने निकलती हैं।

बत्तखें अपने अंडे नदी के किनारे की घास में वर्षा ऋतु में देती हैं। अंडे देने से पहले घास का बिस्तर तैयार करती हैं, उस पर अपने छोटे-छोटे पंख (Down feathers) बिछा देती है और उसी पर एक बार में 4-5 सफेद अंडे देती हैं। जंगली बत्तखों के अंडे पहले तो सफेद होते हैं; लेकिन धीरे-धीरे मटमैले भूरे या ताँबे के रंग के हो जाते हैं। मौसम के अधिक गर्म हो जाने पर, अंडों पर पानी डाल कर उन्हें ठंडा रखती हैं। ये अपने अंडे की सुरक्षा अपनी जान से भी अधिक करती हैं। उन्हें समय-समय पर सेती रहती हैं और 2-3 हफ्ते के अंदर अंडों से बच्चे बाहर निकल आते हैं।

बत्तख़ों की बहुत सी किस्में पाई जाती हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ पर करेंगे।

(1) **बुड़ार** (Red Headed Pochard)—ये अच्छे साफ जल में रहती हैं और कुशल पनडुब्बी होती हैं। यह भारत में मध्यप्रदेश को छोड़कर सब जगह पाई जाती है। भारत के बाहर उत्तर की ओर चीन में, पश्चिम की ओर पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, एशिया माइनर, योरप आदि देशों में फैल जाती हैं।

इनका शरीर हल्के भूरे रंग का होता है। वक्ष और दुम के ऊपर नीचे का भाग काला होता है। पिछले पैर की चौथी उँगली भी चौड़ी और पतवार-नुमा होती है जो तैरने और डुबकी लगाने में सहायक होती है। ये तेज़ चल नहीं पातीं किन्तु इनकी उड़ान में काफ़ी तेजी होती है।

(2) **सीखपर** (Pintail)—ये बहुत ही सुन्दर होती हैं। चोंच काली, आँखें भूरी तथा दुम के बीच वाले दो पंख सींक जैसे लम्बे होते हैं। नर के शरीर पर तरह-तरह की काली, सफ़ेद, हरी धारियाँ होती हैं, पैर स्लेटी रंग के होते हैं। मादा की गर्दन पर भूरी चित्तियाँ, बदन के नीचे के हिस्से सफ़ेद तथा पीठ और डैने स्लेटी रंग के होते हैं। ये भारत के सब स्थानों

में तथा संसार के लगभग सभी देशों में पाई जाती हैं।

(3) **सुर्ख़ाब** (Ruddy shell drake or Bahmani Duck)—सुर्ख़ाबें अत्यन्त सुन्दर बत्तखें होती हैं। नर का सारा शरीर सुनहरा, नारंगी या भूरे रंग का होता है। सिर, गर्दन बादामी रंग की और गले के चारों ओर काली कंठी तथा दुम और पीठ का पिछला भाग काला होता है। डैने बनाने वाले अगले पैर के पंख काले, सफ़ेद, हरे—अनेक रंगों के होते हैं। इनके पंखों की सुन्दरता पर कहावत भी है 'सुर्ख़ाब के पर लगाना'। इसकी चोंच काली और आँखें गहरी भूरी और टाँगे काली या गाढ़ी उन्नाबी रंग की होती हैं।

ये भी मौसमी पक्षी हैं और भारत के लगभग सभी प्रदेशों में अक्टूबर से अप्रैल तक इन्हें देखा जा सकता है। कुछ पक्षी लद्दाख़ की झीलों और तालों में रह भी जाते हैं और वहीं घोंसला बनाकर अंडे देते हैं।

(4) **हंस** (Mute Swan and Hooper Swan)—हंस पक्षियों का राजा माना जाता है। यह बहुत ही सुंदर पक्षी है। ये भी मौसमी पक्षी है और हमारे देश के केवल कुछ उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में ही पाया जाता है। नर और मादा दोनों का रंग-रूप एक ही जैसा होता है। सिर, गर्दन, धड़ और दुम के भाग सफ़ेद होते हैं जिनमें गुलाबी झलक रहती है। डैने लाल, चोंच गुलाबी, आँखें गाढ़ी भूरी, टाँगे लम्बी और गहरे लाल रंग की होती है।

इसके अतिरिक्त चैती (Common Teal), तिदारी (Shoveller), सवन (Barred Headed Goose) आदि भी मौसमी बत्तखें हैं।

बारहमासी बत्तखें नकटा (Naktac or Comb Duck), गिर्री (Cotton Teal), वेर (Grey or Spot billed Duck), छोटी सिलही (Lesser Whistling Teal), बड़ी सिलही (Large Whistling Teal), देवहंस (White Winged Wood Duck), डूमर (Pink Headed Duck) आदि हैं।

बत्तख़ हमारे लिए एक अत्यन्त उपयोगी पक्षी है। ये नुक्सान पहुँचाने वाले कीड़ों-मकोड़ों को खाकर पर्यावरण शुद्धीकरण में भी सहायता देती हैं। इसका मांस खाने में स्वादिष्ट और पौष्टिक होता है। मांस और पंखों से आयुर्वेदिक ओषधियाँ भी बनाई जाती हैं। बड़े पंख सजावटी वस्तुएँ बनाने में काम आते हैं और छोटे पंख गद्दियों और तकियों में रूई के स्थान पर भरे जा सकते हैं। और तो और इसकी बीट भी अत्यधिक उपयोगी है। उसमें नाइट्रोजन, फास्फेट, कैल्शियम तथा लौह तत्त्व काफ़ी मात्रा में पाए जाते हैं जो एक अच्छी खाद का काम देते हैं।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि बत्तख़ एक सुन्दर पक्षी है और साथ-ही-साथ उपयोगी भी है। ☐

पुरस्कार की रकम

कवीन्द्र रवीन्द्र की जन्म-जयन्ती का समारोह था। अध्यक्ष-पद के लिये प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० सी० वी० रमन के नाम का प्रस्ताव रखते हुए आयोजक ने कहा, "विश्व कवि और डॉ० रमन में एक बड़ी समानता है। दोनों नोवेल पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं!"

रमन ने सभापति पद ग्रहण किया और फिर बोले, "सज्जनो, विश्वकवि से मेरी यहीं तक समानता है कि दोनों के नाम स्वीडन की एकेडमी ने नोबेल पुरस्कार की घोषणा की, इसके बाद तनिक भी समानता नहीं है। विश्वकवि को पुरस्कार के एक लाख रुपये प्राप्त हो गये परन्तु मुझे मिलकर भी नहीं मिले।"

फिर श्रोताओं के मुँह पर फैले आश्चर्यभाव को देखकर मुस्कराते हुये विनोदी वैज्ञानिक ने स्पष्टीकरण किया—"सज्जनो, पुरस्कार की रकम चेक द्वारा आयी और उसे मैंने जिस बैंक में जमा कराया, उसका दिवाला निकल गया। इतनी बड़ी रकम का अधिकारी होते हुये भी हाथ मलता रह गया।"

अपरिमित संभावनाओं का क्षेत्र : जैविक तकनीक

राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप

शिक्षाशास्त्र विभाग, ए० पी० एन० महाविद्यालय, बस्ती (उ० प्र०)

"इक्कीसवीं शताब्दी जैविक-तकनीक का युग होगा।" —डॉ० अब्दुस्सलाम

1973 में कैलिफोर्निया के दो वैज्ञानिकों स्टैनली कोहेन और हर्बर्ट बायर ने जीवित प्राणियों के कोषों के केंद्रक में उपस्थित डी एन ए (डि आक्सीरिबो न्यूक्लिक एसिड) अणु में परिवर्तन की तकनीक विकसित की थी। यह डी एन ए अणु अपने भीतर जीवन की अभिवृद्धि और विकास के कूट निर्देश संजोए रहते हैं परंतु इनकी आकृति लंबी श्रृंखलाओं के अथवा वलयों के रूप में होती है। इनकी प्रत्येक लड़ी सैकड़ों या हज़ारों जीन कणों में विभाजित होती है। उदाहरण के लिये एक वाइरस में यह संख्या लगभग 35000 और मनुष्यों में 35 अरब के आस-पास होती है। प्रत्येक जीन-कण एक विशेष प्रोटीन कण के उत्पादन का कारक होता है। कोहेन और बायर ने दो वर्गों के एंजाइमों के उपयोग द्वारा भिन्न जीन कणों के पारस्परिक संबंध-परिवर्तन में सफलता प्राप्त की थी। यह प्रतिबंधक एंजाइम डी एन ए अणु को अनुमानित स्थान पर विखंडित कर सकते थे और डी एन ए बंधक उन्हे नवीन रूप में संयुक्त करता था। संयोजित जीन कणों को 'पुनर्योजित' (रिकम्बाइंड) कहा गया था।

सामान्यतया किसी डी एन ए अंश को जीवाणु-प्लाज्मिड से संयुक्त किया जाता है। डी एन ए वलय जीवाणुकोषों में उपस्थित रहते हैं और वाह्य जीन कणों के लिये आदर्श वाहक का कार्य करते हैं। अब यदि प्लाज्मिड में कोई नवीन जीन स्थापित कर दिया जाये तो पहले का कूट निर्देश परिवर्तित हो जाता है और कोई रसायन बनना प्रारंभ हो सकता है। यदि कूट इस प्रकार का हो कि रसायन-इंसुलिन हो तो एक सर्वथा नवीन संभावना प्रकट हो जाती है। वर्णक्रम -विश्लेषण के माध्यम से जीन कण की संस्थापना ज्ञात करके उससे मिलते जुलते जीन कण को किसी जीवाणु में खोजा जाता है और इसे पहले जीन की 'अनुकृति' बनाने का प्रयत्न किया जाता है। जटिल संगठक भी इस परिणाम की प्राप्ति के लिये उपयोग किये जाते हैं।

वास्तव में परिवर्तित कोष अपना पुनरुत्पादन प्रारंभ करता है और यदि जीन कणों का परिवर्तन प्राणी की आकारवृद्धि की संभावनायुक्त हो तो असाधारण आकार के प्राणी भी उत्पन्न हो सकते हैं। यह संभावना भी अब प्रयोगों की कसौटी पर खरी उतर चुकी है। पेंसिलवानिया की जैव-प्रयोगशाला में जीन कणों से छेड़-छाड़ की तकनीक द्वारा ऐसे चूहे उत्पन्न किये जा चुके हैं जो सामान्य चूहों से दो-गुना बड़े हैं।

यह विचार करना कठिन नहीं है कि यदि इस तकनीक के उपयोग से इंसुलिन बनाया जा सके तो वह तकनीक के विकास के साथ-साथ सस्ता हो जायेगा और जैसा कि कुछ विशेषज्ञों का अनुमान है कि मानव-शरीर इस इंसुलिन के प्रति प्रत्यूर्जिता न प्रदर्शित करे। पशु-इंसुलिन के उपयोग में यह आशंका सदैव ही उपस्थित रहती है। वास्तविकता तो यह है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की एली लिली कंपनी ह्यमूलिन नाम से जो इंसुलिन उत्पादन कर रही है वह पुनर्योजित डी एन ए तकनीक से ही प्राप्त किया गया है।

मानवीय इंटरफेरानों का निर्माण एक दूसरा क्षेत्र है जहाँ यह तकनीक प्रयोग की जा सकती है। इंटर-फेरान अणु-समूह विषाणुज-संक्रमण के विरोध में शरीर की प्रारंभिक सुरक्षा करते हैं। प्राकृतिक इंटरफेरान को अन्य यौगिकों से पृथक करना अतीव कष्टसाध्य प्रक्रिया है और इससे इंटरफेरान की अत्यंत अल्प मात्रा प्राप्त हो सकती है। स्पष्ट है कि इस रूप में प्राप्त इंटरफेरान अत्यंत महंगा होगा। परंतु इंटरफेरान के उपयोग ने स्तन और गुर्दों के कैंसर, मस्तिष्क-अर्बुद, यकृत शोथ, पुरानी श्वेतरक्तता, बहुसृत काठिन्य, कच्ची दाद और सामान्य सर्दी के उपचार में महत्वपूर्ण परिणाम प्रस्तुत किये हैं अतः इंटरफेरान उत्पादन एक महती आवश्यकता बन गया है। कैलिफोर्निया के जेनेन्टेक प्रतिष्ठान के डॉ० रोनाल्ड हिट्जमान ने जीवाणुओं के स्थान पर मानव जीन के वाहक के रूप में ईस्ट के उपयोग द्वारा पुनर्योजित इंटरफेरान का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की है। इस तकनीक का सबसे बड़ा लाभ यह है कि जो कुछ उत्पन्न करता है उसे कोषभित्ति के बाहर निकाल देता है जिससे इंटर-फेरान एकत्र करना अंततः सरल प्रक्रिया बन जाती है। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ कोष-भित्ति को हटा कर मिले-जुले मिश्रण से अभीप्ट पदार्थ प्राप्त करना एक जटिल प्रक्रिया होती है।

पुनर्योजित डी एन ए तकनीक मानवीय वृद्धि हार्मोन के उत्पाद की भी संभावना व्यक्त कर रही है। पिट्यूटरी ग्रन्थि में उत्पन्न होने वाले इस हार्मोन का अभाव बौनेपन का कारण बनता है, जैसा सैनफ्रां-सिस्को के कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के डॉ० सेलना काप्लान के प्रयोग से संकेत मिलता है। वे 22 बच्चों पर पुनर्योजित वृद्धि हार्मोन का प्रयोग कर रहे हैं और "आज यह बच्चे उपचार प्रारंभ होने के पहले की अपनी वृद्धि-गति से ढाई गुना अधिक तेजी से बढ़ रहे हैं।" यह हार्मोन अस्थि-भंगुरता के रोगियों को भी लाभ पहुँचा सकता है। एक अन्य अध्ययन ने यह संभा-वना भी व्यक्त की है कि यह भयानक रूप से जले हुए व्यक्तियों में "नाइट्रोजन धारण में वृद्धि करके ऊतकों के प्रोटीन चयापचय में सहायता कर सकता है।" डॉ० काप्लान वृद्धों से लिये इस हार्मोन के उपयोग की संभावना भी अस्वीकार नहीं करते।

शुद्ध एंजाइम-उत्पादन भी इस तकनीक द्वारा संभव है। जेनेन्टेक प्रतिष्ठान ने ई० कोली जीवाणु के उपयोग से ऐसे दो एंजाइम-यूरोकिनेज और टीपीए प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है। यह दोनों पदार्थ रक्त स्कंदों को अपने में विलयित करने में समर्थ हैं, और रक्त-स्कंदों को फुफ्फुस धमनी अन्तः शल्यता तथा हार्ट-अटैक का कारण माना जाता है। यूरोकिनेज घनास्त्रशिरा शोथ की स्वीकृत औषधि है।

अब पशु-चिकित्सा के क्षेत्र पर विचार करें। नवीन पुनर्योजित तकनीक द्वारा प्राप्त अनेक वैक्सीनें खुरों, गले के रोगों और बछड़ों के घातक अतिसार की चिकित्सा में प्रयुक्त हो रही हैं। मनुष्यों की भाँति गायों के पुनर्योजित वृद्धि हार्मोन के प्रयोग द्वारा कर्नेल विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने दूध की मात्रा में 12 प्रतिशत की वृद्धि करने में सफलता प्राप्त की है, यद्यपि इसके लिये पशु को अतिरिक्त चारे की आवश्यकता नहीं पड़ती। परंतु इस हार्मोन के दूरगामी प्रभाव अभी निश्चित नहीं किये गये हैं।

प्रसिद्ध विज्ञान-लेखक आइज़क आसीमोव ने यह भी कल्पना प्रस्तुत की है कि जीवाणुओं को मांसपेशी प्रोटीन उत्पादित करने वाले जीनों से संयुक्त कर दिया जाये तब हम एक मांस जैसा दिखने वाला और वैसे ही स्वाद वाला जीवाणु खंड प्राप्त कर सकेंगे। इनका उत्पादन तीव्रगति से और कम खर्च में होने की सम्भावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता।

यदि जीवाणुओं के स्थान पर पौधों में नए जीन संयुक्त किये जाएँ तो पोषण तत्वों में वृद्धि की जा सकेगी। यही नहीं जैविक-तकनीक द्वारा ऐसे पौधे भी विकसित किये जाने की सम्भावना है जो वायु से अपने लिये आवश्यक नाइट्रोजन प्राप्त करें और उर्वरकों का उपयोग न करते हुए अधिक फसल दें।

इस तकनीक द्वारा ऐसे जीवाणु भी निर्मित किये जाने की सम्भावना है जो मीथेन का उत्पादन करें जो

प्राकृतिक गैस का महत्वपूर्ण अंश है। यूरोप की रायल डचशेल कं० ऐसे जीवाणुओं की खोज में है जो खारे पानी में जीवित रह सकें और अपना पुनरुत्पादन भी कर सके। वास्तव में यह कम्पनी खारे पानी द्वारा उन तेल के कुओं से तेल प्राप्त करती है जिनसे सामान्य दाब पर तेल नहीं प्राप्त हो पाता है। अभीष्ट जीवाणु पुनरुत्पादन के कारण पानी के दाब में और अधिक वृद्धि करेंगे जिससे तेल की अधिक मात्रा प्राप्त हो सकेगी।

आयरलैण्ड के डब्लिन विश्वविद्यालय के डेविड मैक्कनेल ने मक्के के रस पर एंजाइमों के उपयोग द्वारा फ्रक्टोज निर्माण का उल्लेख किया है। यह विधि अमेरिका के चीनी उद्योग पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल रही है।

टेनेसी की ओकरिज नैशनल लेबोरेट्री के डॉ० इलियास ग्रीनबाउम पुनर्योजन तकनीक के उपयोग से ऐसी शैवाल जाति विकसित करने में व्यस्त हैं जो पानी के अणु को हाइड्रोजन और ऑक्सीजन में विच्छेदित कर दे। इस हाइड्रोजन का ईंधन के रूप में उपयोग जल ही उत्पन्न करेगा जिससे पुनः हाइड्रोजन प्राप्त हो जाएगी। डॉ० ग्रीनबाउम की भविष्यवाणी है, "यदि हम उन एंजाइमों का, जो हाइड्रोजन के निर्माण में उत्प्रेरक का कार्य करते हैं, कूट समझ सकें और उन्हें अलग कर सकें तो हम ऐसे जीव विकसित कर सकते हैं जो हाइड्रोजन और आक्सीजन के अधिक ऊँचे स्तर वाले जीव होंगे।"

आइज़क आसीमोव के अनुसार "चिकित्सा के तूणीर का शक्तिशाली अस्त्र किसी दिन एक 'क्लोनल' प्रतिपिण्ड हो सकेंगे जो कृत्रिम रूप से निर्मित संकर कोषों में उत्पन्न किये जाते हैं और विशिष्ट रोगों से संघर्ष करने में अन्यतम हैं। यह अणु जो अभी अपने विकास की प्रारंभिक अवस्था में है मानवीय प्रतिरक्षा प्रणाली की आधार शिला के रूप में शरीर की प्रतिपिण्ड-प्रतिजन प्रतिक्रिया की पुनर्रचना के द्वारा सक्रिय होते हैं।"

किसी व्यक्ति में प्रविष्ट कराये जाने पर प्रतिजन, लिम्फोसाइट नामक विशिष्ट कोष-समूह में विशेष प्रकार के प्रतिपिण्डों का निर्माण करता है। यह प्रतिपिण्ड, प्रतिजनों पर आक्रमण करके उन्हें निष्क्रिय कर देते हैं। चूहों से एक 'क्लोनल' प्रतिपिण्ड प्राप्त किये जा चुके हैं और उनका निदानात्मक उपयोग भी प्रारंभ हो गया है। मानव-मानव संगलित कोषों के विकास से मानवीय रोगों के उपचार की सम्भावना भी स्पष्ट होने लगी है।

जीव-तकनीक के उपयोग की असीमित संभावनाओं ने इस तकनीक के दुरुपयोग की आशंका भी व्यक्त की है परन्तु वैज्ञानिक मानते हैं कि इस आशंका के कारण अनुसंधान रोका नहीं जाना चाहिये।

जीव-तकनीक अनुसंधानों के महत्व का आकलन करते हुए भारतीय अणुजीववैज्ञानिक सरन नारंग ने यह टिप्पणी की है कि "यदि उन्नतिशील देश इस क्षेत्र में अंतराल कम नहीं करते तो दस वर्ष बाद यह कार्य असंभव हो जायेगा...एक विकल्प तो यही है कि वे इस क्षेत्र के ज्ञान से तत्काल लाभ उठाना प्रारंभ कर दें।" इसी उद्देश्य से सितम्बर 1983 में संयुक्त राष्ट्र संघ के औद्योगिक विकास संगठन (UNIDO) के तत्वावधान में 30 देशों के प्रतिनिधियों ने जैव-तकनीक के लिये अंतर्राष्ट्रीय संस्थान स्थापित करने के प्रस्ताव का समर्थन किया है। इसी के साथ अणु जीवशास्त्रीय संसाधन केन्द्र (MIRCENS) की परिकल्पना भी सामने आई है।

कंप्यूटर महिला

आशुतोष मिश्र

अशोक नगर, इलाहाबाद

जनवरी 1977 : अमरीका के एक विश्वविद्यालय में एक अद्भुत प्रतियोगिता होती है—एक महिला और एक कंप्यूटर के बीच। यह कंप्यूटर UNIVAC 1108 विश्व का सबसे तेज गणक है। दोनों प्रतियोगियों को एक लंबी सी संख्या : 91674867-69200391580986609275853801 62483-106680144308622407126516427 9346-57040867096593 27920576748080679-002278301635492485238 0335745316-9351119035965775473400756818688-3056208210161291328455648957801-58806771 दी गई और उसका 23वाँ मूल निकालने को कहा गया। उस विलक्षण महिला ने आँखें बंद कीं, ध्यान एकाग्र किया और कुल 50 सेकेंड में उत्तर दिया '546372891'। कंप्यूटर में 1300 सूचनाएँ भरी जा चुकी थीं और उत्तर की प्रतीक्षा की जा रही थी। कुल दस सेकेंड बाद, अर्थात एक मिनट में कंप्यूटर ने उत्तर दिया। कंप्यूटर हार चुका था।

आप अवश्य पूछेंगे कि वह कौन महिला थी जिसने ऐसी दिल दहलाने वाली संख्या का मूल झट से बता दिया? वह हैं अपने भारत की ही एक साधारण सी कन्नड़भाषी महिला शकुन्तला देवी। वास्तव में इस महिला का गणित ज्ञान मात्र तीन वर्षों में इतना अच्छा था कि लोग विस्मय विमुग्ध रह जाते थे। जैसे-जैसे वे बड़ी हुईं, इनके माता-पिता ने इस प्रतिभा को धनोपार्जन का साधन बना लिया और वे विधिवत शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रहीं। सर्वप्रथम अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित करने का अवसर उन्हें तब प्राप्त हुआ जब टेक्सास में एक कंप्यूटर से उनकी प्रतियोगिता हुई—यह देखने के लिए कि दोनों में से कौन 188138517 का घन मूल (cube root) निकालने में जीतता है। शकुन्तला देवी ही जीतीं। जब वे बंबई आती हैं तब वहाँ अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करती हैं। लोग कैसा भी पेचीदा गणित का सवाल पूछें, प्रश्न समाप्त होते होते उत्तर तैयार रहता है। उनका कहना है कि संख्याओं के साथ उनका तादात्म्य हो गया है और प्रश्न होते ही उसका उत्तर उनके मस्तिष्क में कौंध जाता है। यदि कोई व्यक्ति सिद्धान्तों के आधार पर इन प्रश्नों का उत्तर उत्तर देना चाहे तो वह भी संभव है। तो आप यह भी जान लीजिए कि यह होता कैसे है? यदि आपको लघुगणक (**Logarithms**) का जरा भी ज्ञान है तो यह पलक झपकते ही संभव है। इसके लिए 2 अंकों वाली लघुगणक सारणी (**Logarithmic Table**) के प्रथम बीस अंकों को रटना पड़ेगा—जैसे $\text{Log } 2 = 0{\cdot}30$, $\text{Log } 3 = 0{\cdot}48$ आदि। मान लीजिए आपको 20 अंकों की संख्या का 64वाँ मूल निकालना है। बिना संख्या पूछे ही यह कीजिए—$\log \sqrt[64]{(20 \text{ अंक})} = \frac{19,\ldots\ldots}{64}$ आपका उत्तर $\frac{19}{64}$ और $\frac{19.99}{64}$ के बीच होगा—यह हैं 0·29 और 0·32 के बीच। यदि आपको लघुगणक याद है तो उत्तर तैयार है '2' चूँकि $0{\cdot}30 = \log 2$.। परन्तु इतना सब करने के लिए भी संख्याओं से जूझना पड़ता है। शकुन्तला देवी ने अपनी पुस्तक 'फिगरिंग द ज्वाय विद नम्बर्स'

(*Figuring the joy with numbers*) में इन्हीं विधियों को समझाया है। अपनी विलक्षण प्रतिभा और अद्भुत स्मरण शक्ति के कारण ही उन्होंने गिनीज बुक ऑव वर्ल्ड रेकार्ड्स' (*Guiness Book of World Records*) में स्थान प्राप्त किया है।

यद्यपि शकुन्तला देवी इस समय कंप्यूटर जैसी गणनाएँ करने में सर्वश्रेष्ठ हैं पर ऐसी अनेक विभूतियाँ विश्व में विद्यमान हैं। भारत में ही ले लीजिए: जामनगर के श्री प्रवीण कुमार मेहता जो कि 46 वर्ष के हैं, बड़ी से बड़ी संख्याओं का गुणा, भाग और मूल आदि पलक झपकते ही निकाल लेते हैं। उन्होंने सिर्फ नवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की और आजकल अपने परिवार का भरण पोषण करने के लिए अखबार बेचते हैं।

एम्सटर्डम के विलियम क्लीन भी एक जीते जागते कंप्यूटर कहे जा सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उनको एम्सटर्डम के गणित संस्थान (Institute of Mathematics) में "कैलकुलेटर" नियुक्त किया गया। वे 200 अंकों वाली संख्याओं का 23वाँ मूल 10.5 मिनट में निकाल सकते थे। आजकल वे CERN (European Organization for Nuclear Research) में कंप्यूटर का कार्य करते हैं।

यह भारत के लिए गर्व की बात है कि उसने अभी गणित की विलक्षण प्रतिभाओं को खोया नहीं है। प्राचीन काल से लेकर यह परम्परा चली आ रही है। आर्यभट, भास्कराचार्य, लीलावती, रामानुज और अब शंकुतला देवी—काश यह परम्परा कभी न समाप्त हो।

अब सातवें वर्ष में–

वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, देहरादून के
अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार, 1984

वानिकी विषयों पर मूलतः हिन्दी में लिखित वैज्ञानिक व तकनीकी ग्रन्थों और लेखों को देय

ग्रन्थ पुरस्कार :	श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार	5,000 रु०
	उत्तम लेखन पुरस्कार	3,000 रु०
	सराहनीय लेखन पुरस्कार	1,000 रु०
लेख पुरस्कार :	श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार	500 रु०
	उत्तम लेखन पुरस्कार	350 रु०
	सराहनीय लेखन पुरस्कार	200 रु०
	प्रोत्साहन पुरस्कार	100 रु०

प्रविष्टियाँ 31 जुलाई, 1984 तक स्वीकार्य

विहित आवेदन प्रपत्र, नियम व विवरण अपना पता लिखा व बिना टिकट लगा 10 सेमी० × 25 सेमी० आकार का लिफाफा भेजने पर निम्न से 15 जुलाई 1984 तक प्राप्य।

दुर्गाशंकर भट्ट
सचिव
अ० भा० वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना,
वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय,
डा० घ०, न्यू फारेस्ट (देहरादून)—248006

विटामिन सी अधिक मत लीजिए

नरेश बाली

द्वारा श्री गोहेनदास, बोरीपाड़ा, डाकघर आजरा, गौहाटी-781017

प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज लवणों सहित विटामिन (पोषक तत्व) शरीर के स्वास्थ्य तथा वृद्धि के लिए नितान्त आवश्यक हैं। कई प्रकार के विटामिन वैज्ञानिकों ने ढूँढ़ निकाले हैं और हर श्रेणी के विटामिन के गुण भी भिन्न होते हैं। शरीर के लिए हर एक का अपना अलग महत्व होता है। आज तक पता चल चुके सत्रह विटामिनों में से एक विटामिन सी है। इसका रासायनिक तथा जटिल नाम एस्कार्बिक एसिड है। अन्य लगभग सभी विटामिनों की भाँति यह भी मुख्यतः ताजे फलों तथा शाक-सब्जियों में पाया जाता है। नींबू, संतरा, नारंगी, मुसम्मी, टमाटर, आँवला जैसे खट्टे फल इसके अच्छे स्रोत हैं। अंकुरित बीजों में यह भरपूर मात्रा में होता है। परन्तु मांस, मछली, दूध में यह कम मात्रा में पाया जाता है। शरीर में विटामिन सी की कमी से सर्दी-जुकाम से लेकर कैंसर जैसा भयंकर रोग तक हो सकता है। इसकी कमी से मुख्य रूप से स्कर्वी रोग हो जाता है जिसमें शरीर के अवयवों से अनायास ही रक्तस्राव होने लगता है, दाँत हिलने लगते हैं, मसूढ़ों में जरा सी चोट लगने से ही ढेरों खून बह जाता है, घाव आसानी से नहीं भरते और हड्डियाँ कमजोर हो जाती हैं और जरा सी चोट से ही टूट सकती हैं। विटामिन सी की उचित मात्रा संक्रामक जीवाणुओं को नष्ट करती है और इस तरह शरीर का बीमारियों, रोगों से बचाव हुआ रहता है।

लोगों की धारणा है कि जितना अधिक विटामिन लिया जाये स्वास्थ्य उतना ही अच्छा होगा। इसी के चलते वे शीशियों में बन्द गोलियों के रूप में बाजारों में बिकने वाले कृत्रिम विटामिन के पीछे पागल हो गये हैं और आवश्यकता से कई गुना अधिक विटामिन सी लेने लग गये हैं। जिसको देखो वही विटामिन सी की गोलियों के पीछे दौड़ता मिलेगा। चिकित्सक भी लोगों को सर्दी-जुकाम आदि की रोकथाम के नाम पर विटामिन सी अंधाधुंध खिला रहे हैं। तिस पर भी पिछले कुछ वर्षों में मानव-स्वास्थ्य का प्रतिशत काफ़ी गिरा है।

किसी भी चीज की हद हो जाना सदा हानिकारक होता है। आवश्यकता से अधिक मात्रा में लिया गया अमृत भी विष समान सिद्ध होता है। वैज्ञानिकों द्वारा कृत्रिम ढंग से गाढ़ा विटामिन तैयार करके कबूतरों तथा खरगोशों को खिला कर देखा गया तो विटामिन सी के अधिक खाने से उन्हें स्कर्वी रोग हो गया जो विटामिन सी की मात्रा घटा देने से स्वयं ही दूर हो गया।

विटामिन सी के अंधाधुंध उपयोग के खतरों की जानकारी देने वाला एक लेख अमरीका के एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'न्यूयॉर्क टाइम्स' में हाल ही में प्रकाशित हुआ था। अपने इस बहुचर्चित लेख में श्री जेन ब्रॉडी ने बताया है कि विटामिन सी की बड़ी मात्राएँ गठिया तथा गुर्दों में पथरी को जन्म दे सकती हैं। अतिसार (दस्त), पेट-दर्द तथा पेट में वायु-विकार की भी सम्भावना है। विटामिन सी की भारी खुराकें शरीर में ली गयी एस्प्रिन के हानिकारक पक्ष को प्रोत्साहित करती हैं। मधुमेह के रोगी के मूत्र में शर्करा के स्तर की जाँच के परिणाम को प्रभावित कर सकती हैं अर्थात् सही-सही स्थिति के बताने पर असर डाल सकती हैं। [शेष पृष्ठ 17 पर]

मैं हूँ पेंग्विन पक्षी

डॉ० विमलेश चन्द्र श्रीवास्तव

प्रवक्ता, प्राणि विज्ञान विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

[इसके पूर्व आप विज्ञान के अंकों में अंटार्कटिक यात्राओं का संक्षिप्त इतिहास, अंटार्कटिक के जैवस्रोत और अंटार्कटिक विजय की ओर भारतीय कदम नामक तीन लेख पढ़ चुके हैं। यहाँ प्रस्तुत है डॉ० विमलेश चन्द्र श्रीवास्तव की लेखनी से अंटार्कटिक का सबसे विख्यात दो पैरों से चलने वाला पक्षी पेंग्विन। —सम्पादक]

क्या कहा ! आपने मुझे पहचाना नहीं। मेरी आपकी मुलाकात हो भी तो कैसे ? मेरा निवास आपके घर से दूर, सुदूर दक्षिण में है······पृथ्वी के दक्षिणी ध्रुव के इर्द-गिर्द, जिसे आप अंटार्कटिक कहते हैं। यहाँ अधिकांशतः बर्फीले समुद्र के बीच कहीं कहीं भू प्रदेश भी हैं। बसंत के कुछ महीनों को छोड़ कर यहाँ बर्फ ही बर्फ दिखती है। तेज बर्फीली हवायें तो यहाँ अक्सर ही चलती रहती हैं। हमारा जीवन इन्हीं बर्फीले समुद्रों तथा टापुओं पर बरसों बरसों से बीत रहा है। वैसे हमारे कुछ नजदीकी सम्बन्धी भूमध्य रेखा के इर्द गिर्द तक फैले अवश्य हैं पर इनके जीवन के लिये भी ठंडी समुद्री धाराओं की आवश्यकता तो पड़ती ही है। आप तो अन्टार्कटिक आये नहीं हैं पर जो भी आपके भाई-बन्धु यहाँ आये हैं और थोड़े दिन रहे हैं, उनसे आप पता लगा लें कि अपने प्रदेश में हमने उनका स्वागत ही किया है—एक मित्र की हैसियत से।

आप सोच रहे होंगे कि पक्षी होने के नाते हवा में उड़ने का शौक तो करते ही होंगे पर ऐसा नहीं है। हमारी शारीरिक संरचना ने हमें हवा में उड़ने की कला नही दी है पर बर्फीले समुद्री पानी में तैरने, गोताखोरी करने तथा बर्फ पर और भूमि पर चलने फिरने में हमें दक्षता प्राप्त है। हमारा शरीर नाव के आकार का है। अगले पैर जो अन्य पक्षियों में डैनों का रूप लिये रहते हैं हमारे शरीर में तैरने में उनसे मदद मिलती है। हमारा शरीर घने पंखों से आच्छादित तो रहता ही है साथ ही हमारी त्वचा में चर्बी की एक मोटी पर्त भी है। ये दोनों विशेषतायें हमारे शरीर में प्रचुर गर्मी बनाये रखने में सहायक होती है। काफी मजबूत पिछले पैरों के कारण हम भी आपकी ही तरह, इनकी मदद से, चल फिर सकते हैं। पिछले पैरों की अँगुलियों के बीच की झिल्ली हमें तैरने में मदद देती है। प्रकृति ने हमारे ऊपर एक विशेष कृपा कर रक्खी है। हमारे शरीर का रंग ऊपर की ओर काला तथा नीचे की ओर दूधिया सफेद है। इससे समुद्र के नीले पानी में तैरते हुये हमें दो लाभ एक साथ मिल जाते हैं। जल सतह के ऊपर से हमारे शत्रु हमें समुद्री पानी के गहरे नीले रंग में देख नहीं पाते और पानी के अंदर के जीव भी हमें आसानी से नहीं देख पाते क्योंकि ऊपर का पानी धूप के कारण चमकता रहता है जिसमें हमारी दूधिया निचली सतह आसानी से नहीं दिखती। इस प्रकार जहाँ हमारा रंग एक ओर को शत्रुओं से हमें बचाता है वहीं दूसरी ओर हमें शिकार पकड़ने में भी मदद देता है। अपना शिकार पकड़ने के लिये हमें कभी कभी पानी में गहराई तक गोता भी लगाना पड़ता है। हममें से कुछ जैसे एम्परर पेंग्विन तो 800 से 900 मीटर तक की गहराई में चली जाती

हैं। हमारे प्रमुख शिकार हैं मछलियाँ, लालिगो, सीपिया, आक्टोपस तथा झींगा।

अक्टूबर के प्रारम्भ में, वसंत के आगमन पर सुदूर दक्षिण से हमारी वापसी अन्टार्कटिक के उन स्थानों पर होती है जहाँ हम प्रतिवर्ष प्रजनन करते हैं। इन स्थानों पर हममें से सर्वप्रथम अनुभवी नर पक्षी ही पहुँचते हैं। ये नर पक्षी अपने-अपने पुराने नीड़ों के स्थानों पर कब्जा कर उसकी मरम्मत तथा सफाई में लग जाते हैं। कभी-कभी दो नर पक्षियों में नीड़ के स्थान को लेकर झगड़ा भी हो जाता है। थोड़े समय बाद आते हैं मादा पक्षी। इस समय हम पति-पत्नी महीनों के अलगाव के बाद एक दूसरे से मिलकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। हम एक दूसरे के सामने खड़े होकर, अपनी चोंचें आकाश की ओर उठा कर, तथा निगाहें नीची करके अपने डैनों को फ़टफटाकर एक दूसरे का स्वागत करते हैं। हम समुद्र के किनारे से लाये गये पत्थरों की मदद से भूमि पर अपने अंडों की रक्षा हेतु एक घोंसला बनाते हैं। यह काम मुख्य रूप से नर पक्षी ही करता है। यह बात दूसरी है कि मादा इस बीच लगातार इस काम में नर की सहायता करती रहती है। कभी-कभी हमारा कोई कामचोर पड़ोसी बगल में बने घोंसले के पत्थरों को चुरा भी लेता है क्योंकि इन पत्थरों को समुद्र तट से लाने में अच्छी खासी मेहनत करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में तो नर पक्षियों में युद्ध भी हो जाता है। यहाँ वापस आने पर हममें से अनेक का अपने जीवनसाथियों की मृत्यु के कारण विछोह भी हो जाता है किन्तु मजा तो तब आता है जब इस भीड़ में कुछ पक्षी नये जीवन साथी की तलाश करते नजर आते हैं। हमारी मादायें भी काफी ईर्ष्यालु होती हैं। कभी-कभी दो मादा पक्षियों में एक नर पक्षी को लेकर झगड़ा भी हो जाता है। हम पक्षियों की भीड़ कुछ समय बाद छँट जाती है जब जोड़े अपने-अपने घोंसलों में चले जाते हैं।

आइये अब अपने अण्डो तथा उनसे जन्में बच्चों के सम्बन्ध में भी लगे हाथ आपको कुछ बता दूँ। माँ पेंग्विन नवम्बर के प्रारम्भ में कुछ घंटों के अन्तराल में एक-एक करके दोहरे तथा सफेद रंग लिये अंडों को जन्म देती है। इन अण्डों को जन्म देने के तुरन्त बाद ये इन्हें अपने पति को सुपुर्द कर सुदूर दणिण में चली जाती हैं, जिससे निश्चित होकर खूब भोजन कर सकें और अपनी खोई हुई शक्ति पुनः वापस प्राप्त कर सकें। इस समय पति अंडों के ऊपर बैठ कर इसे सेता रहता है। लगभग दस दिनों के बाद जब पत्नी वापस आकर अंडों को सेने का भार अपने ऊपर ले लेती है तब पति भी उसी प्रकार कुछ दिनों का अवकाश मनाने सुदूर दक्षिण में चला जाता है। यह भी लगभग दस दिनों के बाद ही खूब खा पीकर वापस आता है। फिर दोनों मिल कर अंडों के सेने का काम दो तीन दिन की पारी बाँधकर करते रहते हैं। इस प्रकार अंडों को सेते-सेते लगभग एक माह बीत जाता है। इस प्रक्रिया में हममें से एक हमेशा अपने अंडों के ऊपर ही बैठा रहता है और अंडों पर लगभग 100 फ़ारेनहाइट का तापमान बनाये रहता है। इससे अंडों को पर्याप्त गर्मी मिलती रहती है और शत्रुओं से इनकी रक्षा भी होती रहती है। कभी-कभी तो बर्फ के तूफ़ानों में भी हम अपने अंडों के ऊपर से नहीं हटते, यहाँ तक कि बर्फ में पूरी तौर पर दब कर अपनी जान भी देनी पड़े। हमारे अंडों के अन्दर पल रहे बच्चे भी समय-समय पर कुछ आवाजें निकालते रहते हैं जिससे ऐसा लगता है कि ये आपस में बातें कर रहे हैं। अण्डों से बच्चों का जन्म दिसम्बर तथा जनवरी में होता है। नवजात शिशु को भी हम दो-तीन सप्ताह तक उसी प्रकार अपने शरीर से ढके रहते हैं। लगभग तीन-चार सप्ताहों के बाद नीड़ के सभी बच्चे समुद्र तट पर छोटे-छोटे समुदाय बनाकर रहने लगते हैं। अब इनका पालन-पोषण हम नर्सरी प्रणाली द्वारा करते हैं। इन समुदायों में कुछ अनुभवी बड़े पक्षी सदैव ही रहते हैं जिनके सहारे हम अपने बच्चों को छोड़ कर, निश्चित होकर सुदूर दक्षिण में डटकर भोजन करने जाते रहते हैं। अपेक्षतया गर्म दिनों में बच्चे इधर-उधर टहलते देखे जा सकते हैं पर ये जब
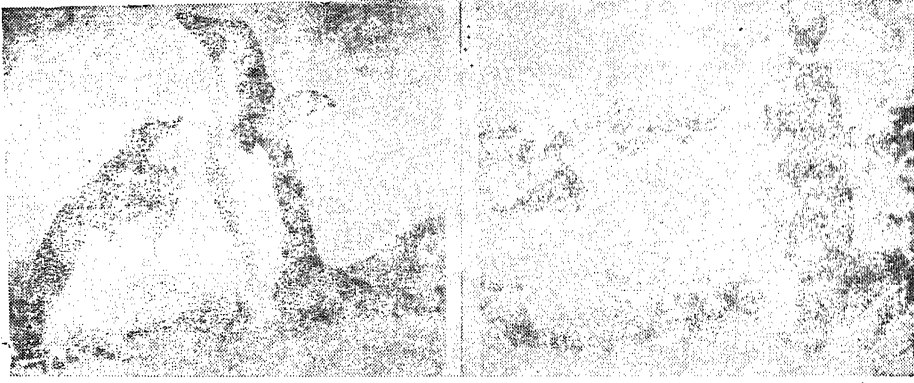
चित्र 1. एडली पेंगुइन और उसका बच्चा। अंटार्कटिक की चिड़िया जो उड़ती नहीं।

चित्र 2. समुद्री एलीफैन्ट सील (नर) युद्ध की मुद्रा में। फूला हुआ थूथन नर सील की विशेष पहचान है।
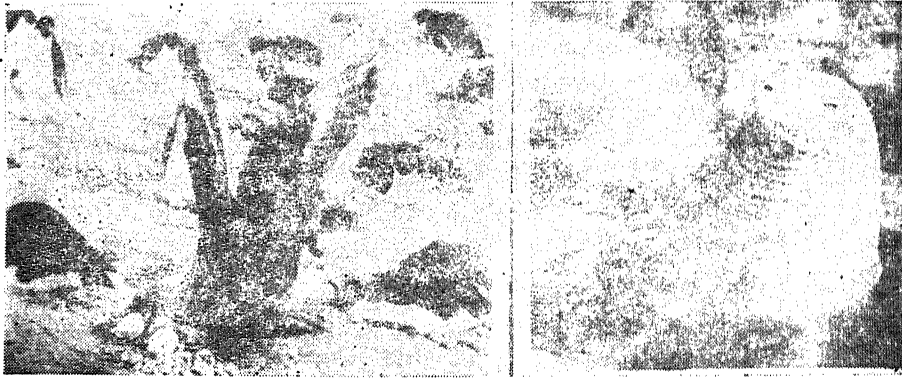
चित्र 3. 'स्कुआ-गुल' (Stercorarius) नामक पक्षी पेंगुइनों के अण्डों की चोरी करते हुए।

चित्र 4. 'सी एलीफैन्ट' (Macrohinus leonina) नामक सील के बच्चे।

सर्द तेज हवायें चलती हैं तो ये एक दूसरे से सट कर बैठ जाते हैं।

खा पीकर जब हम समुद्र तट पर नर्सरी समुदाय के नज़दीक आते हैं तो आ···आ···आ···आ की आवाज़ें लगाते हैं। नर्सरी समुदाय के अनेक बच्चे हमारी ओर दौड़ आते हैं; इनमें से अपने बच्चों को हम आसानी से पहचान लेते हैं। बच्चों को भोजन देने से पहले उनके साथ थोड़ा खेलकूद और चुहलबाज़ी का भी मन हो जाता है। अतः जब हम किसी एक दिशा में दौड़ लगाते हैं तो ये बच्चे भी हमारे पीछे-पीछे भागते हैं। इन्हें दौड़ाने में बड़ा मजा आता है। जल्द ही हमारे अपने बच्चों को छोड़कर शेष सभी नर्सरी समुदाय में वापस चले जाते हैं और हम अपने बच्चों को तब तक दौड़ाते रहते हैं जब तक वे थक कर रुक न जायें। अब हम इनके मुँह में थोड़ा सा खाना डाल देते हैं। यह भोजन हम अपने पेट से आसानी से उगल लेते हैं। जैसे-जैसे हमारे बच्चे बड़े होते जाते हैं हम खाना देते समय उन्हें अधिक से अधिक दौड़ाते हैं। इससे उन्हें खाना पचाने में भी सुविधा होती है और ये दौड़ने भागने में दक्षता भी

प्राप्त कर लेते हैं। हमारे बच्चे बड़े पेटू होते हैं, जैसे 5 सप्ताहों की वय वाला प्रत्येक बच्चा लगभग अपने वज़न के बराबर का भोजन नित्य चट कर जाता है। दो बच्चों में जो ज्यादा तेज होता है वही अधिक भोजन पाता है। इतना अधिक भोजन जुटाने में हम दोनों पति-पत्नी को काफ़ी मेहनत करनी पड़ती है। इस दौरान जब हम दोनों चौबीस चौबीस घंटों की 35 से 40 यात्रायें करते हैं, 20 से 200 मील तक (10 मील प्रति घंटा की रफ्तार से) चल-फिर कर लगभग 5000 जीवों का शिकार प्रति यात्रा में करते हैं, तब जाकर दो बच्चों की भोजन सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी कर पाते हैं। इस प्रकार यदि हम दोनों में से कोई एक भी दुर्घटनाग्रस्त हो जाये या दुर्भाग्यवश कालग्रसित हो जाये तो दो में से एक बच्चा निश्चय ही भोजन के अभाव में भूखा मर जायेगा।

बच्चों के बड़े होने के साथ साथ ही हम इन्हें भोजन की लालच में दौड़ाते हुये समुद्र तट तक भी ले जाते हैं जिससे ये पूर्णतया समुद्र से भी परिचित हो जाते हैं। 7 या 8 सप्ताह की उम्र तक के बच्चे समुद्र में जाकर अपना भोजन स्वयं ही पकड़ना सीख लेते हैं, तब कहीं जाकर इनके प्रति हमारी जिम्मेदारी समाप्त होती है।

फरवरी आते आते बच्चों के शरीर से पंख गिर जाते हैं और इनके शरीर पर हम बड़े पक्षियों जैसे पंख निकल आते हैं। इसी समय हम भी अपने पुराने पंखों को त्याग कर नये पंख पा लेते हैं। ये नये पंख पहले की अपेक्षा अधिक गर्मी प्रदान करते हैं।

और अब एक बार फिर वह समय आ गया जब हमें अपना स्थान छोड़कर सुदूर दक्षिण में जाना है। हमारे जाने के बाद यह स्थान निर्जन और वीरान हो जायेगा। ऐसे समय में यदि आप यहाँ आयेंगे तो केवल हमारे उजड़े नीड़, अंडों के टूटे खोल तथा उन बच्चों की लाशें ही पायेंगे जो किसी कारण इस बीच काल कवलित हो गये।

यदि हमसे मिलना है तो अगले अक्टूबर तक हमारा इंतज़ार करें जब हम यहाँ फिर वापस आयेंगे। अच्छा चलें···अलविदा।☐

[पृष्ठ 13 का शेषांश]

विटामिन सी की अधिकता रक्त को पतला करने वाली औषधियों की क्रिया में विघ्न डालने वाली समझी जाती हैं। ये मनुष्य की उपापचय-क्रिया में हस्तक्षेप करती है जो कि काफी खतरनाक है।

गर्भनिरोधक गोलियाँ (पिल) ले रही महिलाओं द्वारा विटामिन सी को बड़ी मात्रा में लिया जाना संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर सकता है। ऑस्ट्रेलिया के डॉक्टर माइकेल ब्रिग्स जिन्होंने कि इस विषय पर अनुसन्धान किया है, का कथन है कि गर्भनिरोधक गोलियों के साथ अधिक मात्रा में विटामिन सी लेने में अनेक हानिकारक पार्श्वप्रभावों का खतरा है। मेलबोर्न नगर के निकट स्थित डीकन विश्वविद्यालय में मानव जीवविज्ञान के प्राध्यापक डॉ० ब्रिग्स ने अपने अनुसन्धान के दौरान पाया कि विटामिन सी की बड़ी खुराकें गर्भनिरोधक गोलियों में पाये जाने वाले यौगिक एस्ट्रोजन की मात्रा को बढ़ा देती हैं। एस्ट्रोजन जो कि स्त्रियों के मासिक चक्र (Menstrual cycle) को नियंत्रित करता है, ब्रिटेन में किये गये परीक्षणों में उदासी, रक्त में थक्के पड़ जाना, दौरों तथा उच्च रक्तचाप सहित अनेक खतरनाक पार्श्वप्रभावों से सम्बन्धित पाया गया है।

स्पष्ट है कि विटामिन सी की कमी ही नहीं अधिकता भी बहुत हानिकारक सिद्ध होती है। अतः 'जितना अधिक विटामिन लिया जाये स्वास्थ्य उतना ही अच्छा होगा' जैसी भ्रान्त धारणा का परित्याग करके शीशियों में बन्द गोलियों के रूप में विटामिन सी की अतिरिक्त मात्राएँ लेना तुरन्त बन्द कर देना चाहिए। प्रतिदिन पर्याप्त मात्रा में शाक-सब्जियों, ताजे फलों का उपयोग विटामिन सी की हमारी दैनिक आवश्यकता (शिशु—30-40 मिलीग्राम, वयस्क–55 मिलीग्राम) की पूर्ति कर देता है। इससे अधिक विटामिन सी लेने की कोई जरूरत नहीं है।☐

पर्यावरण के प्रति जनचेतना आवश्यक

प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव
वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद–211002.

हमारे चारो ओर का जो परिवेश है उसे 'पर्यावरण' की संज्ञा दी जाती है। इसमें वायु, जल, शोर, भवन, समुद्र, झील, पार्क, वाहन, नदी, पर्वत, जीव-जन्तु, वनस्पतियाँ, खुले मैदान, पर्वतों की गुफायें आदि सभी कुछ शामिल हैं। पर्यावरण अत्यन्त ही जटिल है और हम जो कुछ भी करते हैं उससे हमारा पर्यावरण प्रभावित होता है।

आम तौर से हवा, पानी और मिट्टी में कुछ दूसरे तत्त्वों का मिल जाना या बढ़ जाना प्रदूषण कहलाता है किन्तु कभी-कभी किन्हीं तत्त्वों की कमी के कारण भी पर्यावरण प्रदूषित हो जाता है। प्रदूषण की एक दूसरी परिभाषा के अनुसार किसी भी वस्तु की गलत मात्रा, अथवा गलत स्थान पर या गलत समय में उपस्थिति भी प्रकृति के संतुलन को खराब करती है। उदाहरण के लिए नाइट्रोजन और फॉस्फोरस कृषि के लिए उपयोगी पोषक तत्त्व हैं और इनसे फसल में वृद्धि होती है किन्तु ये नदियों और झीलों में वहाँ उगने वाले जलीय पादपों और शैवालों की अवांछित वृद्धि करके उसे खराब कर देते हैं।

मानव द्वारा प्राकृतिक सम्पदाओं के अविवेकपूर्ण उपयोग और प्रगति की अंधदौड़ ने प्रकृति को असंतुलित कर दिया है। औद्योगिक कारखानों से निकली विषैली गैसें और अपशिष्ट पदार्थ, नदियों में छोड़ा जाने वाला वाहितमल, अच्छी पैदावार के लिए प्रयुक्त विषैले कीटनाशकों की बढ़ती मात्रा, मोटर-गाड़ियों और वायुयानों द्वारा निष्कासित धुआँ और गैसें, ज्वालामुखियों से निकले लावा, सूखा और बाढ़—सभी प्रकृति को असंतुलित करते हैं। इन प्रदूषक तत्वों से जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की कितनी हानि होती है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कभी-कभी इनके घातक प्रभाव भी देखने मे आते हैं। अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों और वनस्पतियों के विलुप्त होते जाने का कारण पर्यावरण प्रदूषण ही है। प्रदूषण मानव स्वास्थ्य को भी बुरी तरह से प्रभावित करता है। प्रदूषण की किस्मों में वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, अम्लवर्षा, शोर प्रदूषण और बढ़ती रेडियोधर्मिता प्रमुख हैं।

वायु प्रदूषण

आज न केवल औद्योगिक नगर या कलकत्ता, बम्बई, कानपुर, अहमदाबाद जैसे बड़े शहर वरन् भारतीय गाँव भी वायु प्रदूषण की चपेट में आ गए हैं। वायु प्रदूषण विश्वव्यापी समस्या है और विश्व के वैज्ञानिकों के लिए चिन्ता का विषय बन गया है।

देहातों में तो मुख्य रूप से लकड़ी के जलाये जाने से निकले धुयें से वायु प्रदूषित हो जाती है किन्तु शहरी क्षेत्रों में मोटर-गाड़ियों से निकला धुआँ, कल-कारखानों से निकली दूषित गैसें, आणविक विस्फोट, नाभिकीय ऊर्जा के कार्यक्रम, फसलों पर कीटनाशियों का छिड़काव आदि वायु प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं।

वायु को प्रदूषित करने वाले तत्वों में कार्बन डाइ-ऑक्साइड, कार्बन मोनों-ऑक्साइड सल्फर डाइ-ऑक्साइड, फ्लोरीन पदार्थ, नाइट्रोजन के ऑक्साइड, कार्बनिक ऑक्साइड, निलम्बित कणिकीय पदार्थ, अमोनिया, एल्डीहाइड, बेरीलियम के साथ ही बेंजपायरीन, बेंजन्थासिन जैसे कैंसर उत्पन्न करने वाले दार्थ भी हैं (देखें सारणी–1 और सारणी–2)।

सारणी–1 वायुमंडलीय प्रदूषकों के कारण हुई कुछ विशेष घातक दुर्घटनायें ('विज्ञान प्रगति' मार्च 1978 से साभार)

काल	स्थान	लगभग मृत्यु संख्या
फरवरी 1880	लंदन	1,000
दिसंबर 1930	म्यूज घाटी (बेल्जियम)	63
अक्टूबर 1948	डोनोरा (अमेरिका)	20
नवम्बर 1950	पोजोरिको (मेक्सिको)	22
दिसंबर 1952	लंदन	4,000
जनवरी 1956	,,	1,000
दिसंबर 1957	,,	700-800
दिसंबर 1962	,,	700

सारणी–2 कुछ वायु प्रदूषक और उनकी मात्रा (जे० ई० पार्क 1979)

प्रदूषक तत्त्व	स्थान	मात्रा का परास
कालिख अवपात	कलकत्ता	39.38—90.98 टन/वर्गमील
सल्फर डाइ ऑक्साइड	,,	·0021 - ·0058 अंश/लाख
नाइट्रोजन के ऑक्साइड	,,	·0043—·0122 अंश/लाख
अमोनिया	,,	·0160—·0266 ,, ,, ,,
ऐल्डीहाइड	,,	·004—·012 ,, ,, ,,
अंतःश्वसनीय धूलि	,,	·071—·600 मिग्रा./घनमी.
निलम्बित कणिकीय पदार्थ	,,	527 माइक्रो ग्राम/घन मीटर
,,	बम्बई	238 ,, ,,
,,	दिल्ली	700 ,, ,,
,,	कानपुर	488 ,, ,,
,,	लंदन	221 ,, ,,
,,	न्यूयार्क	134 ,, ,,

('ए टेक्स्ट बुक ऑव सोशल एण्ड प्रिवेन्टिव मेडिसिन' से साभार)

इनके अतिरिक्त रेडियोधर्मी तत्वों से भी वायु प्रदूषित होती है। कपड़ा मिलों से निकली रूई की गर्द भी वायु को प्रदूषित करने वाला एक प्रमुख कारक है। जस्ता, ताँबा, सीसा और इस्पात के परिष्करण की प्रक्रिया में निकलने वाले धुयें में कैडमियम, जस्ता और पारा जैसे विषैले तत्व विद्यमान रहते हैं।

जेट वायुयानों द्वारा छोड़ी जाने वाली जहरीली गैसें भी चिन्ता का कारण हैं। 'एरोसॉल' के नाम से जाने जाने वाले रासायनिक तत्व भी वायु प्रदूषण को बढ़ाने का काम करते हैं। और आज 'अम्ल वर्षा' के नाम से जाना जाने वाला प्रदूषण तो किसी एक देश या क्षेत्र विशेष का संकट न होकर सारे विश्व की समस्या है।

जीवाश्म ईंधनों के दहन, ताप-विद्युत् संयंत्रों, आटोमोबाइलों, स्पेस हीटरों और ताँबा तथा निकेल के प्रगालकों से निर्मुक्त सल्फर और नाइट्रोजन के ऑक्साइड पर्यावरण को लगातार प्रदूषित करते रहते हैं। सल्फर और नाइट्रोजन के ऑक्साइड जल के

सम्पर्क में आने पर गंधक का अम्ल और शोरे का अम्ल बनाते हैं। ये अम्ल वर्षाजल अथवा हिमजल के साथ जब हमारी धरती पर आते हैं तो जीव-जन्तुओं सहित समस्त जैवमंडल को हानि पहुँचाते हैं। यही नहीं ये विश्व के अनेक कलात्मक भवनों और स्मारकों को नुकसान पहुँचा रहे हैं। पिछले 200 वर्षों से आँधी-पानी से अप्रभावित कला स्मारक अब 'अम्ल वर्षा' की चपेट में आ गये हैं। भारत का ताजमहल और लाल किला, यूनान की एक्रोपोलिस की मूर्त्ति, अमेरिका का लिंकन स्मारक आदि के अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो गया है।

इसके अतिरिक्त प्राकृतिक घटनायें भी वायु को दूषित करती हैं। इनमें पुष्पी पादपों के परागकण, कवकों की कोषिकायें, जीवाणु और ज्वालामुखियों के विस्फोट से निकली गैसें प्रमुख हैं।

वायु प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे बच्चों और बूढ़ों में रोग दर तथा मृत्युदर दोनों बढ़ जाती है। दमा तथा फेफड़े के कैंसर से वायु प्रदूषण का सीधा सम्बन्ध है। वनस्पतियों और पशुओं पर भी इसके कुप्रभाव देखे जाते हैं। फ्लोरीन के प्रभाव से तो पौधों की वाढ़ मारी जाती है, पत्तियों पर धब्बे पड़ जाते हैं अथवा पत्तियाँ झुलस जाती हैं। फ्लोराइड से पशुओं के स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ता है और मनुष्यों में हड्डी के रोग हो जाते हैं।

वायु प्रदूषण की रोक-थाम के लिए प्रदूषण के मूल स्रोत पर ही उपचार करना होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि विषैली गैसों का वायु में प्रवेश रोक दिया जाये। औद्योगिक कारखानों में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों और विधियों का इस प्रकार संशोधन होना चाहिए कि प्रदूषक तत्त्व कम से कम निकलें। थोड़ी मात्रा में प्रदूषण तत्त्व का शुद्धीकरण प्रकृति स्वयं कर लेती है। प्रदूषण निवारक उपकरणों में इलेक्ट्रो-स्टैटिक कैपेसिटेटर्स और फिल्टर्स प्रमुख हैं। ईंधनों के दहन के पूर्व या बाद में उससे सल्फर को अलग करके भी वायुप्रदूषण को कम किया जा सकता है। पारंपरिक जीवाश्म ईंधनों के स्थान पर सौर ऊर्जा, विद्युत् जन्य ताप, गोबर गैस, पवन ऊर्जा आदि का उपयोग तथा मोटर गाड़ियों और वायुयानों के इंजनों की संरचना में सुधार करके भी वायु प्रदूषण को कम किया जा सकता है। कुछ सरल कदम तो उठाये ही जा सकते हैं यथा औद्योगिक संस्थानों की नगर के बाहरी क्षेत्र में स्थापना, घाटियों या निचले स्थानों में कल-कारखानों की स्थापना का निषेध और कारखानों की चिमनियों का काफी ऊँचा होना। जनसंख्या वृद्धि और औद्योगीकरण पर नियंत्रण रख कर हम वायु को साँस लेने लायक बनाये रख सकते हैं।

जल प्रदूषण

प्रदूषक तत्त्वों का ठोस, द्रव या गैस किसी भी रूप में जल के प्रमुख स्रोतों में मिल जाना ही जल-प्रदूषण कहलाता है। कार्बनिक, अकार्बनिक, भौतिक या रेडियोधर्मी तत्त्व जल के साथ मिल कर या तो उसकी गुणवत्ता को कम करते हैं या उसे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक बना देते हैं। जल प्रदूषण के प्रमुख कारणों में वाहितमल तथा अन्य भौतिक प्रदूषक (वर्षा, सड़े-गले पदार्थ आदि) हैं। जल प्रदूषण सबसे अधिक जीवाणु जन्य संक्रमण के रूप में मानव के लिए घातक सिद्ध होता है। विश्व में समय-समय पर फैली भयंकर महामारियों के पीछे अकसर प्रदूषित जल का हाथ होता है।

यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक अपशिष्ट मानव स्वास्थ्य के लिए घातक नहीं है तथापि अप्रत्यक्षतः जल-जीवों के लिए उनकी उपस्थिति निश्चय ही विपत्तिजनक सिद्ध हुई है। सीसा, ताँबा के कुछ यौगिक तथा हाइड्रोजन सल्फाइड आदि अधिक मात्रा में जल में मिलने पर क्षयकारी और घातक पाये गये हैं। कोयले की खानों और रासायनिक संयंत्रों से निकलने वाले अम्ल जल में हाइड्रोजन आयन की मात्रा इतनी अधिक बढ़ा देते हैं कि कुछ वनस्पतियों का जीवित रहना असम्भव हो जाता है और फलस्वरूप

परिस्थितिक तंत्र असंतुलित हो जाता है। पारे के कुछ विषाक्त यौगिक भी जल प्रदूषण के लिए उत्तरदायी हैं। जब औद्योगिक अपशिष्ट के रूप में जल में पहुँचकर पारा कुछ जीवाणुओं द्वारा डाइमेथिल मर्करी और मेथिल मर्करी आयन के रूप में बदल दिया जाता है तो उसे खाने वाली मछलियाँ विषाक्त हो जाती हैं। यही मछलियाँ खाद्य रूप में प्रयुक्त होने पर मानव स्वास्थ्य को हानि पहुँचाती हैं। अपशिष्ट के रूप में कागज़ मिलों से निकलने वाले सेल्यूलोज, कार्बोहाइड्रेट और रंजक कारखानों से कोलतार की तलछट तथा अन्य कार्बनिक तत्त्व जल के साथ मिलकर शीघ्रता से ऑक्सीकृत हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में जल के सामान्य ऑक्सीजन का स्तर बहुत घट जाता है।

घरेलू अपमार्जक जो वर्तन, वस्त्रों तथा अन्य सामानों की स्वच्छता के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं, नहरों के माध्यम से जल के प्रमुख स्रोतों में मिलकर जल-जीवों और मनुष्यों के लिए हानिप्रद वन जाते हैं। कृषि-कार्यों में उपयोगी उर्वरक तथा कीटनाशक भी जब पेयजल स्रोतों में मिलते हैं तो जीवों और मानवों के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डालते हैं। नगरों के गंदे जल के नालों को आसपास की झीलों और नदियों से जोड़ कर नगर के गंदेजल की समस्या को तो अस्थाई रूप से हल कर लिया जाता है किन्तु इसी दूषित जल का प्रयोग जव दैनिक जीवन के लिए होता है तो स्वास्थ्य के लिए भयंकर संकट उत्पन्न हो जाते हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार राजधानी दिल्ली का 320,000 किमी० अनुपचारित वाहितमल प्रतिदिन यमुना की धारा में विसर्जित किया जाता है। इस प्रकार वाहितमल जल प्रदूषण का सबसे भयावह साधन है। नदियों में शव प्रवाह की परम्परा भी जल को प्रदूषित करती है।

उपरोक्त मानवीय अदूरदर्शिता के साथ ही कुछ भौतिक कारणों से भी जल प्रदूषण होता है। इनमें वर्षा-जल, सड़े-गले पदार्थ और कूड़ा करकट का प्रमुख हाथ है। ताप-बिजलीघरों से आने वाला गर्म पानी स्वच्छ जल में मिलकर अपने ताप के कारण यहाँ ऑक्सीजन की मात्रा को प्रभावित करता है। जल में रेडियोधर्मी तत्त्वों की उपस्थिति कैंसर और कुष्ठ जैसे रोगों को जन्म देती है।

जल प्रदूषण की समस्याओं पर यदि गंभीरता से विचार किया जाये तो इनका निवारण निश्चय ही संभव है। वाहितमलजन्य प्रदूषण की रोकथाम के लिए वैज्ञानिकों ने उसे नदियों में बहने के पूर्व उपचारित करने की सलाह दी है। इस उपचार की प्रक्रिया में इसे विशिष्ट कक्षों (स्क्रीनिंग चैम्बर्स) से गुजारना, इनका कूड़ा-करकट छानना तथा अंत में जैविक ऑक्सीकरण के सिद्धान्त पर इनका उपचार करना शामिल है। इसके अपशिष्ट को खाद के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। राजधानी दिल्ली में इन दिनों गंदे पानी से सफलतापूर्वक मीथेन गैस बनाकर उसे ऊर्जा के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। औद्योगिक अपशिष्टों का भी विसर्जन के पूर्व उपचार आवश्यक है। इनके उपचार की अनेक विधियां हैं जो अपशिष्टों के प्रकार पर निर्भर करती हैं। कहीं-कहीं इन्हें सीधे नदी के जल में न पहुँचाकर उससे पूर्व भूमि पर फैलाया जाता है। वाहितमल की भाँति इनका भी ऑक्सीकरण स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक है। विशिष्ट विधियों द्वारा अलग किए गये अपद्रव्यों को अन्य कार्यों में भी प्रयोग किया जा सकता है। कृषि संबंधी कीटनाशकों में कुछ ऐसे तत्त्व पाये जाते हैं जो प्रयोग के महीनों (कभी-कभी वर्षों) वाद तक प्रभावशाली बने रहते हैं। इनके प्रति विशेष सावधानी की आवश्यकता है। जल, जो मानव की प्राथमिक आवश्यकता है, उसकी शुद्धता और शुचिता के प्रति विशेष गंभीरता से विचार करना चाहिए।

मृदा प्रदूषण

जल एवं वायु की भाँति ही वनस्पतियों को आधार देने वाली हमारी मिट्टी भी अपशिष्ट तत्त्वों द्वारा प्रदूषित होती रहती है। मृदा की उर्वराशक्ति को घटाने वाले सभी तत्त्व मृदा प्रदूषक की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। मृदा प्रदूषण की एक विशेषता यह है कि जहाँ वायु और जल का प्रदूषण बहुत दूर-दूर तक के क्षेत्रों को प्रभावित करता है वहीं प्रदूषित मृदा

एक किसी विशेष स्थान तक ही सीमित रह जाती है तथा इसका कोई अनिवार्य प्रभाव आस-पास के क्षेत्रों पर नहीं पड़ता । मृदा प्रदूषण के प्रकारों में वातावरण से वर्षा जल के द्वारा आये प्रदूषक तत्त्व, कीटनाशक-जीवनाशक पदार्थ, रासायनिक उर्वरक तथा भूमि का कटाव शामिल है । भूमि का कटाव यद्यपि प्रदूषकों के कारण नहीं होता फिर भी मृदा की उर्वराशक्ति को प्रभावित करने के कारण इसे प्रदूषण का एक रूप कहा जा सकता है ।

वातावरण से आये प्रदूषक और कीटनाशक पदार्थ मृदा की मूल संरचना में असंतुलन पैदा करते हैं तथा मृदा के प्रमुख जैवीय तत्त्वों के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं । ये पौधों की वृद्धि के लिए भी मिट्टी को प्रतिकूल और विषाक्त बना सकते हैं । कुछ आकार्बनिक उर्वरक भी एक लम्बी अवधि में मिट्टी की गुणवत्ता को नष्ट करने वाले माने गये हैं । कीटनाशकों और औद्योगिक अपशिष्टों के दूषित तत्त्व मिट्टी के कीटों और अन्त: जैवीय तत्त्वों को नष्ट कर डालते हैं । भूमि के कटाव, सिंचाई की दोषपूर्ण व्यवस्था, चरागाहों का मनमाना उपयोग, वनों का विनाश तथा कृषि संबंधी दोषपूर्ण विधियों का उपयोग आदि अनेक ऐसे कारक हैं जो भूमि की उर्वरता को नष्ट करके रेगिस्तान को बढ़ा रहे हैं । आजभी भूमि का 40 प्रतिशत क्षेत्र रेगिस्तानों के रूप में है और ये प्रतिवर्ष बढ़ते जा रहे हैं । इनसे हमारे पशुधन और खाद्यान्न दोनों प्रभावित होते हैं । आर्थिक और औद्योगिक रूप से अति उन्नत देशों में जहाँ थोड़ी पुरानी पड़ते ही वस्तुयें फेंकने की एक गंभीर समस्या है, वहाँ एकत्र यह कूड़ा-करकट और बोतल-डिब्बे भूमि का एक बड़ा हिस्सा घेर रखते हैं और मिट्टी तथा वायुमंडल दोनों को प्रदूषित करते हैं । इस विषय में यह भी सुझाव दिया गया है कि ऐसी कम इस्तेमाल की गई वस्तुओं को आर्थिक रूप से पिछड़े देशों में पुन: इस्तेमाल के लिए भेज दिया जाये । एक अन्य साधन के अंतर्गत अनुपचारित अपशिष्ट को भूमि के नीचे दबा दिया जाता है और ऊपर से मिट्टी दबा देते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर बाद में इसे पुन: निकालकर प्रयोग में लाया जा सकता है ।

ध्वनि प्रदूषण

विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा दी गई एक परिभाषा में अवांछित और अप्रिय ध्वनि को ही शोर बताया गया है । ध्वनि तीव्रता या निरंतरता, वातावरण और मानव स्वास्थ्य को प्रभावित करती है । बहुत तीव्र ध्वनि को सहन करना या देर तक उसे सुनते जाना कान और मस्तिष्क दोनों के लिए हानिकारक होते हैं । कल-कारखानों, मोटर वाहनों, विमानों तथा लाउडस्पीकर द्वारा उत्पन्न शोर मस्तिष्क के संतुलन और श्रवण शक्ति को प्रभावित तो करते ही हैं कभी-कभी सदैव के लिए क्षतिग्रस्त भी कर देते हैं । इनसे कार्यदक्षता में भी कमी आती है । अतिरिक्त शोर के कारण शारीरिक मानसिक तनाव, चक्कर, रक्त चाप, श्वसन या नाड़ी गति का उतार चढ़ाव, जठरांत्र की कार्यशीलता में कमी तथा शरीर की तंत्रिकाओं में विकृतियां आने की सम्भावना बनी रहती है । झुँझलाहट और थकान भी ध्वनि प्रदूषण जन्य विकार हैं ।

ध्वनि को नापने की इकाई **डेसिबल** कहलाती है । 5 डेसिबल की ध्वनि मंद, 25-30 डेसिबल की ध्वनि साधारण कान वाले मनुष्य के लिए पर्याप्त, 75 डेसिबल सामान्य तेज़, 95 डेसिबल अत्यन्त तेज़ और 140 डेसिबल ध्वनि कष्टकारक कही जाती है । 85 डेसिबल से ऊपर की ध्वनि से श्रवण दोष उत्पन्न हो जाते हैं तथा 130 डेसिबल से ऊपर की ध्वनि घातक सिद्ध हो सकती है ।

ध्वनि के इन हानिकारक प्रभावों से मुक्ति पाने के लिए कानून बनाये जाने के प्रस्ताव किए गये हैं । कारखानों में होने वाले शोर के नियंत्रण के लिए मशीनों में साइलेन्सर, मज़दूरों द्वारा इयर प्लग्स का प्रयोग, स्थान-स्थान पर ध्वनि शोषक यंत्रों की स्थापना तथा घरों के आस पास हरे-भरे वृक्षों का रोपण जैसे अनेक सुझावों की संस्तुति की गई है ।

[शेष पृष्ठ 24 पर]

कीटनाशी रसायनों के उपयोग में सावधानी

अमिताभ

कक्षा 12, जीव विज्ञान, जी० आई० सी०, इलाहाबाद

डाक्टर वी० ए० रोनाड (1978) के अनुसार उद्योग और कृषि में 15000 के लगभग रसायन विश्व में इस्तेमाल किये जाते हैं। और अब तो इनकी संख्या में वृद्धि ही हुई होगी। इनकी संख्या अधिक होने के कारण सभी रसायनों के पर्यावरण पर व्यापक प्रभावों की खोजबीन संभव नहीं हो सकी है फिर भी जिनके प्रभावों का भलीभाँति अध्ययन किया जा चुका है उससे अब यह सिद्ध हो गया है कि कीटनाशी रसायन जल, थल और वायु के समस्त जैवमण्डल को प्रभावित करते हैं। मनुष्यों, पशुओं, मछलियों आदि पर तो इनका घातक प्रभाव पड़ता है। कीटनाशियों के फसल पर छिड़काव से वायु तो प्रदूषित होती ही है जब वर्षा जल या सिंचाई के जल के साथ ये बह कर आसपास के तालाबों या नदियों में पहुँचते हैं तो न केवल मछलियों वल्कि अन्य जीव-जन्तुओं को भी हानि पहुँचाते हैं। धरती में पहुँच कर ये रसायन मिट्टी को भी विषाक्त कर देते हैं। कीटनाशक दवायें जब 1950 में अमेरिका के टेनेसी की सहायक नदियों में पहुँचीं या जब दिल्ली के एक डी० डी० टी० फैक्ट्री का मलबा नजफगढ़ नाले में पहुँचा तो भारी संख्या में वहाँ की मछलियों की मृत्यु हो गयी। फिर तो चाहे वह बंगाल का दामोदर घाटी क्षेत्र हो या तमिलनाडु की चेलियार नदी या कि विश्व का कोई और जल क्षेत्र—कीटनाशी रसायनों के कारण सभी जगह भीषण मत्स्य विनाश देखा गया।

भारत में लगभग 400 कीटनाशी रसायन प्रयोग किये जाते हैं। एक ताजे सर्वेक्षण के अनुसार बाजारों से लिये गये सब्जियों के नमूनों में 50% में कीटनाशी रसायन पाये गये। आलू में तो डी० डी० टी० एल्ड्रिन और दूसरे रसायन विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा निर्धारित मानक से काफी अधिक हैं। भारतीयों के शरीर में डी० डी० टी० की पायी गयी मात्रा भी चिन्ता का विषय है। प्रदूषित सब्जियों और मछलियों को खाने से मानव शरीर में इन रसायनों की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती जाती है और कभी-कभी घातक भी सिद्ध होती है। इसलिये कीटनाशियों के प्रयोग में हमें विशेष रूप से सावधान रहना होगा। कीटनाशियों के बढ़ते उपयोग से खेतों के आसपास के क्षेत्रों में जन-जीवन को कितनी हानि उठानी पड़ रही है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

यह निर्विवाद सत्य है कि अधिक अन्न उपजाने में कीटनाशियों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इसलिये यह कहना उचित नहीं होगा कि इन रसायनों का उपयोग वन्द कर देना चाहिए। हाँ इन कीटनाशियों के विवेक-पूर्ण उपयोग से इनसे होने वाली हानियों को कम अवश्य किया जा सकता है। निम्नलिखित वातों पर यदि ठीक से ध्यान दिया जाये तो पर्यावरण को इन रसायनों द्वारा प्रदूषित होने से वचाया जा सकता है।

1. कीटनाशक ओषधियों को हमेशा स्टैण्डर्ड कम्पनी से ही खरीदें। बड़े डिब्बे से जब भी दवा दूसरे छोटे डिब्बे में रखें तो उस पर कागज की एक चिप्पी लगाकर बड़े डिब्बे की सारी बातें नोट कर दें।

2. साथ में रखी हुई खाने-पीने की चीजें कीटना-शियों के सम्पर्क में न आने पायें।

3. इन्हें दूसरी दवाओं से अलग, बच्चों और पालतू जानवरों की पहुँच से दूर रखें।

4. छिड़काव की तैयारी घर से दूर करें।

5. कीटनाशक दवाओं को निकालते और छिड़काव करते समय नाक पर कपड़ा बाँध लें ताकि सांस के साथ इनका प्रवेश शरीर में न हो सके।

6. दवा कभी चमड़ी पर नहीं गिरनी चाहिये। हाथों की सुरक्षा के लिये चमड़े के दस्ताने पहनें।

7. सदैव दवा की उचित मात्रा ही प्रयोग करें क्योंकि अधिक मात्रा फसल के लिये भी हानिकर होती है।

8. इस बात का ध्यान रहे कि घोल बनाते समय छींटे हवा में न उड़ने पायें।

9. उपयोग के बाद कीटनाशकों के डिब्बों को नष्ट कर दें या ज़मीन में गाड़ दें।

10. जिन बर्तनों या यन्त्रों को इस्तेमाल करें उन्हें भलीभाँति धो डालें।

11. जिस पानी से यन्त्रों या दूसरे पात्रों को धोयें उसे खेत से दूर गिरायें।

12. छिड़काव के बाद हाथ पैर साबुन से अवश्य धो लें।

13. जिन कपड़ों को पहनकर छिड़काव करें उन्हें भी धो डालें।

14. खाना खाने, पानी पीने या तम्बाकू पीने के पहले हाथ साफ करलें और छिड़काव के बीच खान-पान या धूम्रपान न करें।

15. हवा के विरुद्ध छिड़काव न करें और तेज़ हवा में भी छिड़काव न करें।

16. पालतू पशुओं पर कभी-कभी मक्खियाँ अधिक बैठती हैं या घावों में दूसरे कीटाणु लग जाते हैं। उनके उपचार के लिये इन पशुओं पर कीटनाशी दवा का छिड़काव कभी न करें।

17. तालाब, कुओं आदि के पास कीटनाशियों का छिड़काव न करें।

18. छिड़काव यन्त्र की नली को कभी भी हाथ से या मुँह से हवा मार कर साफ न करें। हमेशा किसी नुकीली चीज़ का इस्तेमाल करें।

9. इस बात का ध्यान रहे कि छिड़काव के समय या बाद में भी टोंटी या नली ज़मीन से छूने न पाये।

20. प्रयोग के बाद छिड़काव यन्त्र को बच्चों और जानवरों से दूर रखें।

21. कीटनाशक रसायनों की खरीद से लेकर उनके घोल बनाने और छिड़काव के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद ही उनका छिड़काव करें।□

[पृष्ठ 22 का शेषांश]

उपरोक्त साधनों का प्रयोग करके एक बड़ी सीमा तक ध्वनि प्रदूषण की हानियों से मुक्ति पाई जा सकती है।

शोर कहाँ से कितना ('एम्बायो' से साभार)

शोर के स्रोत	डेसिबल
पत्तियों की खड़खड़ाहट	10
मनुष्य की फुसफुसाहट	10-20
एक मीटर दूर टँगी दीवार घड़ी	30
बातचीत	60
गलियों का शोर-गुल	40-47
टाइप राइटर की खटपट	50
टेलीफोन की घंटी	70
कार का हार्न	85-95
आरा मशीन	100-110
बिना साइलेन्सर की मोटर साइकिल	120
गाँव का घर	30
शहर का घर	40
शांत कार्यालय	50
व्यस्त कार्यालय	80
सामान्य ट्रैफिक	70
बुनाई मिल	100
इस्पात पुल पर रेल	110
जेट विमान	140
प्रोपेलर विमान	150
पॉप संगीत या रॉक संगीत	50-100
टर्बोजेट इंजन	170
रैम जेट इंजन	180
चीखते लाउडस्पीकर एवं रेलगाड़ियों का शोर	90

विश्व के बड़े-बड़े विचारक और वैज्ञानिक आज मानव जाति के भविष्य और पर्यावरण प्रदूषण की समस्या को लेकर बहुत चिंतित हैं। प्रकृति से छेड़-छाड़ ने मानव जाति की बड़ी हानि की है। किन्तु अभी देर नहीं हुई है। हमें अपनी योजनाओं में प्राकृतिक संरक्षण और पर्यावरण प्रदूषण निवारण पर भी विशेष बल देना चाहिए। हमें यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि प्रकृति पर अत्याचार करके भी हम सुरक्षित रह सकते हैं। इससे छेड़-छाड़ या इसके विनाश का अधिकार किसी को नहीं है। और सुरक्षा का दायित्व हम सभी पर है।□

ये यायावर महामारियाँ

श्याम सरन अग्रवाल 'विक्रम'
89 ग्वालियर रोड, नौलखा, आगरा, 282001

देशाटन याने यायावरी का शौक सर्वव्यापी है। चेतन तो चेतन, जड़ जगत् भी इसका अपवाद नहीं। पहाड़ों, रेगिस्तानों, महासागरों और महाद्वीपों को भी तो यदाकदा स्थल-परिवर्तन का शौक चर्राता है। जब मन में आयी जहाँ दिल में समायी, खिसक लिये; मानो भिचकर बैठे रेल डिब्बे की बर्थ पर खिसक कर तनिक और जगह कर ली। प्राणी जगत् में सामन मछलियों और पक्षियों के देशाटन तो रोमांचक उपन्यासों तक से होड़ लेते हैं। तब महामारियाँ भी पीछे क्यों रहें ?

हैजा हो या प्लेग, मैलेरिया हो या डेंगू, फ्लू हो या पीलिया, विदेशों में या देश के ही दूरवर्ती प्रान्तों में इनमें से कोई भी रोग महामारी के रूप में फैला हो तो हमारी नींद, हमारी भूख हराम हो सकती है। 'हवा में उड़ते फिरते हैं, इनके बेरहम जर्रे'। हम यह सोचकर बैठे रह नहीं सकते कि-- हमें क्या ?' कम-अज़-कम आज के विकासोन्मुख विज्ञान के नजदीक तो ऐसा सोचकर बैठ रहना, न केवल एक उपहास सिद्ध होगा, बल्कि एक सामाजिक अपराध भी।

आखिर कुछ बात तो होगी, जो इन महामारियों के पैर लग जाते हैं, पंख उग आते हैं। चिकित्सकीय भूगोल, एक अल्प चर्चित विज्ञान शाखा के पास इस विषय में कुछेक रोचक तथ्यावलोकन हैं, जो इस पहेली को समझने में हमारे सहायक हो सकते हैं। उनसे यह संकेत तो मिलता ही है कि भौगोलिक और पर्यावरण सम्बन्धित अपनी वर्तमान जानकारी की सीमायें बढ़ाते हुए हमें नये क्षितिजों की ओर बढ़ते जाना चाहिये।

इस क्षेत्र में शोधकर्त्ताओं ने जान पाया है कि मैलेरिया तथा पीत ज्वर कुछेक विशिष्ट जलवायु में ही मर्यादित रहते हैं, जबकि हैजा और इन्फ्लुएन्जा किसी भी केन्द्र-स्थल से प्रारम्भ होकर दूर-दूर फैलने की प्रवृत्तियुक्त होते हैं। इनसे भिन्न, काला ज्वर, आमातिसार (पेचिश) आदि की प्रवृत्ति द्विमुखी होती है, अर्थात् विशिष्ट जलवायु में तो मर्यादित रहते हैं; परन्तु अनिश्चितता बनी ही रहती है। इनके फैलने की विशेष स्थिति तब बन जाती है, जब युद्ध-काल में बस्तियाँ की बस्तियाँ, गाँव के गाँव, शहर के शहर, वतन छोड़कर लोग देश-देशान्तरों को स्थानान्तरित होते हैं।

यह भी एक तथ्य है कि मानव के विरुद्ध वातावरण की विसंगतता का पल्ला जब विषमता की ओर झुकता है, तब रोग-दानब प्रकट हो जाता है। उसकी विकरालता वातावरण और मिट्टी-पानी के प्रदूषण की मात्रा पर निर्भर रहती है। इन्हीं में खानपान, व्यावसायिक प्रवृत्तियाँ, जीवन-पद्धतियाँ जैसी सामाजिको-आर्थिक परिस्थितियों का भी अपना योग रहता है। एक रोग अनुसंधानक भूवेत्ता के कार्य का प्रथम चरण है, कुछ नक्शे तैयार करना। ऐसा एक नक्शा यह दर्शायेगा कि अमुक क्षेत्र में रोग के फैलाव और तत्कारणभूत जीव-हानि का परस्पर अनुपात क्या है। दूसरा नक्शा इस अध्ययन में सहायक होगा कि रोग के फैलाव की प्रकृतियाँ तथा उनकी सीमायें क्या हैं, कहाँ तक हैं। तीसरा चरण होगा किसी रोग का सम्बन्ध ऐसे तत्वों से जोड़ना, जो दैनिक जीवन को

सीधे स्पर्श करते हैं, यथा—वातावरण की स्थिति, जलपूर्ति-व्यवस्था, भूमि और जलवायु में प्रदूषण की मात्रा तथा रोग के सूक्ष्माणुओं की प्रबलता, जीवन-पद्धति, मानसिक स्वास्थ्य, उद्योग तथा आजीविका सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तियाँ आदि।

कुछेक संचारी महामारियाँ कहीं अंकुशित की जा चुकी हैं, कहीं निर्मूल भी की जा चुकी हैं। फिर भी उनके स्थान पर आयुजनित अन्य रोगों ने भी मानव के समक्ष विकट त्रास उपस्थित कर रखे हैं। उनमें उल्लेखनीय हैं—रक्त-चाप, हृदय-रोग, मानसिक अति तनाव, कैन्सर, मधुमेह एवम् मस्तिष्क-विकृतियाँ। जन-हानि में इन रोगों की भी बड़ी अदाकारी रहती आयी है। यद्यपि ये विकृतियाँ वृद्धावस्थाजनित अधिक हैं, तथापि वातावरण, प्रदूषण एवम् अन्य बाह्य कारणों का भी कम भाग नहीं है। इसलिये यह अपेक्षा भी आशाजनक कही जा सकती है कि प्रदूषण, वातावरण एवम् बाह्य परिस्थितियाँ अनुकूल बनायी जा सकें तो व्यर्थ की जन-हानि से बचा जा सकता है। चिकित्सक का निदान-कौशल भी अपना महत्व रखता है। यह अनिवार्य नहीं कि संक्रमण द्वारा रोग उत्पन्न हो ही जाये, परन्तु रोगोत्पत्ति के लिये संक्रमण आवश्यक तो है।

अत: यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि चिकित्सकीय भूगोल की विधा रोग-निदान का एक नया वातायन खोलने में सक्षम है। जहाँ एक ओर एक चिकित्सक अपने रोग-निदान तथा शरीर-विज्ञान संबंधित कौशल से अनमोल सहयोग दे सकेगा; वहाँ भूवेत्ता चिकित्सक मानचित्रों द्वारा वातावरण तथा प्रदूषण की छानबीन करके याने एक और एक ग्यारह बन कर किसी भी हठीले रोग के प्रसारण को अंकुशित करके मानवहित में अपना बहुमूल्य योग प्रदान कर सकते हैं। ☐

आयुर्विज्ञान इलेक्ट्रॉनिकी में भारत के बढ़ते कदम

विष्णु दत्त शर्मा

राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला, नई दिल्ली

पौराणिक काल में भारत आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में चरम सीमा पर पहुँच चुका था। वेदों की रचना की गई थी। वेदों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया था—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। आयुर्वेद में जड़ी-बूटियों द्वारा ही रोगों के निदान एवं शल्यकर्म का प्रबन्ध था। चरक और शारंगधर जैसे ऋषियों ने संहिता की रचना की तथा आयुर्विज्ञान को "चरक-संहिता" और "शारंगधर-संहिता" जैसी मूल्यवान निधियाँ प्रदान कीं। वैदिक आर्यों के विश्वास के अनुसार यज्ञों से आरोग्यता, वर्षा-नियंत्रण, विद्या, सेवा और परमात्मा की प्राप्ति होती है। चेचक, हैजा (विपूचिका), प्लेग, क्षय तथा फ्लू आदि अनेक सामयिक बीमारियाँ जिस सामूहिक रीति से निवारण की जाती थीं, उसका नाम "भेषज्य यज्ञ" है। प्राचीन काल में तो भारत इस क्षेत्र में अग्रणी था किन्तु आज के इस वैज्ञानिक युग में, यांत्रिक युग में या इलेक्ट्रॉनिक युग में भी भारत आगे बढ़ रहा है।

आयुर्विज्ञान इलेक्ट्रॉनिकी की ओर राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली ने प्रशंसनीय कार्य किया है। यहाँ राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला द्वारा विकसित कुछ उपलब्धियों के विषय में संक्षेप में चर्चा की जा रही है—

(1) **द्रव क्रिस्टल तापीय युक्तियाँ**—ये युक्तियाँ निदान-कार्यों में बहुत ही उपयोगी हैं। साधारणतया ये शरीर का ताप नापने, कमरे का तापक्रम देखने, इलेक्ट्रॉनिकी अवयवों के अविनाशी परीक्षण, गुहिका

(Cavity) के लिए संघठित एवं आबन्धित संरचना के अविनाशी परीक्षण, गीजर, विद्युत् मोटर तथा उष्ण कुंड (Hot Bath) के साथ-साथ रक्षण युक्तियों में उपयोगी ये तापीय युक्तियाँ वर्ण प्रदर्श के द्वारा इष्ट क्रमों में तापक्रम का ज्ञान कराती और अत्यधिक उष्णता की चेतावनी देती हैं, शिशु-फीडर बोतल में दूध, बाथ-टब में तथा जल-टोंटी आदि का तापक्रम ज्ञात करने में, सूक्ष्म तरंगों को ज्ञात करने के लिए और वर्ण प्रदर्श द्वारा इसकी तीव्रता का पता लगाने में, खिलौना-उद्योग में तथा सूक्ष्म तरंग हॉलोग्राफी में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

इन्हें परिवार-नियोजन तथा गुप्त कैंसर-ग्रस्त ग्रन्थियों आदि में भी प्रयोग किया जा सकता है। दिल्ली के अनेक अस्पतालों में परीक्षण के बाद इन्हें बहुत ही उपयोगी पाया गया। यह पूर्णतया नवीन टेक्नोलॉजी है। यह वर्ण प्रदर्श में तापक्रम नापने के लिए शीघ्र कार्यशील है। इन प्रदर्श युक्तियों की विधि 0° सें० से 100° सें० के क्रम में किसी भी तापक्रम पर वर्ण दर्शाने पर आरम्भ हो जाती है। इन वर्ण प्रदर्शों का क्रम निम्नतम $1{\cdot}5^\circ$ सें० से उच्चतम 15° सें० तक हो सकता है। इस नम्यता (Flexibility) के कारण इन तापीय युक्तियों का उपयोग अनेक क्षेत्रों में पाया गया। ये नवीनतम विकसित युक्तियाँ हैं और इससे पूर्व कभी भी प्रयोग में नहीं लाई गयीं। उपरोक्त उपयोगों के आधार पर यह आशा की जाती है कि प्रति वर्ष कुछ लाख युक्तियों की आवश्यकता होगी। आगामी कुछ वर्षों में इन युक्तियों की माँग बढ़ने की आशा है।

(2) **जीव-चिकित्सा प्रयोगार्थ विकृतिमापी ट्रान्सड्यूसर**—अनेक प्रकार के विकृतमापी ट्रांसड्यूसर जीव-चिकित्सा के लिए अभिकल्पित एवं विकसित किए गए हैं। इनका उपयोग चिकित्सा, फिजियोलॉजी, शल्य-चिकित्सा, जीव-भौतिकी, वायुचिकित्सा तथा अन्य रोगों के निदान में होता है।

निम्न प्रकार के जीव-चिकित्सा ट्रान्सड्यूसर बनाए जा चुके हैं—

(i) **रक्त तथा अन्य शरीर-क्रियात्मक** (Physiological) **ट्रान्सड्यूसर** : ये अन्तःधमनियों और अंतः शिराओं में रक्त-चाप (ब्लड प्रेशर) के मापने में प्रयोग आते हैं। प्रमस्तिष्क मेरू द्रव (Cerebrospinal Fluid) दाब जैसे अन्य शरीर क्रियात्मक दबावों को भी मापा जा सकता है।

(ii) **श्वसन दर/नाड़ी दर ट्रान्सड्यूसर** : इन ट्रान्सड्यूसरों द्वारा श्वसन तथा नाड़ी-दरों को मापा जाता है।

(iii) **चिकित्सा-ड्रप्स ट्रान्सड्यूसर** (Medical drip transducers) : ड्रप्स ट्रान्सड्यूसर रोगियों अथवा परीक्षणाधीन जन्तुओं को दिए गए द्रव (ओषधि) अथवा ग्लूकोज, रुधिर की ड्रप्स-दर अथवा बूँदों की संख्या या सम्पूर्ण मात्रा को मापने या अभिलेखन में बहुत उपयोगी हैं। इन ट्रान्सड्यूसरों का मुख्य लाभ वांछित आँकड़ों का सुगमता से दूरमापन (Telemetering) है।

(iv) **रुधिर प्रवाही ट्रांसड्यूसर** : इन ट्रान्सड्यूसरों के प्रयोग से रुधिर जैसे फिज़ियोलॉजिकल द्रवों के प्रवाही दरों को मापा जाता है। केथेटरनलिका के द्वारा पूर्णतया धमनी अथवा शिरा के साथ जोड़कर ये ट्रान्सड्यूसर रुधिर प्रवाह में उपमार्ग का कार्य करते हैं कैंटीलिवर का मुक्त सिरा, जिस पर विकृति-मापी अवरोधक के रूप में लगा हो, झुक जाता है। विकृति-मापी में प्रतिरोध में परिवर्तन कर दिया जाता है, ताकि रुधिर प्रवाह को मापना सम्भव हो सके।

(3) **क्रायोप्रोब्स** : विविध प्रयोजनों के लिए किया गया है। इन वर्गों में सर्वप्रथम शल्य-चिकित्सा हेतु क्रायोप्रोब राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में क्रायोप्रोब्स का विकास किया गया है। इन वर्गों में सर्वप्रथम शल्य-चिकित्सा हेतु क्रायोप्रोब तैयार किया गया। इस प्रोब में पैंसिल के ऊपरी सिरे का तापक्रम -80° सें० प्राप्त किया। मुख्यतः इसका प्रयोग नेत्र में दृष्टिपटल (Retina) को लगाने तथा मोतियाबिन्द (Cataract) को दूर करने के लिए किया जाता है। हमने प्रयोगशाला में इस किस्म का ही प्रोब-यंत्र विकसित किया है। इस क्रायोप्रोब में दो पैंसिलें होती हैं—एक मोतियाबिंद हेतु और दूस

रेटिना के लिए। रेटिना वाली पैंसिल के ऊपरी सिरे पर—80°सें० तथा मोतियाबिंद वाली पैंसिल के

चित्र 1. विकृतिमापी ट्रांसड्यूसर द्वारा अंतःधमनीय रक्तचाप मापते हुये चिकित्सक

चित्र 2. रक्तचाप नापने के लिए बिल्ली की उरुधमनी में कैन्यूला का प्रवेश

ऊपरी सिरे पर—50°सें० तापक्रम पहुँच जाता है। दोनों ही पैंसिलों में अन्तर्निर्मित हीटर है, जिसके कारण आँख से शीघ्र ही टिप दूर हो जाता है। दृष्टि-पटलीय-पैंसिल में अन्तर्निर्मित तापक्रम-सूचक लगा होता है जिसका अभिलेख नियंत्रण-बक्स पर लगे मापक या मीटर पर किया जाता है। ये पैंसिलें उच्चदाब वाली लचीली डोरी द्वारा केन्द्रीय बक्से के साथ जुड़ी होती हैं, जिससे कि ऑपरेशन करते समय डॉक्टर के हाथों पर किसी प्रकार का दबाव न पड़े। मशीन का दिल्ली के अस्पतालों में परीक्षण किया गया, तदुपरांत संतोषजनक पाया। इसका उत्पादन भी किया जा रहा है।

(4) **नेत्रहीनों के लिए गतिशीलता साधन** : राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला ने देशज पदार्थों एवं अवयवों के उपयोग से श्रवण अवगमन गतिशीलता साधन (Auditory perception mobility aid) के विकास में सफलता प्राप्त की है। इस युक्ति में नेत्रहीन मनुष्यों को श्रवण इन्द्रियों की सहायता से सूचना प्राप्त होती है। यह युक्ति प्रसर्पी-आवृति (Sweeping frequency) 25 कि० होर्स से 50 कि० होर्स तक की पराध्वनि-पुंज (Ultrasonic beam) प्रेषित करती है और किसी अवरोधक से टकराकर वापिस प्रत्यावर्तित हो जाती है। इस प्रकार से उपलब्ध प्रतिध्वनि पारगत (transmitted) संकेतों तथा परिणामी अन्तर-आवृत्ति संकेतों के साथ मिल जाती है और तदुपरांत ईयरफोन द्वारा प्रयोग कर रहे मनुष्यों के पास पहुँचती है। समाकलित सर्किट के प्रयोग से अन्तिम मॉडल का विकास किया जा चुका है, जिसका भार लगभग 500 ग्राम और लंबाई 15 सेंटीमीटर है।

युक्ति का क्रम (range) 4 से 4.5 मीटर की दूरी तक है। इस सीमा (क्रम) में यदि कोई भी अवरोधक दीवार आदि हो तो उसका ज्ञान हो जाता है। यदि इस युक्ति को तिरछी स्थिति में रखा जाए तो नेत्रहीनों को न केवल ऊपर की ओर खम्भे, वृक्ष, दीवारें, रेलिंग, झाड़ियाँ तथा काँटेदार तारों का ज्ञान होगा, बल्कि गहरे ताल-तलैया तथा गड्ढों का भी पता लग जायेगा। कुछ अन्ध-सहायता केन्द्रों के लिए ये

गतिशीलता साधन दिये गये और प्रयोग के पश्चात् अनुभव किया गया कि यह युक्ति नेत्रहीनों में बहुत ही उत्साहवर्धक एवं लोकप्रिय सिद्ध हुई। वाणिज्य-विकास हेतु तकनीकी जानकारी उपलब्ध है।

(5) **त्रिविमितीय रेडियोग्राफी** : राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला ने त्रिविमितीय एक्स-रे रेडियोग्राफी तकनीक का विकास किया है। इस तकनीक में पारदर्शक एक्स-रे ऊर्ध्वाधर पतली स्ट्रिप से संयुक्त रेडियोग्राफिक लाइन ग्रिड का उपयोग होता है। इस रेडियोग्राफिक ग्रिड को वस्तु तथा रेडियोग्राफिक फिल्म के मध्य रखा जाता है और अनेक स्ट्रिप रेडियोग्राफ रूढ़ एक्स-रे मशीन के उपयोग से उसी फिल्म पर ले लिए जाते हैं। यदि यह मिश्रित रेडियोग्राफ फोटोग्राफिक लाइन ग्रिड के पीछे रखकर पारेषित प्रकाश में देखा जाये तो वस्तु विशेष का परिदृश्य (Panormic) चित्र दिखाई देता है। इस तकनीक से मानव-शरीर के अंदर प्रविष्ट अन्य वस्तु अथवा शरीर-अंग के दोषों का सरलता से ज्ञान हो जाता है, जिसके फलस्वरूप विकिरण चिकित्सकों (Radiologists) के उपयोगार्थ लाभप्रद है।

राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में रेडियोग्राफिक लाइन ग्रिड, जिसकी सहायता से मिश्रित एक्स-रे रेडियोग्राफ लिया जा सके, का बनाना तथा त्रिविमितीय रेडियोग्राफ को देखने के लिए फोटोग्राफिक ग्रिड का निर्माण आदि सम्पूर्ण तकनीक का विकास किया गया है। अभी हमने 100 किलोवॉट तक एक्स-रे स्रोत के प्रयोगार्थ रेडियोग्राफिक ग्रिडों का विकास किया है। औद्योगिक रेडियोग्राफी के लिए उच्चतर किलोवॉट ग्रिडों पर कार्य प्रगति पर है।

त्रिविमितीय एक्स-रे तकनीक के मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं—

(1) मात्र एक फिल्म पर अनेक एक्स-रे चित्र लिए जा सकते हैं, जिसके फलस्वरूप एक्स-रे फिल्मों के व्यय में कमी हो जाएगी।

(2) रूढ़ (Conventional) एक्स-रे उपकरण तथा फिल्मों का उपयोग हो जाता है।

(3) देखने के लिए स्टीरियोस्कोप आदि की सहायता नहीं लेनी पड़ती।

(4) इस तकनीक पर कार्य करना सुगम है। यह युक्ति न केवल वस्तु का त्रिविमितीय दृश्य दर्शाती है, बल्कि सम्पूर्ण विराट दृश्य प्राप्त हो जाता है, जो परिणामस्वरूप वस्तु की वास्तविक गहराई बतलाने में परम आवश्यक है।

(6) **पराध्वनि नेत्रपटलदर्शी** (Ultrasonic Ophthalmoscope) : मनुष्य की आँख के चिकित्सा हेतु एक पराध्वनि नेत्रपटलदर्शी का विकास किया जा रहा है। इसके द्वारा चिकित्सा-क्षेत्र में अनेक निदानों के साथ-साथ अर्बुद (Tumour), मोतियाबिंद, बाहरी पदार्थों आदि का पता लगाने तथा रेटीना को पृथक् करने का कार्य किया जाता है। इसका विशेष रूप से उपयोग तब अधिक सार्थक होता है, जब या तो सम्पूर्ण आँख अपारदर्शक (अंध) हो जाए या रक्तस्रावी (हीमरेज) दशा में आ जाए और साथ ही यह तात्क्षणिक प्रदर्शन भी दे, जिसका आवश्यकतानुसार फोटो भी लिया जा सकता है।

राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में आयुर्विज्ञान उपकरणों की मरम्मत, अंशांकन एवं सुधार के लिए पूर्णरूपेण सुविधाएँ तथा प्रवीणता उपलब्ध हैं। देश के कोने-कोने से सेवाएँ प्राप्त करने के लिए हमें आमंत्रित किया जा रहा है। इलेक्ट्रॉनिक/ऑप्टिकल टोनोमीटर, इलेक्ट्रोकार्डियोग्राफ, इलेक्ट्रो-इन्सेफ्लोग्राफ, फंडस कैमरा, सिस्टोस्कोप, पराध्वनि उपचार यंत्र, ब्लड मैनोमीटर, चूषण यंत्र तथा लैपरोस्कोप आदि कुछ उपकरणों की प्रयोगशाला में ही मरम्मत भी की गई है। □

भारतीय ग्रामांचलों का भयानक नारू रोग

चक्रेशकुमार जैन

65 पत्रकार कॉलोनी, साकेत नगर के पास, कनाड़िया रोड, इन्दौर—452001

वर्तमान दशक के प्रारम्भिक वर्षों में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार हमारे देश के सात राज्यों में कोई 1 करोड़ 22 लाख लोग नारू के रोग से पीड़ित थे। समयबद्ध आर्थिक कार्यक्रमों और वैज्ञानिक अध्ययनों के परिणामस्वरूप रोग को फैलने से रोकने के लिए किए गए प्रयासों में हमें उल्लेखनीय सफलता मिली है; किन्तु आज भी नारू रोग हमारे लिए एक चुनौती बना हुआ है। यह रोग कब, कैसे और क्यों होता है ? इन सभी सवालों के जवाब चिकित्सा-विज्ञान के अध्येताओं द्वारा खोजे जा चुके हैं। समझा जाता है कि असुरक्षित स्थानों के अशुद्ध जल का उपयोग पेय जल के रूप में किए जाने पर यह रोग फैलता है। विवश ग्रामीण सीढ़ीदार कुओं, बावड़ी, छोटे तालाब जैसे असुरक्षित स्रोतों का पानी पीने के काम में लेते हैं और नारू जैसे भयानक और कष्टप्रद रोग के जब-तब शिकार होते रहते हैं। विश्व भर में नारू के सबसे अधिक रोगी हमारे देश में हैं। राजस्थान और मध्य प्रदेश—इन दो राज्यों के ग्रामीण अंचलों में इस रोग का प्रकोप सबसे अधिक देखा गया है। एक अध्ययन के अनुसार मध्य प्रदेश में हर साल औसतन 5000 लोग नारू रोग के शिकार होते हैं। इस रोग के कारण प्रदेश में प्रतिवर्ष 5 करोड़ रुपयों के कृषि-उत्पादन पर असर पड़ता है, जो सच पूछा जाए तो बहुत अधिक है। ऐसा माना जाता है कि नारू का रोगी हाथ-पाँव में सूजन, त्वचा में जख्म और उँगलियों में घाव होने से एक लम्बी अवधि तक कोई काम करने योग्य नहीं रहता।

नारू रोग एक कृमि द्वारा उत्पन्न किया जाता है, जिसका वैज्ञानिक नाम है—**ड्रैकनकुलस मेडिनेन्सिस**। गिनी वर्म, सरपेन्ट वर्म आदि इसके कुछ अन्य नाम हैं। मादा लगभग 100 सेंटीमीटर लम्बी दूधिया रंग की होती है। विश्व में पाये जाने वाले सभी परजीवी कृमियों में इसकी लम्बाई सबसे अधिक है। नर की लम्बाई 0.3 सेंटीमीटर होती है, जो मादा की अपेक्षा बहुत कम है। नर और मादा में यौन गतिविधि सम्पन्न होने के ठीक कुछ समय बाद नर की मृत्यु हो जाती है। मादा इस दौरान अत्यधिक सक्रिय रहती है। निषेचित अण्डे आगे चलकर लार्वा में बदल जाते हैं और शरीर के अन्य हिस्सों की ओर तेजी से बढ़ते चले जाते हैं। लगभग छः महीनों के भीतर लार्वा अंततः नर और मादा के रूप में विकसित हो जाता है। अशुद्ध पानी के साथ पेट में जाने के बाद बाहर निकलने तक इन्हें कोई 10-14 महीने लगते हैं। जब नारू बाहर निकलने की कोशिश करता है तो मनुष्यों के शरीर के किसी भाग पर छाला जैसा हो जाता है जो कुछ दिनों में फोड़े में बदल जाता है। रोग से प्रभावित मनुष्य के स्वच्छ पानी के सम्पर्क में आने पर इस स्थान से हजारों लार्वा पानी में पहुँच जाते हैं। इस तरह नारू का जीवनचक्र निरन्तर चलता रहता है। एक मादा अपने संक्षिप्त जीवनकाल में कोई 30 लाख लार्वा देती है, जो पानी में छल्ले की तरह पड़े रहते हैं। मादा कृमि मनुष्य की त्वचा के भीतर सबसे निचली परत में एक विषैला पदार्थ उत्पन्न करती है, जिसके परिणामस्वरूप उसे **दमा, अतिसार, अजीर्ण इयोसिनोफीलिया** जैसे रोग हो सकते हैं। लार्वा को जन्मने के बाद मादा निष्क्रिय हो जाती है। इसी दौरान चिकित्सक मादा कृमि का एक हिस्सा पकड़कर उसे बेलनाकार लकड़ी पर लपेटते चले जाते हैं। यह काम अत्यधिक सावधानी से करना होता है; क्योंकि कृमि के बीच में टूट जाने अथवा मृत्यु हो जाने पर रोगी को गंभीर परिणाम भुगतने पड़ सकते हैं। नारू सामान्यतया मनुष्य के टखने के

नीचे वाले हिस्से में से बाहर निकलता है। कभी-कभी पेट, हाथ और अंडकोष जैसे अंगों से भी रास्ता बना-कर निकलता हुआ देखा गया है। लार्वा कुछ दिनों तक स्वतंत्र जीवन बिताने के पश्चात् साइक्लॉप्स नामक कीट (स्वच्छ-जल में पाया जाने वाला क्रस्टेशियन परिवार का सदस्य) द्वारा खा लिए जाते हैं। जी हाँ, यही संक्रमित कीट इस रोग को फैलाने के लिए जिम्मेदार है। असुरक्षित स्रोतों से प्राप्त अशुद्ध पानी का उपयोग पेय जल के रूप में किये जाने पर ही संक्रमित **साइक्लॉप्स** नामक कीट मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता है। अध्ययनों से पता चलता है कि नारू रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में कहीं अधिक होता है। परिवार में यह रोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी भी हो सकता है। चिकित्सा-विज्ञान के अध्येताओं के अनुसार यह रोग शिशुओं को छोड़कर किसी भी उम्र के व्यक्ति को हो सकता है।

अधिकांश ग्रामीण इलाकों में पीने और नहाने के पानी का माध्यम एक ही होता है। रोग के गंभीर परिणामों के बारे में समुचित जानकारी के अभाव में संक्रमित ग्रामीण जब खुले जल-स्रोतों से पानी भरने जाता है तो उसका शरीर पानी के सम्पर्क में आता है और इसी समय प्रभावित अंग से नारू पानी में पहुँच जाता है। आगे चलकर इसी अशुद्ध पानी का स्वस्थ ग्रामीण द्वारा पेय जल के रूप में उपयोग किये जाने पर नारू रोग होता है।

नारू से बचने और उससे होने वाले रोग को समाप्त करने के अनेक उपाय हमारे सामने हैं। अशुद्ध जल को उबालकर और मोटे कपड़े से छानकर पीने से इस रोग से कुछ हद तक बचा जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों में गाँवों में सीढ़ीदार कुओं को पाटने से भी इस रोग को समाप्त करने में उल्लेखनीय सफलता मिली है। ग्रामीणों को रोग के कारणों और परिणामों के बारे में समुचित जानकारी दी जानी चाहिये। अशुद्ध जल में मछली पालने से भी रोग को नियंत्रित किया जा सकता है। पेय जल के असुरक्षित स्रोतों को रोगाणुरहित करने के लिए रसायनों का नियमित छिड़काव भी लाभकारी सिद्ध हो सकता है। निरिडा-जोल, मेट्रोनियाडेजोल आदि कारगर ओषधियों का प्रयोग भी बड़े पैमाने पर किया जाता रहा है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.) जैसी अंतर्राष्ट्रीय स्तर की संस्था ने जनवरी 1986 तक नारू को पूरी तरह समाप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया है। यही नहीं, लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह संगठन भारत को आर्थिक सहायता भी करेगा। आशा की जानी चाहिये कि देश के नारू प्रभावित ग्रामीण इलाकों में आर्थिक योजनाओं और महत्वाकांक्षी कार्यक्रमों के अन्तर्गत प्राथमिकता के आधार पर पेय जल की समस्या को हल किया जा सकेगा जो निश्चय ही इस रोग को जड़मूल से समाप्त करने की दिशा में एक क्रांतिकारी और महत्व का कदम होगा। ❑

अतिसार : आयुर्वेद की दृष्टि में

डॉ० एस० के० पाठक

मेडिकल ऑफिसर, सी० जी० एच० एस० डिस्पेन्सरी, हरी नगर, नई दिल्ली 110064

अतिसार या डायरिया का अर्थ है गुदा मार्ग के द्वारा पतला दस्त अर्थात् पतला मल कई बार आये तो उसको अतिसार समझना चाहिए। यह उदर की एक व्याधि है। इसको हमारे आयुर्वेद में कहा गया है :
"अतिशयेन सारयति रेचयति मलमतिः अतिसारः।"

[अर्थात् अधिक मात्रा में मल का निकलना ही अतिसार है।

अतिसार के कारण

जब मनुष्य गुरु-स्निग्ध-द्रव आदि गुणों से युक्त पदार्थों का अति सेवन करता है तथा अधिक समय

तक जागने से भोजन उचित प्रकार से उदर में पक नहीं पाता और रोगी को पतला पाखाना काफी मात्रा में कई बार आवे तो इस रोग को अतिसार समझना चाहिए। भोजन में घी, मांस, उर्द, चना, मटर आदि पदार्थों का ज्यादा मात्रा में सेवन करने से भी अतिसार हो जाता है। कभी-कभी यह रोग भय, शोक एवं चिन्ता करने से भी उत्पन्न हो जाता है।

अतिसार के लक्षण

1. इसमें पानी की तरह पतला मल निकलता है।

2. वायु (अपान वायु) के खारिज होने पर मल गुदा मार्ग से बाहर आ जाता है।

3. पेट में दर्द होता है और पेट फूल जाता है।

4. मल अत्यधिक मात्रा में एवं बहुत बार आता है।

अतिसार के प्रकार

(1) **वातज अतिसार**—इसमें रोगी को मल लाल रंग का झागदार व थोड़ा-थोड़ा दर्द के साथ आता है तथा पेशाब में जलन भी होती है।

(2) **पित्तज अतिसार**—इसमें रोगी को प्यास अधिक लगती है। मल का रंग पीला, नीला व लाल रंग का प्रायः देखने को मिलता है।

(3) **कफज अतिसार**—इसमें पेट का भारी हो जाना, अरुचि तथा बदबूदार मल होता है।

(4) **सन्निपातज अतिसार**—वातादि तीनों दोषों से युक्त अतिसार को सन्निपातज अतिसार कहा है। इसमें मल का रंग मांस के धोवन के समान होता है।

(5) **आमज अतिसार**—इसमें पाखाना दर्द के साथ एवं कई रंगों का बार-बार होता है।

(6) **शोकज अतिसार**—इसमें रोगी को किसी चीज के डर या भय के कारण भी अतिसार हो जाता है। इसमें मल गुंजाफल के रंग के समान रक्त गुदा मार्ग से बार-बार आता रहता है।

अतिसार चिकित्सा

अतिसार की चिकित्सा में पानी का अत्यधिक महत्व है; क्योंकि अतिसार ज्यादा होने पर पानी की कमी शरीर में हो जाती है। इसको डिहाईड्रेशन कहते हैं। इस अवस्था के उत्पन्न होने से पूर्व रोगी को पर्याप्त मात्रा में पानी देते रहना चाहिए ताकि शरीर में पानी की कमी न होने पाये और रोगी अतिसार के संकट से बच जाये।

वातज और कफज अतिसार की चिकित्सा

(1) संजीवनी : 1 गोली—3 मात्रा
(2) रामबाण रस : 1 गोली—3 मात्रा
(3) चित्रकादि वटी गोली—3 मात्रा
(4) लवणभास्कर : 2 ग्राम से 4 ग्राम 3 मात्रा
शंखभस्म : 120 मि० ग्रा०

भुनी हुई सौंफ 1 माशा और भुना हुआ जीरा 1 माशा व मधु के साथ उपरोक्त ओषधियों का प्रयोग करने से वात एवं कफ-जन्य अतिसार ठीक हो जाता है।

धान्य पंचक्वाथ—धनिया, सोठ, मोथा, सुगन्ध वाला और कच्चे बेल की गुदी इन सबको बराबर-बराबर लेकर क्वाथ बना लें तथा तथा प्रातः एवं सायंकाल इसका सेवन करें।

इसमें पीने के लिये सौंफ, सोंठ (सुगन्धवाला) से पकाया हुआ जल रोगी को वातज और कफज अतिसार में पीने को देना चाहिए। यदि उपरोक्त द्रव्यों से युक्त पानी न मिल सके तो जल को उबालकर जब वह ठण्डा हो जाय तब रोगी को पीने को देना चाहिए।

पित्तातिसार चिकित्सा

(1) कुटजघ्नवटी : 1 गोली—3 मात्रा (पानी के साथ)
(2) पीयूषवल्लीरस : 1 गोली—3 मात्रा (पानी के साथ)
(3) कुटजाष्टक्वाथ : 2 चम्मच—3 मात्रा
(4) कौरेभा की छाल का क्वाथ ढाई तोला, मिश्री 3 माशा तीन बार लें। धनियाँ (सुगंधवाला) एवं जल को पकाकर इस जल का सेवन करें।

रक्तातिसार चिकित्सा

(1) रक्तपित्तकुलकन्डन रस : 120 मिली ग्राम—3 मात्रा (मधु के साथ)

(2) पीयूषवल्ली रस : 240 मिली ग्राम —3 मात्रा
(3) इन्द्रयव चूर्ण : 1 ग्राम—3 मात्रा
(4) वत्साकादि क्वाथ : ढाई तोला—2 मात्रा
(5) रसांज्जनादि चूर्ण : 2 ग्राम—2 मात्रा (तण्डुलोदक के साथ)

तण्डुलोदक—चावल को कूटकर आठ गुना पानी लेकर हाँडी में भिगो दें 12 घंटे के बाद उस पानी को प्रयोग में लायें यही तण्डुलोदक है।

पक्वातिसार चिकित्सा

(1) कर्पूर रस : 120 मिलीग्राम—3 मात्रा (2) लहसुनादि वटी : 2 गोली—3 मात्रा (3) जातीफल रस : 2 ग्राम—3 मात्रा (अनुपान कौरैष्या की छाल या मधु के साथ) (4) गंगाधर चूर्ण (वृहत) : 3 माशा—3 मात्रा (गुड़ और छाछ के साथ) (5) अर्क सौंफ : 20 मिली लीटर—2 मात्रा (6) अहिफैनासव : 5 बूँद—2 मात्रा (पानी मिलाकर, खाने के बाद)

1. पिप्प्यासव 2. कुटजारिष्ट 3. कुटजावलेह 4. बबूलाधरिष्ठ इन औषधियों का प्रयोग भी हितकर है।

त्रिदोषज अतिसार चिकित्सा

(1) चिन्तामणि रस : 120 मिली ग्राम
(2) महागंधकयोत्र—240 मिली ग्राम—3 मात्रा

शोकातिसार चिकित्सा

भय एवं शोक से उत्पन्न अतिसार में हर्ष को उत्पन्न करने वाली बातें करनी चाहिए। साथ ही साथ रोगी को पूर्ण विश्वास दिलाना चाहिए, ताकि उसका रोग शान्त हो जाय।

शोकातिसार में वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

पृश्निपर्ण्यादि क्वाथ में चरिच का चूर्ण मिलाकर रोगी को दिन में तीन बार सेवन कराने से अति लाभ होता है।

गुदा में पाक व दाह होने पर चिकित्सा

गुदा-प्रक्षालन करने से गुदा का पाक व दाह शान्त होता है। इनमें निम्न योगों का प्रयोग गुदा-प्रक्षालन में करें।

योग : 1. मधु व शर्करा मिश्रित बकरी के दूध का प्रयोग-गुदा प्रक्षालन में करायें।

2. परवल की पत्ती और मुलैठी के पानी से भी गुदा-प्रक्षालन करने से लाभ होता है।

3. धतूरे की जड़, इन्द्र जौ, अहिफेन बराबर की मात्रा में लें और इनको कूट कर उनका कल्क बना लें। इसमें मोम और घी मिलाकर मोटी बत्ती बनाकर गुदा के अन्दर रखने से दाह व पाक शान्त होता है और खून का निकलना भी बन्द हो जाता है।

शोथ युक्त अतिसार की चिकित्सा

शोथ युक्त अतिसार में नमक बन्द कर देना चाहिए। अतिसार के साथ वमन होने पर बेल गिरी व आम की गुठली के क्वाथ में मधु व मिश्री मिलाकर पिलावें। जीर्ण अतिसार में कुटजावलेह लाभप्रद है।

ज्वरातिसार

इसमें पित्त दोष के बढ़ जाने से रोगी का तापक्रम सामान्य से ज्यादा हो जाता है। इस कारण रोगी को दस्त आने लगते हैं। यही ज्वरातिसार है।

ज्वारातिसार की चिकित्सा

सर्वप्रथम रोगी का तापक्रम कम करना चाहिए। इसके लिए रोगी के सिर पर बर्फ की टोपी रखें या माथे पर बर्फ की पट्टी डालें। इससे रोगी का ज्वर शांत हो जाएगा।

यदि बर्फ न मिले तो ठण्डे पानी में कपड़े को भिगोकर सिर व मस्तक पर पट्टियों को रखने से भी ज्वर शांत हो जाता है। ज्वर शांत होने पर निम्न चिकित्सा करें—

1. आनन्द भैरव रस : 2 रत्ती—3 मात्रा
2. रामबाण रस : 2 रत्ती—3 मात्रा
3. सिद्धप्राणेश्वर : 3 रत्ती—3 मात्रा
4. कनक सुन्दर रस भी लाभप्रद है।

अतिसार में पथ्य

पुराना शालि या साठी चावल की खिचड़ी, धान के लावा का माँड़, दही की मलाई, कच्चा केला, गूलर, मूँग-मसूर की दाल का यूष, सेंधा नमक, जीरा अनार का रस, भुने हुए या पके बेल की गूदी निद्रा-सेवन, श्रृत जल, बकरी का दूध मिश्री, बटेर लावा, जंगली तीतर, खरगोश के मांस का रस, अनारदाना, मुर्गा का मांस भी हितकर है।

अपथ्य—गुरुस्निग्ध भोजन स्नान, तैलाभ्यं अग्नि और धूप का सेवन अपथ्य है। ☐

रक्तातिसार और जनस्वास्थ्य

श्रीमती मंजुलिका लक्ष्मी

5 ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद-211002

पिछले दो-तीन महीनों से भारत के कुछ प्रदेशों में **पेचिश** नामक रोग ने एक उग्र महामारी के रूप में जन-स्वास्थ्य पर आक्रमण किया है। पश्चिमी बंगाल में तो इसके घातक स्वरूप ने अनेक व्यक्तियों को अपनी चपेट में ले लिया है। चिकित्सकीय सहायता के अभाव में हजारों जानें इसकी बलि चढ़ चुकी हैं। इन दिनों उत्तर प्रदेश भी इससे अछूता नहीं रह सका और इसकी गंभीरता को देखते हुये इस रोग के स्वरूप और कारण के विषय में चिकित्सकों द्वारा शोध किए जा रहे हैं।

अतिसार या रक्तातिसार का इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लेने का प्रमुख कारण तो यह है कि इसे फैलाने वाले जीवाणुओं (बैक्टीरिया) में साधारण प्रति-जैविकों के लिए प्रतिरोधिता उत्पन्न हो गई है, जिसके कारण इन पर उन दवाओं का कोई असर नहीं होता। सबसे बड़ी चिंता का विषय यह है कि यह रोग अत्यंत संक्रामक होने के कारण आस-पास के क्षेत्रों में अत्यंत तीव्र गति से फैलता है। अधिकतर अतिसार या पेचिश की महामारियां भीड़-भरे स्थानों से ही फैलती हैं, जैसे किसी तीर्थ-स्थल पर लगे मेले आदि। बरसात के मौसम में तो जलागारों के प्रदूषित जल द्वारा इसके फैलने की सम्भावना कई प्रतिशत बढ़ जाती है। पेयजल के पाइपों के नालों के समानान्तर लगाये जाने पर टूटने-फूटने की दशा में तो यह पाइप पानी नहीं रोग ही वितरित करते हैं।

इस महामारी के वर्तमान स्वरूप का कोई निश्चित कारण तो अब तक नहीं ज्ञात हो सका है पर अनुमान यही है कि यह **शिजेला डिसेन्टेरी टाइप-1 (Shigella dysenterie type-1)** नामक एक प्रतिरोधी जीवाणु के कारण फैल रहा है।

शिजेला प्रजाति के जीवाणु द्वारा उत्पन्न **बैसिलरी डिसेन्ट्री** (जीवाणु-जन्य अतिसार) तो प्रारम्भ से ही मानव-जाति के लिए एक अभिशाप रही है। सत्तर के दशक के आरंभिक वर्षों में मध्य-अमेरिका में जल-प्रदूषण के कारण फैले इस रोग ने दस हजार से अधिक लोगों, जिनमें अधिकांश बच्चे थे, को मौत के मुँह में ढकेल दिया था। पश्चिमी बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में फैली महामारी ने भी प्रमुखतः बालकों और युवाओं की ही जानें ली हैं। वस्तुतः इस रोग का प्रकोप गरीबी और गंदगी से ग्रस्त क्षेत्रों में ही अधिक होता है। मानव-शरीर शिजेला नामक जीवाणु का प्रमुख और प्राकृतिक आवास है यद्यपि प्रायोगिक परी-क्षणों में यह पाया गया कि वे बन्दरों और गिनीपिगों के शरीरों को भी क्षतिग्रस्त कर सकते हैं। यह जीवाणु मनुष्य की बड़ी आँतों की अंदरूनी श्लेष्मिक पर्त (इपीथीलियम) में घाव उत्पन्न करके या आन्त्रविष (Enterotoxins) का निर्माण करके उन्हें हानि पहुँ-चाते हैं।

शिजेला प्रजाति के चार उपवर्ग पाये जाते हैं: **एस० डिसेन्टेरी** (*S. dysenterie*), **एस० फ्लेक्सनेरी**

(*S. flexneri*), एस० ब्वायडाई (*S. boydei*) और **एस० सोनेई** (*S. sonnei*)। **शिजेला डिसेन्टेरी टाइप-1** को **शीगा बैसिलस** के नाम से भी जाना जाता है। यह अतिसार के सबसे भयंकर रूप का जनक है जबकि **एस० सोनेई** द्वारा उत्पन्न रोग का प्रकोप हल्का होता है। **एस० डिसेन्टेरी टाइप-1** के लगभग 200 जीवाणु अतिसार रोग को उत्पन्न करने में सक्षम हैं। उक्त जीवाणु आँतों (बड़ी आँत) के अन्दर की श्लेष्मिक पर्त से चिपक कर इपीथीलियल कोशिकाओं पर आक्रमण करते हैं और एक से दूसरी कोशिका के माध्यम से इर्द-गिर्द के स्थान को तीव्रता से अपने चंगुल में ले लेते हैं। **शिजेला** जीवाणु सामान्यत: श्लेष्मिक पर्त और इपीथीलियल कोशिकाओं के पार नहीं जाते और न रक्त-प्रवाह में ही प्रवेश करते हैं। अतिसार के रोगी की आँतों के अत्यधिक तरल स्राव के प्रमुख तीन कारण हैं : (1) **प्रोस्टैग्लैंडिन** के स्थानीय संश्लेषण में वृद्धि जिसके कारण स्राव बढ़ जाता है, (2) सतह की इपीथीलियल कोशिकाओं की क्षति, जिससे जल-शोषण-क्षमता का ह्रास हो जाता है और (3) एक आन्त्र-विष, जो तरल स्राव और इलेक्ट्रोलाइट प्रवाह को बढ़ा देता है। इस जीवाणु-जन्य अतिसार रोग के कारण होने वाले शारीरिक कष्टों में शरीर में जल की कमी, आँतों में घाव, प्रोटीन की गम्भीर क्षति, जोड़ों का दर्द और मूत्र-रक्तदोष आदि प्रमुख हैं।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इस रोग की भयंकरता का कारण इसके जीवाणुओं का प्रति-जैविकों के प्रति प्रतिरोधिता उत्पन्न कर लेना है। रोग के सही निदान के लिए चिकित्सक रोगी का मल-परीक्षण करते हैं। मल में 'पस सेल' की उपस्थिति से इस रोग को पहचाना जाता है।

ओषधि का निश्चय करने के लिए चिकित्सक जीवाणुओं का संवर्धन करके उन पर विभिन्न प्रति-जैविकों के प्रभावों को देखते हैं। आज सामान्यत: प्रयुक्त **एम्पिसिलिन, टेट्रासाइक्लिन** और **सल्फैनोमाइड** वर्ग की दवायें इन जीवाणुओं पर कोई असर नहीं करतीं। यह प्रतिरोधिता प्रतिजैविकों के अनुचित और अनावश्यक प्रयोग के कारण उत्पन्न मानी जाती है। **नियोमाइसिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन** और **कैनामाइसिन** जैसे शोषित न होने वाले प्रतिजैविकों का प्रयोग इस कारण व्यर्थ सिद्ध होता है; क्योंकि रोग के जीवाणु तो आँतों की श्लेष्मिक पर्त के अंदर चले जाते हैं किन्तु ये दवायें वहाँ नहीं पहुँच पातीं।

उचित यही है कि रोगी के शरीर में जल्दी से जल्दी और सही मात्रा में औषधियाँ पहुँच जायें जिससे रोग के उग्र रूप धारण करने के पहले उस पर नियंत्रण पाया जा सके। चिकित्सकों द्वारा निश्चित कुछ प्रभावशाली औषधियों में **ट्राइमेथोप्रिम** और **सल्फामेथोक्सैजोल** के नाम लिए जा सकते हैं। **ट्राइ-मेथोप्रिम** (10 मिग्रा० प्रति किग्रा०) और **सल्फा-मेथोक्सैजोल** (50 मिग्रा० प्रति किग्रा०) प्रतिदिन 5 दिनों तक रोगी को देना उचित रहता है। इन दवाओं में सल्फा के प्रति तो **शिजेला** जीवाणुओं में प्रति-रोधिता पायी जाती है; किन्तु **ट्राइमेथोप्रिम** के प्रति इनमें अब भी संवेदनशीलता है।

जीवाणुजन्य अतिसार अत्यन्त संक्रामक और छूत का रोग है। अत: इसके फैलने पर नियंत्रण के लिये स्वच्छता संबंधी नियमों का कड़ाई से पालन अत्यन्त आवश्यक है। खाने-पीने की वस्तुओं में सफाई और व्यक्तिगत स्वच्छता इस रोग से मुक्ति दिलाने की पहली शर्त है। इसके लिए कुछ सामान्य साव-धानियों की चर्चा करना अनावश्यक न होगा। सभी खानेवाली वस्तुओं को स्पर्श करने के पूर्व हाथों को अच्छी प्रकार साफ कर लें। फलों और सब्जियों को सदैव स्वच्छ जल से धोकर ही इस्तेमाल करें। गंदी जगहों पर बिकने वाली और मक्खियों से दूषित खुली वस्तुओं को कदापि न खायें। बच्चों के साथ इस संबंध में विशेष सावधानी बरतें। पेय जल को उबाल कर ही प्रयोग में लायें। इसके अतिरिक्त पेय जल संस्थान से नगर में वितरित होने वाले जल को साफ करने और क्लोरीन डालने की व्यवस्था की भी समय-समय पर जाँच होना आवश्यक है। आइसक्रीम, फलों का रस, गन्ने का रस, लस्सी या कुछ दूसरी वस्तुओं,

जिन्हें उबालना संभव नहीं है, के प्रयोग से बचना चाहिए। हर बार शौच के उपरांत हाथों की भली-भाँति साबुन से सफाई आवश्यक है। कूड़े-करकट और मल के निपटान की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए। मक्खियों के नियंत्रण संबंधी सावधानियों का भी कठोरता से पालन होना चाहिए। उपरोक्त सावधानियाँ न केवल रोगी के रोग की भीषणता पर नियंत्रण करेंगी, बल्कि आस-पास के स्वस्थ व्यक्तियों को भी रोग से बचाने में सहायक सिद्ध होंगी। संचार माध्यमों द्वारा सामान्य जनता को इस विषय में शिक्षित करके इस महामारी के फैलने पर नियंत्रण पाया जा सकता है।▭

मिर्गी : कारण और उपचार

अमिताभ धर दुबे

180 ए, अलोपीबाग़, इलाहाबाद-211002

भारत में मिर्गी (**Epilepsy**) एक आम रोग है। मिर्गी में मस्तिष्क की क्रियाशीलता में कुछ क्षणों के लिये व्यवधान उत्पन्न हो जाता है, जिससे व्यक्ति प्रायः अपनी चेतना खो बैठता है।

मिर्गी के दौरे की दो अवस्थायें होती हैं—

(1) **टानिक स्टेज**—यह अवस्था प्रायः दस से तीस सेकेण्ड तक रहती है। इसमें मिर्गी से प्रभावित व्यक्ति की चेतना लुप्त हो जाती है तथा पूरा शरीर जकड़ जाता है। इसके पश्चात् उसकी श्वास क्रिया बन्द होने लगती है तथा कभी-कभी गले से गो-गो की एक विशेष प्रकार की आवाज़ निकलने लगती है।

(2) **क्लानिक स्टेज**—यह टानिक स्टेज से आगे की अवस्था है। तीस से चालीस सेकेण्ड तक रहने वाली इस अवस्था में व्यक्ति झटके खाने लगता है तथा उसके मुँह से झाग निकलने लगता है। इसके पश्चात् थोड़ी देर बाद मरीज़ की चेतना वापस लौट आती है।

कई बार यह भी देखने में आता है कि रोगी को एक दौरे के पश्चात् तुरन्त ही दूसरा दौरा आना शुरू हो जाता है या फिर बिना चेतना लौटे झटके आते रहते हैं। ऐसी स्थिति अत्यधिक गम्भीर मानी जाती है।

मिर्गी दो प्रकार की होती है—

(1) **इडियोपैथिक इपिलेप्सी**—मिर्गी के सभी रोगियों में आमतौर से पचहत्तर प्रतिशत से अधिक रोगी इसी प्रकार की मिर्गी से ग्रस्त रहते हैं। इस प्रकार की मिर्गी का कारण अभी तक चिकित्सक खोज पाने में सफल नहीं हो पाये हैं।

(2) **लाक्षणिक मिर्गी**—इस प्रकार की मिर्गी के प्रमुख कारण प्रायः मस्तिष्क के ट्यूमर अथवा चोट, मस्तिष्क के रक्त संचार तंत्र में आयी कोई गड़बड़ी, ओषधियों के कुप्रभाव आदि हो सकते हैं।

लाक्षणिक मिर्गी को इसके स्वरूप के आधार पर पुनः छोटी और बड़ी ('माइनर' तथा 'मेजर') दो प्रकार की इपिलेप्सी में बाँटा गया है। लाक्षणिक मिर्गी के अधिकांश मरीज़ 'मेजर इपिलेप्सी' से ही पीड़ित होते हैं। वैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास है कि 'मेजर इपिलेप्सी' आनुवंशिक होती है। इस प्रकार की मिर्गी के दौरे, पाँच से पन्द्रह वर्ष की आयु से ही पड़ने लगते हैं। यद्यपि इस प्रकार की मिर्गी में दौरा पड़ने का कोई समय निश्चित नहीं होता, अर्थात् ये दौरे दिन-रात सोते-जागते किसी भी समय पड़ सकते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि रोगियों को काफी समय पहले ही दौरे का पूर्वाभास हो जाता है।

'माइनर इपिलेप्सी' के अन्तर्गत कई प्रकार की मिर्गियाँ आती हैं। इनमें पेटिटमल, प्रतिक्षेपी तथा

जैक्सोनियन इपिलेप्सी आदि प्रमुख हैं। पेटिटमल इपिलेप्सी अधिकतर छोटे बच्चों में पायी जाती है। जैकसोनियन इपिलेप्सी मस्तिष्क के एक विशेष भाग से सम्बन्धित होती है। इसमें हाथ या पैर के अंगूठे अथवा मुँह के किनारे से झटके प्रारम्भ होते हैं तथा शीघ्र ही शरीर के अन्य भागों में फैल जाते हैं। प्रति-क्षेपी इपिलेप्सी प्रायः अत्यधिक मानसिक तनाव और चिन्ता के कारण उत्पन्न होती है। एक अन्य विशेष प्रकार की मिर्गी नवजात शिशुओं में पायी जाती है। इस मिर्गी में दौरे के समय शिशु अपने हाथ, पैर, सिर व गर्दन को सिकोड़ लेता है। इस मिर्गी का शिशु के मानसिक तथा शारीरिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

यदि आपके घर अथवा पास-पड़ोस में किसी व्यक्ति को मिर्गी का दौरा पड़े तो घबरायें नहीं। डॉक्टर का इन्तज़ार न करके आप स्वयं इलाज प्रारंभ कर सकते हैं।

(1) दौरे की दशा में रोगी प्रायः दाँतों से अपनी जीभ काट लेता है। अतः इसे रोकने के लिये रोगी के मुँह में रबड़ का टुकड़ा या मुड़ा हुआ कपड़ा रख देना चाहिये।

(2) मरीज के सिर को एक ओर घुमा देना चाहिये ताकि उसकी जीभ पीछे की ओर न उलटने पाये क्योंकि इससे श्वास में बाधा उत्पन्न हो सकती है। यदि जीभ पीछे की ओर उलट गयी हो तो उसे सीधा कर दें।

(3) यदि झटके आ रहे हों तो प्रभावित व्यक्ति के हाथ-पैर दबा कर झटकों को ज़बरदस्ती रोकने की कोशिश कदापि न करें। इसमें उसकी हड्डियाँ चटखने अथवा टूटने का ख़तरा रहता है।

(4) जिस समय झटके आ रहे हों, मुँह में पानी न डालें, क्योंकि पानी गले में जाकर श्वास नली को अवरुद्ध कर सकता है। यह घातक भी हो सकता है।

(5) कछ लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि जूता सुँघाने से मिर्गी ठीक हो जाती है परन्तु यह धारणा निराधार है। सच्चाई तो यह कि इससे लाभ के स्थान पर हानि की अधिक आशंका होती है। जूते की तीव्र गंध न सहन कर पाने के कारण व्यक्ति के पुनः बेहोश होने का ख़तरा बना रहता है।

आज भी हमारे देश में, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में मिर्गी को लेकर अनेक भ्रांतियाँ प्रचलित हैं। लोग प्रायः मिर्गी को पूर्वजन्म के बुरे कार्यों का परिणाम मानते हैं। वे पीड़ित व्यक्ति को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। झाड़-फूँक द्वारा अथवा नीम-हकीमों से उसकी चिकित्सा कराने का प्रयास करते हैं लेकिन ये सब व्यर्थ की बातें हैं। उसे किसी अच्छे चिकित्सालय में ले जाना चाहिये। ध्यान रहे कि उपेक्षा से उसकी मानसिकता को आघात पहुँचता है।

ऐसे व्यक्ति जिन्हें मिर्गी के दौरे पड़ते हों उन्हें वाहन चलाने, तैरने, ऊँचाई पर चढ़ने आदि से रोकना चाहिये। ऐसी महिलाओं को खाना बनाते समय रसोई घर में अकेला नहीं छोड़ना चाहिये जिन्हें दौरे पड़ते हो। वरन् उनके स्वास्थ्य तथा स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

यद्यपि मिर्गी का इलाज लम्बे समय तक चलता है, पर यह असाध्य नहीं है। उचित उपचार कराने पर कोई भी व्यक्ति इससे पूर्णतया छुटकारा पा सकता है। हाँ, एक बात ध्यान में रखने की अवश्य है, और वह यह कि अचानक इलाज बन्द नहीं करना चाहिये क्योंकि इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। दौरा न पड़ने की दशा में भी कम से कम चार से पाँच वर्षों तक ओषधि का सेवन अवश्य करना चाहिये।□

उच्च रक्तचाप

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद—211002

मानसिक तनाव, मेण्टल टेण्शन, हाइपरटेण्शन, हाई ब्लडप्रेशर या उच्च रक्त चाप—जो भी नाम दें—इस रोग से पीड़ित लोगों की विश्व में एक बहुत बड़ी संख्या है। भारत में भी इसके रोगियों की संख्या कम नहीं पर अधिकतर लोगों को तो यह मालूम ही नहीं हो पाता कि उन्हें उच्च रक्तचाप की बीमारी है।

रक्तचाप क्या है ?

शरीर के प्रत्येक अंग को ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। यह रक्त से प्राप्त होता है। रक्त हृदय से चलकर शरीर के विभिन्न भागों में धमनियों के माध्यम से जाता है और शिराओं के माध्यम से वापस लौटता है। हृदय के ज़रिए खून के प्रवाह के लिए प्रेशर या दाब बनता है जो हृदय के सिकुड़ने से होता है। इस दाब को रक्तचाप या ब्लडप्रेशर कहते है। उम्र के बढ़ने के साथ-साथ रक्तचाप बढ़ता है और 60-70 वर्ष की वय के बाद तो अवश्य ही बढ़ जाता है। सामान्य रक्तचाप 120-80 है किन्तु इससे थोड़ा कम या थोड़ा अधिक सामान्य ही माना जाता हैं। स्त्री और पुरुष के रक्तचाप में भी अन्तर होता है। परेशान लोगों में, जिनको ज़िन्दगी में तेज़ी होती है, यह रोग अधिक पाया जाता है।

रक्तचाप नापने के लिए जिस यंत्र का इस्तेमाल करते हैं उसे **स्फिग्मोमैनोमीटर** (*Sphygmomanometer*) या **रक्तदाबान्तरमापी** कहते हैं। इसे रोगी की बाँह में एक काली पट्टी की सहायता से बाँध देते हैं और पम्प को दबाते हैं। इस प्रकार मरकरी कालम को देखकर रक्तचाप पता लगा लेते हैं। अब एक नया यंत्र आ गया है जिससे रोगी अपना रक्तचाप स्वयं नाप सकता है।

उच्च रक्तचाप एक आनुवंशिक रोग

यह आनुवंशिक या ख़ानदानी रोग है। प्रायः यह देखा गया है कि जो माता-पिता इस रोग से पीड़ित थे उनकी संतानों को भी आगे चलकर यह रोग हो गया। आस्ट्रेलिया में तो वैज्ञानिकों ने उस जीन को खोज भी लिया है जिसकी उपस्थिति के कारण यह रोग होता है। यह एक ऐसा रोग है जिसका अधिकांश व्यक्तियों में निदान ही नहीं हो पाता। ऐसे लोगों की संख्या लगभग 90% तक है। मात्र 10% लोगों में ही इसका पता चल पाता है और वह भी डॉक्टरी जाँच के बाद। आमतौर से जब रोगी उच्च रक्तचाप नहीं बल्कि और किसी तकलीफ की जाँच के लिए डॉक्टर के पास आता है तभी अचानक उसे इसका भी पता लगता है।

रोग के कारण

इस रोग के कारणों में गुर्दे की बीमारी प्रमुख है। जन्म से ही रक्त की नली के संकरे या छोटे होने से, गुर्दे या किडनी में किसी प्रकार का संक्रमण होने से, गुर्दे में सूजन होने से, शरीर की ग्रन्थियों के तेज़ी से काम करने से, गर्भवती महिलाओं में गर्भ के कारण **कार्टीसोनजन्य** ओषधियों के सेवन से अथवा गर्भ-निरोध के लिए 'पिल्स' या गोलियों के सेवन से भी यह रोग जन्म लेता है। ये कारण तो उन 10% लोगों में पाये जाते हैं जिनकी डॉक्टरी जाँच की जाती है। शेष 90% लोगों में इसका कारण है—मोटापा, धूम्रपान, मधुमेह या डायबेटीज़, गठिया तथा अन्य रोग, व्यायाम न करना और पैदल न चलना।

रोग के लक्षण

इस रोग का कोई विशेष लक्षण नहीं होता। परीक्षण के बाद ही ज्ञात होता है कि किसी व्यक्ति

को रक्तचाप की बीमारी है या नहीं। अधिकतर लोगों में तो यह अचानक ही मालूम पड़ता है जैसे जब 'जीवन बीमा' के लिए डॉक्टरी परीक्षण होता है किसी नौकरी के लिए या किसी दूसरी बीमारी के परीक्षण के समय पता लगता है कि रोगी को रक्त-चाप की बीमारी भी है।

इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं—आँखों के आगे अँधेरा छा जाना, चक्कर आना, दिल का तेज़ी से धड़कना, साँस फूलना, सीने में दर्द रहना, पैर में सूजन आ जाना या घबराहट का होना। अनेक रोगियों को तो इस रोग का पता उस समय चलता है जब वे दिल के दौरे (हार्ट अटैक) या गुर्दे की बीमारी का इलाज कराने जाते हैं। इस कारण यदि आप जानना चाहते हों कि आप इस रोग से पीड़ित है या नहीं तो अपनी जाँच अवश्य कराते रहें, विशेष कर वे लोग जिनकी उम्र 50 वर्ष के ऊपर हो चुकी हो।

क्या क्या जाँच कराना चाहिए ?

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि इसके लक्षणों में सिर में दर्द का होना, जी घबराना, साँस फूलना, दिल का तेज़ धड़कना, सीने में दर्द और पैरों में सूजन का आना है; इस कारण इन लक्षणोंको महसूस करते ही निम्नलिखित जाँच करानी चाहिए—

1. पेशाब की जाँच, 2. खून की जाँच, 3. शक्कर की जाँच, 4. चर्बी की जाँच, 5. हृदय का **इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम** कराना, 6. दिल का एक्स रे कराना और 7. आँख की जाँच कराना। इन जाँचों के दौरान यह ठीक मालूम हो जायेगा कि कौन सा रोग है और रोगी को रक्तचाप की बीमारी है या नहीं।

सावधानियाँ

नियमित रूप से ओषधियों का सेवन, और खान-पान में परहेज बरतने से इस रोग से छुटकारा पाया जा सकता है। यहाँ कुछ सावधानियाँ बताई जा रही हैं जिनका पालन करने से उच्च रक्तचाप का रोगी भी सामान्य जीवन व्यतीत कर सकता है। जैसे—

1. अधिक श्रम न करना, 2. मनोरंजन करना, 3. भोजन में चर्बी और नमक कम कर देना, 4. मुटापा घटाना, 5. व्यायाम करना, 6. तेज़ी से टहलना अथवा धीमे-धीमे दौड़ना, 7. धूम्रपान कम करना, और 8. 20 मिनट से 30 मिनट तक योगा-सन (शवासन) करना या शरीर को पूरी तरह ढीला छोड़ देना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उच्च रक्तचाप घातक या जानलेवा नहीं है। इसका पता लगने पर घबराना नहीं चाहिए। नियमित ओषधि-सेवन, तली चीजें और नमक के परहेज़ और हल्के व्यायाम या सुबह के समय टहलने से सफलतापूर्वक रोग पर नियंत्रण पाया जा सकता है।□

मधु के ओषधीय गुण

नरेश बाली

द्वारा श्री गोहेनदास, बोरीपाड़ा, डाकघर आजरा, गौहाटी—781017 (असम)

मधु का उपयोग अनेक रोगों से मुक्ति दिलाने वाली एक ओषधि के रूप में अति प्राचीन काल से होता रहा है। 1553 ई० पू० के मिस्र के आलेखों में घाव भरने के लिए शहद के उपयोग का उल्लेख मिलता है। मूत्र लाने तथा पेट साफ करने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता था। मेसोपोटामिया और असीरिया में भी इसका उपयोग ओषधि के रूप में होता था।

भारतीय चिकित्सा-शास्त्र में इसका उल्लेख ओषधि के रूप में भी है, संजीवक के रूप में भी। यहाँ प्राचीनकाल में जो टॉनिक बनाये जाते थे वे

मुख्यतः मधु से ही बनते थे। शहद और दूधयुक्त भोजन आयुवर्धक माना जाता था। सुश्रुत-संहिता तथा भावप्रकाश निघंटु में इसे सुकुमारता लाने वाला, हृदय को शक्ति देने वाला, नेत्रों के लिए हितकारी, स्वर को उत्तम बनाने वाला, शरीर के रंग को उत्तम करने वाला, मेधाशक्ति को उत्पन्न करने वाला, वीर्यवर्धक, कुष्ठ, बवासीर,, खाँसी, पित्त, रक्तविकार, कफ, प्रमेह, कृमिरोग, वमन, हिचकी, अतिसार, कब्ज तथा क्षयरोग को नष्ट करने वाला बताया गया है। अष्टांग संग्रह में भी मधु का इसी रूप में उल्लेख है।

यूनान में प्राचीन काल में शहद को प्रकृति की अति बहुमूल्य भेंट माना जाता था। यूनानी दार्शनिक डेमोक्राइटिस प्रतिदिन नियमित रूप से मधु का उपयोग करता था और दूसरों को भी ऐसा करने की सलाह देता था। यूनान के ही विख्यात चिकित्सक हिप्पोक्राइटिस ने अनेक रोगों के उपचार के लिए शहद का प्रयोग किया और सफलता प्राप्त की। हिप्पोक्राइटिस अपने भोजन के साथ नियमित रूप से मधु का सेवन किया करता था और वह 111 वर्ष तक जीवित रहा। भारत में भी अनेक ऋषि-मुनि ऐसे हुए हैं जो भोजन के साथ अथवा अन्य किसी तरह से मधु का प्रतिदिन उपयोग करते थे और फलस्वरूप अनेक वर्षों तक यौवन से भरपूर, सुखी जीवन का आनन्द भोगते रहे।

रोम के चिकित्सक गैलन ने शहद को सर्वरोगहारी ओषधि बताया है। अनेक प्रकार की विषाक्तता में, आँतों के अनेक कष्टों में और विशेष रूप से गैंग्रीनस स्टेमोमैटाइटिस में मधु के उपयोग का परामर्श दिया है।

प्राचीन अरबी चिकित्सक भी मधु का प्रर्याप्त मात्रा में प्रयोग करते थे। मध्यकाल के चिकित्सा-विज्ञान के एक अधिकारी विद्वान इब्नेसिना ने अपनी पुस्तक 'अल-कानून' में अनेक ऐसे नुस्खे दिये हैं जिनमें शहद और मधुमक्खी के छत्ते की मोम भी एक योगज के रूप में है। इब्नेसिना ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि जब नाक बह रही हो तो मधु का उपयोग करना चाहिए। शहद पाचन में सहायक होता है, वायु का नाश करता है, भूख बढ़ाता है, स्मरणशक्ति तथा कार्य-क्षमता में वृद्धि करता है, वाणी स्पष्ट करता है। इब्नेसिना की मान्यता थी कि शहद में सोखने की शक्ति है। अतः बिना पानी मिलाये शहद और आटे की पुल्टिस का उपयोग वह घावों की चिकित्सा में करता था। यह पुल्टिस घाव पर रख दी जाती थी और हर बारह घंटे बाद तब तक बदला जाता रहता था जब तक कि स्वस्थ ऊतक न आ जायें।

शहद मधुमक्खियों द्वारा चूस कर इकट्ठा तथा जमा किया गया फूलों का रस है जोकि एक प्राकृतिक खाद्य है। इसका निर्माण पूरी तरह से मात्र मधु-मक्खियों द्वारा ही किया जाता है। इसको बनाने का अन्य कोई साधन नहीं है। मधु की अनेक किस्में होती है जिनका स्वाद तथा सौरभ अलग-अलग होता है। मधु किस क़िस्म की मधुमक्खियों से तथा किन पुष्पों से बनाया गया है इस आधार पर आयुर्वेद ने शहद को आठ प्रकार का बताया है। उदाहरणतः काश्मीर मे प्रचुर मात्रा में पाया जाने वाला लिली अथवा कमल के फूलों से निर्मित मधु अत्यधिक बलवर्धक, पौष्टिक तथा मधुर होता है। जबकि राजस्थान, कच्छ या अन्य शुष्क प्रदेशों में जंगली फूलों से प्राप्त होने वाली शहद ठीक इसके विपरीत कम क्षमता वाला होता है तथा अधिक मीठा भी नहीं होता। स्वास्थ्य-वर्द्धन की दृष्टि से मधु का उपयोग करने वालों को इन महत्वपूर्ण बातों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

मधु के पौष्टिक तथा रोगहारी गुण धूप, वर्षा, मिट्टी में पाये जाने वाले खनिज पदार्थों, फूल वाले पौधे अथवा पेड़ साधारण रूप से उगाये गये हैं या इनकी वृद्धि के लिए रासायनिक खादों का प्रयोग किया गया है जैसी अनेक बातों पर निर्भर करते हैं। वैसे आमतौर पर मधुमक्खियाँ बिना रासायनिक खाद के उर्वर भूमि में लगे पौधों के फूलों के रस का ही प्रयोग मधु-निर्माण में करती हैं।

शहद में अस्सी ऐसे पदार्थ हैं जो मानव-शरीर के

लिए महत्वपूर्ण हैं। इनमें सबसे प्रमुख दो शर्कराएँ हैं— एक तो है ग्लूकोज़ और दूसरी फ्रक्टोज़। ये दोनों ऐसी शर्कराएँ हैं जिन्हें हमारा शरीर बड़ी सरलता से आत्मसात कर लेता है। गन्ने और चुकन्दर की शर्कराएँ ऐसी शर्कराएँ हैं जो आँतों में खंडित होने के बाद रक्त में मिलती हैं। शर्करा के इस प्रकार खंडित होने पर इसके ग्लूकोज़ तथा फ्रक्टोज निर्वाहिका शिरा द्वारा शोषित कर लिए जाते हैं। इसके द्वारा ये शर्कराएँ यकृत में पहुँचती हैं और वहाँ संचित रहती हैं। जब कभी रक्त का शर्करा-स्तर गिर जाता है तब यकृत अपने इस संचित कोष से इसे पुनः रक्त में भेज देता है। पर, ग्लूकोज़ और फ्रक्टोज़ आँतों से बिना किसी परिवर्तन के सीधे रक्तधारा में पहुँच जाती हैं। इसीलिए ग्लूकोज़ को सुई द्वारा सीधे रक्त में चढ़ाया जाता है।

मानव को जितनी शक्ति की आवश्यकता होती है उसका आधे से अधिक भाग वह अपने भोजन के शर्करायुक्त तत्वों से प्राप्त करता है। शर्करा काफी हद तक थकान समाप्त कर देती है। इस दृष्टि से मधु बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि यह लगभग पूर्ण रूप से विशुद्ध ग्लूकोज़ और फ्रक्टोज़ है। शहद किसी भी कार्य में व्यय की गयी ऊर्जा की पूर्ति अन्य किसी भी खाद्य की अपेक्षा अधिक तेज़ी से करता है। इसीलिए बहुत से खिलाड़ी खेल के मैदान में जाने से पूर्व अथवा खेल के मध्यकाल में अपनी खर्च की गयी शक्ति को पुनः अर्जित करने के लिए शहद का सेवन करते हैं। पर्वतारोहियों तथा दुर्गम स्थानों पर जाने वाले अभियान दलों के सदस्यों को अपने भोजन में शहद भी सम्मिलित करने की सलाह दी जाती है। पहली बार ऐवरेस्ट-विजय प्राप्त करने वाले एडमण्ड हिलेरी एक मधुमक्खी पालक थे तथा तेनज़िंग नोरके अन्य सभी शेरपाओं की भाँति शहद का सेवन करते थे। महान् पहलवान गामा शहद का सेवन दूध तथा मिठाइयों में काफी मात्रा में करते थे। एक चम्मच शहद को छोड़ अन्य कोई भी ऐसा टॉनिक या ओषधि नहीं है जो बिना किसी पार्श्व-प्रभाव के केवल दस मिनटों में भरपूर ऊर्जा प्रदान करती हो। एक किलोग्राम शहद से 3150-3350 कैलोरी ऊर्जा प्राप्त होती है जबकि एक लीटर गाय के दूध से 620 कैलोरी, एक लीटर स्किम्ड दूध से 310 कैलोरी, एक किलो सेब से 400 कैलोरी, एक किलो नारंगी से 230 कैलोरी तथा एक किलो सलाद से 140 कैलोरी ही मिल पाती है। एक पाउण्ड मधु में उपलब्ध कैलोरियाँ 30 अण्डों, या 6 पिण्ट दूध, या 20 पाउण्ड गाजरों में उपलब्ध कैलोरियों के बराबर है। आमतौर पर शहद की चीनी के साथ तुलना करने की कोशिश की जाती है। पर चीनी से जहाँ मात्र उष्मा प्राप्त होती है शहद से अन्य पोषक तत्व भी भरपूर मात्रा में मिलते हैं।

शहद में शर्कराओं के साथ-साथ अनेक प्रकार के एंज़ाइम भी पाये जाते हैं जैसे कि डायस्टेसी, इनवर्टेसी, सैकरेसी, कैटेलेसी, पेरोक्लाइडेसी तथा लाइपेसी एंज़ाइमों की आवश्यकता कोशिकाओं, ऊतकों तथा अंगों को पड़ती है। यदि एंज़ाइमों का अभाव हो जाये तो जीवन निःशेषण से समाप्त हो जायेगा। बिना एंज़ाइम के जीवित प्राणी का दम विशुद्ध ऑक्सीजन में भी उसी प्रकार घुट जायेगा जैसे कि वायुहीन आकाश में घुटता।

शहद में एंज़ाइम-तत्व अन्य खाद्य पदार्थों से कहीं अधिक है। डायस्टेसी एंज़ाइम स्टार्च तथा डेक्सट्रिन को शर्करा में परिवर्तित करता है। सैकरेसी गन्ने अथवा चुकन्दर की शर्करा को ग्लूकोज़ और फ्रक्टोज़ में परिवर्तित करता है। कैटेलेसी, पेरोक्साइडों को सड़ाता है। कुछ विद्वान मधु की विशेषता का कारण इसमें उपलब्ध एंज़ाइम मानते हैं।

मधु से खनिज लवण भी उपलब्ध होते हैं जैसे कैल्शियम, सोडियम, पोटैशियम, क्लोरीन, मैग्नीशियम, लौह, फॉस्फ़ोरस, गन्धक तथा अयोडीन। मधु के कुछ नमूनों में रेडियम भी मिला है। जाँच किये गये अनेक नमूनों में इनमें से बहुत से लवण लगभग उसी मात्रा में पाये गये जिसमें ये मानव-रक्त में मिलते हैं। शहद के कुछ रूपों का मास्को-विश्वविद्यालय में स्पैक्ट्रम विश्लेषण किया गया तो इनमें एल्यूमीनियम, बोरोन,

क्रोमियम, ताँबा, लेड, जस्ता, लीथियम, मैंगनीज़, निकेल, ओसमियम, सिलिकन, टिन तथा टिटैनियम खनिज भी मिले। शहद में खनिज-लवण स्त्री-दुग्ध अथवा गाय के दूध की तुलना में कहीं अधिक पाये जाते हैं।

मानव-शरीर में खनिज-लवणों का बड़ा महत्व है। प्रयोग से सिद्ध किया जा चुका है कि पशुओं को जब अपेक्षित खनिज-लवणों से रहित भोजन लगातार दिया जाता है तो वे मर जाते हैं चाहे भोजन प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा तथा विटामिनों की दृष्टि से पूर्ण ही क्यों न हो। एंज़ाइमों, विटामिनों तथा हार्मोनों से होने वाली खनिज लवणों की आंतरिक क्रिया नाड़ी-मंडल, ऊतकों, रक्त-संचालन आदि को प्रभावित करती है।

खनिज लवणों के अतिरिक्त शहद में कुछ कार्बनिक अम्ल (मैलिक अम्ल, साइट्रिक अम्ल, टार्टरिक अम्ल, ऑक्ज़ैलिक अम्ल), विटामिन, प्रोटीन, ऐसेटिल कोलाइन, प्रतिजैविक पदार्थ (एंटीबायोटिक), हार्मोन तथा अन्य पोषक पदार्थ भी पाये जाते हैं।

विटामिन भोजन का एक अत्यावश्यक संघटक मात्र नहीं है। इनमें ओषधीय गुण भी हैं। इन्हीं से बेरी-बेरी, स्कर्वी, रिकेट, हेमेरालोपिया तथा पैलेगरा आदि रोगों पर विजय सम्भव हो पायी है। मधु में विटामिन बी$_1$, बी$_2$, बी$_3$, बी$_5$, बी$_6$ सी, ई, के और कैरोटीन पाये जाते हैं। एक किलो शहद में विटामिन बी$_1$ (एन्यूराइन) 0·1 मिग्रा० तक, बी$_2$ (रिबोफ्लेविन) 1·5 मिग्रा० तक, बी$_3$ (पैंटोथेनिक अम्ल) 2 मिग्रा० तक, बी$_5$ (निकोटिनिक अम्ल) 1 मिग्रा० तक, बी$_6$ (पायरीडॉक्सिन) 5 मिग्रा० तक, विटामिन सी (एस्कॉर्बिक अम्ल) 30-54 मिग्रा० तक विद्यमान होता है। कैरोटीन अन्धत्व रोकने में सहायक है।

यही नहीं, मधु में ओषधीय गुण भी हैं। अनेक रोगों में मधु दवा का कार्य करता है। एक चम्मच ताज़ा शहद तथा आधे नींबू के रस को एक गिलास गुनगुने पानी में लेकर अच्छी तरह मिलाकर सुबह-सबेरे खाली पेट लेने से कब्ज़ की शिकायत जाती रहती है, अम्लता की भी यह एक अत्युत्तम ओषधि है। लेकिन इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि इसके कम से कम एक घण्टे बाद तक और कोई भी चीज़ खायी-पी न जाये। नींबू के साथ शहद का इसी तरह से लगातार कुछ महीनों तक उपयोग मोटापे तथा जलोदर के रोगियों को भी लाभ प्रदान करता है। इसके लिए रोगी को शहद-नींबू-रस दिन में तीन बार लेना चाहिए—सुबह, शाम और फिर रात को सोते समय। इस योग में नये शहद के स्थान पर एक वर्ष पुराने मधु का उपयोग अधिक प्रभावी सिद्ध होगा। कारण, नया तथा ताज़ा मधु शरीर को मोटा करता है, वजन बढ़ाता है तथा एक वर्ष तक पुराना शहद बहुत हल्का तथा सरलतापूर्वक पचने योग्य हो जाता है। नींबू-रस-शहद के इस संयोजन को चेहरे, माथे, आँखों के नीचे तथा गालों पर मल, रगड़ कर धोने से मुखमण्डल की त्वचा साफ, चिकनी, चमकदार तथा कांतिमय होती है।

दो छोटे चम्मच-भर मधु का आधे नींबू के रस के साथ, अथवा गुनगुने पानी के एक गिलास में एक बड़े चम्मच मधु का एक चम्मच अदरक के रस के साथ, या मधु तीस ग्राम का दो छोटे चम्मच अदरक के रस के साथ दिन में तीन-चार बार उपयोग नज़ला-जुकाम में अति लाभदायक सिद्ध होता है। शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी तरह की थकान में दो चम्मच शुद्ध मधु एक गिलास गुनगुने पानी में अच्छी तरह मिलाकर पीने से आशातीत लाभ होता है।

चिकित्सा-विज्ञान के साहित्य से ज्ञात होता है कि शहद पाचन तथा पाचन-प्रणाली पर बहुत लाभ करता है। भोजन करने के बाद खायी गयी चीज़ पेट में दो-तीन घण्टे तक तो रहती ही है। इस अवधि में इस पर पाचक-रस क्रियारत रहते हैं। अनेक चिकित्सकों का कहना है कि मधु यदि अन्य पदार्थों के साथ लिया जाये तो यह पेट की अम्लता घटाता है।

गैस्ट्राइटिस, आमाशय व्रण (गैस्ट्रिक अल्सर), अम्लपित्त (हाइपर एसिडिटी) जैसे पाचन-प्रणाली के

अनेक दोषों तथा रोगों में शहद का उपयोग लाभदायक परिणामों सहित किया जा सकता है। सन् 1924 में सोवियत रूस के एक चिकित्सक डॉ० वी० पी० ग्रीगोरीव के हाइपर-एसिडिटी से पीड़ित एक रोगी का इलाज मात्र शहद था और इसी से वह एकदम भला-चंगा हो गया। सोवियत रूस में ही 1944-1949 के बीच पेट के अल्सर से ग्रस्त 600 रोगियों की चिकित्सा इर्कुटस्क मेडिकल इन्स्टीट्यूट में शहद द्वारा की गयी थी। सन् 1953 में डॉ० एम० एल० खोटकिना ने अम्लपत्ति से पीड़ित कुछ रोगियों का विवरण प्रकाशित किया था। साधारण भोजन और दवाओं से इनमें से 61% रोगी अच्छे हुए, पर 18% को दर्द बना रहा। जब इन्हें मधु दिया गया तो 79·7-84·2 प्रतिशत तक रोगी अच्छे हो गये। मात्र 5·9 प्रतिशत ने उपचारोपरान्त दर्द की शिकायत की। रूस स्थित ओस्ट्रमोव चिकित्सालय के डॉ० मुलर तथा डॉ० आरवीयोंवा ने अल्सर के 155 रोगियों पर मधु के प्रभाव का अध्ययन किया। इन्होंने पाया कि शहद देने से रोगियों में अम्लपित्त तथा पाचक रसों का स्रवण सामान्य हो गया और पेट की जलन इत्यादि समाप्त हो गयी। अल्सर में शहद के प्रयोग से दोहरा लाभ होता है। एक तो यह कि, शहद आमाशय की श्लेष्मा झिल्लियों के घावों को भरने में सहायता देता है और दूसरे यह पूरे शरीर को स्वस्थ बनाता है मुख्यत: नाड़ी-मंडल को जोकि आमाशय-व्रण में कारण रूप होता है।

अल्सर के उपचार के लिए शहद भोजन से डेढ़ से लेकर दो घंटे पूर्व लेना चाहिए अथवा भोजन के तीन घंटे बाद। अच्छा हो कि, नाश्ते से डेढ़ घंटा पहले शहद लिया जाये और शाम के भोजन के तीन घंटे के बाद। शहद को उबले गुनगुने पानी में मिला कर लेना चाहिए। ऐसे लेने से यह पेट के श्लेष्मा को घोलता है तथा अम्लता कम करता है। आँतों में प्रदाह उत्पन्न किये बिना यह सरलतापूर्वक हजम हो जाता है। यदि ठंडे पानी में घोल कर शहद लिया जाये तो अम्लता बढ़ेगी, पेट में भोजन देर से हजम होगा। यदि भोजन से ठीक पहले शहद लिया जाये तो पाचक रसों का स्रवण बढ़ जाता है।

यकृत को शरीर की रासायनिक प्रयोगशाला कहा जाता है। श्वेतसार, प्रोटीन, वसा, विटामिन आदि को रूपान्तरित करने का काम यकृत ही करता है। यहीं एंजाइम बनते हैं तथा कैरोटीन विटामिन 'ए' में परिवर्तित होता है; अन्त:स्रावी ग्रन्थियों द्वारा उत्पादित हार्मोन का रूपान्तरण भी यहीं होता है; रक्त को जमाने वाला पदार्थ प्रोथोम्बिन भी यकृत में ही निर्मित होता है।

यकृत के उपचार में शहद का प्रयोग अति प्राचीन काल से होता आया है। अपने रासायनिक योगजों के कारण इसका यकृत पर हितकारी प्रभाव पड़ता है विशेषकर ग्लूकोज़ अधिक मात्रा में होने से। ग्लूकोज़ यकृत की कोशिकाओं को पोषण ही प्रदान नहीं करता, इसमें ग्लाइकोजन के संचित कोष में वृद्धि करता है तथा नये ऊतकों के निर्माण की क्रिया को बल प्रदान करता है। यकृत फिल्टर का काम भी करता है। यह रोगाणु-विष को अप्रभावी बनाता है। इस क्रिया में भी ग्लाइकोजन सहायक होता है। इस प्रकार शहद रोगों से संघर्ष करने की शक्ति भी बढ़ाता है।

यद्यपि इस बात के अनेक उदाहरण मौजूद हैं कि मधु यक्ष्मा का बड़ा अच्छा उपचार है पर शहद में उपलब्ध ऐसा कोई पदार्थ नहीं बताया जा सकता जिसके फलस्वरूप व्यक्ति यक्ष्मा से अच्छा होता है। इस सम्बन्ध में मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि शहद एक पौष्टिक पदार्थ है और इस तरह यह शरीर के रोगों से संघर्ष करने की शक्ति प्रदान करता है। कीव स्थित अपने क्लीनिक में प्रो० एफ० ए० उदिन्तसेव ने यक्ष्मा-पीड़ित अनेक रोगियों का शहद से इलाज किया। इन रोगियों को प्रतिदिन 100-150 ग्राम तक मधु दिया गया। इसके फलस्वरूप इनमें बड़े लाभ देखे गये। इन्हें अनुभव होने लगा कि वे अच्छे हो रहे हैं, उनकी भूख बढ़ गयी है और इनका वजन बढ़ने लगा है। इनका हीमोग्लोबीन भी बढ़ गया।

तपेदिक का मधु-युक्त एक बहुत बढ़िया नुस्खा

इस प्रकार है—शुद्ध मधु आधा किलो, तवाशीर दो सौ ग्राम, दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात प्रत्येक बारह ग्राम। इन सबको कूट-पीस कर खूब बारीक करके मधु में मिलाकर रक्खें। 4-15 ग्राम तक तथा शोचनीय अवस्था में तीस ग्राम तक प्रातः काल दूध के साथ सेवन करना चाहिए। तपेदिक के लिए यह एक उत्तम आयुर्वेदिक नुस्खा है।

शहद हृदय के लिए भी कम लाभकारी नहीं है। इससे हृदय को मात्र उत्तेजना ही नहीं पोषण भी मिलता है। अपने शक्ति-संवर्द्धन के लिए हृदय की मांसपेशियों को ग्लूकोज़ की आवश्यकता होती है, शहद में उपलब्ध ग्लूकोज़ बड़ी सरलता से शरीर में आत्मसात हो जाता है। यह देखा गया है कि हृदय की दुर्बल हो गयी मांसपेशी पर मधु बहुत लाभ करता है। मधुमेह के रोगी भी मधु ले सकते हैं क्योंकि शरीर में इसके पहुँचने से हृदय की क्षमता में वृद्धि हो जाती है। 50-140 ग्राम तक (औसतन 70 ग्राम) शहद महीने दो महीने लेने से रोगी आराम महसूस करने लगता है, हृदय की मांसपेशियाँ स्वस्थ हो जाती हैं। शहद की शर्करा अन्य शर्कराओं के विपरीत रक्त-शर्करा को बढ़ाती नहीं है। मधु शरीर में कोलेस्ट्रोल को घटाता है तथा धमनियों को सँकरा होने से रोकता है।

दूध अथवा जल में मिलाकर लेने या वैसे ही लेने से शहद फेफड़ों के रोगों में भी फायदेमंद है। दमा से पीड़ित रोगियों को यह शांति प्रदान करता है। अतिसार (Dysentry), प्रवाहिका (Diarrhoea), टायफायड तथा पीलिया की चिकित्सा में लाभदायक होने के अतिरिक्त यह रक्तस्राव (Haemorrhage) को रोकता है; गठिया और जोड़ों की सूजन के रोगियों को आराम पहुँचाता है। साथ ही शहद गंजेपन को रोकता है, आतशक में लाभ करता है।

रोगियों को शहद का सेवन कराने से वे शीघ्र ही रोगमुक्त होकर शरीर में बल का अनुभव करते हैं कारण, शहद एक अत्यन्त शक्तिशाली टॉनिक है। शहद लेने वालों का वजन बढ़ता है, खून साफ होता है और रोगी शीघ्र ही शांत, स्वस्थ, प्रसन्नचित्त होते हैं।

20 ग्राम त्रिफला चूर्ण दो गिलास पानी में ले कर उबालने पर जब यह एक गिलास रह जाये तो इसमें दो चम्मच शहद अच्छी तरह मिलाकर इसके गरारे करना टॉन्सिल, ग्रसनी की जलन, गले की सूजन इत्यादि कण्ठ-रोगों में आश्चर्यजनक लाभ करता है। तीस ग्राम मधु कप-भर पानी में घोल कर गरारे करने से गले की सूजन, घाव और आवाज़ बैठने में लाभदायक है। आधे सिर के दर्द के समय दूसरी ओर के नथुने में एक बूंद मधु डाल देने से शीघ्र ही आराम मिलता है। सोते समय आँखों में शुद्ध मधु की तीन-तीन सलाइयाँ डालने से रात्रि के समय कम दिखायी देने का कष्ट कुछ ही दिनों में जाता रहता है। बच्चे को हिचकी बहुत आ रही हो और स्वयं बन्द न हो तो थोड़ा सा शहद चटा देने से ठीक हो जाती है। बदहजमी में बच्चों को मधु चटायें।

दही अथवा फलों के साथ तो शहद और भी फायदेमंद है। मधु को दीर्घायु प्रदान करने वाला भी बताया गया है। सोवियत रूस में 110-150 वर्ष तक के दो सौ व्यक्तियों का अध्ययन करने पर पाया गया कि इनमें से लगभग सभी मधुमक्खी-पालक थे और इन्होंने अपने जीवन में शहद का एक अच्छी मात्रा में उपभोग किया था।□

मनुष्यों में फफूँदीजनित रोग एवं उनका उपचार

डॉ० आर० सी० श्रीवास्तव[1] एवं डॉ० एम० पी० श्रीवास्तव[2]

बहुत से फफूँदी मनुष्यों तथा अन्य जीवों में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। इन फफूंदी-जनित

1. भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण, इलाहाबाद—2

2. सी० जी० एच० एस० अस्पताल संख्या—4, बैंक रोड, इलाहाबाद—2

रोगों को 'कवक रूजा' (**माइकोसिस**) कहते हैं।

मनुष्यों में दो प्रकार के कवक-जनित रोग पाए जाते हैं। **सिस्टेमिक माइकोसिस** या शरीर के अन्दरूनी भागों के रोग, जिनमें फफूंद शरीर के आन्तरिक अंगों जैसे फेफड़ा, तिल्ली, यकृत, आँख, कान आदि में प्रवेश कर वहाँ से धीरे-धीरे अन्य अंगों पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है। इस श्रेणी के रोगों में रोगाणु प्रमुखतया श्वाँस नली के माध्यम से ही शरीर में प्रवेश करते हैं तथा प्रायः प्राणघातक सिद्ध होते हैं।

दूसरे प्रकार के कवक जनित रोगों को **त्वचीय कवक रूजा** (**डरमैटोमाइकोसिस**) कहते हैं। इसमें फफूंद-जनित रोग मात्र त्वचा, बाल, नाखून इत्यादि तक ही सीमित रह जाता है। इन्हें साधारणतया **रिंग वर्म** या **दाद खाज** के रूप में संबोधित किया जाता है। वैसे तो इन रोगों का निदान अत्यन्त कठिन है परन्तु ये प्राणघातक नहीं होते। इन रोगों में, फफूंद रोगी व्यक्ति से स्वस्थ मनुष्य में स्पर्श द्वारा ही पहुँचता है।

घातक फफूँदी जनित रोगों में प्रमुख हैं—**एस्परजिलोसिस**, **ब्लास्टोमाइकोसिस**, **क्रोमोब्लास्टोमाइकोसिस**, **काक्सीडियोमाइकोसिस**, **क्रिप्टोकोकोसिस**, **हिस्टोप्लाज्मोसिस** एवं **मोनिलिएसिस**।

इनमें सबसे भयानक है, **एस्परजिलोसिस** क्योंकि इसके लक्षण और यहाँ तक एक्स-रे द्वारा जाँच के परिणाम भी **पलमोनरीट्यूबरकुलोसिस** (क्षयरोग) से इतना मिलते हैं कि जब तक वास्तविक रोग के कारक का पता चलता है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। कभी-कभी फेफड़े के ऊपरी भाग में गड्ढे बन जाते हैं जिनमें फफूंद के धागों (**माइसीलियम**) का गेंदनुमा गुच्छा पाया जाता है। लगातार खाँसी, कफ एवं कभी-कभी खून भी आ जाना इसके प्रमुख लक्षणों में है। जैसा कि नाम से ही विदित है कि यह रोग **एस्परजिलस** नामक फफूँद की विभिन्न प्रजातियों (**ए० फ्यूमिगेटस** एवं **ए० ग्लाका** आदि) द्वारा उत्पन्न होता है।

कभी-कभी इस फफूँदी द्वारा **साइनुसाइटिस** नामक रोग भी होता है। इसके साथ ही कान पर इसकी दो प्रजातियों (**ए० नाइगर** एवं **ए० फ्यूमीगेटस**) का आक्रमण होता है, जिससे कर्ण-नालिका अवरुद्ध हो जाती है तथा सुनने में दिक्कत होती है। कभी-कभी फफूँदी के कुछ धागे कान के पर्दे तथा मध्य कर्ण तक भी पहुँच जाते हैं।

यूं तो इस रोग का निदान **एम्फोटोरीसिन बी** के इन्ट्रॉवेनस प्रयोग से (अकेले या **फ्लूसिटोसिन** के साथ) सम्भव है, परन्तु उन मामलों में जहाँ फेफड़े में गड्ढे बन जाते हैं और उनमें फफूँद की गेंदनुमा रचना प्राप्त होती है, शल्य क्रिया ही एकमात्र उपचार है।

कवकजनित रोगों का दूसरा उदाहरण है—**ब्लास्टोमाइसीज डरटिमेटिडिस** नामक फफूँद द्वारा पैदा होने वाला रोग 'ब्लेस्टोमाइकोसिस'। यह रोग भी क्षय रोग से मिलता-जुलता है। इसमें पहले तो सीने में दर्द, खाँसी तथा कमजोरी आदि लगती है जो बाद में क्षयरोग के स्थाई लक्षणों का रूप ले लेती है तथा जगह-जगह चकत्ते (लेसन) पड़ जाते हैं। प्रमुखतया यह रोग 30-50 वर्ष के पुरुष वर्ग में होता है। यह रोग प्रायः प्राणघातक सिद्ध होता है। पहले इस रोग के उपचार के लिए 2-हाइड्रोक्सीस्टिलबैमिडिन नामक ओषधि का प्रयोग होता था, परन्तु यह कम प्रभावशाली सिद्ध हुई। आजकल **एम्फोटेरिसिन-बी** की सुई नसों में 7-10 सप्ताह तक लगाने से उपचार संभव है।

तीसरा प्रमुख फफूँदीजनित रोग **क्रोमोब्लास्टोमाइकोसिस** का प्रारम्भ पैरों में सबसे नीचे एक जलीय उपरिवृद्धि (वाटरी आउटग्रोथ) के रूप में प्रारम्भ होता है तथा शनैः शनैः ऊपर की तरफ बढ़ता जाता है। बाद में यह उपरिवृद्धि एक फूलगोभी की तरह लगते हैं। इसका कारक **फिएलोफोरा वेरुकोसा** नामक फफूँद होता है। इस रोग का यूँ तो कोई निश्चित औषधीय उपचार नहीं है, परन्तु शल्यक्रिया तथा एम्प्यूटेशन द्वारा लाभ होता है।

वैलीफीवर नाम से प्रख्यात तथा प्राणघातक एक अन्य फफूँदी-जनित रोग है—**काक्सीडिओ माइकोसिस** जो **काक्सीडिओडिस इमिटस** नामक फफूँद द्वारा उत्पन्न होती है। यह रोग अधिकतर निमोनिया, क्षयरोग,

फ्लूरिसी, चेचक, सुजाक तथा मियादी बुखार (टायफाइड) रोगों जैसे मिश्रित लक्षण प्रकट करता है, जिसके कारण सही निदान करना संभव नहीं होता है। इसमें भी **एम्फोटेरिसिन-बी** (0·5-0·7 मि० ग्राम/प्रति कि० भार के हिसाब से प्रतिदिन) या **मिकोनाजोल का इन्जेक्शन नसों** में देने से लाभ होता है।

क्रिप्टोकोकस नियोफार्मन्स नामक फफूँदजनित रोग क्रिप्टोकोकोसिस में भयंकर सिर दर्द के साथ गले में अकड़न आ जाती है, जो बाद में **मेनिनजाइटिस** का रूप ले लेता है। गम्भीर अवस्था में उल्टी आना, आँख में धुँधलापन या वास्तविक अंधापन, या पक्षाघात की स्थिति आ सकती है, जो बाद में अचेतावस्था या 'कोमा' की स्थिति में पहुँचता है तथा साँस रुक जाती है।

इस रोग में **फ्लूसिटोसिन** (150 मि० ग्रा० प्रति कि०/प्रतिदिन की खुराक में) या शिराओं में **एम्फेटेरिसिन-बी** (0·3 मि० ग्रा० प्रति कि० प्रतिदिन) के उपयोग से लाभ होता है। इसका कारक **हिस्टोप्लाज्मा कैपसुलेटम** नामक फफूँद है जिससे यकृत, झिल्ली आदि आन्तरिक अंगों में सूजन आ जाती है। साधारणतया बुखार तो रहता ही है। इसे **हिस्टोप्लाज्मोसिस** कहते हैं। इस रोग के उपचार में भी एम्फोटेरिसिन-बी (0·4-0·6 मि० ग्रा०/प्रति कि० प्रतिदिन 10 से 12 सप्ताह तक) ही उपयोगी है।

साधारणतया रोटी या गोबर आदि पर उगने वाले फफूँद **राइजोपस** व **म्यूकर, म्यूकरोमाइकोसिस** रोग उत्पन्न करता है। इसके प्रमुख लक्षण हैं—हल्का ज्वर, नाक में जकड़न, नाक से पतला खून मिश्रित द्रव का निकलना, दोहरा दिखना इत्यादि। जब फफूँद आँख को जाने वाली धमनियों को प्रभावित करता है तो रोगी की आँखों की ज्योति भी जाती रहती है। इससे रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। इसमें **एम्फोटेरिसिन-बी** का 12 सप्ताह तक उपयोग लाभदायक है।

त्वचा, बाल एवं नाखून के रोगों का कारक तीन फफूँदों की जातियाँ **ट्राइकोफाइटान, माइक्रोस्पोरियम** तथा **इपीडरमेटोफाइटान** होती हैं।

त्वचीय **दाद-खाज** तथा पैरों के **गहुए** आदि के रोग में **मिकोनाजोल** एवं **क्लोट्रिमाजोल** ओषधियों के क्रीम, **अनेडसिलेनिक अम्ल, हेलोप्रोगिन, टोल्नाफ्टेट** आदि ओषधियों को प्रभावित स्थान पर लगाया जाता है। बालों के रोग में और त्वचा-रोग के गम्भीर मामलों में **ग्रीसियोफल्विन** लाभकारी पाया गया है। ☐

सेब खायें, स्वस्थ रहें

कु० किरन द्विवेदी
जे० टी० कॉलेज, इलाहाबाद

सेब के हरे, पीले, सुनहरे या लाल फलों को देखकर भला किसके मुँह में पानी नहीं आ जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही आदमी में सेब के प्रति आकर्षण बना हुआ है। 'गार्डेन ऑव ईडेन' के नाम से विख्यात स्वर्गीय उद्यान में ईव ने आदम को सेब द्वारा ही ललचाया था।

सेब का वानस्पतिक नाम **पाइरस मैलस** (Pyrus malus) है और यह गुलाब वाले कुल यानी **रोजेसी** (Rosaceae) कुल का वृक्ष है। 40 फीट ऊँचे बहुवर्षी सेब के वृक्षों में 100 वर्षों तक फल देने की क्षमता होती है। सफेद या गुलाबी पुष्पों से आच्छादित सेब के वृक्षों की छटा देखते ही बनती है। इसके पुष्पों की ओर कीट, विशेष रूप से मधुमक्खियाँ आकर्षित होती हैं और इन्हीं से फूलों का परागण भी होता है। सेब का फल 'पोम' या 'झूठा फल' कहलाता है क्योंकि खाने वाला भाग पुष्प के फूले हुये डंठल का ऊपरी भाग होता है।

सेब के पके फलों में मण्ड और अम्ल की अपेक्षा शर्करा अधिक होती है। पके फलों के स्वाद और गंध का क्या कहना ! प्रत्येक किस्म में अपनी अलग-

सरकार एवं भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण विभाग के योगदान पर प्रकाश डाला। उन्होंने वनस्पतियों के संरक्षण पर विशेष बल दिया क्योंकि उन्हीं पर मनुष्यों सहित यह सम्पूर्ण प्राणिजगत् निर्भर है। प्रत्येक लुप्त होती वनस्पति के साथ अन्य जीवों की 10 प्रजातियाँ भी सदैव के लिए लुप्त हो जाती हैं। उन्होंने यह भी बताया कि भारत में समय रहते पर्यावरण के प्रति जागरूकता आ गई है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी (प्रधान मंत्री) के देख-रेख में एक अलग पर्यावरण विभाग का गठन भी किया गया है। कई राज्य सरकारों ने भी पर्यावरण विभाग गठित कर दिए हैं तथा पर्यावरण संबंधी शोधों को निरतर प्राथमिकता दी जा रही है।

मुख्य अतिथि डॉ० शिवगोपाल मिश्र (प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद्, प्रयाग) ने अपने विद्वतापूर्ण एवं सारगर्भित भाषण में इस बात पर ज़ोर दिया कि हमें पर्यावरण के प्रति आशावादी होना चाहिए तथा अपना कर्तव्य इमानदारी से करना चाहिए। उन्होंने स्वच्छ वातावरण की आवश्यकता पर विशेष बल दिया और स्वच्छ वातावरण तथा अच्छे स्वास्थ्य को एक दूसरे का पर्यायवाची बाताया। डॉ० मिश्र ने प्रदूषण निवारण, वृक्षारोपण और वन-संरक्षण की महत्ता पर प्रकाश डालते हुये पर्यावरण संबंधी शिक्षा की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया। उन्होंने आगे कहा कि यदि मनुष्य ने प्रकृति का संतुलन बिगाड़ा है तो वह उसे ठीक करने की भी क्षमता रखता है।

भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण के अधिकारी, डॉ० जगदीश लाल ने इस संबंध में ठोस कार्य करने पर बल दिया। उन्होंने बताया कि हमें लोगों को कम से कम इस बात की शिक्षा अवश्य देनी चाहिए कि जनस्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाले पौधों को हम उखाड़ फेंके। उन्होंने आगे बताया कि इलाहाबाद में भड़भाड़ या **आर्जिमोन मेक्सिकाना** और **पार्थेनियम** को जल्दी से जल्दी नष्ट कर देना चाहिए क्योंकि ये दोनों पौधे हानिकारक सिद्ध हो चुके हैं।

एक दूसरे अधिकारी श्री ए० के० दत्त ने अपना विद्वतापूर्ण भाषण अंग्रेज़ी में दिया और प्रदूषण निवारण तथा वन-संरक्षण पर ज़ोर दिया। इनके अतिरिक्त श्री ए० के० त्रिपाठी, श्री एस० बहादुर, श्री एस० के० दीक्षित और श्री छब्बन ने अपने-अपने ढंग से पर्यावरण प्रदूषण और वन-संरक्षण की महत्ता पर प्रकाश डाला। इस अवसर पर श्री अमरनाथ ने पर्यावरण से संबंधित एक मधुर गीत द्वारा वातावरण में रस घोल दिया।

श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव (संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद्) ने अपने अध्यक्षीय भाषण में पर्यावरण के संबंध में दो सर्वथा भिन्न पक्षों की चर्चा की। एक तो पारम्परिक विचार जिसके अनुसार आज खाद्य पदार्थ की कमी, कच्चे माल के चुकते स्रोत, प्रदूषण का भय और ऊर्जा संकट के कारण मनुष्य के अस्तित्व को ही ख़तरा उत्पन्न हो गया है और दूसरा श्री फेलिक्स आर० पैट्री जैसे लोगों का अपारम्परिक विचार कि ये संकट वास्तव में कहीं नहीं है, केवल आदमी के दिमाग में हैं। उदाहरण के लिए कुछ वर्ष पूर्व यह भविष्यवाणी की गई थी कि कोयला, लोहा, ताँबा आदि के भण्डार समाप्त हो जायँगे किन्तु ऐसा हुआ नहीं। श्री प्रेम चन्द्र श्रीवास्तव ने एक ताज़े समाचार की चर्चा करते हुये बम्बई नगर महापालिका तथा डॉ० कामत के एक समर्पित चिकित्सक दल द्वारा पर्यावरण प्रदूषण और जनस्वास्थ्य को लेकर किए गये एक लम्बे सर्वेक्षण की चर्चा की और बताया कि बम्बई शहर का वातावरण किस बुरी तरह प्रदूषित हो चुका है। उन्होंने इन कठिनाइयों और चीख़-पुकार के बीच मस्तिष्क का संतुलन बनाये रखने और विवेक से काम लेने का निवेदन किया।

अंत में डॉ० रमेशचन्द्र श्रीवास्तव ने इस आयोजन को सफल बनाने के लिए सर्वश्री ए० एन० सिंह, जे० एन० श्रीवास्तव, एस० एम० नक़वी, बृज मोहन, सुखसागर, नन्हे और मनोहर के सहयोग की सराहना की और सभी के प्रति आभार व्यक्त किया।□

पर्यावरण युद्ध

('समाजवादी जर्मनी' पत्रिका के मार्च 1984 अंक से साभार)

आज विश्वयुद्ध का अर्थ है "पर्यावरण युद्ध"। मानवजाति पिछले 60 वर्षों से विश्व युद्ध की अवधारणा के साथ जी रही है। इस अवधारणा का अर्थ है एक नये किस्म का युद्ध। हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराये गये एटम बमों ने सही अर्थों में वास्तविक "विश्व युद्ध" की शुरूआत की।

पर्यावरण युद्ध का इतिहास

अपने अस्तित्व के प्रारम्भ से ही मनुष्य ने अपने आस-पास के माहौल से एकत्र जहर का इस्तेमाल अपने शत्रु को घायल करने और नष्ट करने के लिए किया है। उसने अपने दुश्मन के खाद्यस्रोतों के खात्मे को भी एक हथियार के रूप में प्रयुक्त किया।

युद्ध की रणनीति के रूप में कृषि भूमि और फसलों को बर्बरतापूर्वक नष्ट किए जाने के अनेक उदाहरण प्रारम्भिक ऐतिहासिक विवरणों में खोजे जा सकते हैं। बाइबिल में, फारसी सेना के बारे में हेरोडोटस द्वारा लिखे गये विवरण में, पेलोपोनेशियन युद्ध के ब्योरों में, चंगेज खाँ के अभियानों के विवरण में अथवा अमरीका के उपनिवेशीकरण के इतिहास में, खासकर रेड-इंडियनों के विरुद्ध संहारक युद्धों में, ऐसे उदाहरण खोजे जा सकते हैं। अन्तिम मामले में तो यह कहा जा सकता है कि अमेरिका में इसकी एक विशिष्ट परम्परा रही है जो वियतनाम युद्ध के दौरान अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गयी।

इतिहास में पर्यावरण को नष्ट करने का सबसे पुराना साधन निःसन्देह आग है। हिरोशिमा और नागासाकी पर एटम बम गिराये जाने तथा उसके बाद नये और अधिक आधुनिक परमाणु हथियारों के परीक्षणों से एक बात अच्छी तरह से साफ हो गयी कि मानवजाति वास्तविक पर्यावरण युद्ध के एक नये युग में प्रवेश कर चुकी है और इसके द्वारा उसने पहली बार पूर्ण आत्मविनाश की क्षमता हासिल कर ली है तथा अब वह हमारे ग्रह को मलबे के एक ऐसे रेडियोधर्मी रेगिस्तान में बदलने में समर्थ है जो समस्त वनस्पति जीवन और जीव-जन्तुओं को प्रदूषित कर देगा। यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि हमारे ग्रह पर परमाणु हथियारों के मौजूदा भंडार की क्षमता 15 लाख हिरोशिमा बमों की विस्फोटक शक्ति के बराबर है और हर रोज इनकी संख्या में वृद्धि हो रही है।

हमारे सामने एक तथ्य यह भी है कि 1945 और 1980 के दौरान अनुसंधान और विकास के उद्देश्यों के लिए 1271 परमाणु विस्फोट किये गये हैं। यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के बावजूद (लेकिन सभी नाभिकीय देशों ने ऐसी संधियों पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं) अधिकांश परमाणु विस्फोट भूमिगत तौर पर किये जाते हैं। सही दिशा में सोचने वाला कोई भी व्यक्ति इन नये-नये परमाणु हथियारों के दुष्प्रभावों की परिकल्पना कर सकता है, जिनका परीक्षण किया जा रहा है, संग्रह किया जा रहा है और निरन्तर क्रियाशीलता की स्थिति में रखा जा रहा है।

लेकिन जीवन के लिए ख़तरा उत्पन्न करने वाले हथियारों का विकास सिर्फ परमाणु हथियारों तक ही सीमित नहीं है। इन हथियारों का दायरा भी काफी

विस्तृत हो चुका है जिनमें विभिन्न क्षमता वाले एटम, हाइड्रोजन और न्यूट्रॉन बम शामिल हैं। आज के उच्च विस्फोटक 'पारम्परिक' हथियारों से पर्यावरण को इतना ही ख़तरा है जितना कि रासायनिक हथियारों से। इस तरह के उच्च विस्फोटक हथियारों तथा विभिन्न रासायनिक एजेंटों व हथियारों का प्रयोग 1945 के बाद से कुछ युद्धों में किया जा चुका है, जो कि एक तरह से बड़ी लड़ाइयों में उनकी व्यावहारिकता जानने के लिए था। कोरियाई युद्ध, वियतनाम व कम्पूचिया में हुए युद्ध तथा मध्य पूर्व में हुए युद्ध इसके ठोस प्रमाण हैं।

पर्यावरण की दृष्टि से वियतनाम युद्ध का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि वहाँ से सेचुरेशन बमबारी की रणनीति अपनायी गयी। पहली बार वनस्पति और भवनों के खिलाफ विनाश के तापीय व यांत्रिक तरीकों को मिला कर प्रयुक्त किया गया जिनमें तात्कालिक प्रभाव वाले रासायनिक हथियारों से लेकर विलम्ब से सक्रिय होने वाले रासायनिक एजेंट (वनस्पतिनाशक हथियार) शामिल थे। इस तरह की सेचुरेशन रणनीतियों के प्रभाव छोटे परमाणु हथियारों से भिन्न नहीं होते। पर्यावरण-विनाश के एजेंट के रूप में परमाणु हथियार सिर्फ इस माने में भिन्न कहे जा सकते हैं कि वे वायु प्रवाह और धूल के जरिए, प्रभावित क्षेत्रों के साथ-साथ दूर-दूर के इलाकों में भी रेडियोधर्मी प्रदूषण फैलाते हैं।

निःशस्त्रीकरण अनिवार्य है

वियतनाम और कम्पूचिया में हुए युद्धों का परिणाम यह निकला कि जेनेवा निशस्त्रीकरण समिति, लम्बी वार्ताओं के बाद 1977 में एक ऐसी संहिता तैयार करने में आखिरकार सफल हो गयी जिसमें पर्यावरणीय सुधार तकनीकों के सैनिक अथवा किसी अन्य शत्रुतापूर्ण इस्तेमाल को निषिद्ध कर दिया गया। संहिता को मानने वाला कोई भी पक्ष सैनिक अथवा अन्य शत्रुतापूर्ण उद्देश्यों के लिए जानबूझ कर पर्यावरण में परिवर्तन नहीं कर सकता। संहिता में पृथ्वी की संरचना और बनावट में, जिसमें जीवजन्तु और वनस्पति जगत, जमीन, पानी और वायुमंडल के साथ-साथ पृथ्वी का निकटवर्ती अन्तरिक्ष शामिल है, किसी तरह की कोई दखलंदाजी करने पर रोक लगायी गयी है। संहिता लागू होने के एक वर्ष के भीतर ही 20 देशों ने इसे स्वीकार कर लिया जिनमें वारसा-संधि के सभी देश शामिल हैं।

शायद कोई यह निष्कर्ष भी निकालने लगे कि यह संहिता युद्ध के जरिए पर्यावरण को होने वाले किसी भी खतरे पर सीधे रोक लगाती है और अप्रत्यक्ष रूप से जनसंहार के आधुनिक हथियारों के इस्तेमाल पर पाबन्दी लगाती है। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं है क्योंकि उन सभी राज्यों ने जो पर्यावरणीय युद्ध चलाने में सक्षम हैं, इस संहिता पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। इसके अलावा यह सिर्फ पर्यावरण को जानबूझ कर पहुँचायी जाने वाली क्षति तक ही सीमित है। अन्य संघर्षों और लड़ाइयों के अप्रत्यक्ष प्रभावों का कोई जिक्र इसमें नहीं है। संहिता का उल्लंघन कैसे होता है—आइये कुछ ठोस उदाहरणों पर गौर करें। कांटिनेंटल शेल्फ (महाद्वीप का वह हिस्सा जो समुद्र को छूते हैं) के किसी खंड में परमाणु-विस्फोट करना ताकि प्रचंड समुद्री ज्वार उत्पन्न करके दुश्मन के तटवर्ती क्षेत्रों को जलमग्न कर दिया जाये, अथवा शत्रुतापूर्ण इरादे से कृत्रिमतौर पर भूकम्प उत्पन्न करना या जानबूझ कर बारिश करवाना। इस तरह का उल्लंघन उस समय भी होगा जब सूरज की घातक अल्ट्रावायलेट किरणों से रक्षा करने वाली ओजोन की परत को छिन्न-भिन्न कर दिया जाये अथवा सैनिक या अन्य शत्रुतापूर्ण कार्रवाइयों के द्वारा दुनिया के समुद्रों को हमेशा के लिए इस कदर प्रदूषित कर दिया जाये कि उनमें तथा निकटवर्ती प्रदेशों में पाया जाने वाला जीवन नष्ट हो जाये। दुनिया के तमाम लोगों का यह तत्काल कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों व बच्चों के बच्चों के लिए, युद्ध के प्रभावों से अपने पर्यावरण की रक्षा करें।

दिल के दौरे पर नवीन अनुसंधान

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

भारत में हृदय रोगों की चिकित्सा के क्षेत्र में कैल्शियमरोधी तत्वों की खोज को एक क्रान्तिकारी घटना की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि सत्तर के दशक में **प्रो० ए० फ्लेकेन्स्टीन** द्वारा जब इनकी खोज गई थी तो उस आविष्कार को 'शताब्दी की एक महान खोज' के रूप में स्वीकारा गया था। यह वह तत्व है जो कैल्शियम आयन के हृदय में प्रवेश को रोकता है या उसका प्रतिरोध करता है।

पिछले दिनों लखनऊ स्थित 'सेन्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीट्यूट' के लब्ध प्रतिष्ठ वैज्ञानिक **डॉ० ओंकार नाथ त्रिपाठी** द्वारा किए गये शोध कार्यों के फलस्वरूप निकट भविष्य में हृदय रोग संबंधी ऐसी नई औषधियों को बाजार में लाना संभव हो जायेगा जो हृदय रोगों की चिकित्सा में **'रामबाण'** का काम करेंगी। इससे हृदय की 'बाईपास शल्यक्रिया' की संख्या में 50 प्रतिशत की कमी हो जाने की आशा है।

वर्तमान समय में कैल्शियमप्रतिरोधी संश्लेषण की केवल दो दवाएं प्राप्य हैं जिनमें से केवल एक ही भारत की दवा कम्पनी द्वारा बनाई जाती है। डॉ० त्रिपाठी द्वारा खोजे गये कैल्शियमप्रतिरोधक में **एण्टी-एंजाइनल**, **एण्टीएरिद्मिक** और **एण्टीहाइपरटेंसिव** खूबियाँ विद्यमान हैं।

डॉ० त्रिपाठी ने प्रोफेसर **फ्लेकेन्स्टीन** के निर्देशन में अनुसंधान कार्य किया था और उसके बाद भी कैल्शियमरोधी दवाओं पर अपना अध्ययन जारी रखा। उनके शोध का मुख्य बिन्दु था हृदय की वैद्युत्-शरीर क्रियात्मक (**Electrophysiological**) प्रक्रिया का अध्ययन। इसके अंतर्गत हृदय की एक कोशिका के वैद्युत् संकेतों को अंकित किया जाता है और इस वैद्युत्क्रिया पर विभिन्न ओषधियों के प्रभाव का भी मूल्यांकन किया जाता है। डॉ० त्रिपाठी द्वारा खोजी गई तकनीकी विधि के फलस्वरूप ऐसी दवाओं का विलगीकरण और जाँच-पड़ताल सरल हो गया है जो हृदय में कैल्शियम की गति पर अंकुश लगाती हैं अर्थात् कैल्शियमप्रतिरोधक हैं।

वास्तविकता तो यह है कि कैल्शियम हृदय के लिए हानिकारक नहीं है और एक स्वस्थ हृदय के लिए कैल्शियम की उपस्थिति अनिनार्य है। किन्तु इस तत्व की अधिकता हृदय के लिए अत्यन्त हानिकारक भी है। अधिक मात्रा में पहुँचकर कैल्शियम हृदय की कोशिकाओं की संरचना और व्यवस्था को भारी हानि

पहुँचाता है। सामान्य अवस्था में हृदय की कोशिकायें अनावश्यक कैल्शियम को बाहर निकाल फेंकती हैं किन्तु **हार्ट अटैक** या **दिल के दौरे** की दशा में हृदय की मांशपेशियों तक पहुँचने वाले रुधिर और ऑक्सीजन की गति में कमी आ जाती है। ऐसी अवस्था में जब हृदय तक पहुँचने वाली ऊर्जा की मात्रा प्रतिबंधित हो जाती है तो अनावश्यक कैल्शियम को बाहर निकाल फेंकने की हृदय की क्षमता समाप्त हो जाती जाती है। और तब कोशिकाओं के अन्दर कैल्शियम का जमाव उन्हें लगातार क्षतिग्रस्त करता रहता है। ऐसी स्थिति में कैल्शियमप्रतिरोधक की आवश्यकता पड़ती है।

ये ओषधियाँ विशेषकर विश्राम की अवस्था वाले **एंजाइना** की चिकित्सा में लाभकर सिद्ध हुई हैं क्योंकि यह **एंजाइना** परिश्रम या मानसिक थकान से होने वाले एंजाइना के विपरीत निन्द्रावस्था या निष्क्रियता की अवस्था में आक्रमण करता है और यहीं डॉ॰ त्रिपाठी द्वारा खोजी गई ओषधि की उपयोगिता समझ में आती है।❑

रामनारायण वैद्य पुरस्कार–1984 (एक लाख रुपये का वार्षिक पुरस्कार)

आयुर्वेद के लेखक/लेखकों की उनकी स्वयं की मौलिक आयुर्वेदीय शोधकृति/पुस्तक जो1978 या 1979 के कालखण्ड में संस्कृत, हिन्दी या अंग्रजी में प्रकाशित हुई हो, की **पाँच निःशुल्क प्रतियाँ पुरस्कार** हेतु विचारार्थ अधोलिखित पते पर 31 अगस्त, 1984 तक अवश्य पहुँच जानी चाहिए। अन्य भारतीय भाषा में उक्त कालखण्ड में प्रकाशित शोधकृति/पुस्तक की एक प्रति तथा संस्कृत, हिन्दी या अंग्रेजी (किसी एक भाषा) में अनुवादित मुद्रित/टंकित की पाँच निःशुल्क प्रतियाँ भी स्वीकार की जायेंगी। नियमावली की प्रति निम्नलिखित पते से प्राप्त करें।

बृजेन्द्र कुमार शर्मा, वैद्य, मैनेजिंग ट्रस्टी
रामनारायण वैद्य आयुर्वेद रिसर्च ट्रस्ट
80, सिविल लाइन्स, झाँसी-284001 (उ० प्र०)

समुद्रों के वरदान और हमारे प्रतिदान

डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

730, देव कॉलोनी, रोहतक—124001

समुद्र, पृथ्वी के वातावरण का एक प्रमुख अंग हैं और पृथ्वी के इकहत्तर प्रतिशत भाग पर फैले हुये हैं। ये जल के कितने बड़े भंडार हैं, इसका कुछ अनुमान इसी बात से लग सकता है कि इनकी औसत गहराई साढ़े तीन किलोमीटर से भी अधिक ही है। इस अगाध जलराशि के नीचे डूबा हुआ संसार अत्यंत रहस्यमय और मोहक है। लंबे चौड़े मैदान, खाइयाँ, ज्वालामुखी, और एवरेस्ट की ऊँचाई वाले पर्वत—सभी कुछ वहाँ मौजूद हैं। इनके साथ ही सहस्रों प्रकार के रंगबिरंगे जीव-जंतु और वनस्पतियाँ एक इंद्रधनुषी स्वप्नलोक की सृष्टि करते हैं। पुराणों की नागलोक की कल्पना का आधार निश्चय ही ये ही तथ्य रहे होंगे।

महासागरों की उत्ताल तरंगों से लोहा लेते हुये पृथ्वी के एक भाग से दूसरे जाने अनजाने भागों तक की साहसिक यात्रायें करना प्राचीन काल से उद्यमशील मानव का मनचाहा खिलवाड़ रहा है। इन यात्राओं के अनेक लोमहर्षक वृत्तांत विश्व साहित्य में उपलब्ध हैं। हिन्दी की अत्यंत मर्मस्पर्शी कहानी "आकाश दीप" की पृष्ठभूमि भी समुद्र ही है। फिर भी, समुद्रों के नीचे का संसार अभी तक मानव की दृष्टि या कुदृष्टि से काफी सीमा तक बचा रहा है। हाँ, इधर कुछ वर्षों से अवश्य ही ऐसा लगने लगा है कि ये समुद्र तो कल्पवृक्ष के समान हैं। ऊर्जा, मीठा जल, अनेक धातुयें, रसायन, ओषधियाँ, खाद्य, यहाँ तक कि हीरे भी इनसे प्राप्त किये जा सकते हैं। प्राचीन भारत ने तो समुद्रों की यह क्षमता पहले ही पहचान ली थी और उन्हें रत्नाकर कह कर पुकारा था।

चूँकि समुद्र अतुल जलराशि के स्वामी हैं, अतः आइये बात मीठे पानी से ही प्रारंभ करें। मीठे पानी की समस्या विश्वभर में गंभीर होती जा रही है। कुछ समय पहले तक तो अरब देशों में मीठे पानी के एक गिलास के लिये तलवारें तक चल जाया करती थीं। वास्तव में पृथ्वी पर मीठा पानी उपलब्ध भी कम ही है, क्योंकि इसका नब्बे प्रतिशत तो आर्कटिक एवं एंटार्कटिका में युगों से जमी बर्फ के रूप में ही कैद है। इसीलिये स्वाभाविक था कि वैज्ञानिकों की दृष्टि समुद्रों की ओर जाती। आखिर समुद्रों के जल में नमक तथा अन्य घुले हुये लवण तो चार प्रतिशत से भी कम हैं—शेष तो सब मीठा पानी ही है। अब खारे जल को स्वादयुक्त मीठे पानी में बदलने की सस्ती तकनीकी ज्ञात कर ली गई है और उसमें सुधार भी बराबर जारी है। खाड़ी के देशों में तो न केवल कार-खाने लग चुके हैं बल्कि बहरीन जैसे देश तो अपनी आवश्यकता के तीन चौथाई के लिये इन्हीं कारखानों पर निर्भर हैं। अब हम कह सकते हैं कि अपनी प्यास बुझाने के लिये समुद्रों की ओर देखना निरर्थक नहीं है। वे हमें मीठा पानी दे सकते हैं और साथ में सोडियम, पोटैशियम, कैल्शियम एवं मैग्नीशियम के बाइ-कार्बोनेट, सल्फेट, फॉस्फेट और नाइट्रेट, जैसे उपयोगी यौगिक भी। कहना न होगा कि कई धातुयें जैसे मैंगनीज़, लोहा, निकल, ताँबा, कोबाल्ट, वैनेडियम आदि के भी अक्षय स्रोत, समुद्र-तल पर बिछे काले, भूरे धातुपिंडों के रूप में मौजूद हैं। स्मरणीय है कि इन पिंडों में धातुयें अत्यन्त शुद्ध रूप में उपस्थित होती हैं। यह भी स्मरणीय है कि पिंडों में उपस्थित

सभी धातुयें औद्योगिक रूप से बड़ी महत्वपूर्ण हैं तथा पृथ्वी पर उनके स्रोत समाप्तप्राय हैं। अनुमान है कि सन् 2000 के बाद इन धातुओं के लिये हम लगभग पूर्णतया इन पिंडों पर ही निर्भर करेंगे। समुद्र तल की बालू में भी कुछ महत्वपूर्ण वस्तुयें पाई गई हैं, जैसे गंधक, टिन, लोहा, ताँबा तथा अल्यूमिनियम। इन्हें भी निकालने की सस्ती तकनीकी विकसित की जा रही है। गंधक तो निकाला भी जाने लगा है।

ऊर्जा समस्या के समाधान के लिये समुद्रों ने पेट्रोलियम के नये स्रोत तो दिये ही हैं, एक अन्य प्रकार से भी वे हमारी सहायता कर रहे हैं। सतह पर पड़ने वाली सौर ऊर्जा की बौछार को वे अपने में संचित कर लेते हैं। परिणामस्वरूप सतह का जल तो गर्म हो जाता है, परन्तु गहराई का ठंडा ही बना रहता है। 500 मीटर की गहराई में ही दस डिग्री सेल्सियस तक का अंतर पड़ सकता है। ताप के इस अंतर से बिजली प्राप्त करने की सस्ती तकनीकी विकसित की जा रही है और वह दिन दूर नहीं जब समुद्र-तटों पर स्थान-स्थान पर बिजलीघर नजर आने लगेंगे। भारत में लक्ष द्वीप के समीप एक लाख साठ हजार किलोवाट क्षमता वाले ऐसे ही बिजलीघर के निर्माण की योजना बन रही है।

विश्व की भूखी मानवता की कुपोषण की समस्या से निपटने के लिये समुद्री वनस्पतियाँ वरदान-स्वरूप हैं। यों तो मछलियों तथा अन्य जीव-जंतुओं का स्थान सदैव से खाने की मेज़ पर सुरक्षित रहा है तथा जापान एवं पश्चिमी देशों के नागरिक कुछ वनस्पतियों का भी प्रयोग सुस्वादु भोजन तैयार करने के लिये करते रहे हैं, परन्तु कुछ अन्य प्रोटीनबहुल वनस्पतियाँ भी उपयोगी सिद्ध हो सकतीं हैं। हिन्द महासागर का एक शैवाल **'उल्वा'** ऐसी ही एक वनस्पति है। एक अन्य सेवार **'सरगासम'** से उत्तम कोटि की खाद प्राप्त करने की संभावना भी प्रकाश में आयी है। एक और सेवार **'एन्टरोमॉर्फा'** को क्षय रोग सहित बीस अन्य रोगों में भी प्रभावकारी पाया गया है। कुछ जीव-जंतुओं से भी ओषधियाँ बनाने की योजनायें हैं। शार्क मछली के लिवर में ऐसे रसायन पाये गये हैं जो मनुष्य की कैन्सरप्रतिरोधी क्षमता को बढ़ाते हैं। जेलीफिश से एक ऐसा रसायन प्राप्त किया गया है जो हृदय रोगों की त्वरित पहचान में सहायता कर सकता है। कुछ अन्य से रक्त के लिये एन्टीकोआगुलैन्ट्स तैयार किये गये हैं। स्मरणीय है कि शंख, मोती, सीप और समुद्रफेन का ओषधि के रूप में आयुर्वेद में सदैव प्रयोग होता आया है।

समुद्र हमारे मौसम-चक्र के स्थायित्व के लिये भी उत्तरदायी होते हैं। वर्षा में उनकी भूमिका तो सभी को मालूम है; एक और विधि से भी वे यह कार्य सँभालते हैं। हज़ारों साल से कोयले, तेल, आदि ईंधनों के इस्तेमाल से वातावरण में कार्बनडाइऑक्साइड गैस की मात्रा बढ़ती रही है। वातावरण में इस गैस की उपस्थिति एक ऐसे कंबल की तरह कार्य करती है जो सूर्य से प्राप्त गर्मी को काफी हद तक पुनः अंतरिक्ष में वापस जाने से रोकती है। फलस्वरूप पृथ्वी का औसत तापमान बढ़ता जाता है। अनुमान लगाया गया है कि इस गैस के कारण निकट भविष्य में ही पृथ्वी के मौसम-चक्र में गंभीर परिवर्तन हो सकते हैं। इस स्थिति को टालने में भी समुद्र सहायक हो रहे हैं। वे काफी मात्रा में इस गैस को सोख लेते हैं। सोखी हुई गैस सामुद्रिक वनस्पतियों द्वारा प्राकाशिक संश्लेषण में इस्तेमाल कर ली जाती है।

इतने सारे वरदान तो हमें समुद्रों से प्राप्त हैं। अब आइये देखें की हम उन्हें क्या प्रतिदान दे रहे हैं। पहला प्रतिदान तो हमने दिया है तेल-प्रदूषण का। आज हज़ारों जलयान --यात्री जहाज, मालवाहक, पेट्रोलियम टैंकर आदि प्रतिवर्ष सागरों के सीने को चीरते हुये इधर से उधर आते जाते हैं। ये जहाँ एक ओर आधुनिक सभ्यता को जीवित रखते हैं, वहीं दूसरी ओर प्रतिवर्ष लगभग पचास लाख टन तेल का छिड़काव समुद्रों की सतह पर लीक अथवा छोटी-मोटी दुर्घटनाओं द्वारा कर देते हैं। समुद्रों का यह तेल-प्रदूषण बड़ा भयावह साबित हो सकता है। यह मछलियों के लिये तो विष का कार्य करता ही है,

मनुष्यों को भी प्रभावित करता है। तेल में कुछ भारी धातुयें जैसे सीसा, मैंगनीज़, वैनेडियम, निकल, कोबाल्ट आदि उपस्थित होती हैं। ये धीरे-धीरे वनस्पतियों और जीव-जंतुओं में प्रवेश कर अंततः मनुष्य के शरीर में भी पहुँच जाती हैं। यही नहीं, एयरोसॉल के माध्यम से भी वे मनुष्य के श्वसन-तंत्र में पहुँच जाती हैं। सामुद्रिक तरंगें जब किनारे पर पछाड़ खाती हैं तो जल नन्हीं-नन्हीं बुंदियों के रूप में विभक्त होकर वातावरण में मिल जाता है और फिर हवा पर सवार हो कर दूर-दूर तक पहुँच जाता है। इसे ही एयरोसॉल कहते हैं। स्पष्ट है कि एयरोसॉल, समुद्र के जल पर तैरते पेट्रोलियम तथा उसमें मिली भारी धातुओं के लिये सवारी का कार्य करता है। ये धातुयें तरह-तरह के स्नायु तथा श्वसन-तंत्र के रोगों को जन्म दे सकती हैं। तेल की परत समीप के भू-भागों के स्थानिक मौसम तथा अंततः विश्व के मौसम-चक्र को भी प्रभावित कर सकती है। तेलयुक्त सतह से वाष्पीकरण ठीक से नहीं हो पाता और इसलिये वर्षा की मात्रा घट सकती है। ऐसी सतह कार्बनडाइऑक्साइड को सोखने का कार्य भी अच्छी तरह नहीं कर सकती।

तेल ही क्यों—समुद्रों में तो बहुत कुछ मिल रहा है। हर प्रकार का कूड़ा-कचरा, शहरों का मल-जल, औद्योगिक अपशिष्ट, नदियों के पानी के साथ बह कर आयी मिट्टी में मिले ज़हरीले कीटनाशी आदि। मल- और औद्योगिक अपशिष्ट में मिली भारी धातुयें भी अंत में मानव शरीर तक पहुँच जाती हैं। इसका भयंकर परिणाम सर्व प्रथम जापान की मिनिमाता खाड़ी में 1953 में देखने को मिला जब कि तटवर्ती फैक्टरी के पारायुक्त अपशिष्ट से दूषित मछलियों को खाने से तटीय क्षेत्रों के निवासी एक अत्यन्त विचित्र एवं प्राणघातक स्नायुरोग के शिकार हो गये। इसी घटना की पुनरावृत्ति 1965 में निगाता द्वीप पर हुई। बंबई के समुद्र की मछलियों में भी अनुमत स्तर से किंचित अधिक मात्रा में पारा तथा आर्सेनिक पाया गया है। निश्चय ही यह खाने वालों के स्वास्थ्य के लिये हितकर नहीं है। डी० डी० टी० आदि कीटनाशक भी समुद्री जीव-जंतुओं तथा वनस्पतियों के विनाश का कारण बनते हैं। अकेले अमेरिका में ही लगभग तीस हज़ार टन कीटाणुनाशक रसायन प्रतिवर्ष समुद्री जल में मिल जाते हैं। सामुद्रिक प्रदूषण का एक भयंकर रूप 12 सितंबर 1982 को गुजरात में वलसाड़ के समुद्र तट पर देखने को मिला। इस दिन सुबह-सुबह तट पर पाँच किलोमीटर तक लाखों मछलियां मृत पड़ी हुई देखी गईं। जिन कुत्तों अथवा चिड़ियों ने उन्हें खाने का प्रयत्न किया, उन्हें भी जीवन से हाथ धोना पड़ा। ऐसा समझा जाता है कि पास की एक फैक्टरी से आकर समुद्र में मिलने वाला अपशिष्ट ही इसके लिये उत्तरदायी था। वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी है कि यदि भूमध्यसागर में मल-जल तथा औद्योगिक अपशिष्ट का डाला जाना न रोका गया तो डॉलफिन, टूना, सोर्डफिश आदि कीमती मछलियों तथा समुद्री कछुओं के लिये प्रसिद्ध यह समुद्र शीघ्र ही इनकी कब्रगाह में बदल जायेगा। इंगलैंड के पास के 'नार्थ सी' में भी सामुद्रिक जीव-जंतुओं की आबादी में इसी कारणवश काफी कमी आई है।

और तो और, समुद्रों में रेडियोधर्मी अपशिष्ट का भी एकत्रीकरण बढ़ता जा रहा है। यह प्रदूषण अधिकतर समुद्रों में किये गये न्यूक्लीय बम परीक्षणों तथा परमाणुशक्ति-चालित जलपोतों से लीक के कारण हुआ है। परमाणु बिजलीघरों की खतरनाक राख तो अच्छी तरह कैप्सूलों में बंद कर गहरे समुद्रों में डुबा दी जाती है, परंतु अत्यंत थोड़ी रेडियोधर्मिता वाला अपशिष्ट ऐसे ही प्रवाहित कर दिया जाता है। इससे भी निश्चय ही कुछ-न-कुछ रेडियो-प्रदूषण बढ़ेगा। अब तो यह भी योजना बनाई जा रही है कि परमाणु बिजलीघर धरती पर न बना कर तैरती हुई अवस्था में समुद्रों में बनाये जायें। इसके अपने कुछ लाभ होंगे। परंतु यदि कभी ऐसी दुर्घटना घटी, जैसी कि अमेरिका के थ्री माइल द्वीप पर घटी थी और सारा का सारा संयंत्र पिघल कर समुद्र के पेट में समा गया, तब क्या होगा? स्मरणीय है कि रेडियोप्रदूषण दीर्घ-

काल तक बना रहता है। इसे समाप्त करना संभव नहीं होता तथा यह समुद्री वनस्पतियों, जीव-जंतुओं तथा अंततः मनुष्यों में आनुवंशिक परिवर्तन कर उन्हें कैंसर तथा अन्य भयंकर बीमारियों से ग्रस्त कर सकता है। ज्ञातव्य है कि **पोरफाइरा** नामक सेवार जिसका उपयोग पुडिंग बनाने में किया जाता है, रेडियोधर्मी **रयूदेनियम** धातु से प्रदूषित पाई गई है। यह धातु (Ru-106) पाचन-तंत्र को धीरे-धीरे बेकार कर देती है।

समुद्रों की क्षमता असीम समझ कर मानव इस पृथ्वी का सारा कूड़ा कचरा उन्हीं में डालता जा रहा है। बेचारे समुद्र कब तक सहेंगे यह अत्याचार? अंततः इसका परिणाम हमें ही भुगतना पड़ेगा। जैसा कि हमने देखा, परिणाम सामने आने भी लगे हैं। ये परिणाम एक गंभीर चेतावनी दे रहे हैं कि यदि हम बाज़ नहीं आये तो समुद्र अपने वरदान वापस ले लेंगे। न बढ़ती जनसंख्या के लिये पानी उपलब्ध हो सकेगा और न ही सामुद्रिक खाद्य। एक अच्छा ऊर्जा-स्रोत भी बेकार हो जायेगा। ऊपर से तुर्रा यह कि प्रदूषण के अधिक बढ़ने पर मौसम-चक्र में परिवर्तन की संभावना की तलवार अलग से सिर पर टँग जायेगी। हमें जल्दी ही चेतना पड़ेगा। तभी युगों-युगों तक सागरों के वरदानों से आप्लावित हम मानवता के लिये एक स्वर्णिम भविष्य का निर्माण कर सकेंगे। ❑

(आकाशवाणी रोहतक से प्रसारित)

कतिपय सेक्स आकर्षक रसायन

डॉ० रामचन्द्र कपूर

106/56 गाँधीनगर, कानपुर—208012

सेक्स आकर्षक रसायन वे रसायन हैं जो कीटों, पशुओं तथा मनुष्यों में कामोत्तेजना या कामोद्दीपन उत्पन्न करते हैं। मनुष्य का ध्यान ऐसे रसायनों की ओर बहुत पहले से गया था किन्तु इनके वैज्ञानिक अध्ययन से उनकी वास्तविक प्रकृति का पता लगा है। इन रसायनों को सुविधानुसार तीन समूहों में बाँटा जा सकता है :

(1) वनस्पति-प्राकृतिक-उत्पाद, (2) जान्तव-प्राकृतिक-उत्पाद तथा (3) कृत्रिम उत्पाद।

वनस्पति-प्राकृतिक-उत्पाद

वनस्पति-प्राकृतिक-उत्पादों में से एक है इंडोल ऐलकालायड, **योहिम्बोन**, जो कि पश्चिमी अफ्रीका में पाये जाने वाले **कोरिनेन्थ योहिम्ब** वृक्ष की छालों से प्राप्त किया जाता है। योहिम्बीन मनुष्यों में नपुंसकता को दूर करने, घोड़ों, गायों, बैलों, भेड़ों, तथा कुत्तों में नर-मादा में संयोग कराने के लिये किया जाता रहा है।

बदनाम विष **स्ट्रिकनिन** भी एक इंडोल ऐलकालायड है, तथा मुख्यतः **कुचला** (नक्स वामिका) तथा **स्ट्रिक्नोस** वंश के अन्य पौधों तथा बीजों से प्राप्त किया जाता है। स्ट्रिकनीन के लवण बीमारी के बाद स्वास्थ्य लाभ के लिये टॉनिक के रूप में, मदात्यय में, आँखों की ज्योति घटने में तथा नपुंसकता के उपचार में प्रयुक्त होते रहे हैं। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों ने इस भयानक विष के चिकित्सीय उपयोगों की वैधता को गंभीर रूप से चुनौती दे दिया है क्योंकि यह देखा गया है कि इसकी विषैली मात्रायें ही वांछित जैविक क्रियायें दर्शाने में सक्षम हैं।

पूर्वी अफ्रीका में पाये जाने वाले **जाइलोकॉरपस** वंश के एक वृक्ष ने जो कि घरेलू ओषधियों में बहुतायत में प्रयोग किया जाता है, एक अन्य दिलचस्प

पदार्थ प्रदान किया है। इस वृक्ष के पके हुये फल मीठे होते हैं, परन्तु कच्चे कड़वे होते हैं। कच्चे फलों का कड़ुवापन एक इंडोल ऐलकालायड, **जाइलोमोलिन** के ही कारण होता है। कच्चा फल मनुष्यों में सेक्स के प्रति आकर्षण जगाता है।

अभी हाल में ही प्रकाशित एक पुस्तक "हर्बल एफ्रोडाईसिएक्स" में **वैनिला** के बारे में बताया गया है कि इसमें उपर्युक्त गुण विद्यमान होते हैं। आइसक्रीम में उपस्थित इस पदार्थ की मात्रा इतनी नहीं होती है कि वह कामवासना को उत्तेजित कर सके किन्तु अधिक मात्रा में यह विषैली है। वैनिला वंश (ऑर्किड परिवार) के पौधे पूर्वी मेक्सिको तथा ताहिटी के नम जंगलों में पाये जाते हैं। एक मुख्य घटक, वैनिलिन के अलावा वोर्बन वैनिला में बोनसैक (1967) के अनुसार अन्य पदार्थ एसिटिलडिहाइड, डाइएसिटिल फुरफुरल, 2,5—डाइमेथिल फुरफुरल, एनीसलडिहाइड, बेंजलडिहाइड, एसिटोफीनोन, तथा एसिटिक, आइसोब्युटिरिक, आइसोवैलेरिक, बेंजोइक, एनीसिक तथा वैनिलिक अम्ल पाये जाते हैं।

अन्य वासक पदार्थ उदाहरणतः **मुलेठी** प्राचीनकाल से ही औषधि के रूप में प्रयोग में लायी जाती रही है। उत्तेजना के लिये प्राचीन भारतवासी मुलेठी की जड़ से तैयार एक प्रकार के पेय पदार्थ का सेवन करते थे। मुलेठी के पौधों में लगभग 11 प्रतिशत ग्लाईसिहिजिक अम्ल होता है, जो कि बहुत ही मीठा, पानी में घुलनशील, ट्राईटरपीन ग्लाइकोसाइड है, तथा अपने शोथरोधी, ऐन्टी ऐलर्जिक, ऐंटीसेप्टिक तथा कॉर्टिको-स्टेरॉइड प्रभावों के लिये विख्यात है।

अमेरिका के दक्षिणी पूर्वी इलाकों में शिकारी जंगलों के एक पौधे, **अमरीकी गिनसेंग** की खोज के निमित्त भ्रमण करते हैं क्योंकि इस पौधे की उपयोगिता पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है। पाँच हजार वर्षों से अधिक, ओरिएण्टल मनुष्यों ने अपना पौरुष कायम रखने के लिये गिनसेंग की जड़ों का प्रतिदिन इस्तेमाल किया है। इन जड़ों में डी-ग्लूकोसाइड ही सबसे अधिक जैविक क्रिया वाला पदार्थ है। इस पौधे में पाये जाने वाले अन्य पदार्थ हैं—स्टेरॉइड, पेप्टाइड, शक्कर, तथा विटामिन।

मरिजुआना का उत्तेजित करने वाला गुण मनुष्यों को कई शताब्दियों से ज्ञात है। परन्तु यह इसका एक विशिष्ट गुण है मरिजुआना के घटक मदिरा जैसा कार्य करते हैं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। भाँग (**कैनाबिस**) वंश के पौधे शीतोष्ण देशों में रेशों (सन) तथा फलों (सन के बीजों) के लिये उगाये जाते हैं। भाँग के पौधों की फोलिएज लीफ (सत्यपत्र) व टहनियों के सूखने पर जो पदार्थ प्राप्त होता है उसे ही मरिजुआना कहा जाता है। इस पौधे की रसायनी तथा ओषधि-प्रभाव का भी काफी विस्तार में अध्ययन किया जा चुका है।

जान्तव-प्राकृतिक-उत्पाद

स्पेन की मक्खियाँ (कैंथेराइड्स) एक प्रकार के सूखे कीटों को, जिन्हें कैंथेरिस वेसीकेटोरिया के नाम नाम से जाना जाता है, अपने में लपेटे रखतीं हैं। इनमें पायी जाने वाली कच्ची ओषधि का क्रियाशील उत्तेजक पदार्थ है, **कैंथेरिडिन**। यह यौगिक त्वचा तथा श्लेष्मल झिल्लियों पर एक फफोला उत्पन्न करने वाले लेप जैसा प्रभाव डालता है। इस पदार्थ के अंतर्ग्रहण करने पर उलटी आना, पेट में दर्द होना, तथा आक्षोभ हो सकता है। मूत्रमार्ग में क्षोभण के के कारण प्राइऐपिज्म हो सकता है। स्पेन की मक्खियों में उत्तेजित करने का गुण काफी विख्यात है, परन्तु इसका इस्तेमाल कभी-कभी खतरनाक तथा घातक सिद्ध हो सकता है।

एक ऐसा ही मशहूर जान्तव उद्भव का पौराणिक पदार्थ है—**गैंडे का सींग**, जो कि कभी चूर्ण रूप में एशिया के देशों में बुखार से छुटकारा दिलाने के लिये, एक सामान्य प्रतिकारक के रूप में तथा उत्तेजना वाले पदार्थ के रूप में प्रयोग में लाया जाता था। गैंडे की सींग के रासायनिक घटक दो जापानी वैज्ञानिकों—इनागाकी तथा ओइडा द्वारा ज्ञात किये जा चुके हैं। इसमें मुक्त एमीनो अम्ल (एस्पारटिक

अम्ल, ग्लूटेमिक अम्ल, सिसटिक अम्ल (थयोनीन, सेरीन, प्रोलीन, ग्लाइसीन, ऐलेनीन, वैलीन, मेथ्यिोनीन, सिसटीन, आइसोल्युसीन, ल्युसीन, ऑरनीथीन, लॉइसीन, हिस्टिडीन, तथा आरजीनीन) के अलावा पालीपेप्टाइड, शक्कर, फॉस्फोरस, तथा ऐथेनाल ऐमीन उपस्थित हैं।

प्राइमेट्स (बानर गण) स्पीशीज़ तथा मनुष्यों के सामान्य योनि स्राव में विभिन्न वाष्पशील ऐलीफैटिक अम्ल, उदाहरणतः एसीटिक, प्रोपेनोइक, मेथिल प्रोपेनोइक, ब्युटेनोइक, मेथिल ब्युटेनोइक, मेथिल पेटानोइक अम्ल पाये जाते हैं। इन कार्बनिक अम्लों में बंदरों में सेक्स-आकर्षण गुण पाये जाते हैं तथा ये नर बन्दरों में घ्राणेन्द्रियो द्वारा कामवृत्ति को उत्तेजित करते हैं। कहते हैं काफी समय पूर्व जब स्वच्छता की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जाता था तथा आजकल के सामाजिक नियम अज्ञात थे तब ये ही ऐलीफैटिक अम्ल मनुष्यों को उत्तेजित करने में सहायक थे।

निकोलेड्स नामक वैज्ञानिक के अनुसार मनुष्य की त्वचा के सतह पर कुछ असामान्य लाइपिड पाये जाते हैं। इनमें से एक है **फारनेसॉल** जो कि सुगन्ध के रूप में इस्तेमाल किया जाता है और संभवतः मनुष्यों में सेक्स के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का कार्य करता हैं।

कृत्रिम उत्पाद

"पैरा क्लोरोफेनिल ऐलेनीन के सेक्स को उत्तेजित करने वाले प्रभाव" नामक एक लेख में गेसा व उसके सहयोगियों ने बताया है कि यह हेलीजन युक्त अमीनो अम्ल नर चूहों में कामवृत्ति की भावना को बढ़ाता है। मनुष्य के लिये महत्व का एक पदार्थ है ब्रोमोक्रिप्टिन। इसमें नपुंसक व्यक्तियों में फिर से पुरुषत्व प्रदान करने की क्षमता होती है।□

भारतीय बया एवं उनका व्यवहार

सतीश कुमार शर्मा
वनपाल, प्रभारी तातारपुर नर्सरी, अलवर, राजस्थान

विश्व में बया की 57 जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें 52 तो केवल अफ्रीका महाद्वीप में ही पाई जाती हैं। एशिया के गर्म प्रदेशों में बया की 5 जातियाँ पाई जाती हैं। भारत में बया की 4 जातियाँ तथा उनकी कुल 8 उपजातियाँ पाई जाती हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में बया (वीवर बर्डस्) की निम्न उपजातियाँ पाई जाती हैं—

1. **प्लॉसियस फिलीपाइनस फिलीपाइनस**, 2. **प्ला० फिली० बरमेनिकस**, 3. **प्ला० फिली० ट्रावेनकोन्सिस**, 4. **प्ला० मैगारिकस**, 5. **प्ला० मैगा० सालीमलाई**, 6. **प्ला० मनयार फ्लेवीसैप्स**, 7. **प्ला० मन० पैगूऐन्सिस**, 8. **प्ला० बंगालेन्सिस**।

आयु एवं प्रजनन व्यवहार

नर बया की तुलना में मादा शीघ्र ही वयस्क हो जाती है। मादा पक्षी पहले साल ही संभोग करने में सफल हो जाती है तथा सफलता पूर्वक अण्डे देने व शिशुओं का लालन-पालन करती है। नर बया प्रथम वर्ष में घोंसले अवश्य बनाते हैं लेकिन वे इतने आकर्षक नहीं होते कि मादायें उन्हें पसंद करलें। अतः उन्हें पत्नी प्राप्त नहीं हो पाती।

प्रथम वर्षीय नर घोंसला बनाने में तकनीकी रूप से तो अनुभवहीन होते ही हैं साथ ही उनमें द्वितीयक लैंगिक लक्षण भी अच्छी तरह विकसित नहीं हो पाते। बहुवर्षीय नरों में प्रजनन काल में विभिन्न अंगों में

पीले रंग पनप जाते हैं तथा चोंच काली हो जाती है परन्तु प्रथम वर्षीय नरों में पंखों की रंगीनी स्पष्ट रूप से नहीं उभरती है। हाँ चोंच में हलकापन लिये काला रंग जरूर नज़र आने लगता है।

हरम प्रथा

पुराने समय में राजा लोग अपने हरम में कई-कई पत्नियाँ रखते थे। यही प्रथा बयाओं में पाई जाती है। नर बया दो से चार तक पत्नियाँ एक ही प्रजनन काल में रखते हैं। नर पक्षी सभी पत्नियों के लिये अलग-अलग घोंसले बनाता है। विभिन्न जातियों में हरम तथा कॉलोनी बनाने की प्रथाओं में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। **प्ला० बंगालेन्सिस** जाति के नर अलग-अलग घासों के पैचों में अपनी टैरीटरी (अधिक्षेत्र) बनाते हैं। नर अपने-अपने अधिक्षेत्रों में दूसरे नरों का प्रवेश नहीं होने देते हैं तथा एकल कॉलोनियों का निर्माण करते हैं। **प्ला० फिलीपाइनस** जाति के बहुत से नर एक साथ एक ही वृक्ष पर संयुक्त नीड़ या कॉलोनी बनाते हैं।

नीड़ का निर्माण

वर्षा के आगमन पर नर पक्षी अपनी चोंच से घासों की हरी पत्तियों से पतली-पतली चीरें छीलकर उपयुक्त आधार पर घोंसला बनाना आरंभ करते हैं। **प्ला० बंगालेन्सिस** एवं **प्ला० मनयार** जाति के नर घासों पर नीड़ रखते हैं। **प्ला० मेगरिकस** जाति के नर किसी उपयुक्त वृक्ष के ऊपरी हिस्से की सभी पत्तियों को चोंच से तोड़ कर नंगी टहनियों पर नीड़ का निर्माण करते हैं। **प्ला० फिलीपाइनस** प्रायः वृक्षों की निचली शाखाओं पर घोंसले रखते हैं।

मादा पक्षियों द्वारा नीड़ का निरीक्षण

जब घोंसला आधा बन चुका होता है, मादाओं का समूह या व्यक्तिगत रूप से वे घोंसलों का निरीक्षण करती हैं। इस दौरान नर अपने रंगीन पंखों में सजे संगीत सुना-सुना कर मादा को रिझाते हैं। जो मादा जिस नर का अधूरा घोंसला पसंद करती है वह उसी की पत्नी बन जाती है। नर मादा द्वारा स्वीकृत अधूरे घोंसलें को पूरा कर मादा को उसमें बसा देता है। अब वह दूसरी पत्नी लाने की तैयारी करता है तथा पहले घोंसले के आस-पास ही दूसरा और क्रमशः अन्य घोंसले बनाता जाता है। नये घोंसले बनाने तथा नई पत्नियाँ लाने का क्रम तब तक चलता है जब तक वर्षा होती रहती है।

प्रत्येक मादा अपने द्वारा स्वीकृत घोंसले में 2 से 4 तक अण्डे देती है और अकेली ही उन पर बैठती है। नर अण्डे सेने व शिशु पालन में भाग नहीं लेता है।

घोंसलों का भविष्य

अधूरे, अस्वीकृत घोंसलों को प्रायः नर पक्षी कुतर कर फेंक देते हैं। कभी-कभी ऐसे अधूरे घोंसलों को नर कोई क्षति नहीं पहुँचाता और वे ज्यों के त्यों लटकते रहते हैं। पूर्ण घोंसले बया का प्रजनन काल समाप्त होने के बाद लावारिस लटकते रहते हैं परन्तु कुछ घोंसलों में सफेद गले वाली मुनिया (**लोंकूरा मालाबेरिका मालाबेरिका**) नामक छोटी चिड़िया बसेरा डाल देती है तथा अण्डे दे देती है। यह एक तरह की नीड़ परजीविता (Nest Parasitism) है। कुछ घोंसलों में **वेन्डूलेरिया ओलीरेसिया** नामक चूहा अपना अड्डा जमा लेता है। प्रायः चुहिया ऐसा करती है और इन लावारिस घोंसलों में बच्चे देती है। इसके बच्चे जन्म के समय अन्धे और बाल-विहीन होते हैं जिनकी सर्दी से इन घोंसलों में बखूबी रक्षा तो होती ही है, साथ ही शत्रु-पक्षी व रेप्टाइल्स भी दूर बने रहते हैं।

अन्ततः ये सभी नीड़ परजीवी घोंसलों को छोड़ देते हैं। ये लटकते घोंसले हवा, वर्षा, आँधी आदि के प्रभाव से नष्ट होते रहते हैं। जो अगली वर्षा तक बच जाते हैं उन्हें नर पक्षी कुतर कर फेंक देते हैं तथा उनके स्थान पर नये घोंसले बनाये जाने लगते हैं। □

कंप्यूटर के साथ बातचीत

व्याचेस्लाव बत्राकोव

कियेव के साइबर्नेटिकी संस्थान के विशेषज्ञों तथा केन्द्रीय संचार अनुसंधान संस्थान की मिंस्क शाखा के वैज्ञानिकों ने मिल कर "**रेच**--।" नामक एक कंप्यूटर वार्तालाप प्रणाली तैयार की है जो आदमी से आदमी की बोली में बातचीत करती है। 1983 में मास्को में नाउका-**83** अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में इसका सफल प्रदर्शन हुआ था। इसमें ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार की विदेशी यंत्र-युक्ति की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।

आधुनिक विज्ञान और टेक्नोलॉजी की कंप्यूटरों के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। कंप्यूटरों का उपयोग नये से नये क्षेत्रों में हो रहा है। इससे ऐसा लगता है कि भविष्य में पूरे समाज का ही कंप्यूटरीकरण हो जाएगा। लेकिन इसके लिए कंप्यूटर में सूचना भरने और वापस प्राप्त करने की विधियों में सुधार होना अत्यावश्यक है।

कंप्यूटर में गणना और तर्क संबंधी सारा कार्य विशेष विद्युत् संकेतों की भाषा में ही होता है जिनका मनुष्य की भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब तक यह काम विशेष प्रशिक्षित प्रोग्राम भर कर गणितज्ञों द्वारा ही किया जाता रहा है। "**इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क**" की सेवाओं की जरूरत होने पर इंजीनियरों और वैज्ञानिकों को भी प्रोग्रामर अनुवादक के माध्यम से ही कंप्यूटर से "**बात**" करनी पड़ती है। और यह कार्य भी इतना सरल नहीं है क्योंकि हर वैज्ञानिक और इंजीनियर—अपनी समस्या को प्रोग्रामर के समझ सकने लायक भाषा में अभिव्यक्त नहीं कर पाता है तथा प्रोग्रामर के लिए भी किसी इंजीनियर या वैज्ञानिक का पेशेगत ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं हो पाता है।

कंप्यूटर भाषा का विकास

जब इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटर ने मनुष्य की बात को स्वयं अपने बलबूते पर अपनी भाषा में अनूदित करना शुरू किया और इस प्रकार प्रोग्रामिंग की विधियों में पर्याप्त सुधार हो गया तो स्थिति काफी बदल गई। अब गणना के परिणाम ऐसे रूपों में उपलब्ध होने लगे जो किसी भी विशेषज्ञ के लिए आसानी से समझ में आने वाले होते हैं तथा टाइप किये गये आलेख के रूप में या पर्दे पर आरेख आदि के रूप में प्रस्तुत होते हैं।

इस प्रकार ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो सकी हैं कि कंप्यूटर से लगातार बातचीत की जा सकती है, प्रश्न पूछे जा सकते हैं और तुरन्त उनके उत्तर हासिल किये जा सकते हैं तथा प्राप्त सूचना का उपयोग आगे की गणना के लिए ठीक-ठीक किया जा सकता है।

समस्याओं का समाधान

कुछ मामलों में टेलीटाइप कुंजियों और पर्दे पर प्रदर्शन के जरिये किसी कंप्यूटर के साथ सीधा संवाद जल्दी नहीं हो पाता है। ऐसा सर्वप्रथम तो मानवीय गतिविधि के ऐसे क्षेत्रों पर लागू होता है जहाँ मनोवैज्ञानिक दबाव इतना अधिक होता है कि आपरेटर को अपने प्रश्न को छापने या उत्तर को पढ़ने का मौका ही नहीं मिलता है, जैसे जटिल उत्पादन प्रक्रिया में व्यस्त आपरेटर, विमानों के पायलट, कास्मोनॉट आदि। इसी प्रकार किसी विशेष कार्य के लिए बने रोबोट में स्थापित कंप्यूटर के साथ संचार सम्बन्ध भी सामान्य विधि से नहीं किया जा सकता। इसीलिए वैज्ञानिक एक लंबे समय से यंत्र को मनुष्य की सामान्य विधि से नहीं किया जा सकता है। इसीलिए वैज्ञानिक एक लंबे समय से यंत्र को मनुष्य की सामान्य वाणी को समझने और मनुष्य की वाणी में ही उत्तर देने का प्रशिक्षण देने की कोशिशों में लगे हुए हैं।

इस दिशा में काफी प्रगति भी हुई है। ऐसी

प्रायोगिक यंत्र-प्रणालियाँ बन चुकी हैं जो मानव भाषा को पहचानने और उसका संश्लेषण करने में सक्षम हैं। लेकिन अभी इनकी विश्वसनीयता बहुत कम है तथा इनका शब्द भंडार भी सीमित ही है और इनका उपयोग बच्चों के खिलौनों में ही सफलता से हो सका है।

सोवियत सफलता

परन्तु सोवियत यंत्र-युक्ति "रेच—।" का कोई मुकाबला नहीं है। यह 200 आदेशों तक को पहचानने की क्षमता से युक्त है और किसी भी योरोपीय भाषा में बोले गये आदेश का पालन कर सकती है। इसकी पहचान क्षमता भी 95 प्रतिशत तक विश्वसनीय है। यही किसी व्यक्ति की बात को समझने की हमारी क्षमता का भी औसत होता है। जब हमें कोई बात समझ में नहीं आती है तो हम अपने साथी से पूछ लेते हैं, और कंप्यूटर भी यही काम करता है। वह भी किसी आदेश के समझ में नहीं आने पर तुरन्त कह देता है—"मैं नहीं समझा। कृपया एक बार फिर से दोहराइए।"

इस समय "रेच—।" प्रणाली रूसी और उक्राइनी इन दो भाषाओं में ही आपरेटर को उत्तर दे पाता है। लेकिन सिद्धांततः इसे किसी भी भाषा में बोलना सिखाया जा सकता है। इसकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसका शब्द-भंडार असीमित है। यह सर्वजनीन ध्वनिग्रामों या स्वनियों से वाणी का संश्लेषण करता है जिनकी संख्या किसी भी भाषा में सीमित होती है।

डिजाइनकारों को उम्मीद है कि भविष्य में वे अपनी इस यंत्र-रचना को ऐसा बना लेंगे कि वह न केवल व्यक्तिशः आदेशों को बल्कि पूरी मानव-वाणी को समझ सकें, केवल तब ही किसी कंप्यूटर के साथ हम बातचीत कर सकेंगे।

पशु-पालन फार्मों के लिए कंप्यूटर

इंजीनियरों द्वारा पशु-पालन के मशीनीकरण के लिए टेकनोलॉजी का परीक्षण किया जाता रहा है। इन दिनों जिन मशीनों का परीक्षण किया जा रहा है उसमें दूध देने वाले पशुओं के थनों को कीटाणुरहित बनाने वाली स्वचालित यंत्र-प्रणाली भी सम्मिलित है। इसके उपयोग से एक आपरेटर एक शिफ्ट में 60 गाय दुह सकेगा जो कि सामान्य का दोगुना है। ये यंत्र प्रणालियाँ कंप्यूटर टेकनोलॉजी और माइक्रोप्रोसेसरों के उपयोग पर आधारित हैं।

कंप्यूटरों को देखने का प्रशिक्षण

सोवियत संघ के उन कुछ कंप्यूटरों को जो सोच सकते हैं, बोलते और सुनते हैं, अब देखना भी सिखा दिया गया है। अविश्वसनीय-सा नजर आने वाला यह चमत्कार बेलोरूस की राजधानी मिंस्क के विभिन्न अनुसंधान संस्थानों के विशेषज्ञों ने किया है। वैज्ञानिकों ने यह कार्य प्रकृति के अध्ययन के आधार पर किया है। इसके लिए उन्होंने एक "विद्युत् रे" के दृष्टि-अंगों की बनावट को आधार बनाया है जो आँख से नहीं बल्कि विकिरण की सहायता से देखती हैं। सोवियत वैज्ञानिकों द्वारा बनाया कंप्यूटर भी इस प्रकार प्राप्त संकेतों को मानव-वाणी में बदल देता है और बताता है कि उसने क्या "देखा" है।

तीव्र गति कंप्यूटरों की सहायता से "त्सुनामी" का अध्ययन

"त्सुनामी" प्रशांत महासागर में उठने वाली वह विशाल लहर है जो भूकंप, ज्वालामुखी, विस्फोट या भूस्खलन से उत्पन्न होती है और बहुत दूर तक, यहाँ तक कि महासागर के आर-पार तक फैली हुई होती है। अब सोवियत वैज्ञानिकों को प्रशांत महासागर के उन तटों को निश्चित करने में सफलता मिल गई है जहाँ "त्सुनामी" का खतरा सबसे ज्यादा होता है। इस संबंध में जो कार्य हुआ है उसका श्रेय सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी की साइबेरियाई शाखा के क्रास्नोयार्स्क कंप्यूटर केन्द्र के इंजीनियरों, वैज्ञानिकों और गणितज्ञों को प्राप्त है।

वैज्ञानिकों ने बताया है कि गहरे समुद्र में इस लहर का पता लगाना लगभग असंभव है क्योंकि यहाँ

लहर केवल एक-दो मीटर ऊँची और सैकड़ों किलोमीटर लंबी होती है। लेकिन उथले सागरों और जलसंधियों में इसे आसानी से पहचाना जा सकता है जहाँ ऊँचाई बहुत अधिक होती है तथा इसकी विनाशकारी शक्ति भी बड़ी भयानक होती है।

नाउका प्रकशान की साइबेरियाई शाखा ने इस संबंध में एक पुस्तक प्रकाशित की है जो इस लहर के कंप्यूटर अध्ययन के निष्कर्षों पर आधारित है। इसकी गणनाएँ तथा अन्य विवरण तीव्र गति से संचालित होने वाले आधुनिक कंप्यूटरों द्वारा किये गये अध्ययन-विश्लेषश के माध्यम से उपलब्ध हुए हैं। विशेषज्ञों ने इसे बहुत उपयोगी माना है।

[भारत स्थित सोवियत दूतावास के सूचना विभाग के सौजन्य से]

पपेन

राधा मोहन श्रीवास्तव

प्रधान सम्पादक, 'नयी खेती', नेशनल डिग्री कॉलेज, बड़हलगंज, गोरखपुर

कच्चे पपीते में दूध जैसा तरल पदार्थ कितना नायाब है और कितना कीमती; बहुत कम लोग ही जानते होंगे। पपीते के कच्चे फल का सुखाया हुआ दुग्ध चूर्ण ही पपेन कहलाता है। पपेन से लेक्टीस नामक एन्जाइम बनाया जाता है। पपेन के विभिन्न उपयोग हैं। पपीते के ओषधीय गुण इसी पपेन के कारण होते हैं। कैन्सर, डिप्थीरिया, अल्सर तथा चर्म रोग के इलाज में यह कई बार रामबाण ओषधि साबित हो चुका है। उतक क्षय, अजीर्ण, पाचन सम्बन्धी रोगों में, गोल कृमि संक्रमण, चमड़ों के धब्बे मिटाने तथा गुर्दे की बीमारियों के उपचार में प्रयुक्त किया जाता है। मांस को गलाने, ट्यूना मछली के कलेजे से तेल निकालने में पपेन काम आता है। स्नो, क्रीम और दंत मन्जन जैसे सौंदर्य प्रसाधनों के निर्माण में पपेन उपयोगी है। पपेन का इस्तेमाल शराब को शुद्ध करने, भेड़ की ऊन निकालने और चुइंगम बनाने में भी करते हैं। अमेरिका में तो 80 फीसदी बियर पपेन से शुद्ध करके ही तैयार की जाती है तथा बूचड़खानों में जानवरों का बध करने के पेश्तर पपेन एन्जाइम का प्रयोग करते हैं।

इस पपेन उत्पादन पर खास तौर से ध्यान देने वाले देश हैं अमेरिका, नाइजेरिया, तंजानिया, लंका तांगानिका। भारत में पपीते के कच्चे फल को सब्जी के रूप में तथा पके फल को खाते हैं प्रायः हाजमा दुरुस्त करने के लिए ही। यहाँ पपेन की उपयोगिता काफी देर से समझ में आई। पिछले दो दशकों के दरम्यान पपेन के कुछ उद्योग खोले गए थे। पर अब व्यावसायिक महत्व को देखते हुए कई स्थानों पर पपेन उद्योग खुलने लगा है। दिलचस्प बात तो यह है कि पपेन को तैयार करने में न तो किसी यंत्र-संयंत्र की जरूरत पड़ती है और न ही किसी खास तकनीकी जानकारी अथवा लागत लगाने की। हर बागवान, किसान या कोई गृहस्थ, चाहे जो हो, पेड़ में लगे कच्चे पपीते से मामूली सूझ-बूझ की बदौलत इसे तैयार कर सकता है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि पपीते के पेड़ में लगे कच्चे फलों से ही दूध निकाला जाता है। इसके लिए स्वस्थ फलों को चुनना चाहिए। दूध निकालने के लिए पपीते में चीरा किसी स्टेनलेस स्टील के ब्लेड या तेज चाकू से लगाते हैं। वैसे एल्यूमिनियम के चाकू से पपीते पर चीरा लगाना बेहतर पाया गया है। दूध को चीनी, काँच या एल्यूमिनियम के बर्तन में इकट्ठा करते रहें। चीरा लगाते समय ख्याल रखें कि एक चीरा तथा दूसरे चीरे के बीच पर्याप्त जगह

बची रहे ताकि कुछ समय बाद खाली जगह में भी चीरा लगाया जा सके। पपीते में चीरा लगाने में चाकू नीचे से ऊपर की ओर चलाएँ। ऐसा करने पर दूध अधिक मात्रा में निकलता है। चीरे के कुछ समय बाद तक दूध बहता रहता है और बाद में फल की सतह पर सूख कर जम जाता है। इसे खुरचकर इकट्ठा कर लेना चाहिए। चीरे लगाने की क्रिया 2-3 बार 3-4 दिन के अन्तराल पर करना चाहिए।

इस तरह प्रत्येक फल में 12 से 16 दिन के अन्तराल पर 3-4 बार चीरे लगाए जाते हैं। इस बीच फल का संपूर्ण दूध निकल जाता है।

अब इस दूध को सुखाने और उसकी गुणवत्ता के हिफाजत की जरूरत होती है। इस निस्बत पपीते के दूध में सोडियम बाईसल्फाइड मिला लें और 50 सेन्टीग्रेड आँच पर सुखा लें। सूखे दूध को पीस कर बारीक चूर्ण में परिवर्तित कर लें और 10 मेश की छननी से छान लें। लीजिए आप का पपेन तैयार हो गया। पपेन को हवा बन्द बोतलों में भर कर सील कर देते हैं। पालीथीन की थैलियाँ भी इस कार्य के लिए इस्तेमाल की जाती हैं। इन थैलियों को एक बड़े टिन में भंडारण या परिवहन के लिए रख सकते हैं।

प्राय: अंडाकार फलों से गोल या लम्बे फलों की तुलना में अधिक दूध निकलता है। आमतौर पर 196 कि० ग्रा० प्रति हेक्टेयर प्रथम वर्ष और उसकी आधी उपज द्वितीय वर्ष में अच्छी मानी जाती है। पपेन पपीते के तने, पत्तियों और डंठलों के रस को अमोनियम सल्फेट संतृप्ती या एल्कोहॉल वर्षण क्रियाओं द्वारा निकाल कर भी बनाया जा सकता है। इस तरह से बनाए हुए पपेन की एन्जाइम क्रिया वैसी ही होती है जैसी कि फलों से बने पपेन की।

एक बार तैयार किया गया पपेन छह माह से बारह माह तक टिकाऊ है। जब कि पतीते के पके फलों को जल्द से जल्द बेचने की जरूरत होती है। एक बात और है कि पपेन बनाने के बाद बचे पपीते से जैम, जेली, कैण्डी और टॉफी बनायी जा सकती है। अत: यह कहना सरासर गलत है कि पपेन बनाने के बाद पपीता बेकार हो जाता है। हाँ, यह जरूर ख्याल रखें कि जिस पपीते का इस्तेमाल पपेन के लिए किया गया है उसके बीज दुबारा पौध तैयार करने के लिए नकद्दर होते हैं। वजह है इन बीजों की अंकुरण शक्ति का मर जाना।

यदि बागबान या किसान चाहें तो पपीते से पपेन बनाकर अधिक मुनाफा कमा सकते हैं, क्योंकि पपीते के फल बेचने की बनिस्वत **पपेन** की अच्छी कीमत मिलती है। एक ताजे आगणन के अनुसार केवल पपीता बेचने से किसान को फी हेक्टेयर मुश्किल से दो-ढाई हजार रु० की आमदनी होती है। जब कि पपेन से चार-पाँच हजार रु० मामूली मशक्कत से मिल जाते हैं। सचमुच, पपीते का दूध बहुत नायाब चीज है। आप भी अपने घर की बगिया में पपीते लगाकर पपेन तैयार कर सकते हैं। पपीते का पौधा एक साल में ही फल देने लगेगा। पपीते की बागबानी और पपेन तैयार करने का काम काफी आसान है। मामूली लागत और मेहनत से फी पेड़ एक कि० ग्रा० लेक्टीस मिल जायगा। उसे सुखा कर 400 ग्राम पपेन प्राप्त कर लेंगे। इतने पपेन की कीमत कम से कम तीस-चालीस रुपए होगी। जबकि खाली पपीते का फल बेचकर मुश्किल से इसकी आधी आमदनी ली जा सकती है। ☐

शोक समाचार

विज्ञान परिषद् के आजीवन सभ्य श्री चंपाराम चतुर्वेदी (आगरा) के निधन पर परिषद् परिवार दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है।

इंसान और जंगल

अकादेमीशियन व्लादीमिर विनोग्रादोव

(वी. आई. लेनिन अखिल संघीय कृषि अकादेमी के वन-विज्ञान विभाग के सचिव)

वैज्ञानिक और प्राविधिक क्रांति के प्रारम्भ होने के समय बहुत लोगों का यह विश्वास था कि प्राथमिक पदार्थों के स्रोत के रूप में लकड़ी महत्ता अवश्य खो बैठेगी क्योंकि संश्लेषण का युग देहरी पर खड़ा है। किन्तु वह बात हुई जिसका अनुमान नहीं किया गया था। लकड़ी का उपयोग घटने के बजाय बढ़ता ही जा रहा है। 1950 में दुनिया में डेढ़ अरब घन मीटर लकड़ी की खपत हुई थी जब कि 1970 में दो अरब बीस करोड़ घन मीटर लकड़ी की खपत हुई थी और आगामी दस वर्षों में खाद्य और कृषि संगठन के तखमीने के अनुसार लकड़ी की खपत में 75 प्रतिशत और वृद्धि हो जायेगी। आज उत्पादन की किसी शाखा का, यहां तक कि सबसे उन्नत शाखा का भी, इस काल-सम्मानित पदार्थ के बिना काम नहीं चल सकता है।

वैज्ञानिक और प्राविधिक क्रांति ने लकड़ी की मांग घटाने के बदले वस्तुतः उसे बढ़ा दिया है और साथ ही यह भी उजागर कर दिया कि जंगल के लिए आदमी की जरूरत वस्तुतः बढ़ती जा रही है। यह पता चला है कि मानवता जंगल को जीवित अंग के रूप में चहती है।

विश्व के विभिन्न भागों में बड़े पैमाने पर पेड़ काटे जाने के फलस्वरूप हाल में सार्वभौमिक स्तर पर जंगल की भूमिका उजागर हुई। उदाहरणार्थ, उष्ण-कटिबन्धीय वर्षा वाला क्षेत्र प्रति वर्ष घटता जा रहा है और विशेषज्ञों के तखमीने के अनुसार 75 लाख हेक्टेयर प्रति वर्ष वन क्षेत्र घट जाता है। प्रति मिनट लगभग 20 हेक्टेयर की विराट दर से जंगल नष्ट किये जा रहे हैं। यदि वृक्षों के काटने की चालू रफ्तार जारी रहती है तो उष्णकटिबन्धीय जंगल जो आज भूक्षेत्र के दसवें भाग पर छाये हुए हैं, 2100 ईस्वी तक गायब हो जायेंगे। जिस रफ्तार से पृथ्वी पर जंगल काटे जा रहे हैं उसी रफ्तार से सार्वभौमिक परिस्थितिकी प्रणाली के अंग के रूप में जंगल में दिलचस्पी बढ़ती जा रही है।

सोवियत संघ में जंगल के सामाजिक रूप से उपयोगी गुणधर्म और उनके संसाधनों के तुलनात्मक मूल्यांकन के लिए विशेष विधियां विकसित की गयी हैं। यह पता चला है कि जंगल के लाभदायक प्रभाव का मूल्य अक्सर व्यावसायिक लकड़ी के मूल्य से अधिक होता है। उदाहरणार्थ, कारेलियाई जंगलों का शुद्ध सौन्दर्य-बोधात्मक मूल्य सहित स्वास्थ्य सम्बन्धी और दूसरे सामाजिक रूपों से उपयोगी आर्थिक मूल्य प्रति वर्ष 54 करोड़ रूबल होता है। यहाँ साल भर में जितनी लकड़ी मिलती है उसके मूल्य से यह बहुत अधिक है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक और पारिस्थितिकी विशिष्टताएं भिन्न चीजें होती हैं। मुझे विश्वस है कि "जीवन्त" जंगल के कार्यचालन की सम्पूर्ण परिधि का गहन पारिस्थितिकी विश्लेषण किया जाये — जिसमें उसके जल, मिट्टी, और क्षेत्र सुरक्षा, जलवायु-नियमन और मनोरंजन सम्बन्धी कार्यों पर विचार किया जाये तो उसके फलस्वरूप जंगल के लाभ का पर्याप्त रूप में पुनर्मूल्याकन करना होगा। यह याद रखना होगा कि उनका मूल्य बढ़ता जा रहा है।

वन्य उद्भिद जैवमण्डल की ऊर्जा का आधार होता है और उनके अंगभूत तत्वों को जोड़ने की कड़ी होता है। इसी कारण जंगल का कायम रहना जैव-मण्डलीय स्थिरता की एक मुख्य शर्त मानी जा

सकती है। अधुनातन शोध के तथ्य दिखलाते हैं कि जंगल को नष्ट कर मनुष्य अपने पांव के नीचे की जमीन खो देता है। इसके परिणामों की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है।

जंगल के बिना जमीन केवल भिन्न भूदृश्यावली ही नहीं होगी। विशेषज्ञ बढ़ते हुए बाढ़ों और भूस्खलन के प्रायः अधिकाधिक पड़ने वाले सूखे और गर्म हवा के विनाशकारी प्रभाव को—जिनकी रिपोर्टें प्रायः रोज मिलती हैं—निम्नतर सीमान्त से अब सम्बद्ध करते हैं जो पेड़ काटे जाने के परिणामस्वरूप वन क्षेत्र में कमी होने के कारण होता है। इससे सम्बद्ध बंजरपन बढ़ता जा रहा है। और मिट्टी का क्षरण हो रहा और फलस्वरूप काश्त योग्य भूमि का अवक्रमण (स्तर घटना) हो रहा है और ये सार्वभौमिक विनाश के अनुपात ग्रहण कर रहे हैं। यदि हमारी धरती जंगलों से वंचित हो गयी तो उस कारण होने वाली क्षति की सूची बहुत लम्बी है।

पृथ्वी का अध्ययन करने के लिए भू-अध्ययन उपग्रहों द्वारा हाल में हुए सोवियत पर्यवेक्षण से पता चलता है कि मानवजाति के लिए महत्वपूर्ण अनेक परामापियों में वन्य उद्भिद की भूमिका की तुलना विश्व महासागर से की जा सकती है। जंगल अकूत परिणाम में सौर ऊर्जा संचित करते हैं जिसे वे उद्भिद संश्लेषण द्वारा रूपान्तरित करते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि जमीन पर उद्भिद-समूह का 90 प्रतिशत वनों में संकेन्द्रित है। पृथ्वी पर जैवीय पदार्थ की विरचना में वनों की महत्ता का यह प्रमाण है। यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जंगल जैव-मण्डल में ऊर्जा और पिण्ड विनिमय में मुख्य भूमिका अदा करते हैं। वन से सम्बद्ध जैवीय पदार्थ विशाल परिणाम में आर्द्रता पर हमला बोलते हैं तो जंगल अपना प्रभाव जलविज्ञान पर उत्पन्न करते हैं।

पृथ्वी के वन्य आच्छादान न केवल वन क्षेत्र के निखरे हुए और अलग-अलग स्थल नहीं हैं, वल्कि एक एकीकृत प्रणाली है जो उसी प्रकार विश्व वन है जैसे विश्व के सागर और महासागर और महासागर विश्व-महासागर बन जाते हैं।

जंगल उद्योग के हमले से प्रकृति की रक्षा करने में मदद करता है। यह रहा एक उदाहरण। विशेषज्ञ वायु-मण्डल में जैवीय ईंधन के दहन उत्पाद कार्बन डाइऑक्साइड के संचय से आशंकित हैं। यह विश्व की जलवायु के लिए खतरा प्रस्तुत करता है क्योंकि "कांच-घर प्रभाव" के परिणामस्वरूप धरती गर्म होने लग सकती है। वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड के तत्व को जंगलों की मदद से नियमित करना संभव है।

पेड़ कार्बन डाइऑक्साइड के स्वाभाविक उपभोक्ता हैं जिससे लकड़ी का पिण्ड बनता है। हर घनमीटर लकड़ी आधा टन आत्मसात्कृत कार्बन डाइऑक्साइड है। यह बात भी महत्वपूर्ण है कि जैवमण्डल उद्भिद संश्लेषण की ही प्रक्रिया से लाभान्वित होगा। वायु-मण्डल से कार्बन डाइऑक्साइड लेकर जंगल उसके बदले अधिक महत्वपूर्ण तत्व ऑक्सीजन देते हैं। संभवतः यह जंगलों का, ऑक्सीजन की इन फैक्टरियों का श्रेय है कि हमारी धरती को अभी तक हवा की कमी नहीं महसूस हुई, जिसकी संभावना उद्योग द्वारा ऑक्सीजन की बढ़ती खपत के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो सकती है। पशु और उद्भिद जगत संयुक्त रूप से जितना ऑक्सीजन लेते हैं उससे 15 गुना अधिक आज का तकनीकी क्षेत्र लेता है।

कम से कम अभी मानवजाति महासागरों का आकार नहीं बदल सकती, उत्तरी ध्रुव के बर्फ को गला नहीं सकती है और सौर ऊर्जा के परिमाण को बढ़ा-घटा नहीं सकती है। पर यह उसके वश की बात है कि वह अपने घर धरती के वन्य जगत् को उन्नत कर सके। जब सोवियत वैज्ञानिकों ने परिवेश को अधिकतम रूप में जैवीय बनाने का विचार अग्रसारित किया तो उसके पीछे यही विचार निहित थे—उद्भिद, विशेष. रूप से पेड़ और झाड़ियां लगायें। आजकल सूखी जमीन के लगभग तिहाई भाग पर जंगल है पर और अधिक जंगल लगाने की गुंजाइश है।

जैसा कि मैं ऊपर चर्चा कर चुका हूँ कि जंगल के लाभदायक प्रभाव को हर स्तर पर—स्थानीय, क्षेत्रीय और सार्वभौमिक स्तर पर—महसूस किया जाता है। वैज्ञानिक आजकल इस बात का अध्ययन कर रहे हैं कि जंगल उद्योग से उत्पन्न तत्वों, औद्योगिक धूलि और वायु-धुन्ध से हवा को कितने कारगर ढंग से शुद्ध कर सकते हैं। उन लोगों ने जंगल के निनाद-रोधी और विकिरण से सुरक्षित रखने की कारगरता की माप की है तथा यह भी मापा है कि वे स्वास्थ्य-निर्माण सम्बन्धी ऋणात्मक चार्जित अयन और पादपाणु-नाशक तत्वों का कितना उत्पादन करते हैं। यह पता चला है कि जंगल सर्वोत्तम सफाई कर्मचारी हैं। एक हेक्टेयर में लगा चिनार का जंगल विशाल निर्वात-निर्मल कर्ता के समान प्रति वर्ष हवा से 36 टन धूलि पकड़ता है। भूर्जवृक्ष के जंगल के लिए यह आंकड़ा ज्यादा है यानी 68 टन धूलि पकड़ते हैं। यह दिलचस्प बात है कि जंगल की हवा में विद्यमान पादपाणु-नाशक सुगन्धित तत्व "उसी स्थान पर" रोगमूलक कीटाणुओं को नष्ट कर देते हैं। उदाहरणार्थ, आंव के विषाणु पोप्लर वृक्ष के पत्तों की दूरस्थ क्रिया से तत्काल नष्ट हो जाते हैं।

कुछ देशों ने "वन बगान" सर्जित करना शुरू किया है जिसकी ओर विशेषज्ञों का ध्यान अधिकाधिक दिया जा रहा है। इस प्रकार का वनरोपण औद्योगिक किस्म की कृषि के समान है, और बहुत लोग इसमें लकड़ी उत्पादन विस्तृत करने का सही अवसर देखते हैं। खाद्य और कृषि संगठन के विशेषज्ञों ने विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों एवं तकनीकी प्रयास और वित्तीय संसाधन एकजुट कर अन्तर्राष्ट्रीय वन बगान निर्मित करने का सुझाव दिया है। ऐसे बागान सारी दुनिया के उपभोताओं को लकड़ी की केन्द्रीयकृत आपूर्ति की व्यवस्था करेंगे। खाद्य और कृषि संगठन के विशेषज्ञों का यह विश्वास है कि इस प्रकार प्राकृतिक जंगल बच जायेंगे और जहाँ पेड़ बहुत तेजी से उगते हैं, उन क्षेत्रों की जैव-जलवायु क्षमता का उपयोग सबसे ज्यादा लाभदायक ढंग से होगा। अनुभव बतलाता है कि अनुकूल स्थितियों में वन बगान प्राकृतिक जंगलों की अपेक्षा सात गुना अधिक लकड़ी पैदा कर सकते हैं। मैं समझता हूँ कि भारत के गुजरात राज्य में तेज रफ्तार में शहतीर उत्पादन विधियों का व्यापक रूप में इस्तेमाल किया गया है।

सोवियत संघ में लकड़ी उद्योग समुच्चय को मौलिक रूप से नये आधार पर—जंगल का इस प्रकार सतत उपयोग कि वे खत्म नहीं हों—खड़ा किया जा रहा है। इस सिद्धान्त को कानूनी रूप दे दिया गया है तथा "वन सम्बन्धी कानून के मूलभूत सिद्धान्त" में मूर्त्त कर दिया गया है।

सोवियत संघ वन रोपण में विश्व का नेता है। यहाँ दसवीं पंच-वर्षीय योजनावधि (1976-1980) में एक करोड़ हेक्टेयर से अधिक जमीन में पेड़ लगाये गये। विगत कई वर्षों से इस देश में जितने पेड़ काटे जाते हैं उससे अधिक लगाये जाते हैं। इसके फलस्वरूप लगभग साढ़े चार करोड़ हेक्टेयर जमीन में जंगल का क्षेत्र 1965 से बढ़ गया है।

सोवियत नागरिकों ने जंगल पर तनाव नियमित करने और प्राकृतिक परिवेशों की विकासमान प्रक्रिया में मानव हस्तक्षेप पर सीमा लगाने के लिए नुस्खे तैयार किये हैं। वन जीवन के नियमों और सूक्ष्मताओं के ज्ञान से लैस मानवजाति जंगल की मदद कर सकती है। इस मदद के बिना जंगल उसी प्रकार कुछ नहीं कर सकते जिस प्रकार हम लोग जंगलों के बिना कुछ नहीं कर सकते। इसमें सम्बन्ध साफ-साफ है।□

['सोवियत भूमि' से साभार]

मलेरिया नियंत्रण संभव हो रहा है

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता
रसायन विभाग, इलाहाबाद कृषि संस्थान, नैनी, इलाहाबाद

मलेरिया ने जितना अपने प्रकोप से विनाश किया है उतना शायद अन्य किसी महामारी ने नहीं किया है। यूं तो मलेरिया को 19वीं सदी के आरम्भ में पहिचाना गया पर सदियों से यह जूड़ी-ताप नामक बीमारी के रूप में मनुष्यों को डसती आ रही है। भारत, चीन व असीरिया के प्राचीन ग्रन्थों में इस जूड़ी-ताप का उल्लेख मिलता है। 1880 ई० में फ्रांस के वैज्ञानिक ने **अलफान्से लावेरान** मलेरिया के रोगाणुओं को मनुष्यों के रक्त में पहली बार देखा तथा 19वीं सदी के आरम्भ में चिकित्सक **रानल्ड रॉस** ने भारत में ही यह खोज की कि इस परजीवी को मनुष्यों तक पहुँचाने वाले एकमात्र **एनाफलीज मच्छर** हैं जो एक रोगी व्यक्ति से दूसरे स्वस्थ व्यक्ति तक पहुँच कर भयंकर संक्रमण पैदा करते हैं। रोगी को काटते समय मलेरिया के रोगाणु मच्छर के चूसक नली में चिपक जाते हैं और जब यही मच्छर अन्य स्वस्थ व्यक्ति को काटते हैं तो रोगाणु उनके शरीर में प्रविष्ट कर जाते हैं। वैज्ञानिकों ने यह पता लगा लिया है कि इन परजीवियों का जीवन-चक्र मनुष्य तथा मच्छर दोनों के शरीर में होता है। **मादा एनाफलीज** मच्छर की लार ग्रन्थियों में **गैमेसाइट** अवस्था में पहुँच कर **स्पोरोजाइट** में परिवर्तित होती हैं जो मनुष्यों के रक्त में पहुँचकर शेष जीवन चक्र पूरा करते हैं और एक से असंख्य हो जाते हैं। इसके **गैमेसाइट** फिर अन्य काटने वाले मादा मच्छर की लार ग्रन्थियों में पहुँचकर रोगी से दूसरे स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में आसानी से पहुँच जाते हैं। इस प्रकार यह रोग महामारी का रूप धारण कर लेता है और पूरे क्षेत्र को अपने प्रभाव में ले लेता है। मलेरिया को फैलाने वाले इस मच्छर का पता लगाते ही इस स्रोत को ही समाप्त करने की वात सूझी। ये मच्छर अपने अण्डे गन्दे-गीले, दलदली स्थानों, रुके हुए गंदे पानी, पोखरों एवं जलाशयों, में देते हैं। 20वीं सदी के आरम्भ में जलाशयों, पोखरों तथा दलदली क्षेत्रों में जहरीले तेल डालकर इन मच्छरों की वृद्धि पर रोक किया जाने लगा। 1938 में स्वीटजरलैण्ड के वैज्ञानिक **पॉल मुलर** ने **डी० डी० टी० नामक** यौगिक का ईजाद कर लिया जिसमें इन मच्छरों की विनाश शक्ति भयंकर थी। विकसित देशों में सर्वप्रथम घरों के अन्दर दीवारो तथा पोखरों एवं गंदे स्थानों पर इस दवा का छिड़काव किया जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप और उत्तरी अमेरिका में तो इस महामारी का प्रकोप कम हो गया। इस महामारी का उपचार **कुनैन** द्वारा किया जाता था जो सर्वप्रथम **सिनकोना** वृक्ष की छालों में पाया गया था। पहले महायुद्ध से दूसरे विश्व महायुद्ध तक जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि में **कुनैन** के अलावा अन्य कई ओषधियों का विकास हो गया था जिनमें से **क्लोरोक्वीन**, **प्रोग्वानिल, प्राइमाक्वीन**, **पाइरोमैथामिन** आदि प्रमुख रूप से उपयोगी सिद्ध हुये।

उष्ण कटिबंध के देशों में इस महामारी ने 1950 के दौरान बढ़कर विकराल रूप धारण कर लिया था और प्रतिवर्ष 25 करोड़ से अधिक व्यक्ति इसकी चपेट में आने लगे। इसमें से 10 प्रतिशत व्यक्ति तो मृत्यु के मुँह में पहुँच जाते थे। केवल भारत में ही कई लाख लोगों की जानें गईं जिससे विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) का ध्यान इस महामारी को समूल नष्ट करने पर गया क्योंकि इसका असर देश के जन-स्वास्थ्य पर ही नहीं बल्कि कृषि एवं उद्योगों पर भी होता था। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 1950 के लगभग इन मच्छरों को मारने के लिये **डी० डी० टी०** का छिड़काव, भारत, मलाया तथा इण्डोनेशिया के शहरी

क्षेत्रों में करवाया। इसका परिणाम अच्छा हुआ। महामारी ने इन क्षेत्रों में घुटने टेक दिये और सफलता मिलते ही 1955 में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इस महामारी को जड़ से खत्म करने का संकल्प लिया। इससे **डी० डी० टी०** का छिड़काव ग्रामीण क्षेत्रों ने घर-घर में होने लगा और घर-घर दवाइयाँ बाँटी जाने लगीं। प्रत्येक देश इस महामारी से तंग तो थे ही इस कारण विश्व स्वास्थ्य संगठन के कार्यक्रम सफल बनाने के लिये अमेरिका, यूरोप, एशिया, हिन्द-महासागर और प्रशान्त महासागर के अधिकतर देशों की सरकारें जुट गईं। परिणाम यह हुआ कि मात्र पाँच वर्षों में ही लगभग 80 प्रतिशत व्यक्ति मलेरिया से छुटकारा पा गये।

राहत की साँस अभी ली भी नहीं गई थी कि एक अन्य समस्या सामने आने लगी और वह यह कि **डी० डी० टी०** के प्रति मच्छरों में प्रतिरोधिता उत्पन्न होने लगी। उन पर **डी० डी० टी०** का असर कम पड़ने लगा। विशेषकर विकसित देशों में प्रयोग की जाने वाली ओषधियों का जैसे **क्लोरडेन, डाइलड्रिन, मेलाथिआन** आदि जो **डी० डी० टी०** की अपेक्षा अधिक जहरीली थीं, इन मच्छरों पर असर कम होने लगा क्योंकि अधिक प्रयोग से उनमें प्रतिरोधिता उत्पन्न हो गयी। **एनाफिलीज** की अनेक प्रतिरोधी जातियाँ भी उत्पन्न हो गईं जो पहले की अपेक्षा अधिक उग्र थीं और उन पर इन रसायनों का असर भी कम होता था। यही नहीं, प्रचलित दवायें, **प्रोग्वानिल** तथा **पाइरीमैथामिन** का भी असर मलेरिया परजीवी पर कम होने लगा। मलेरिया की एक अन्य जाति **प्लास्मोडियम फालसीपैरम** सामने आई जिस पर अति उपयोगी दवा **क्लोरोक्वान** का कोई असर नहीं होता था। 1973 में 40 लाख लोग मलेरिया की चपेट में आ गये और 1977 आते-आते इस महामारी ने 110 लाख लोगों को धर दबोचा। अफ्रीका तथा भारत में 23 करोड़ से अधिक व्यक्ति रोगग्रस्त हुये जिसमें से 10 से 15 लाख लोग काल के गाल में समा गये।

1972 में तो केवल भारत में ही 20 लाख व्यक्ति मलेरिया से पीड़ित थे पर मात्र 4 वर्षों में 1976 तक यह संख्या 65 लाख तक पहुँच गई। ऐसा लगा कि उन्मूलन का सफर जहाँ से प्रारंभ हुआ था वहीं फिर से वापस आ गया। 1960 और 1970 के बीच सैकड़ों नये कीटनाशी रसायन बाजार में आ गये। वैज्ञानिकों ने एक से बढ़ कर एक रसायनों की खोज की जिनको व्यापारियों ने प्रशंसा कर घर-घर में पहुँचा दिया। इन कीटनाशी रसायनों के असर से भारत को हरित क्रान्ति में बेहद सफलता मिली। इन रसायनों में कृषि के शत्रु कीटों के साथ ही मच्छरों का भी सफाया करने के गुण विद्यमान थे पर महँगे होने के कारण आर्थिक समस्या रास्ता रोक रही थी। यही नहीं पर्यावरण प्रदूषित होने से जैव मंडल बुरी तरह असंतुलित होने लगा। परिणाम यह हुआ कि इन मच्छरों के शत्रु विनष्ट होने लगे। वैज्ञानिकों का ध्यान पर्यावरण की ओर खिंचते ही विकसित देशों में **डी० डी० टी०** एवं **अन्य** दीर्घ स्थाई रसायनों के प्रयोग पर रोक लगनी प्रारम्भ हुई। इसके फलस्वरूप मच्छरों को स्वतंत्रता मिलने लगी।

प्राकृतिक स्रोत की खोजों ने **बेसिलस थूरंजिएन्सिस** नामक जीवाणु के **इजराइलेंसिस** नामक किस्म से जीव विष तथा मच्छर के लार्वों व प्यूपों को खाने वाली मछली **गैम्बूसिया एफनिस** का विकास किया। कुछ निरोधक टीकों की ओर भी वैज्ञानिकों की दृष्टि है जो चेचक की भाँति मनुष्यों की रक्षा कर सकें। अमेरिका में **प्लासमोडियम फालसीपैरम** को परखनली में पैदा कर उनमें से प्राप्त **स्पोरोजाइट** का बन्दरों पर परीक्षण किया जा रहा है जिससे महत्वपूर्ण टीकों का ईजाद हो सके।

विकासशील देशों की आर्थिक समस्या भी इस महामारी को समूल नष्ट करने में बाधक है। शहरों की गन्दी बस्तियों में रहने वाले मजदूरों के रहन-सहन में परिवर्तन लाना नितान्त आवश्यक हो गया है क्योंकि यही मलेरिया के सर्वप्रथम शिकार हैं। गाँवों की दशा तथा आर्थिक स्तर भी मलेरिया के

उन्मूलन में बाधक हैं। सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात तो यह है कि गाँव का अशिक्षित जन समुदाय रोग ग्रस्त व्यक्ति की डाक्टरी चिकित्सा से अधिक श्रेयस्कर झाड़-फूँक को समझती है जिससे चिकित्सक के पास पहुँचते-पहुँचते रोग नियन्त्रण के बाहर हो जाता है। इस महामारी का प्रकोप गर्भवती महिलाओं एवं शिशुओं पर अधिक होता है जिनकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। मजदूर एवं कृषक समुदायों की जो इस महामारी के प्रथम शिकार है, अगर रक्षा न की गई तो देश के उत्पादन एवं अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक प्रतिकूल असर पड़ेगा।

मलेरिया से मुक्त होने के लिए अभी तक प्राप्त दवाओ में **क्लोरोक्वीन** ही सबसे सुरक्षित एवं सस्ती दवा है। केवल मलेरिया परजीवी **प्लास्मोडियम फालसीपैरम** पर इसका असर नहीं होता। संक्रमण फैलते ही इसकी पूरी जाँच की जानी चाहिये तभी उपचार कारगर हो सकते हैं। मलेरिया से प्रभावित प्रत्येक देश में राष्ट्रीय स्तर पर मलेरिया की रोक-थाम एवं उपचार के भरपूर प्रयत्न करने चाहिये। संक्रमण, कुपोषण तथा गन्दे रहन-सहन का एक साथ निवारण करना अधिक श्रेयकर होगा। □

काष्ठ संशोषण : आवश्यकता और रीतियाँ

बाबूराम वर्मा

उत्तरगिरि, 67 डॉ० बल्लूपुर, देहरादून—248001 (उ० प्र०)

भवन निर्माण में आजकल अनेक प्रतियोगी सामग्रियों के होते हुए भी लकड़ी का स्थान पूर्ववत् अक्षुण्ण है और उपस्कर बनाने में तो लकड़ी या सामान्य लकड़ी से ही विधायन करके बनाये हुए स्तरकाष्ठ (प्लाइवुड) या वेनियर (परत काष्ठ) जैसी फैशनदार सामग्री लोहे का उपस्कर मजबूत होने के बावजूद अपने स्थान पर डटी हुई है। कहीं-कहीं तो इसके लिए अपने विशेष गुणों के कारण लोहे और स्टील को धता बताकर लकड़ी ही मंगाई जाती है। मंहगी से मंहगी (क्योंकि प्रसिद्ध लकड़ियों का प्रदाय इतना नहीं रहा कि बढ़ती जनसंख्या के बढ़ते हुए जीवनस्तर को उनके मनमाफिक बढ़ती हुई इच्छाओं को पूरा करने के लिए इनको उपलब्ध किया जा सके) और ऐसे में यदि उपस्कर की लकड़ी बीच में तिड़कने, फटने या मरोड़ खाने पर उपचार करने पर भी आपकी नजरों से उतर जाए तो आप के मन पर क्या वीतेगी ? यही न कहेंगे कि ठेकेदार या मिस्त्री, जिसने उपस्कर बनाया या बनवाया पैसा खा गया और आपको वैसी लकड़ी नहीं दी, जैसी उपस्कर जैसी मन पसंद और चाव से बनाई जाने वाली वस्तुओं के लिए आपको दी जानी चाहिए थी। कैसी लकड़ी दी जानी चाहिए थी इसके लिए ? इसका उत्तर है संशोषित लकड़ी—एक निश्चित आर्द्रता तक सुखाई हुई लकड़ी जिसके बाद मौसम द्वारा उसकी नमी खींचा जाना बंद हो जाता है, ऐसी लकड़ी।

लकड़ी में नमी

जब तक वृक्ष सजीव बना खड़ा रहता है उसमें रस प्रवाह और भोजन निर्माण की रासायनिक क्रियाएं चलती रहती है। उसमें फलतः जीवन का लक्षण—नमी भी बनी रहती है। जब वृक्ष काटा जाता है तब उसकी यह नमी कम होने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है यानी वृक्ष (जो काटने पर लट्ठा या लकड़ी बन जाता है) सूखने लगता है। यदि वृक्ष को जंगल में ही खड़ा सूखने दिया जाए और तब काटा जाए जब पूरी तरह सूख जाए तो इसमें संकट यह है कि बहुधा कवक और कीड़ों के द्वारा उसकी काष्ठ उपयोगिता नष्ट हो जाती है। वह खात बनकर रत्ती भर भी काम की नहीं

रहती। इसके अलावा मानवों की अथाह जरूरतें हैं। यही जरूरतें खड़े वृक्ष कटवा रही है। वन संरक्षण की समस्याएँ मुंह बाए अलग खड़ी हैं। इतना होने पर भी मानव की जरूरतें पूरी करने के लिए लकड़ी उपलब्ध करनी होगी। लकड़ी कब काटी जाए—इसको बताने के लिए **समुपयोज्य परिधि** की कल्पना की गई है और प्रत्येक वृक्ष के लिए वह उम्र वन संवर्धन के सिद्धांतों के अनुसार निश्चित कर दी गई है जिसपर उसे काटा जा सकता है, बल्कि काटा जाना चाहिए क्योंकि उसके बाद मूल्य घटने की स्थिति आरम्भ हो जाती है। पर्वतीय क्षेत्रों में तो हमें वन लगाए रखना ही होगा।

वृक्ष कटते ही उसकी लकड़ी सूखना आरम्भ हो जाती है और तब तक सूखती चली जाती है जब तक वह वातावरण की नमी के साथ सामंजस्य प्राप्त नहीं कर लेती। यह प्रक्रिया "वायु संशोषण" का ही एक रूप कही जा सकती है। परन्तु लकड़ी को इस तरह सूखने के लिए उसकी अपनी मर्जी पर नहीं छोड़ा जा सकता। सूखने के लिए उसे मानव की जरूरतों के अनुसार चलना होगा, और ऐसा प्रकाष्ठ तैयार कर देना होगा जो "दोषमुक्त" हो—सर्वथा न सही तो अधिकांशतः तो उसे लकड़ी की प्रायिक कमियों से बरी होना ही चाहिए। यहीं से "**काष्ठ संशोषण**" की शुरूआत हो जाती है। प्रकृति पर यह कार्य छोड़ देने से आधी लकड़ी भी हाथ नहीं आएगी।

काष्ठ संशोषण क्या है ?

थोड़े शब्दों में कहना चाहें तो यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा लकड़ी को प्राकृतिक या कृत्रिम उपायों द्वारा विधिपूर्वक इस प्रकार सुखाया जाता है कि उसमें सूखते समय प्रायः आने वाले दोष, जैसे तिड़कना, फटना, सिरे फटना, मरोड़ खाना, कीड़े लगना, कवक लगना जैसे दोष न आने पाएँ। लकड़ी को उस सीमा तक सुखाना होता है जिसके पश्चात् वह वातावरण से सामंजस्य प्राप्त कर लेती है। सामान्यतः उसमें यह नमी तापक शुष्क भार का लगभग 12 से 15 प्रतिशत तक रहती है। रन्ध्रों और वाहिनियों के कारण लकड़ी नमी ग्रहण करने वाली वस्तु है और वातावरण में नमी बढ़ने पर उससे सामंजस्य स्थापित करने के लिए वह नमी ग्रहण कर लेती है। वातावरण की नमी घटने पर उसे उद्वाष्पन द्वारा निकालती भी है। घटा बढ़ी की इन स्थितियों से बचने के लिए उससे बनी वस्तुओं में नमी प्रतिरोधी लेप भी कराया जा सकता है। तो भी उसे "क्रान्तिक" (क्रिटिकल) नमी मात्रा तक जल्दी से जल्दी सुखाना तो है ही ताकि मानवों की "कल की जरूरतें" आज ही पूरी की जा सकें।

यहीं हमें लकड़ी के दो विशिष्ट भागों, **रसकाष्ठ** और **सारकाष्ठ** को भी समझ लेना चाहिए जिन्हें सामान्य बोलचाल की भाषा में **कच्ची लकड़ी** और **पक्की लकड़ी** कह लिया जाता है। रसकाष्ठ या कच्ची लकड़ी में नमी की मात्रा अधिक होती है और उसके मुकाबले में सारकाष्ठ एक प्रकार से सूखी हुई ही होती है। वृक्ष की जीवितावस्था में भी रस प्रवाह और भोजन बनकर उसका वृक्ष का सभी अंगों-प्रत्यंगों में पहुँचने का माध्यम रसकाष्ठ वाला भाग ही होता है। लकड़ी में रसकाष्ठ का अंश जितना अधिक रहेगा, उसको विधिवत् संशोषित करने की आवश्यकता भी उतनी ही अधिक रहेगी।

विधिवत संशोषण करने की एक आवश्यकता इस बात से भी स्पष्ट हो जाती है कि लकड़ी अपने आप बाहरी स्तरों पर सूखना शुरू होती है, न्दर की तरफ कम। इसके अलावा लकड़ी में (1) केशाल सक्रियता (2) वाष्प और दवाव का अन्तर (3) लकड़ी के विभिन्न भागों की नमी में अन्तर और (4) प्रसरण से भी लकड़ी सूखने की गति एक समान नहीं होती। इस असमान शुष्कन से ही लकड़ी में सूखते समय दोष उत्पन्न होते हैं जिनको रोकने के लिए वैज्ञानिक ढंग से संशोषण करना अनिवार्य हो जाता है।

काष्ठ संशोषण न करने के दोष

लकड़ी में प्रारम्भिक नमी की मात्रा भिन्न-भिन्न

काष्ठ जातियों में भिन्न-भिन्न होती है। इसकी सीमाएँ तापक शुष्क भार के 30 प्रतिशत से 200 प्रतिशत तक हो सकती हैं। स्पष्ट है कि इतनी नमी से सूखकर 12-15 प्रतिशत नमी तक आने में लकड़ी को समय भी लगेगा तथा उसे अनेक दबावों और झमेलों से भी गुजरना होगा। वन अनुसन्धान संस्थान के प्रकाष्ठ प्रदर्शनालय में प्रदर्शित एक नमूने में एक घन फुट लकड़ी और उसी के साथ प्रारम्भिक अवस्था में और संशोषित कर लिया जाने पर उसमें कितना पानी रहता है यह दिखलाया गया है। घटकर इसकी मात्रा लगभग मूल नमी का 1/10 रह जाती है। प्रदर्शनालय में वे दोष भी बताए गए हैं जो न सुखाने या कम सुखाने पर आ जाते हैं। लकड़ी तिड़कने से उसके स्तर पर रेखाएँ या दरार पड़ जाती हैं, पर वे बहुधा अधिक गहरी नहीं होतीं। विपाटन उस अवस्था को कहा जाता है जिसमें ये दरार गहराई तक चली जाती है। चिरने-फटने में ये सिरे तक पहुँच जाती है। फटना अरीय भी हो सकता है और सूत्र के समानान्तर भी। तिड़की हुई लकड़ी को रंदा चलाकर उसका उतनी गहराई तक का भाग निकाल कर ठीक किया जा सकता है (क्षति मामूली रहेगी) पर फटी हुई लकड़ी में क्षति उससे कई गुना हो जाएगी। यदि ये बातें तैयार उपस्कर में बाद में हों तो तिड़कना भी उतना ही बुरा लगेगा, पर काष्ठ की शक्ति पर उसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा। इन दोनों के मुकाबले में मरोड़ आना अधिक गम्भीर दोष है क्योंकि यह उसकी शक्ल ही बिगाड़ देता है और उसका उपयोग भी कुप्रभावित करता है। मेज जैसी वस्तुओं में उसके पटड़े पर मरोड़ आने पर उसकी कल्पना सहज की जा सकती है। ड्राइंग बोर्ड जैसी वस्तु को तो यह दोष बेकार ही कर देगा। जब यह मरोड़ लकड़ी के दोनों सिरों पर आए और बीच का भाग उसी स्तर पर बना रहे तो मरोड़ प्याले का रूप ले लेगी। मरोड़ कहीं ऊपर कहीं नीचे हो गई हो तो इसे हम ऐंठन की संज्ञा देते हैं। यह ऐंठन सरल से अति जटिल तक हो सकती है।

ये दोष तो होंगे ही, इनसे भी बढ़कर हरी लकड़ी की नमी कवक और कीड़ों को खुला निमन्त्रण है और आँखों देखते अपनी लकड़ी को उसके दुश्मनों के हवाले कर देने से कुछ भी कम नहीं है। लकड़ी की दुश्मन नम्बर एक दीमक को सभी जानते हैं पर उसके अतिरिक्त भी बहुत से कीड़े (घुण) हैं जो अपनी जातक, कोशित से पूर्णकीट अवस्था तक आते-आते लकड़ी को बुरादा बना डालते हैं और उसकी शक्ति को अत्यधिक घटा देते हैं।

इन सबसे बचने के लिए, लकड़ी की शक्ति बढ़ाने के लिए उपयोग से पूर्व लकड़ी का संशोषित किया हुआ रहना परमआवश्यक है। संशोषण से लकड़ी पूर्वापेक्षा मजबूत हो जाएगी जैसे रोग की रोकथाम रखने से शरीर अधिक कार्यक्षम रहता है।

वायु संशोषण

काष्ठ संशोषण की पहली रीति वायु संशोषण यानी लकड़ी को खड़े या पड़े चट्टे लगाकर, या बल्लियों को दीवार के सहारे खड़ा करके सूखने के लिए रखना, सस्ती है पर उसमें समय बहुत लगता है, कीड़ों और कवकों पर नियन्त्रण कम हो पाता है, संशोषण भी बहुधा ठीक-ठीक नहीं हो पाता। इसलिए आपाक संशोषण का ही अधिक चलन है। इतना होने पर भी लकड़ियों की प्रारंभिक नमी को एक खास नमी मात्रा तक लाने के लिए वायु संशोषण करना ही उपादेय रहता है। उस नमी तक आ जाने पर फिर लकड़ियों का आपाक संशोषण किया जाता है। आपाक एक ऐसा कमरा है जिसके अन्दर चट्टा लगाकर, पंखा लगाकर भट्ठी या बिजली से उसे गरम करके, उस गरम हवा से लकड़ी की नमी को दूर किया जाता है, और इस प्रकार लकड़ी सूखकर 12-15 प्रतिशत नमी तक आ जाती है। आपाक हो या वायु दोनों में मोटी लकड़ियाँ देर से सूखती हैं, चिरे हुए तख्ते या अन्य आकारों में लाई हुई लकड़ियाँ कम समय में सूख जाती हैं। तख्ते और बर्गे बनाकर सुखाना उत्तम रहता हैं। वायु संशोषण में सुखाने के लिए रखी गई लकड़ी अधिक समय तक स्थल को घेरे रहती है और

वायु संशोषण लागत थोड़ा इस दृष्टि से बढ़ाती है कि संशोषण स्थल का किराया अधिक देना पड़ता है। यह रीति जगह और मौसम पर बहुत अधिक निर्भर है। इसलिए पक्के तौर पर यह कहना मुश्किल ही रहता है कि ऐसा ठेकेदार लकड़ी कब दे पाएगा। बरसात के दिनों में तो इस रीति से लकड़ी सुखाने की बात सोचना भी बेकार है। वायु संशोषण की बाहरी दशाएँ जगह-जगह इतनी भिन्न रहती हैं कि उनसे संशोषण पर आने वाली लागत में भी बहुत अन्तर रहता है। फिर भी अनुमान यह लगाया है कि इस रीति द्वारा 55-65 दिन लग जाते हैं और काष्ठ संशोषित करने की लागत 60-70 रुपये प्रति घन-मीटर आती है। पूरी तरह वायु संशोषण पर निर्भर करना हो ही नहीं सकता। मोटे माल का वायु संशोषण करना ही चाहिए।

आपाक संशोषण

आपाक संशोषण से वायु संशोषण के मुकाबले संशोषण लागत अधिक आती है, परन्तु संशोषण करने में लगने वाला समय काफी कम, 55-65 दिन से 7-16 दिन हो जाता है। मौसम की जबर्दस्ती भी इस रीति पर नहीं चल पाती क्योंकि यह कमरा होता है जिसके अन्दर लकड़ी का चट्टा लगाया जाता है। बिजली और पंखे लकड़ी सुखाने का काम करते हैं। इस रीति में काफी निश्चितता से कहा जा सकता है कि माल तैयार होकर कब मिलेगा और इसका उत्पादन भी ज्यादा होता है। संशोषण करने की लागत लगभग 153-287 रु० प्रति घनमीटर आती है।

इस रीति का एक दोष है। यदि उसे दोष कहने की अनुमति दी जाए तो। और वह यही कि काफी खर्च वाला धन्धा है एक प्रभावशाली एकक (20′ × 11′ × 5′ आकार के दो कमरों वाला संशोषण आपाक जिसकी धारिता 2500 घनफुट माल प्रतिमास संशोषित करके देना होगा) लगाने व चलाने पर लगभग पौने दो लाख रुपये खर्च होंगे क्योंकि इसके साथ वाष्पित्र (बायलर) भी लगाना होगा जिसे चलाने को कम से कम बी० एस०-सी० तक पढ़ा और आपाक चलाने में प्रशिक्षित व्यक्ति रखना होगा। इसी कारण यह उन्हीं लोगों के बस का रोग है जो बड़े परिमाण पर काम करते हैं और पर्याप्त धन लगाने की जिनमें क्षमता है।

वन अनुसंधान ने कई किस्म के आपाक विकसित किए हैं जिनमें (1) भीतरी पंखों वाला परिवहण प्रतिवर्ती आपाक (2) प्रत्यक्ष तापित बलात् परिवहण वाला भट्ठी आपाक (3) परोक्ष तापित भीतरी पंखों वाला भट्ठी आपाक (4) परोक्ष तापित औष्मिक परिवहण भट्ठी आपाक (5) गर्म वायु आपाक (6) वायुसंघनन आपाक (7) परत संशोषी (8) स्तरकाष्ठ संशोषण कक्ष उल्लेखनीय हैं (इनके विवरण के लिए देखें हिन्दी ग्रन्थ माला सं० 31 भारतीय लकड़ियाँ को सुखाने के लिए प्रकाष्ठ संशोषण आपाक, ले० एम० ए० रहमान, मूल्य 1 रु० 60 पै० (प्रकाशन प्रबन्धक दिल्ली 6 से प्राप्त)। पर ये सब अधिक प्राविधिक विषय हैं और किसी के लिए कौन सा आपाक लगाना उपयुक्त रहेगा उसे अपनी आवश्यकताएँ बताते हुए वन संस्थान की काष्ठ संशोषण शाखा के प्रभारी अधिकारी को ही लिखना चाहिए। वैसे भी एक लेख में इस तरह का विशिष्ट परामर्श दिया भी नहीं जा सकता। इसमें पूंजी लगानी पड़ती है तो पूंजीपति को भी सभी बातों को व्यावसायिक दृष्टिकोण से सोचकर ही आगे बढ़ना होगा। सामान्य व्यक्ति के लिए इतना जान लेना काफी है कि देश में अनेक स्थानों पर काष्ठ संशोषण एकक लगाए हुए हैं। और उनसे संशोषित लकड़ी बाजार में मिल सकती है। ऐसी लकड़ी उपयोग करना दूरदर्शितापूर्ण और लंबे समय के विचार से लाभप्रद रहेगा। यह क्षेत्र व्यावसायिकों का है और उचित परामर्श एवं मार्गदर्शन प्राप्त करके वे अथवा प्रकाष्ठ अधिक परिमाण में उपयोग करने वाले सरकारी विभाग उपयुक्त प्रकाष्ठ संशोषण आपाक अपने लिए लगवा सकते हैं। काष्ठ संशोषण के सैद्धान्तिक और भारतीय दशाओं में इसके व्यावहारिक पक्षों पर श्री एम० ए० रहमान ने

बहुत काम किया है। वे 1940 से 31-1-1965 तक वन संस्थान में काष्ठ संशोषण से सम्बद्ध रहे और अंततः जनवरी 65 में अध्यक्ष होकर सेवा निवृत्त हुए। यों रासायनिक संशोषण भी चलता है जिसमें नमी प्रतिरोधी रसायन पदार्थ उपयोग किये जाते हैं, परन्तु यह कार्य विधिवत् संशोषण का (जो वायु या आपाक संशोषण ही होगा) स्थान नहीं ले सकता। उनकी सहायता के लिए बाद में जरूर उपयोग में लाया जा सकता है क्योंकि ऐसे रसायनों का लेप प्रकाष्ठ द्वारा नमी ग्रहण को रोकता है।

काष्ठ संशोषण की नई प्रवृत्तियाँ

प्रकाष्ठ संशोषण क्षेत्र में सबसे नया नाम है **सौर संशोषण** का जिसमें सूर्य की ऊर्जा को ग्रहण करके गर्मी प्राप्त की जाती है और उस गर्म हवा को पंखों द्वारा या बिना पंखों के ही चट्टे में परिवहण कराकर लकड़ी को सुखाया जाता है। कई सौर संशोषण आपाक देश में लगाए भी जा चुके हैं। अनुसंधान द्वारा इस आपाक को निरन्तर श्रेष्ठतर बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसके लाभ प्रत्यक्ष हैं कि इसमें बिजली प्रचलन कर्मचारी, वाष्पित्र आदि का कोई खर्च नहीं होता और आपाक संशोषण के मुकाबले में इसमें चाहे समय अधिक लगता हो, संशोषण ठीक-ठीक हो जाता और संशोषण करने की लागत कम हो जाती है।

संशोषण आपाक लगाना विशेषज्ञों, सरकार अथवा पूंजीपतियों का कार्य है। सामान्य जन को तो यही समझना चाहिए कि संशोषित लकड़ी उपयोग करना लाभ का सौदा है और थोड़ा मंहगा होने पर भी लम्बे समय तक चलने के कारण अन्ततः यह सौदा सस्ता ही सिद्ध होता है। □

विज्ञान वार्ता

संकलन : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

(1) तृतीय विश्व में कैंसर का गहराता संकट

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने चेतावनी दी है कि भारत सहित तृतीय विश्व के उन देशों में एक दशक में फेफड़े का कैंसर बड़े पैमाने पर बढ़ सकता है, जहाँ धूम्रपान की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ रही है।

अब तक जारी अनेक रिपोर्टों में विश्व स्वास्थ्य संगठन के विशेषज्ञों ने कहा है कि इस रोग का प्रसार धूम्रपान के पक्ष में सुनियोजित अभियान चलाने के कारण हो रहा है। धूम्रपान ने तीसरे विश्व के देशों की जीवन शैली ही बदल दी है।

एक अन्य रिपोर्ट में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने कैंसर के आँकड़े देते हुये कहा है कि औद्योगिक देशों की तुलना में तृतीय विश्व के देशों में कैंसर होने और इस रोग से होने वाली मौतों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। रिपोर्ट में प्रत्येक देश की विशेष सामाजिक आर्थिक स्थितियों के अनुरूप कैंसर के नियन्त्रण के लिये दीर्घकालिक राष्ट्रीय योजना के विकास की सलाह दी गयी है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के विशेषज्ञों के अनुसार वैसे तो विकसित और विकासशील देशों में अनेक किस्म के कैंसर का प्रसार है लेकिन मुख, फेफड़े, यकृत, गर्दन और भोजन-नली के कैंसर विकासशील विश्व की प्रमुख समस्या हैं। इनका प्रसार जलवायु के कारण वा अस्वास्थ्यकर जीवनचर्या के कारण होता है।

हाल में अनुमान लगाया गया है कि कैंसर के नये मामलों की वार्षिक संख्या 59 लाख से ज्यादा है जिसमें 29 लाख का प्रसार विकसित देशों में है और 30 लाख से ज्यादा मामले विकासशील देशों में है।

विश्व में हर वर्ष कैंसर से 43 लाख लोग मरते हैं जिनमें 23 लाख मौतें विकासशील देशों में और 20 लाख विकसित देशों में होती हैं।

(2) इलाहाबाद में सीवर के पानी से बायो गैस

केन्द्रीय सरकार इलाहाबाद में शीघ्र ही सीवर के पानी से बायो गैस संयंत्र स्थापित करने जा रही है। इस कार्य के लिये गऊघाट पंम्पिग स्टेशन को चुना गया है। इस आशय की जानकारी नगर महापालिका के प्रशासक श्री राधेश्याम अग्रवाल ने दी।

(3) अंटार्कटिका में चन्द्रमा के पत्थर की खोज

हिमखण्ड का अध्ययन करने वाले एक भूगर्भ वैज्ञानिक को अंटार्कटिका पर ऐसा एक छोटा सा टुकड़ा मिला है जो चाँद से पाये गये पत्थर से मिलता जुलता है।

इस अजीबोगरीब पत्थर के टुकड़े ने अंतरिक्ष वैज्ञानिकों को ग्रहों और उल्कापात के सिद्धान्त पर फिर से सोचने पर मजबूर कर दिया है। इस पत्थर के टुकड़े को जर्मनी के एक वैज्ञानिक **जॉन शुट** ने अंटार्कटिका से एकत्र किया है। इस टुकड़े का रंग हरापन लिये हुये भूरा है। इसके ऊपर काँच की एक परत जैसा कुछ है। वैज्ञानिकों ने इसे **अलहा** 81005 नाम दिया है क्योंकि अंटार्कटिका और चाँद से लाये गये पत्थर के नमूनों की संरचना में काफी समानता है।

वैज्ञानिक पहले इस बात को मानने में हिचकिचा रहे थे कि यह टुकड़ा चाँद से आया है क्योंकि यह निष्कर्ष लुप्त सिद्धान्तों पर आधारित है। यह समझना मुश्किल है कि वह कौन सी प्रक्रिया होगी जिससे उल्का इतने बल और वेग से चाँद की सतह से टकराने और चाँद की चट्टानों के सम्पर्क में आने के बाद पृथ्वी पर टपके। **अलहा** 81005 में बहुत से तत्व जिस अनुपात में हैं, वे चाँद की चट्टानों से बहुत मिलते जुलते हैं। **अलहा** के सिलसिले में एक और रोचक खोज सामने आयी है। यह चाँद की उस सतह से टकराया होगा जो भू-परिक्रमा के दौरान पृथ्वी के सामने नहीं आती। वैज्ञानिकों के लिये यह एक रोचक विषय है कि **अलहा** 81005 चाँद की दूसरी सतह से टकरा कर पृथ्वी पर पहुँचा है।

(4) मसालों के कीटाणु अब गामा किरणों से नष्ट किए जायेंगे

भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, बंगलौर के **श्री एस. आर देसाई** के अनुसार कोचीन से बाहर भेजे जाने वाले मसालों के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिये भाभा किरणों का प्रयोग किया जायेगा। इस कार्य के लिये 30 लाख रु० व्यय किये जायेंगे। श्री देसाई अनुसंधान केन्द्र में बायोकेमेस्ट्री विभाग के अध्यक्ष हैं। उन्होंने कहा कि कीटाणुओं से मुख्यत: काली मिर्च और बड़ी इलायची को हानि होती है अत: मुख्य रूप से इनका उपचार कोचीन से बाहर भेजने के पहले किया जायेगा।

(5) प्रति वर्ष कीटनाशक दवाओं से दस हज़ार मौतें

विकासशील देशों में हर साल लगभग दस हज़ार व्यक्ति कीटनाशक ज़हर से मर जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास अनुसंधान केन्द्र के अनुसार पूरे विश्व में हर बरस लगभग साढ़े सात लाख लोग कीटनाशक जहर से बीमार होते हैं और इनमें से हजारों लोगों की मृत्यु हो जाती है। इनमें से अंदाजन पौने चार लाख मामले विकासशील देशों में होते हैं जिनमें दस हज़ार लोग मारे जाते हैं।

रिपोर्ट में इस संबंध में विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक रिपोर्ट का हवाला देते हुए बताया गया कि कीटनाशक जहर से होने वाली मौतों में 8 प्रतिशत विकासशील देशों में होता है।

रिपोर्ट के अनुसार श्रीलंका में इस तरह की मौतें पूरे विश्व में सबसे अधिक होती हैं। श्रीलंका

में प्रति एक लाख व्यक्तियों में ऐसे मामलों का राष्ट्रीय औसत 104.5 है।

1977 में जहाँ श्रीलंका में मलेरिया, टिटेनस, डीप्थीरिया, कालीखाँसी आदि से 646 मौतें हुई वहीं कीटनाशक दवाओं के कारण 938 व्यक्ति मौत के मुंह में चले गये।

उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार 1972 के बाद से कीटनाशक बाज़ार में वार्षिक दर से पाँच प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस हिसाब से कीटनाशक ज़हर के मामले भी बढ़े।

रिपोर्ट के अनुसार इस बीमारी की मौतों के लिए कई कारण उत्तरदायी हैं। मसलन जहरीलें रसायनों की वृद्धि जिनको कामगार तैयार करते हैं और इन देशों में अधिकतर खेतिहर कामगार हैं जो कि कीटनाशकों के विषैलेपन की घातकता को नहीं जानते हैं।

इसके अलावा रंग, कीटनाशक डिटरजेंट, सुगंधित दवाइयों तथा प्लास्टिक की चीजों में खतरनाक तत्व मिलाये जा रहे हैं।

रिपोर्ट के अनुसार चालीस हजार रसायन अभी तक ऐसे हैं जिनके जहरीलेपन के परीक्षण की जांच करने के लिए 80 साल लगेंगे।

विकासशील देशों में विकसित देशों की तुलना में कीटनाशक ज़हर से हुई मौतों के मामले कहीं अधिक होते हैं और इसकी वजह यह है कि विकासशील देश इस तरह के रसायनों के प्रमुख आयातकर्त्ता होते हैं।

विकासशील देशों में कीटनाशक ज़हर से होने वाली मौतों में वे मामले शामिल नहीं हैं जिनका असर काफी दिनों बाद व्यक्ति के शरीर पर दिखायी देता है मसलन कैंसर व जन्मगत विकृतियां आदि।

रिपोर्ट में उन्हीं मामलों की चर्चा की गयी है जहाँ पर इनसे व्यक्ति की फौरन मौत हो गयी या वह इनके प्रभाव से फौरन ही बीमार पड़ गया।

(6) माँ-बाप की यौन-गड़बड़ियों से बच्चों में ऊँची मृत्यु दर

नवजात शिशुओं की ऊँची मृत्यु-दर का सीधा संबंध माता-पिता की क्रोमोसोमजन्य असामान्यता से उत्पन्न यौन-गड़बड़ियों से हो सकता है ऐसा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के डॉ० आर० बमेजाई द्वारा किये गये अध्ययन से ज्ञात होता है।

इस अध्ययन में 12 से अधिक परिवारों की तीन पीढ़ियों का विश्लेषण किया गया जिसमें अन्य बातों के अलावा एक मामला ऐसा भी था जिसमें 17 शिशु अपने जन्म के कुछ वर्ष के भीतर ही मर गये।

इंडियन जर्नल ऑव एक्सपेरीमेंटल बायोलॉजी में प्रकाशित एक रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि यौन-क्रोमोसोम एक्स की गड़बड़ी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलती है और नवजात शिशुओं की मृत्यु के लिए यही सबसे बड़ा कारण होता है। इन परिवारों की मृत्यु के अलावा अन्य यौन-गड़बड़ियाँ भी पीढ़ी दर पीढ़ी चली आती हैं।

आनुवंशिक विश्लेषण और कोशिका अध्ययन कर डॉ० बमेजाई ने, एक माडल बनाया है जिसके माध्यम से उन्होंने यह बताने की कोशिश की है कि यौन-गड़बड़ियों से नपुंसकता और नवजात शिशुओं की मृत्यु की दर में बढ़ोत्तरी होती है।

रिपोर्ट में कहा गया है कि नवजात शिशुओं की मृत्यु और यौन-गड़बड़ियाँ तीन ज्ञात जीन्स (इन्फरटिलिटी जीन, नार्मल जीन और लीथल जीन) के विभिन्न संश्रयों के कारण भी हो सकती है। ये जीन्स प्रायः शुक्राणुओं और अण्डों के एक्स क्रोमोसोम में होते हैं।

(7) देश की अस्सी प्रतिशत आबादी दंत-रोग से ग्रस्त

भारत की अस्सी प्रतिशत आबादी दाँत की बीमारियों से पीड़ित है।

यह जानकारी डॉ० क्यू० मिस्त्री ने दी। डॉ० मिस्त्री 17 जून को बंबई में प्रारम्भ हुई "भारत में मुँह के स्वास्थ्य का लक्ष्य" की पहली कार्यशाला के अध्यक्ष थे।

इस कार्यशाला में भारत तथा विदेशों व विश्व स्वास्थ्य संगठन के दाँतों के लगभग 150 डॉक्टरों ने भाग लिया।

(8) पौधों की सहायता से हीरों की खोज

सोवियत वैज्ञानिकों का कहना है कि पौधों की सहायता से हीरों को खोज की जा सकती है। उन्होंने पता लगाया है कि जिन खदानों में हीरों के मिलने की संभावना रहती है वहाँ पैदा होने वाले पेड़-पौधों की पत्तियों में वैनाडियम, निकल और कोबाल्ट के अंश पाये जाते हैं। पत्तियों के विश्लेषण से उनमें जमा होने वाले तत्वों की मात्रा के आधार पर वैज्ञानिकों द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि किस स्थान पर हीरों के मिलने की कितनी संभावना है।

सोवियत संघ में कृत्रिम हीरे तैयार करने की टेक्नोलॉजी का भी बड़ी तेजी के साथ विकास हो रहा है। हाल में ही लेनिनग्राद की एक प्रयोगशाला में अतिउच्च तापमान के प्रयोग से **दो किलो वजन का एक कृत्रिम हीरा** तैयार किया गया है। इस प्रकार क्रिस्टल हीरे कड़ेपन की दृष्टि से प्राकृतिक हीरों से किसी भी हालत में घटिया नहीं होते हैं और इनमें ड्रिलिंग, लेसर और प्रकाश संबंधी टेकनोलॉजी के विकास की नई संभावनाएं प्रस्तुत होती हैं क्योंकि इनमें कृत्रिम हीरों का ही उपयोग होता है।

(9) बैक्टीरिया से प्रोटीन-युक्त चारा

सोवियत वैज्ञानिकों का सुझाव है कि बैक्टीरिया जैसी सूक्ष्म जीवरचनाओं के प्रयोग से जानवरों और मुर्गियों के लिए बहुत पौष्टिक चारा तैयार किया जा सकता है। लेनिनग्राद, वोल्गा क्षेत्र और साइबेरिया के फार्मों में पाले गये मवेशियों आदि को इसी प्रकार का चारा खिलाने से बहुत अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं और मवेशियों तथा मुर्गियों की उत्पादकता बहुत बढ़ गई है। इसके लिए "मुकोआइड बैसिली" नामक बैक्टीरिया का उपयोग किया गया। इनमें 65 प्रतिशत प्रोटीन, 17 प्रतिशत एमिनो एसिड और 18 प्रतिशत खनिज द्रव्य होते हैं। इनका उपयोग खाद्य उद्योग के अपशिष्ट पदार्थों पर किया गया जिन पर बड़ी संख्या में और तेजी के साथ "बैसिली" जीवाणु उत्पन्न हो गये और कुछ ही घंटों में इनकी संख्या कई सौ गुना बढ़ गई। □

चिंतनपरक लेख

युद्ध और पर्यावरण

श्रीमती मंजुलिका लक्ष्मी
5 ई/4 लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद 211002

बीसवीं सदी में हुये विश्व युद्धों के पर्यावरण पर हुये विध्वंसक प्रभाव से आज कोई अनजान नहीं है। संसार के सभी मानवतावादी विचारक और शांतिप्रिय नेता सिद्धान्त रूप में इससे सहमत हैं कि अनुत्तरदायित्वपूर्ण साम्राज्यवादी नीतियां आज सम्पूर्ण मानवता और पर्यावरण के लिए गम्भीर खतरा साबित हो सकती हैं। विश्वयुद्धों के दुष्प्रभावों और नृशंस नरसंहारों से मानवता ने पहले ही बहुत हानि सही है। युद्ध की विभीषिका न केवल मानव जीवन को क्षति पहुँचाती है बल्कि वन्यजीवन, भौतिक संसाधनों, पर्यावरण और पशुधन पर भी अपना दुष्प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। युद्ध न केवल युद्धकाल में वरन् अपनी समाप्ति के बाद भी अपने विध्वंसक प्रभावों से दुनिया में तबाही मचाये रहते हैं। अब तो आज की दुनिया में युद्ध के क्षेत्र भी बदल रहे हैं। प्रथम विश्वयुद्ध धरती पर लड़ा गया था, द्वितीय युद्ध मुख्यतः हवाई युद्ध था और ऐसा लगता है कि यदि तीसरा युद्ध लड़ा गया तो वह अंतरिक्ष में होगा।

पिछले 40 वर्षों से मानव जाति एक और सम्भावित विश्वयुद्ध के आतंक के तले घुट रही है। नाभिकीय हथियारों की दौड़ और उनके बढ़ते भण्डारों के कारण ऐसी आशंका उत्पन्न हो गयी है कि तृतीय युद्ध होने पर मनुष्य पुनः आदिम युग में लौट जायेगा। इस संबंध में विख्यात वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने सत्य को कितने निकट से पहचाना था जब यह पूछे जाने पर कि तृतीय विश्वयुद्ध किस प्रकार के हथियारों से लड़ा जायेगा, उन्होंने जवाब दिया कि तृतीय का तो पता नहीं पर चतुर्थ विश्वयुद्ध अवश्य आदिम युग की भाँति पाषाण आयुधों से लड़ा जायेगा। यानी तृतीय युद्ध की दशा में हमारी सभ्य मानवजाति इतनी अधिक विनष्ट हो चुकेगी कि हम पुनः उस बिन्दु पर जा पहुँचेंगे जहाँ से हमारा इतिहास प्रारंभ हुआ था।

हम सभी इस तथ्य से परिचित हैं कि युद्ध हमारी समस्याओं का कोई संतोषजनक समाधान नहीं प्रस्तुत करता। इसके विपरीत वह अनेक नई-नई समस्याओं को जन्म देता है या पिछली समस्याओं के आयामों में ही वृद्धि करता है। युद्ध के उपरान्त फैलने वाली महामारी, परमाणु हथियारों के विकिरण, जानमाल की क्षति, जीव जन्तुओं का विनाश और जल वायु, कृषि का प्रदूषण आदि सभी पक्ष मिलकर कैसी दारुण विनाशकारी स्थिति को जन्म देते हैं, इसका ज्वलंत प्रमाण हैं हिरोशिमा और नागासाकी। इन स्थानों पर गिराये गये परमाणु बमों ने एक तथ्य पूर्णतः सिद्ध कर दिया कि भविष्य के युद्ध पर्यावरण युद्ध होंगे। अर्थात् पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले एटम, हाइड्रोजन और न्यूट्रॉन बम तथा रासायनिक हथियारों और रासायनिक एजेन्टों द्वारा लड़े गए सर्वभक्षी युद्ध। इन हथियारों में हमारे समूचे ग्रह को रेडियोधर्मी मलबे

में बदलने की क्षमता है। रेडियोधर्मिता का दुष्प्रभाव जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों को तो समाप्त और विषाक्त करता ही है साथ ही वायु और धूलिकणों के माध्यम से दूर-दूर के क्षेत्रों तक फैलकर रेडियोधर्मी प्रदूषण बढ़ाता है। यह एक शोचनीय स्थिति है कि परमाणु हथियारों के वर्तमान भण्डारों की क्षमता 15 लाख हिरोशिमा बमों की विस्फोटक शक्ति के बराबर है।

युद्धों का एक विनाशकारी प्रभाव यह है कि महाशक्तियां और विकासशील देश अपने आर्थिक स्रोतों का उपयोग युद्ध संबंधी हथियारों और साधनों के लिए ही अधिक करने लगते हैं और पर्यावरण या प्रगति संबंधी योजनायें उपेक्षित पड़ी रह जाती हैं। यह भी देखा गया है कि निर्धनता पर्यावरण के निरन्तर विघटन का एक प्रमुख कारक है और हथियारों की अंधी दौड़ में मानवजाति के हितों पर कम ध्यान देकर अधिकाधिक पैसा संहारशस्त्रों के निर्माण, तत्-संबंधी प्रयोगों और उनके भण्डारण पर ही लगाया जाता है। युद्धों के अतिरिक्त शांति प्रयत्नों के उद्देश्य से किए गए प्रायोगिक परमाणु विस्फोटों से भी पर्यावरण को कम हानि नहीं पहुँचती और दृष्टव्य है कि केवल 1970-80 के बीच वाले दशक में ही 469 ऐसे विस्फोट किए गए।

युद्ध में प्रयुक्त होने वाले विस्फोटक हथियारों के कुछ भाग अकसर विस्फोटित होने से बचे रह जाते हैं वे भी मानव जीवन, स्वास्थ्य और पर्यावरण के लिए गम्भीर संकट पैदा करते हैं। इन अविस्फोटित हथिहारों में बम, ग्रनेड, गोलियां और समुद्रीतल तथा भूमि के नीचे बिछायी गई सुरंगे भी शामिल हैं। इनके अतिरिक्त इन विस्फोटकों के छोटे-मोटे अप्रयुक्त भण्डारागार शत्रुसेना से बचाने के लिए नदियों और झीलों में फेक दिए गए हथियार और विस्फोटक पदार्थों से भरे गिरे हुए वायुयान या डूबे हुये जहाज—सभी मानव पर्यावरण के लिए एक दीर्घकालीन युद्धोत्तर संकट के रूप में विद्यमान रहते हैं। इन विस्फोटकों से छुटकारा पाने की समस्या पर अभी तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। अनेक बार तो वर्षों बाद भी बालकों या वयस्कों की कुतूहलपूर्ण जिज्ञासा के फलस्वरूप फटकर यह उन निर्दोषों की जान तक ले लेते हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार विश्व के 44 देशों द्वारा अपने क्षेत्रों में युद्ध के इन विस्फोटक अवशेषों की सूचना दी गई है और पर्यावरण पर पड़ने वाले अनेक प्रभावों पर प्रकाश डाला गया है। विचारणीय है कि केवल सोवियत रूस में ही द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से अबतक 58.5 मिलियन भूमिगत विस्फोटक सुरंगों को हटाया गया है।

इन प्रयुक्त या अप्रयुक्त विस्फोटक पदार्थों के दुष्प्रभावों से प्रदूषित हुई मृदा और वनस्पतियों की हानि तुलनात्मक दृष्टि से जनहानि जितनी महत्वपूर्ण नहीं प्रतीत होती फिर भी उसे अपने पूर्व स्तर पर ले आना बड़ी कठिन और धीमी प्रक्रिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अनेक देशों की कृषि उत्पादकता में जहाँ लगभग 38 प्रतिशत की गिरावट पाई गई वहीं अनेक उपचारों के बाद भी उत्पादकता वृद्धि की गति प्रतिवर्ष केवल 8 प्रतिशत ही बढ़ पाई। इण्डो-चीन युद्ध काल में तो चावल का निर्यात करने वाले अनेक देशों को भी चावल बाहर से मँगाना पड़ा या अकाल राहत पर निर्भर होना पड़ा। वियतनामी युद्ध में उपयोग किया जानेवाला वन-स्पतिनाशी **'एजेन्ट आरेंज'** तो वनों और हजारों हेक्टेयर कृषियोग्य भूमि के लिए महामारी सिद्ध हुआ। केवल दक्षिणवियतनाम में ही रासा-यनिक शाकनाशियों के द्वारा अनुमानतः 1500 किमी० क्षेत्र का समुद्रतटीय वन नष्ट कर दिया गया और 1800 किमी० वन क्षेत्र को यथेष्ट हानि पहुँची।

इसी से संबंधित एक और महत्वपूर्ण यह पक्ष है कि इन संहारक घटनाओं के फलस्वरूप विस्थापित हुये जो व्यक्ति शहरों और महानगरों की ओर भागते हैं उनकी आकस्मिक बाढ़ और जनसंख्या वृद्धि के कारण स्थानीय पर्यावरण पर अतिरिक्त दबाव पड़ता है। स्वास्थ्य संबंधी असंख्य समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। इधर दूसरी तरफ उनके मूल निवास स्थान की भूमि प्रदूषण के कारण इतनी विषाक्त हो चुकती है कि विस्थापित जनों का पुनर्वास वहाँ असंभव हो जाता है।

पर्यावरण को प्रदूषित करने में सैन्यसामग्री का उत्पादन करने वाले उद्योगों का भी कम हाथ नहीं। यद्यपि इसके पृथक आँकड़े नहीं प्राप्त हैं फिर भी युद्ध सामग्री के उत्पादन पर होने वाले व्यय के आधार पर उनके प्रदूषक कुप्रभावों का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। इन उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले विस्फोटक, राकेट प्रणोदक, उच्चविषाक्तता वाले रसायन, विखण्डक द्रव्य आदि सभी पर्यावरण के लिए जबरदस्त चुनौतियां हैं। इतने पर भी इन उद्योगों द्वारा पर्यावरण संरक्षण के उपाय बहुत कम ही अपनाये जाते हैं।

वर्तमान परिस्थितियों में पर्यावरण संरक्षकों और अन्य विचारकों द्वारा जिस प्रवृत्ति पर सर्वाधिक चिंता व्यक्त की गई है वह हैं आर्थिक, भौतिक और अन्यान्य पर्यावरणीय संसाधनों का सैन्य सामग्री के उत्पादन हेतु अविवेकपूर्ण और अधिकाधिक इस्तेमाल। एक आँकड़े के अनुसार 1900 से लेकर 1970 के दशक तक सैन्य व्यय 30 प्रतिशत तक बढ़ चुका था। इसके बाद भी व्यय के वृद्धि में कमी नहीं आई है। महाशक्तियों के आर्थिक व्यय में उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ ही उनके द्वारा विकासशील देशों को दान की जानेवाली युद्धसामग्री के प्रतिशत में भी वृद्धि हुई है।

युद्ध के इस कार्यक्रम में मानवीय और प्राकृतिक दोनों प्रकार के साधनों का भरपूर इस्तेमाल किया जाता है। मानवश्रम का कितना दुरुपयोग इन हिंसात्मक कार्यों के लिए हो रहा है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि समूचे यूरोप में कार्यरत मानव श्रमिकों का 60 प्रतिशत केवल सैन्य उत्पादन में संलग्न था। सैन्य अनुसंधानों और विकास पर कार्य करने वालों में देश के उच्चतम बौद्धिक क्षमता और वैज्ञानिक योग्यता वाले व्यक्ति भी शामिल हैं।

यह बड़ा विडंबनापूर्ण प्रतीत होता है कि अपनी सभ्यता और संस्कृति की प्रगति के लिए उसके नैरंतर्य के लिए सचेष्ट होने के स्थान पर हम उसके विध्वंस के साधनों पर अपनी अधिकाधिक भौतिक, प्राकृतिक और बौद्धिक क्षमता को व्यर्थ कर रहे हैं। इस अपव्यय की निरर्थकता तब और अच्छी तरह अनुभव की जा सकती है यदि हम कल्पना कर सकें कि सैन्य उत्पादों पर लगाया गया धन या मानवश्रम अगर मानव कल्याण और पर्यावरण संरक्षण पर लगाये जाते तो आज हमारी धरती का स्वरूप ही कुछ और होता! यह भयावहता तब और आतंकित करती है जब हम इस वास्तविकता को जानते हैं कि सैनिक उत्पादों पर यह विशाल अपव्यय उस समय किया जा रहा है जब हमारे विश्व कुटुम्ब के 1500 मिलियन व्यक्तियों को चिकित्सा सुविधायें अनुपलब्ध हैं; 450 मिलियन कुपोषण के शिकार हैं; 650 मिलियन पेयजल से वंचित हैं; 800 मिलियन पूर्ण अशिक्षित हैं और हर माह 250,000 बालक सरलता से निवार्य संक्रामक रोगों के कारण कालकवलित हो जाते हैं।

नाभिकीय युद्धों से पर्यावरण को होने वाली अनेकानेक हानियों में विस्फोट से सूर्य की घातक पराबैंगनी किरणों से सुरक्षा देने वाली ओजोन की पर्त के छिन्न-भिन्न होने की आशंका भी शामिल है। इसके फलस्वरूप मानव की कई

पीढ़ियों को विकलांगता के अभिशाप भी भोगने होंगे। विस्फोट के बाद पर्यावरण को ढक लेने वाले एरोसॉल के विषैले बादल भी पर्यावरण असंतुलन के बड़े कारक सिद्ध होंगे। इन 'बादलों' की सघनता के कारण पृथ्वी पर पहुँचने वाले सूर्य के प्रकाश की कमी से धरती का जैवमंडल भी प्रभावित हुये बिना न रहेगा। सूक्ष्मजीवों और पादपों का तो अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ सकता है। यदि यह विस्फोट फ़सल के समय किए गये तो सूर्य के प्रकाश की कमी के कारण कृषि उत्पादन में यथेष्ट कमी आने की आशंका भी है। कुछ स्थानों पर कृषि योग्य भूमि के जल-जाने से या रेडियोधर्मिता के प्रभाव से भूमि की उर्वरता पूरी तरह विनष्ट हो सकती है। सूर्य की उष्मा के अभाव में धरती के तापक्रम में भी गम्भीर गिरावट आयेगी। भूमि पर हुये विस्फोट से पैदा हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म धूलिकण भी पर्यावरण में ऊपर जाकर स्थापित हो जाते हैं और संतुलन को बिगाड़ते हैं। हिमांक के नीचे पहुँचा शीत जीवों और पौधों के साथ सम्पूर्ण पारिस्थितिकी के लिए हानिकर सिद्ध होगा। युद्धास्त्रों द्वारा उत्पन्न किए गये इस पर्यावरणीय असंतुलन से मौसम संबंधी स्थिति में भी क्रान्तिकारी बदलाव का भय है।

केवल यही नहीं, प्रतिद्वन्द्वी देशों के बीच जैविक युद्धास्त्रों द्वारा संहार का भय भी आज गहरा होता जा रहा है। इस क्रूरतम युद्धनीति के अन्तर्गत सूक्ष्मजीवों, विषाणुओं, रोगाणुओं, कवकों और जीवाणुओं का प्रयोग शत्रु देश के मनुष्यों, पशुओं और फ़सलों के विनाश के लिए किया जाता है। यद्यपि 1925 के जेनेवा समझौते के द्वारा यह तय कर लिया गया था कि युद्धों के दौरान किसी प्रकार के रासायनिक और जैविक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग निषिद्ध है किन्तु आज भी इस दिशा में होने वाले प्रयत्नों को पूर्णतः रोका नहीं जा सका है। विश्वयुद्ध के उपरान्त अमेरिका, ब्रिटेन, और रूस में ऐसे रोगोत्पादक जीवों की खोज को 'देशभक्त रोगाणु' जैसा नाम देकर इस पर विस्तृत शोध प्रारंभ किए गये। इसके अतिरिक्त फ़सल नाशक तत्त्वों का भी अध्ययन किया गया जिससे शत्रु देशों का पूर्णतः विनाश संभव हो सके। यदि जैविक युद्धास्त्रों के खोज की यह दौड़ चलती रही तो विकासशील देशों में शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किये जाने वाले जैवतकनीकी शोधों को गहरा धक्का लगेगा और पर्यावरण पर होने वाले गम्भीर दुष्प्रभावों की तो बस कल्पना ही की जा सकती है।

इस अंधकार के मध्य प्रकाश की एक क्षीण रेखा मात्र यही दिखाई देती है कि आज चिंतक और विचारक धीरे-धीरे स्थिति की गंभीरता के प्रति सचेत हो रहे हैं। कुछ स्थानों से इस संभावित संहार के विरुद्ध आवाज़ें उठनी प्रारम्भ हो गई हैं। 1977 में 'जिनेवा निःशस्त्रीकरण समिति' द्वारा तैयार की गई संहिता इस जागरूकता का दृष्टान्त है। इस संहिता के फलस्वरूप पर्यावरणीय सुधार तकनीकों का सैनिक उद्देश्यों के लिए या अन्य शत्रुतापूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग किया जाना निषिद्ध कर दिया गया है। इस दायरे में पृथ्वी की संरचना, इसका जीव-जन्तु और वनस्पति जगत्, इसकी भूमि, जल, और वायु किसी से छेड़छाड़ गैरकानूनी मानी गई है। ऊपरी तौर पर ऐसा लगता है कि इस संहिता से पर्यावरण की पूर्ण सुरक्षा निश्चित हो जायेगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि पर्यावरणीय युद्ध करने में सक्षम किसी देश ने इस संहिता पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं। साथ ही इस संहिता द्वारा केवल जानबूझ कर क्षति पहुँचाने के उपक्रम को ही दण्डनीय माना गया है। युद्धों और तज्जन्य दुष्प्रभावों पर इसके द्वारा कोई निषेध नहीं लगाया जा सका है।

आज समस्त विश्व के चिंतकों और पर्या-

वरण विज्ञानियों को पर्यावरण प्रदूषित करने वाले परमाणविक या नाभिकीय युद्धों पर अंकुश लगाने के लिए मिलकर आवाज़ उठानी चाहिए तथा जन-आन्दोलनों का गठन करके अपनी आने वाली पीढ़ियों के भविष्य को इस घातक प्रदूषण के अंधकार से मुक्त रखने की दिशा में निश्चित कदम उठाने चाहिए।

नाभिकीय युद्ध की विभीषिका

पिछले वर्षों में जर्मनी और अमेरिका के वैज्ञानिकों द्वारा यह बताया गया कि नाभिकीय साधनों से उत्पन्न अग्नि कई सप्ताहों के लिए सूर्य के प्रकाश पर पर्दा डाल सकती है। रूसी शोधों ने भी इसी मत का समर्थन किया है। इससे पूर्व 1974 में संयुक्त राज्य अमेरिका की 'नेशनल एकेडेमी ऑव साइन्सेज' द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार यह कहा गया था कि नाभिकीय मलबे से पृथ्वी तक आने वाली सूर्य की ऊर्जा में कोई बाधा नहीं पहुँचेगी तथा नाभिकीय विस्फोटों (10000 मेगाटन के नाभिकीय विस्फोट) से भी वातावरण के तापमान में केवल 0.5 डिग्री का ही अंतर आयेगा। संभवतः इन वैज्ञानिकों ने केवल धूलि द्वारा उत्पन्न समस्याओं पर ही विचार किया। वे इन विस्फोटों से उत्पन्न होने वाली कालिख (Soot) की बात भूल गये। धूलि द्वारा तो केवल सूर्य के प्रकाश का छितराव होता है किन्तु कालिख प्रकाश को सोख लेती है। इसी आधार पर पश्चिम जर्मनी के पाल जे० क्रट्ज़ेन तथा अमेरिका के जान डब्लू० बर्क्स ने एकेडेमी की रिपोर्ट को चुनौती दी। आज अनेक वैज्ञानिक क्रट्ज़ेन और बर्क्स के मत का समर्थन करते हैं। अब वे यह मानने लगे हैं कि नाभिकीय कालिख के कारण ऐसे भयंकर शीत की सम्भावना है जो निश्चित रूप से मानवीय सभ्यता को समाप्त कर देगा और उसकी चपेट से दुनिया के न कोई देश बचेंगे और न कोई जीव।

—एम० लक्ष्मी

चन्द्र-शैल के टुकड़े, क्षुद्रग्रह और पृथ्वी

नरेश बाली

द्वारा श्री गोहेन दास, बोरीपाड़ा, डाकघर आजरा, गौहाटी 781017

अंटार्कटिका के एक भूविज्ञानी को वहाँ मिले एक छोटे से विलक्षण पत्थर के टुकड़े ने, जिसके बारे में पूरी जाँच-पड़ताल तथा सम्पूर्ण विश्लेषण के पश्चात् अब पूरी तरह से निश्चित हो गया है कि इसमें वही सब विशेषताएं विद्यमान हैं जो चन्द्रमा से लाये गये चट्टानों के नमूनों में हैं, खगोलविज्ञानियों को ग्रहों तथा उल्कापिण्डों से सम्बन्धित उनके पहले के सिद्धान्तों में संशोधन करने को मजबूर कर दिया है। आइये देखें कि कैसा है यह विलक्षण पत्थर का टुकड़ा, कौन सी विशेषताएं हैं इसमें और कैसे इसने सिद्धान्तों में संशोधन करने के लिए खगोलविज्ञानियों को बाध्य कर दिया।

अंटार्कटिका के एलन हिल्स क्षेत्र में पाये गये इस पत्थर के टुकड़े को सबसे पहले देखने और इसे प्राप्त करने का श्रेय वहाँ के एक भू-वैज्ञानिक **जॉन शुट्ट** को हैं। शुट्ट बताते हैं, यह छोटा सा पत्थर का टुकड़ा पत्थरों के एक बहुत बड़े ढेर में पड़ा होने के बावजूद अपने विशेष रंग-रूप, विशिष्ट गरिमा तथा निराली छटा के कारण स्पष्टतया सबसे अलग दिखायी पड़ रहा था। पहली नज़र में ही यह टुकड़ा हरापन लिए भूरे रंग तथा अपने ऊपर फेनिल पारदर्शी काँच के समान एक परत के विद्यमान होने की वजह से अनुपम दिखायी पड़ता था। पत्थर की इसी विलक्षणता ने **जॉन शुट्ट** का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और इसे उठा ही ले चलने को विवश कर दिया।

अपने प्राप्ति-स्थल के नाम के आधार पर पत्थर के उक्त टुकड़े का नाम 'अलहा 81005' रखा गया है। सूक्ष्मदर्शी से जाँच करने पर यह देखा गया है कि 'अलहा 81005' की बनावट ठीक वैसी ही है जैसी कि चन्द्रमा पर उतरे अन्तरिक्षयात्रियों द्वारा वहाँ से पृथ्वी पर लाये गये चन्द्र-चट्टानों के नमूनों की है। पत्थर के इस टुकड़े में पाये गये विभिन्न तत्वों का अनुपात ठीक वही है जो चन्द्र-चट्टान नमूनों में पाया गया है। बाह्य अन्तरिक्ष से पृथ्वी पर आ गिरे अथवा किसी ग्रह, उपग्रह से मानव द्वारा लाये गये पत्थरों, चट्टानों आदि के नमूनों के भीतर विद्यमान ऑक्सीजन के अंश के अध्ययन से इनके उत्पत्ति-स्थल का अनुमान सहज ही हो जाता है। साधारण उल्काश्मों, हमारे अपने ग्रह पृथ्वी तथा इसके एकमात्र उपग्रह चन्द्रमा पर की चट्टानों, सभी में दो प्रकार की ऑक्सीजन पायी जाती है—एक हल्की और दूसरी भारी। विभिन्न ग्रहों उपग्रहों के पत्थरों, चट्टानों इत्यादि में ऑक्सीजन के प्रकारों का अनुपात भिन्न-भिन्न होता है और इसी का अध्ययन करके नमूनों के उत्पत्ति-ग्रह का पता लगाया जाता है।

पहले तो वैज्ञानिक समुदाय यह मानने को कतई तैयार नहीं था कि पत्थर का यह टुकड़ा चन्द्रमा पर का है तथा वहाँ से यहाँ पृथ्वी पर आ गिरा है, क्योंकि वर्तमान सिद्धान्तों के दायरे में ही रखते हुए इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि कोई उल्काश्म अथवा अन्य आकाशीय पिण्ड चन्द्रमा की सतह से इतनी अधिक शक्ति से भी टकरा सकता है कि उसकी इस जबरदस्त चोट से एक टुकड़ा टूट कर पृथ्वी तक ही आ पहुँचे। लेकिन बाद में जब हर तरह

की जाँच-पड़ताल तथा सम्पूर्ण विश्लेषण के पश्चात् सिद्ध हो गया कि पत्थर का यह टुकड़ा चन्द्रमा से लाये गये चट्टानों के नमूनों से एकदम मिलता-जुलता है तो तब कहीं जाकर वैज्ञानिकों ने इस बात को माना और अपने सिद्धान्तों में संशोधन किया।

अंटार्कटिका में आज तक पाये गये आकाशीय पिण्डों के अधिकांश नमूने उन असंख्य क्षुद्र ग्रहों में से कुछ हैं जो मंगल तथा बृहस्पति ग्रह के मध्य छूटे एक बहुत बड़े रिक्त स्थान में सूर्य की परिक्रमा में रत कभी-कभी किसी कारण से छिटक कर पृथ्वी पर आ गिरते हैं लेकिन 'अलहा 81005' के साथ ऐसा बिल्कुल नहीं है। निश्चय ही यह कोई क्षुद्र ग्रह नहीं है। यह निश्चित रूप से चन्द्र-शैल का ही एक टुकड़ा है जो किसी उल्कापिण्ड की शक्तिशाली जबरदस्त चोट से उखड़ कर पृथ्वी पर आ गिरा है। इतने अधिक विश्वास तथा इतनी दृढ़ता के साथ यह कहने वाले हैं **डॉ० जे० सी० ईवान्स** जिन्होंने 'अलहा 81005' का गैस तथा रेडियोधर्मी विश्लेषण किया है। 'अलहा 81005' की विशेषताओं के अध्ययन से इससे सम्बन्धित एक अन्य रोचक पक्ष यह सामने आया है कि यह चन्द्रमा के उस भाग की सतह पर का एक टुकड़ा हो सकता है जो कभी हमारे सामने नहीं आता। हमें कभी दिखायी नहीं पड़ता। क्या वास्तव में ऐसा है? इस प्रश्न को लेकर वैज्ञानिकों द्वारा कार्य अभी किया जा रहा है और यदि वास्तव में ऐसा ही है तो हर किसी को यह जानने का कुतूहल होना भी आवश्यक है कि चन्द्रमा में से टूट कर बाहर आने के बाद 'अलहा 81005' पृथ्वी पर बर्फ से ढके अन्टार्कटिक प्रदेश में ही कैसे आ गिरा?

कुछ वर्ष पूर्व अंटार्कटिक प्रदेश में आकाशीय पिण्डों के दो ऐसे नमूने पाये गये थे जो इससे पहले वहाँ पाये गये नमूनों से एकदम भिन्न थे। इनके बारे में तब कुछ वैज्ञानिकों ने सुझाया था कि ये टुकड़े मंगल ग्रह के हो सकते हैं जो किन्हीं अज्ञात कारणों से पृथ्वी पर आ गिरे हैं। इस विचार को तब '**जंगली कल्पना**' कह कर एकदम से नकार दिया गया था। लेकिन 'अलहा 81005' की खोज तथा इसके चन्द्रमा पर का ही एक टुकड़ा होने की बात पूर्णतः सिद्ध हो जाने के पश्चात् खगोलशास्त्रियों ने अब मानना आरम्भ कर दिया है कि यह '**जंगली कल्पना**' सही हो सकती है। उक्त दो आकाशीय पिण्ड मंगल ग्रह पर के हो सकते हैं। यही नहीं, प्राकृतिक शक्तियों की चोट के कारण अन्य ग्रहों में से टुकड़े उखड़ कर हमारी पृथ्वी तक भी पहुँच सकने में सफल हो सकते हैं। नया-नया अस्तित्व में आया यह सिद्धान्त भी अब बड़ी तेज़ी से वैज्ञानिक समुदाय का विश्वास प्राप्त कर रहा है।

उपरोक्त सिद्धान्त द्वारा वैज्ञानिक समुदाय का विश्वास इतनी तेज़ी से प्राप्त किये जाने का एक अन्य कारण यह भी है कि इसी दौरान अंटार्कटिका में चन्द्रमा पर का एक और टुकड़ा पाया गया है। इसे जापानी वैज्ञानिकों के एक दल ने खोजा है। यह जापानी वैज्ञानिक दल अन्टार्कटिका की अनुसन्धान-यात्रा पर गया था। अन्य महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करने के अतिरिक्त इसने वहाँ से उल्काश्मों के 3676 नमूने भी एकत्र किये थे और इन्हीं में किसी चन्द्र-शैल का पृथ्वी पर पाया गया यह दूसरा टुकड़ा भी था। जापानी अभियान-दल के प्रमुख **डॉ० कीजो मानाई** जो सम्प्रति जापान के **राष्ट्रीय ध्रुवीय अनुसंधान संस्थान** में कार्यरत हैं, ने बताया है कि उनके दल को यह टुकड़ा अन्टार्कटिका में जापान के **शोवा बेस** से 300 किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम में **मानभातो पर्वत श्रृंखला** में मिला था। काले-धूसर रंग के चार सेन्टीमीटर व्यास वाले इस समतल टुकड़े का वजन 25.4 ग्राम है। चन्द्रमा पर के पृथ्वी पर पाये गये पहले

टुकड़े की भाँति इस टुकड़े की संरचना भी वहाँ से सन् 1970 में लाये गये चट्टानों के नमूनों जैसी ही है, इसमें भी वही सब विशेषताएँ, वही सब खनिज-पदार्थ पाये गये हैं और लगभग उसी मात्रा में इस टुकड़े के साथ भी वही सब कुछ घटा होने की सम्भावना है जो इससे पहले वाले के साथ घटा था अर्थात् कोई उल्कापिण्ड चन्द्रमा से बहुत जोर से टकरा गया होगा और इसके फलस्वरूप यह टुकड़ा वहाँ से उखड़ कर पृथ्वी पर आ गिरा होगा। जैसा कि हर आकाशीय पिण्ड के साथ होता है, हमारे ग्रह के वायुमण्डल में प्रवेश के वक्त घर्षण के कारण इस टुकड़े का काफी बड़ा भाग तो जलकर भस्म ही हो गया होगा और बाकी जो बचा होगा वह यह है।

परमाणु-बमों से विनाश के अलावा मानव-जाति के सिर पर एक अन्य प्रकार का ख़तरा हमेशा मंडराता रहता है और यह ख़तरा है किसी क्षुद्रग्रह (Asteroid) के हमारी पृथ्वी से टकरा जाने का। संयुक्त राज्य अमेरिका की **यूनिवर्सिटी ऑव एरीजोना** के एक खगोलशास्त्री **टॉम गेहरेड्स** के अनुसार ऐसा घट जाना इतना भीषण होगा कि यदि केवल आधा किलोमीटर चौड़ा ही एक क्षुद्र ग्रह हमारी पृथ्वी से टकरा जाता है तो इसकी प्रचण्ड शक्ति द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान 6 अगस्त 1945 को जापान के **हिरोशिमा** नगर पर गिराये गये विश्व के सर्वप्रथम परमाणु-बम जैसे दस लाख बमों की शक्ति के बराबर सिद्ध होगी (**हिरोशिमा** पर गिराये गये बम की विस्फोट ऊर्जा लगभग उतनी थी जितनी 20.000 टन-20 किलो टन-रसायनिक विस्फोटक टी. एन. टी आदि से प्राप्त हो सकती है इसलिए इस बम को 20 किलो टन बम भी कहते हैं) जो यहाँ बहुत भारी भाग में विनाश के लिए पर्याप्त है। इसका एक उदाहरण आज से लगभग 65 मिलियन वर्ष पूर्व घटी एक ऐसी ही दुर्घटना है जिसमें हमारे ग्रह का सत्तर प्रतिशत वनस्पति तथा पशु-जीवन समाप्त हो गया था। सन् 1968 में भौतिक विज्ञान में कण भौतिकी तथा व्यवहारिक भौतिकी के क्षेत्र में काम के लिए नोबेल पुरस्कार विजेता **डॉ० लुइस अल्वारेज** के अनुसार इस तरह की एक भीषण दुर्घटना आज से साढ़े छह करोड़ वर्ष पूर्व घटी थी जब दस किलोमीटर चौड़ा एक क्षुद्र ग्रह हमारी पृथ्वी से आ टकराया था और इसके फलस्वरूप जो भयंकर विनाश-लीला हुई उसमें यहाँ का 70% वनस्पति तथा पशु-जीवन समाप्त हो गया जिसमें वे विशालकाय डायनोसॉर भी सम्मिलित हैं जो आज मात्र पुस्तकों की ही बात रह गये हैं। किसी क्षुद्र ग्रह के हमारी पृथ्वी से टकरा जाने पर इतना विनाश कैसे हो गया इस बारे में स्पष्ट करते हुए डॉ० अल्वारेज़ बताते हैं कि जब क्षुद्र ग्रह हमारे ग्रह से टकराया तो इस टकराव से फैले पदार्थ ने पृथ्वी को इस बुरी तरह से ढक लिया कि फिर इसे छितराने में लगभग तीन वर्ष लग गये। टकराव से फैले इस पदार्थ द्वारा पृथ्वी को इतने सघन रूप से, इतने अधिक समय तक, इतनी बुरी तरह से ढक लिये जाने के परिणामस्वरूप यहां प्रकाशसंश्लेषण की क्रिया रुक जाने से अधिकांश वनस्पति तथा पशु-जीवन समाप्त हो गया।

एरिजोना विश्वविद्यालय के **टॉम गेहरेड्स** के कथनानुसार किसी क्षुद्र ग्रह के हमारी पृथ्वी से आ टकराने की आशंका यद्यपि है तो बहुत कम, दस लाख वर्षों में जाकर कहीं एक बार या वह भी नहीं, लेकिन यह एकदम मूर्खतापूर्ण होगा कि हम उसे बिल्कुल नजरअंदाज ही कर दें, इस पर कोई ध्यान ही न दें। मानव एक समझदार प्राणी है और इसे इस प्रकार के ख़तरे को सही-सही आँक कर इस दिशा में कुछ करना चाहिए। **गेहरेड्स** आगे बताते हैं कि और कोई चाहे कुछ करे न करे लेकिन वह स्वयम् तथा उनके सहकर्मी इस दिशा में वास्तव में कुछ कर रहे हैं। वे क्या

कर रहे हैं ? इस बारे में उनका बताना है कि इन्होंने **टक्सन** के निकट **किट्ट पहाड़ी** पर अन्तरिक्ष में निरन्तर, अहर्निश दृष्टि रखने वाला एक विशेष कैमरा स्थापित किया है, इस आशा में कि यह उस वक्त उन्हें सावधान कर देगा जब कोई क्षुद्र ग्रह हमारी पृथ्वी से टकराने आ रहा होगा।

क्षुद्र ग्रह धातुओं अथवा बड़े-बड़े भारी-भारी पत्थरों के बने होते हैं। लेकिन इनके बारे में यह कोई नहीं जानता कि ये आते कहाँ से हैं। साथ ही, जहाँ ग्रह अच्छे अकार-प्रकार के, गोलाकार ही होते हैं वहाँ क्षुद्र ग्रहों के मामले में ऐसा नहीं है। इनका आकार सदा अनियमित, असंयमित होता है। ये बेडौल होते हैं, इनका व्यास एक मीटर से लेकर सैकड़ों किलोमीटर तक हो सकता है। दस किलोमीटर तक चौड़े तो हजारों क्षुद्र ग्रह हमारे सौरमण्डल में हैं जिनमें से अधिकतर बृहस्पति तथा मंगल के मध्य के काफी लम्बे रिक्त स्थान में हैं। अन्तरिक्ष में लगभग ऐसे 66 क्षुद्रग्रहों का अब तक पता चल चुका है जिनकी गिनती हमारी पृथ्वी के बहुत निकट स्थित क्षुद्र ग्रहों में की जाती है और ये हमारे इतने पास हैं कि इनका परिक्रमा-पथ या तो हमारी पृथ्वी के परिक्रमा-पथ में से होकर अथवा लगभग इसे छूता हुआ गुजरता है। पृथ्वी के बहुत निकट स्थित ऐसे क्षुद्र ग्रहों को 'अपोलो क्षुद्रग्रह' के नाम से पुकारा जाता है। इसके अतिरिक्त, अनुमान है कि पृथ्वी के समीप करीब आधा किलोमीटर चौड़े लगभग एक हजार अन्य क्षुद्र ग्रह भी हैं जिनके सही-सही स्थान का अभी तक पता नहीं चल पाया है। पृथ्वी के समीप स्थित ज्ञात क्षुद्र ग्रहों में से अभी तो कोई भी ऐसा नहीं है जिसके हमारे ग्रह से टकरा जाने का खतरा हो, लेकिन इस बात से अभी तक अज्ञात क्षुद्र ग्रहों में से किसी के पृथ्वी से आ टकराने की आशंका समाप्त नहीं हो जाती। और विशेषतः इसी उद्देश्य से **गेहरेड्स** तथा इनके सहकर्मियों ने **टक्सन** के निकट स्थित किट्ट पहाड़ी पर सदा जागृत तथा समय पर सावधान करने वाला विशेष कैमरा लगाया है। परन्तु इस मामले में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न जो है वह यह कि यह कैमरा यदि कभी किसी क्षुद्र ग्रह को पृथ्वी की ओर बढ़ते हुए देख कर इस बात की चेतावनी हमें देता है तब इस बारे में हम क्या कर सकते हैं? इसका उत्तर भी गेहरेड्स के पास एकदम तैयार है। एक अध्ययन से यह बात सामने आयी है कि यदि कभी ऐसी संकटपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है तो इस कठिन घड़ी में एक विस्फोटक युक्ति का पृथ्वी की ओर बढ़ रहे क्षुद्र ग्रह की सतह पर विस्फोट कराने के बाद उसका मार्ग बड़ी सरलता और सफलता से परिवर्तित किया जा सकता है। □

साइट्रिक अम्ल का सूक्ष्मजैविकी उत्पादन और उपयोग

डॉ० देवनारायण लाल

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

सूक्ष्मजैविकी के प्रमुख देनों में से एक है किण्वन-उद्योग में साइट्रिक अम्ल के उत्पादन के लिए किण्वन विधि का विकास। सर्वप्रथम सन् 1784 में शीले (Scheele) ने नीबू के रस से साइट्रिक अम्ल को रवों के रूप में अलग किया था। बाद में 1880 में ग्रिमॉ (Grimoux) और

एडम (Adam) ने इस अम्ल को कृत्रिम रूप से ग्लिसरीन से तैयार किया।

नीबू, संतरे, अनन्नास, नाशपाती, अंजीर और कुछ दूसरे फलों से निकाली गई साइट्रिक एसिड 'प्राकृतिक साइट्रिक अम्ल' कहलाती है और किण्वन विधि द्वारा तैयार की गई साइट्रिक एसिड को 'फरमेण्टेशन साइट्रिक एसिड' कहते हैं। नीबू से इसे मुख्य रूप से इटली में और सिसिली, कैलिफोर्निया, हवाई तथा वेस्ट इण्डीज़ में भी तैयार किया गया। 1922 में तो इटली ने विश्व की कैल्शियम साइट्रेट की आपूर्ति का 90% तैयार किया था। आज संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत संघ, इंग्लैण्ड, जर्मनी, हालैण्ड जैसे विकसित देश सूक्ष्मजीवों द्वारा किण्वन की विधि से न केवल अपने उपयोग के लिए यथेष्ट मात्रा में साइट्रिक अम्ल का उत्पादन कर रहे हैं वरन् दूसरे जरूरतमंद देशों को भी साइट्रिक एसिड भेज रहे हैं।

सी० वेहमेर (C. Wehmer) पहले वैज्ञानिक थे जिन्होंने फफूँदियों (Moulds) की सहायता से चीनी के किण्वन द्वारा साइट्रिक अम्ल तैयार किया था। उन्होंने इन फफूँदियों के नाम **साइट्रोमाइसीस फेफेरिअन्स** (Citromyces pfefferians) और **साइट्रोमाइसीस ग्लाबेर** (Gglaber) बताया और 1917 में क्युरी (Currie) नामक वैज्ञानिक ने **एस्परजिलस नाइगर** (Aspergillus niger) नामक फफूँदी (कवक) की एक नस्ल (Strain) द्वारा साइट्रिक एसिड तैयार करने की विधि विकसित कर ली। बाद के अनुभव ने यह सिद्ध कर कर दिया की साइट्रिक एसिड के उत्पादन के लिए **एस्परजिलस नाइगर** के सही **स्ट्रेन** के चुनाव की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण होती है।

किण्वन-विधि से साइट्रिक एसिड के उत्पादन को बढ़ाने की दिशा में किये गये अनुसंधान सारी दुनिया के सूक्ष्मजैविकी के विज्ञानियों और चिकित्कों के लिए बहुत ही आकर्षक विषय रहा है क्यों कि साइट्रिक अम्ल का उपयोग खाने की वस्तुओं और ओषधियों में बहुतायत से किया जाता रहा है।

इसका अच्छा स्वाद, शीघ्र परिपाचन, सुगन्ध आदि कुछ ऐसे गुण हैं जिनके कारण इसका उपयोग पी-यच (p H) के संतुलन और खुशबू बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों, पेयों, जैम, जेली, आइसक्रीम, शराब और जामाये हुये भोजन में होता है। चिकित्सा में इसका उपयोग (विशेष रूप से साइट्रेटों का) रक्त-आधान (Blood transfusion) में करते हैं। यह मानव शरीर में आसानी में घुलमिल जाता है और ऊर्जा प्रदान करता है। जब तुरंत निकाले गये रक्त में सोडियम साइट्रेट मिलाया जाता है तो रक्त का जमना (Clotting) बंद हो जाता है। इसका कारण यह है कि रासायनिक क्रिया द्वारा कैल्शियम साइट्रेट बन जाता है जिससे कैल्शियम आयन हटा दिया जाता है जो रक्त के जमने के लिए आवश्यक होता है। 'ब्लड बैंक' सोडियम लवण का उपयोग इस काम के लिए करते हैं। घावों को धोने के लिए सोडियम साइट्रेट का घोल भी इस्तेमाल किया जाता है। 'लेमनेड' में मैग्नीशियम साइट्रेट घोल भी उपयोगी सिद्ध हुआ है।

वर्तमान में उद्योगों के लिए साइट्रिक एसिड अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है। इसकी सहायता से लोहे और स्टील को साफ किया जाता है और पालिश की जाती है। अलौह प्लास्टिक घोलों का घटक है और उद्योगों में प्रयुक्त जल आपूर्त्ति को उपचारित करने में भी इसकी भूमिका महत्वपूर्ण है। क्षारीय रेज़िन, पेन्ट और कपड़े की छपाई उद्योगों में भी उपयोगी है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं की

'प्लास्टिक कोटिंग' और अंगरागों या कांति-वर्धकों (Cosmetics) में भी इसका व्यापक उपयोग किया जाता है।

अमेरिका में तो 65% साइट्रिक एसिड का उपयोग ओषधि में, 15% भोज्य पदार्थों में, 9% आइसक्रीम और शेष दूसरे प्रकार की वस्तुओं में होता है। अब भारत में भी साइट्रिक एसिड का उत्पादन होने लगा है और इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के रसायन विभाग में भी शोधकर्त्ता सूक्ष्मजीवों की सहायता से किण्वन द्वारा साइट्रिक अम्ल के उत्पादन को बढ़ाने वाली विधियों के विकास में सतत् प्रयत्नशील हैं। ☐

एलोपैथी चिकित्सा प्रणाली का व्यावहारिक रूप

डॉ० ताराचन्द गंगवाल

द्वारा डॉ० गोविन्द राम तोशनीवाल, कुन्दन नगर, अजमेर—3

आज यह निर्विवाद सत्य है कि डॉक्टरी चिकित्सा प्रणाली या एलोपैथी (यदि शल्यक्रिया की इसमें गणना न की जावे तो भी) प्रचलित चिकित्सा प्रणालियों की तुलना में रोगियों के लिये अधिक लाभप्रद है। इसका कारण इस प्रणाली की निरन्तर वैज्ञानिक खोजें हैं जो संसार के प्रायः सब देश पिछली शताब्दियों से करते आये हैं।

परन्तु दुःख का विषय है कि वैज्ञानिक खोजों के साथ-साथ पिछली कुछ दशाब्दियों में व्यापारिक दृष्टिकोण इस चिकित्सा पद्धति पर अत्यधिक हावी हो रहा है। पश्चिमी देश तो इसमें अब अगुवा हैं ही जिनकी ओषधि-निर्माण कम्पनियों का मूल उद्देश्य आजकल येन केन प्रकारेण धनोपार्जन ही है। इस संदर्भ में अनेक कम्पनियाँ इतनी पतनोन्मुख हो गई हैं कि जो ओषधियाँ विकसित देशों में हानिकारक सिद्ध होती हैं उन्हें अविकसित देशों में खपाने में इन्हें रत्ती भर भी हिचकिचाहट नहीं होती। विकसित देशों में तो उन पर थोड़ा बहुत अंकुश रहता भी है, यद्यपि वहाँ पर भी ये कम्पनियाँ सब्जबाग़ दिखाकर कम सतर्क डॉक्टरों के माध्यम से काठ की हंडिया की कहावत के माफिक जहाँ तक बन पड़ता है पैसा बनाने से बाज नहीं आतीं—चाहे कुछ समय में ही जिन ओषधियों का चमत्कारिक आविष्कार बताया जाता है - नितान्त निरर्थक एवम् हानिप्रद ही क्यों न साबित हो जावे! चाइल देश के अधि-पति ने, जो स्वयम् चिकित्सक भी थे, अपने देश में नई ओषधियों का आयात भी कानूनन वर्जित कर दिया था जब तक कि ये ओषधियाँ अमेरिका में लगातार कम-से-कम 6 वर्ष तक उपयोग में—बगैर बन्द किये—नहीं लाई जा रही हों।

भारतवर्ष में तो स्थिति प्रायः इससे बिल्कुल विपरीत ही है। डॉक्टर को तो जैसे ही नई ओषधि के निकलने की सूचना मिलती है, बगैर किसी पूर्वानुभव के रोगी को देने में नहीं हिच-किचाते और रोगी भी अधिकतर नवीनतम ओषधि लिखने वाले डॉक्टरों से ही अधिक प्रभा-वित होते हैं। यद्यपि एक अनुभवी चिकित्सक सर रॉबर्ट हचिसन ने तो निम्न पंक्ति में नये डॉक्टरों को परामर्श देते हुए लिखी भी है—

'नई ओषधि के प्रयोग के लिये अगुवा न बनो और न ही पुरानी ओषधि के प्रयोग को छोड़ने में सबसे पीछे रहो।'

इस सन्दर्भ में यह भी जानना उपयुक्त होगा

कि 'वर्ल्ड हेल्थ ऑर्गेनाइजेशन—डब्ल्यू० एच० ओ०' के निर्णय के अनुसार एवम् भारत सरकार के 'हाथी कमीशन' एवम् अन्य विशेषज्ञों के परामर्श के अनुसार संसार में आवश्यक ओषधियाँ जिनमें बेहोश करने, प्रतिरक्षण इत्यादि की ओषधियाँ सम्मिलित हैं, केवल 230 मात्र ही हैं। यद्यपि इनके अलग-अलग कम्पनियों द्वारा निर्मित उल्टे-सीधे नुस्खों की संख्या सम्भवत: 30,000 से भी अधिक होगी जो पेटेन्ट ओषधियों के रूप में बाजार में बिक रही हैं। इनमें से अधिकतर ओषधियाँ केवल अनुपयोगी ही नहीं हैं, इनमें कई प्रकार की मिलावट हानिकारक भी सिद्ध हो रही है, परन्तु इस सबके निर्माण का मुख्य उद्देश्य तो धनोपार्जन ही है।

हमारे मेडिकल कॉलेजों की शिक्षा भी प्रायः इस सम्बन्ध में दोषी है क्योंकि इस हानि की ओर शिक्षकों द्वारा शिष्यों का अच्छी तरह ध्यान नहीं दिलाया जाता अपितु काफी संख्या में शिक्षक वर्ग स्वयं भी अनेक कारणों से इन कम्पनियों द्वारा निर्मित ओषधियों का उपयोग प्रचुर मात्रा में करते हैं। वास्तव में कम से कम शिक्षकों का तो यह दायित्व होना ही चाहिए कि वे इलाज केवल इन 230 ओषधियों में ही सीमित रखें। इस सम्बन्ध में मेरी जानकारी में केवल पी. जी. आई., चण्डीगढ़ ने पहल करके इन्हीं सीमित ओषधियों की एक सूची (Formulary) अवश्य छापी है और बाहर के रोगियों (Out patients) को, जो ओषयियाँ इनमें से मुफ्त वितरित की जाती हैं, उन पर एक खास निशान भी लगा दिया है।

यदि हमारे चिकित्सक अपने नुस्खे केवल इन्ही 230 ओषधियों में सीमित करवा कर और इन ओषधियों को रसायनिक (Generic) नाम से ही लिखा करें न कि स्वाम्य (Proprietary या Patent) नाम से, तो हमारे सीमित साधनों वाले निर्धन रोगियों को राहत मिलेगी। इसके अतिरिक्त हमारे गरीब देश के निरर्थक बरबाद होने वाले धन की भी काफी बचत होगी।

इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना उपयुक्त होगा कि प्रायः 90 प्रतिशत रोगियों को यदि अवसर दिया जाये तो वे स्वयं ही बगैर किसी ओषधि के स्वस्थ हो सकते हैं। इन रोगियों का केवल मानसिक संतोष के लिये कुछ उपचार करना पड़ सकता है अथवा नाममात्र की ओषधि से जो हानिकारक न हो।

मौटे तौर पर यह भी निश्चित ही है कि वृद्धावस्था की, जो स्वयं में एक रोग है, कोई विशेष ओषधि नहीं है। कुछ उपचार अवश्य सम्भव है जिससे अधिक से अधिक सुखपूर्वक वृद्धावस्था यापन करने में सहायता दी जा सके।

कुपोषण के रोगों में तो पौष्टिक भोजन ही ओषधि का काम करेगा। कृत्रिम विटामिन चाहे अस्थाई उपचार में प्रयोग कर लिये जायें और वे भी प्राकृतिक भोज्य पदार्थ के रूप में, न कि कृत्रिम रसायन, जो अधिक मात्रा में प्रायः हानिकर ही होते देखे गये हैं।

यह भी जानकारी सार्वजनिक हित में आवश्यक है कि जो ओषधि आज कल एक रोगी खरीदता है उसका मूल्य यदि 100 रु० मान लिया जाये तो उसमें वास्तविक ओषधि तो केवल 5-10 रु० मूल्य ही की होती है क्योंकि इसमें लगभग 15 प्रतिशत तो हमारी सरकार का ही हिस्सा है जो उत्पाद शुल्क और बिक्रीकर के बहाने रखवा लिया जाता है। खुदरा विक्रेता 20 प्रतिशत लेकर ही संतुष्ट नहीं हो रहे। बाकी प्रोत्साहन का खर्चा।

हमारी सरकार का दायित्व जनता को स्वस्थ रखना है, न कि उनके रोगों को आय का स्रोत बनाना। ऐसे विभागों का प्रबन्ध तो स्वच्छ एवं उच्चतम कोटि का ही होना चाहिए साथ ही

इससे मुनाफा उठाने या टैक्स लगाने की बात नहीं सोचनी चाहिए।

बंगाल देश में बाहर से आयात होने वाली ओषधियों का अब कड़ाई से निरीक्षण हो रहा है और सुना है कि यह देश बाहर के देशों के दूतावासों के दबाव में भी नहीं आ रहा है।

एलोपैथी पद्धति का इलाज अत्यधिक महँगा होने के लिए बदनाम है। इसका एक कारण तो सार्वजनिक सरकारी अस्पतालों में अन्दर के भर्ती रोगियों तक का बाहर से अत्यधिक और अनावश्यक एक्स-रे (X-ray) लेबोरेटरी जाँच इत्यादि कराना भी है। अगर इस पद्धति के डॉक्टर समय पर नहीं चेतेंगे तो लगता है कि समय पाकर यह पद्धति इतनी वैज्ञानिक एवं लाभकारी होते हुए भी पिछड़ जायेगी और अनेकानेक दूसरी पद्धतियाँ इसका स्थान ले लेंगी।

अन्त में मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि हमारे चिकित्सकों को परमात्मा सद्बुद्धि प्रदान करे जिससे वे अत्यधिक ओषधियाँ निरर्थक उपयोग में न लाया करें और अपने निर्धन रोगियों को केवल धन के दुरुपयोग से ही नहीं बल्कि इन ओषधियों के दुष्प्रभावों से भी बचावें।

एक पुरानी कहावत प्रचलित है जिसका आजकल की नई-नई दवाइयों के कुप्रभाव के कारण और भी अधिक महत्व हो गया है। इस कहावत के अनुसार 'यदि संसार की समस्त ओषधियाँ समुद्र में डुबो दी जायें तो यह मनुष्य मात्र के लिये अत्यन्त उपयोगी होगा परन्तु समुद्र के समस्त प्राणियों के लिये तो घोर घातक।' □

क्षाराभ : विषैले किन्तु उपयोगी

कु० अनामिका श्रीवास्तव, एम० एस-सी० द्वितीय वर्ष
रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

पेड़-पौधों से प्राप्त क्षारीय कार्बनिक पदार्थों को क्षाराभ (*Alkaloid*) कहते हैं। **हेमलॉक** नाम के पौधे से निकाले गये '**हेमलॉक**' नामक क्षाराभ का प्रयोग बहुत पहले ग्रीस में हत्यारों को मौत की सजा देने के काम में आता था। इतिहास गवाह है कि 399 ईसा पूर्व इसी क्षाराभ से भरा प्याला **साक्रेटीज** को प्राणदण्ड के रूप में पिलाया गया था जिससे उसकी मृत्यु हो गई थी। परन्तु इतने विषैले होने के बावजूद ये क्षाराभ हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी हैं क्योंकि इनसे अनेक प्रकार के असाध्य और घातक रोगों का सफल इलाज किया जाता है।

ज्यादातर क्षाराभ रंगहीन क्रिस्टल होते हैं, किन्तु कुछ रंगीन भी होते हैं जैसे—**बरबेरीन** (*Berberine*) जो कि पीले रंग का होता है। इसी प्रकार कुछ द्रव के रूप में पाये जाते हैं, उदाहरणार्थ—**निकोटीन**। ये पानी में अघुलनशील हैं। एलकोहॉल, क्लोरोफार्म तथा ईथर जैसे कार्बनिक विलायक में ये घुलनशील होते हैं।

'**कुनैन**' एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षाराभ है। यह **सिनकोना** (*Cinchona*) नामक पेड़ की छाल से प्राप्त होता है और **मलेरिया ज्वर** की एक बहुत ही अच्छी दवा है। अधिकतर **कुनैन** जावा से प्राप्त होता है।

सर्पगन्धा (*Rauwolfia serpentina*) की 60

विभिन्न जातियों से 50-70 प्रकार के क्षाराभ प्राप्त होते हैं जिनमें से एक **'रेसर्पीन'** (*Reserpine*) भी है, जो कि अनेक बीमारियों को रोकने का काम करती है। जिन बीमारियों के लिए **रेसर्पीन** नामक क्षाराभ लाभकारी होते हैं उनमें **मिरगी, हैजा, बुखार,** अनिद्रा (*Insomnia*), **चक्कर** तथा **सिरदर्द** मुख्य हैं।

'इमेटिन' (*Emetin*) नामक क्षाराभ **सेफीलिस इपेकाकुआनहा** (*Cephaelis ipecacuanha*) की जड़ में पाया जाता है। यह सफेद रंग का पाउडर होता है। यह आजकल **रक्तातिसार** में दवा के काम आता है। इसके अलवा यह वमन कराने की दवा का काम तो करती ही है साथ ही बलगम निकालने में सहायक है।

पोस्त (*Papaver somniferum*) से 'अफीम' प्राप्त होती है जिसका प्रयोग दस्त रोकने में किया जाता है। अफीम से **'मार्फीन'** नामक दवा निकलती है जो नींद न आने वाले रोगियों को दी जाती है। **मार्फीन** का उत्पाद **'हीरोइन'** (*Heroin*) अत्यन्त विषैली दवा के नाम से जाना जाता है।

'निकोटीन' नामक क्षाराभ तम्बाकू की सूखी पत्तियों से प्राप्त होता है। यह बहुत विषैला क्षाराभ है तथा कीटनाशी के रूप में इसका उपयोग किया जाता है। इसके अलावा तम्बाकू की पत्तियाँ सिगरेट बनाने के काम भी आती हैं। निकोटीन की 30-50 मिली ग्राम मात्रा किसी भी मनुष्य की जान ले सकती है। इसी-लिए ज़्यादा सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। इससे फेफड़े के रोग हो जाते हैं जिनमें **कैंसर** जानलेवा भी सिद्ध हो चुका है।

अनार (*Punica granatum*) नामक पेड़ की जड़ की छाल से **'पेलेटिएराइना'** (*Pelletierina*) नाम का क्षाराभ मिलता है जो कृमिनाशक है।

'स्ट्रिकनीन' (*Strychnine*) नाम का क्षाराभ **कुचला या कजरा** (*Strychnos Nux-vomica*) के बीजों से मिलता है। इसकी अल्प मात्रा एक तेज़ उद्दीपक का काम करती है तथा माँसपेशियाँ बढ़ाती है।

'एट्रोपीन' (*Atropine*) क्षाराभ आलू-कुल के पौधों में पाया जाता है, उदाहरणार्थ—**धतूरा** (*Datura*)। यह आँख की पुतली को फैलाने के काम आता है।

'एफेड्रीन' (*Ephedrine*) क्षाराभ पाँच अन्य क्षाराभों के साथ **एफेड्रा** (*Ephedra*) की झाड़ियों में पाया जाता है। छहों प्रकार के क्षाराभ से एक चीनी दवा **'मा हुआंग'** (*MaHuang*) बनाई जाती है। यह क्षाराभ रक्तदाब बढ़ाता है इस कारण **निम्न रक्तदाब या लो ब्लड प्रेसर** की दवा है और **दमा** के उपचार में भी उपयोगी है।

'कोकेन' क्षाराभ **कोका** (*Coca*) की पत्तियों में पाया जाता है। इससे शरीर के किसी स्थान विशेष को सुन्न करने का काम लिया जाता है। यह 'लोकल एनेस्थीसिया' (*Local Anaesthesia*) कहलाता है। वैसे आजकल इसकी जगह **'प्रोकेन'** जैसी कुछ दूसरी दवाएँ काम में लाई जाती हैं जो इसी की तरह अच्छी बेहोशी लाने वाली तथा इससे कम विषैली होती हैं।

चाय (*Camellia sinensis*) की पत्तियों में पाये जाने वाला क्षाराभ दिल पर उद्दीपक का कार्य करता है। इसी कारण थकावट में चाय पीने से स्फूर्ति आती है। परन्तु अधिक चाय के सेवन से गुर्दे खराब होने का डर होता है।

'हायोसीन' (*Hyoscine*) नामक द्रव क्षाराभ **धतूरा** में पाया जाता है। इससे **ट्रैवेल सिकनेस** रोग के लिए ओषधि बनाई जाती है।

'एरगॉट' (*Ergot*) नामक क्षाराभ **राई** के परजीवी **कवक** (*Claviceps perpurea*) में पाया जाता है। यह भी दवा बनाने के काम आता है। इसका असर बच्चेदानी पर होता है।

काली मिर्च (*Piper nigrum*) से प्राप्त क्षाराभ '**पीपेरीन**' (*Piperine*) कहलाता है जो कि काली मिर्च में 5%-9% की मात्रा में पाया जाता है। इसका प्रयोग मसाले में तथा गले की खराश वगैरह समाप्त करने में होता है।

'**कोल्चिसीन**' (*Colchicine*) क्षाराभ **कोल्चिकम ऑटमनेल** (*Colchicum autumnale*) से प्राप्त होता है। यह प्राचीन काल से **गठिया** रोग के उपचार में काम आता रहा है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि विषैले होने के बावजूद क्षाराभ हम लोगों के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। □

मछलियों के खाने से मनुष्यों में उत्पन्न रोग

डॉ० आर० सी० श्रीवास्तव
भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण, इलाहाबाद—2

क्या आप मछली खाते हैं? हाँ! तो जरा रुकिए। घबड़ाइए नहीं। हम आपका हिस्सा नहीं बटाएंगे परन्तु आप को आगाह जरूर करेंगे। शायद आप जानते भी हों कि मछली में पाया जाने वाला टेपवॉर्म मनुष्यों में भी रोग पैदा कर सकता है। यह आम धारणा है कि यह टेपवॉर्म अकेला ऐसा रोगाणु है जो मछलियों द्वारा हमारे शरीर में प्रवेश करता है किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिसमें मनुष्यों में रोग का कारण मछली से आया हुआ कोई दूसरा रोगाणु होता है। अब यह दूसरी बात है कि मछली इससे स्वयं पीड़ित न होकर मात्र रोगाणुग्राहक का कार्य करती है।

बहुधा देखा गया है कि मछुआरों में, जो हमेशा जीवित मछलियों के साथ काम करते रहते हैं, जब कभी भी हाथ में छोटा-मोटा घाव होता हैं तो उसमें जलन, एवं खुजलाहट प्रारम्भ हो जाती है तथा लगभग 2-3 सप्ताह तक रहती है। ऐसा इसलिए होता है कि उनमें मछलियों के माध्यम से **कार्नीबैक्टीरिया** प्रवेश कर जाते हैं। इसे **एरिसाइपेल्वाएड** या **फेलोन्स** कहते हैं। कभी-कभी तो भयंकर सूजन भी आ जाती है।

मछलियों का माँस **पैराटायफाएड** या **एन्टेरिक बैक्टीरिया** के प्रभाव से ज़हरीला हो जाता है। ऐसी मछलियों के खाने से मनुष्य भी इन जीवाणुओं का शिकार हो जाता है। इन दो प्रमुख कारणों के अतिरिक्त **एरिचरोसिया कोली, स्ट्रेप्टोकाक्साई, आरियस नामक** जीवाणु भी मछलियों के माँस को ज़हरीला करने में सक्षम पाए गए हैं। 1962 में डॉ० जे० एम० शिवान द्वारा किए गए अध्ययन के अनुसार समुद्री मछलियों में इन जीवाणुओं का प्रभाव नहीं होता है बल्कि अलवणीय जल, और वह भी दूषित जल, में पाई जाने वाली मछलियों में यह ख़तरा अधिक रहता है।

एक अन्य रोग **रेड फीड डरमेटाइटिस** में जो प्रायः उन मछुआरों में होता है जो अपने नंगे हाथों से **हेरिंग** तथा **मेकरेल** नामक मछलियों जो कि **कैलैनेस** की प्रजातियों का भोजन करती हैं, की आंतों के लालरंग के अवयवों को स्पर्श करते हैं, में सामान्यतया देखा जाता है। इस रोग में हाथों में सूजन आ जाती है।

कुछ कृमि (वॉर्म) प्रजातियाँ जो मनुष्यों में रोग उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं मछली को अपने माध्यम के रूप में प्रयोग करती हैं। ऐ इन कृमियों से ग्रस्त मछलियों के अधपके या

कम नमक की मात्रा में पके माँस को खाने से कृमि के लार्वा मनुष्यों में पहुँच जाते हैं और विभिन्न प्रकार के रोग पैदा करते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है **चौड़ा मत्स्य-कृमि, डाइ-फिलोबोथिएम लेटम** जिसका प्रथम शिकार (होस्ट) होता है एक छोटा **क्रेस्टासिया** समूह का जीव **साइक्लोप्स** जो मछलियों का प्रमुख आहार है। इस कृमि से ग्रसित जीवों को मछलियाँ जब खाती हैं तो यह उन तक पहुँच जाता है तथा मछलियों में यह अपनी दूसरी लार्वा अवस्था, **प्लूरोसरक्वाएड** को जन्म देता है। ऐसी मछलियों को खाने वाला आदमी बिना रोगग्रस्त हुए तो रह ही नहीं सकता। इस कृमि के अन्य होस्ट हैं कुत्ता, सूअर आदि। इसी कृमि की एक अन्य प्रजाति **डी० कारडेटम** भी मनुष्यों में रोग उत्पन्न करने की क्षमता रखती है।

इसी प्रकार मछली के द्वारा ही एशियाई कैट लिवर फ्लूक, **ओपिस्थोर्किस फेलीनिएस** भी मनुष्यों के शरीर में प्रवेश कर जाता है तथा वहाँ से यकृत की 'पित्त नलिका' में पहुँचकर अपना स्थान बना लेता है। इसी प्रकार एक ट्रिमेटोड **मेटा-गोनिमस योकोगावी** जिसका स्थान मनुष्यों की आँत (डुओडिनम) में होता है, भी मछलियों के माध्यम से ही हमारे शरीर में प्रवेश करता है। मछलियों की त्वचा में स्केल्स या 'चोइटे' के नीचे इस ट्रिमेटोड के लार्वा अपने ऊपर एक खोल चढ़ा कर पड़े रहते हैं तथा ऐसी मछलियों के खाने से ये मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और तुरन्त सक्रिय होकर रोग पैदा करते हैं।

सन् 1944 में डॉ० सी० विटेनबर्ग को **लेरिंगो-फेरिंगाइटिस** का एक ऐसा उदाहरण देखने को मिला जो कि ऐसी मछली के खाने से हुआ था जिसके शरीर में **क्लिनोस्टोमम काम्प्लेनेटम** नामक रोगाणु के 'मेटासरकेरी' लार्वा उपस्थित थे। भारत में **कोलिसा लैलिया** तथा **कोसिला फेसिएटस** नामक मछलियों के गलफड़े के नीचे के भाग में बरसात में ये रोगाणु बहुतायत से पाए जाते हैं। अतएव ऐसी मछलियों का उपयोग नहीं करना चाहिए। दूर से देखने पर ये रोगणु नन्हीं-नन्हीं जोकों (लीच') की तरह के लगते हैं।

यही नहीं, हाल में कुछ निमेटोड समुदाय के सदस्य भी मनुष्यों में रोग पैदा करते पाए गए जो किसी प्रकार मछलियों से ही संबन्धित थे। उदाहरणस्वरूप **यूस्टोमा** के लार्वा द्वारा मनुष्यों में **इस्नोफिलिक एन्टेरोइटिस** का प्रकोप होते पाया गया है। इस रोग के लक्षण तब स्पष्ट होते हैं जब कि रोगाणु के लार्वा आँत तक पहुँच चुके होते हैं तथा ऐसी स्थिति में उपचार कठिन होता है।

मनुष्यों में मछलियों के माध्यम से होने वाले रोगों पर विस्तृत अध्ययन **प्रोबे** नामक वैज्ञानिक ने 1971 में किया। उनके आँकड़ों के अनुसार 1945 तक **हेरिंग कृमि** के 55 मामले (पेट में सूजन के मामले), आँत की सूजन के 51 मामले मात्र नीदर लैंड में प्रकाश में आए। इन सभी में रोग का प्रमुख कारण था मछलियों के अधपके माँस का सेवन।

यूँ तो अधिकतर रोगाणु मछली को अच्छी तरह पकाने से समाप्त हो जाते हैं परन्तु कुछ रोगाणुओं के लिए अन्य उपचार आवश्यक होते हैं उदाहणार्थ **पोरोसीकम** के लार्वा-12° से० ग्रे० तक सक्रिय रहते हैं परन्तु यदि तापमान-18° से० ग्रे० कर दिया जाये तो ये समाप्त हो जाते हैं। लम्बे समय तक नमक के साथ पकाने से भी अधिकतर रोगाणुओं का विनाश हो जाता है परन्तु यह समय कितना हो तथा नमक की कितनी मात्रा रोगाणुओं को नष्ट करने में सक्षम होती है, यह अभी तक बहुत अच्छी तरह ज्ञात नहीं हो सका है।

कुछ लोगों की त्वचा में सूजन आ जाती है जिसका कारण होता है **बैथोस्टोयम स्पाइनी-**

जेरम नामक रोगाणु। यह भी मनुष्य तक पहुँचने के पहले मछलियों में आश्रय लेता है।

इन सबसे कहीं रोचक उदाहरण है दक्षिण अमेरिका में पाई जाने वाली एक सिंधी सदृश मछली जो अन्य मछलियों के गलफड़ों में परा-श्रयी जीवन यापन करती है परन्तु अवसर पाते ही स्नान करते हुए मनुष्यों की गुदा या योनि में प्रवेश कर जाती है जहाँ से इसे निकालने के लिए मात्र उपाय शल्यक्रिया ही है।

कुछ मछलियों की विष को सहन करने की शक्ति मनुष्य से अधिक होती है अतः ये किसी रसायन इत्यादि के प्रभाव के कारण ज़हरीले जल में भी जीवित रह सकती हैं परन्तु ऐसी मछली को खाने वाला मनुष्य निश्चित ही जान से हाथ धो बैठता है।

कुछ मछलियों का तो खून भी ज़हरीला होता है। उदाहरणार्थ **ईल** तथा **कैटफिशेज** के रक्त की यदि थोड़ी सी मात्रा हमारी धमनियों के अंदर पहुँच जाये तो मृत्यु निश्चित है। इस ज़हर को **मछली का ज़हर या इक्थियोटाक्सिन** कहते हैं। इन मछलियों के रक्त का स्पर्श भी आँखों के लिए खतरनाक होता है परन्तु अच्छाई यह है कि जहर 58-70° से० ग्रे० तक गरम होने से प्रभावहीन हो जाता है अतः पकी हुई मछली खाने से इस प्रकार का कोई डर नहीं रहता। ऐसी मछलियाँ जिनमें दुर्गन्ध आ गई हो या अधपकी मछली न खा कर इन रोगों से बचा जा सकता है।□

मच्छरों के विनाश में रसायनों का उपयोग: कितना उचित कितना अनुचित?

डॉ० बृजभूषण
रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

गर्मी, सर्दी या बरसात में जिस एक समस्या से लगभग हर एक मानव परेशान रहता है वह है '**मच्छर**''। हम सभी जानते हैं कि मच्छर नींद तो हराम करते ही हैं, साथ ही कई प्रकार की बीमारियाँ—जैसे प्लेग, मलेरिया, इन्सेफैला-इटिस इत्यादि, फैलाने के माध्यम भी होते हैं। इसलिये हर व्यक्ति इनसे छुटकारा पाने के लिये इच्छुक रहता है और इसके लिये तरह-तरह के उपाय करता है।

मच्छरों से छुटकारा दिलवाने वाले तरह-तरह के क्रीम, अगरबत्तियाँ एवम् छिड़कने वाले रसायन आजकल बाजारों में उपलब्ध हैं। इनका उपयोग प्रत्यक्ष में अति सरल प्रतीत होता है परन्तु वास्तविकता यह है कि इनके प्रयोग में जरा सी भी असावधानी अति घातक सिद्ध हो सकती है। आइये देखें कि मच्छर भगाने वाले रसायनों से क्या-क्या हानियाँ हो सकती है और इनके प्रयोग का सही ढंग क्या है।

मच्छर से मुक्ति दिलवाने वाले रसायनों को तीन श्रेणियों में बिभाजित कर सकते हैं:—

1. छिड़कने वाले रसायन, **2**. लगाने वाले रसायन, 3. जलाने वाले रसायन।

सर्व प्रथम मच्छर भगाने के लिये जो रसायन प्रचलन में आये, वे छिड़कने वाले थे। इनकी

आवश्यकता द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मलेरिया तथा प्लेग जैसी महामारियाँ फैलने पर महसूस की गई। छिड़कने वाले रसायन मुख्यतः क्लोरीन या फॉस्फोरस के कार्बनिक यौगिक होते हैं उदाहरणार्थ डी० डी० टी०, पैरा डाइक्लोरो बेंजीन (पी० डी० सी० बी०) एलड्रीन, डाइएलड्रीन, मैलाथिऑन इत्यादि। केवल डी० डी० टी० के उपयोग ने ही पहले दस वर्षों में लगभग पाँच लाख मानवों का जीवन और एक करोड़ से भी अधिक को मियादी बुखार, मलेरिया और अतिसार तथा कुछ अन्य जीवाणुओं द्वारा फैलने वाली बीमारियों से बचाया। फलस्वरूप इनका उपयोग कई गुना बढ़ गया।

इनके छिड़कने में कितनी भी सावधानी क्यों न बरतें फिर भी इनकी थोड़ी-बहुत मात्रा का शरीर में प्रवेश कर जाने की संभावना से हम इनकार नहीं कर सकते। मानव शरीर की डी० डी० टी० के प्रति सहनशीलता मात्र 0.5 ppm है जो यह दर्शाती है कि इन रसायनों की शरीर में अत्यल्प मात्रा भी घातक सिद्ध हो सकती है। दूसरे शब्दों में अगर डी० डी० टी० का एक ग्राम का एक लाखवाँ भाग भी शरीर में प्रविष्ट कर जाये तो शरीर में अनेक प्रकार के विकार आ सकते हैं जैसे मुँह में खुश्की, म्यूकस झिल्ली में स्थूलता, सिर दर्द, चक्कर आना, खाँसी इत्यादि। इससे थोड़ी सी अधिक मात्रा के जिगर (*Liver*) में एकत्र हो जाने से वहाँ विटामिन 'ए' नष्ट हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप आँखों की दृष्टि एवं पाचनशक्ति क्षीण पड़ जाती है। इसके कारण कभी-कभी आँखों में मोतियाबिन्द होते हुये भी देखा गया है। कूल्हे तथा घुटने के जोड़ों में तीक्ष्ण दर्द, हड्डियों की असाधारण वृद्धि, नींद न आना इत्यादि कुछ और बीमारियाँ भी इन रसायनों के शरीर में उपस्थित होने पर होते देखी गई हैं। महिलाओं के मासिक चक्र में अनियमितता का एक कारण पैराडाइक्लोरोबेंजीन की उपस्थिति भी पाई गई है जो कि छिड़कते समय साँस द्वारा महिलाओं के शरीर में प्रविष्ट कर जाती है। इसके अतिरिक्त जिन विलायकों में घोल कर ये छिड़के जाते हैं वे भी विषालु होते हैं, जैसे मिट्टी का तेल।

क्योंकि छिड़कने वाले रसायनों के प्रयोग की विधि में जरा सी भी असावधानी अति घातक हो सकती है, इसलिये इनकी जगह अब दूसरे रसायन लेते जा रहे हैं। दूसरे प्रकार के रसायन क्रीम के रूप में बाजार में प्रचलित हैं। ये रसायन छिड़कने वाले रसायनों से भिन्न पद्धति पर कार्य करते हैं। इनसे मच्छर मरते नहीं परन्तु इनकी गंध इस प्रकार की होती है कि मच्छर गंध के उदगम् स्थल से दूर भागते हैं। इसलिये इन रसायनों को **मच्छर प्रतिकर्षी** भी कहते हैं। मच्छरों की उपत्वचा के नीचे कुछ ग्राही कोशिकाएँ होती हैं जो विशिष्ट गंध के प्रति अति संवेदनशील होती हैं। अतः लेश मात्र रसायन भी वायु में मिश्रित होने पर मच्छरों को गंध के स्रोत का अनुभव करा देता है। और इसी कारण मच्छर अपने आपको इससे दूर रखते हैं। कुछ मच्छर-प्रतिकर्षियों को जब शरीर पर लगा लिया जाता है तो इनकी परत एक प्रकार के रोधक का कार्य करती है और मच्छर को शरीर के उस भाग में काटने नहीं देती। डाइमैथिल थैलेट (डी० एम० पी०), इन्डालोन डाइऐथिल टोलुमाइड इत्यादि इसी प्रकार के रसायन हैं।

यद्यपि ये रसायन छिड़कने वाले रसायनों से अधिक सुरक्षित होते हैं तथापि इनके लगातार उपयोग से कई प्रकार के चर्म रोग हो जाते हैं जिनमें खुजली एक आम रोग है। इन्हें खरीदते समय इनके कुछ गुण ध्यान में अवश्य रखने चाहिये। ये सौन्दर्य प्रधान हों अर्थात् शरीर पर लगाने के बाद बुरा न लगे, हाथों द्वारा आसानी से लगाया जा सके, शरीर पर और कपड़ों पर कोई धब्बा न लगे, पानी में घुलनशील न हों

ताकि पसीने के प्रभाव से अछूता रहे। इसे शरीर पर इस तरह लगाना चाहिये कि इसकी कम मात्रा ज्यादा से ज्यादा सतह को ढके। इन क्रीमों को मुँह पर नहीं लगाना चाहिये।

तीसरे हैं जलाने वाले रसायन। ये भी लगाने वाले रसायनों के सिद्धान्त पर ही कार्य करते हैं। ये रसायन अगरबत्तियों के रूप में बाजार में उपलब्ध हैं। इनसे शरीर पर दुष्प्रभाव पड़ने की कम संभावना होती है क्योंकि इन्हें शरीर पर लगाया नहीं जाता। दूसरे शब्दों में ये रसायन मच्छर भगाने वाले रसायनों में सबसे अधिक सुरक्षित होते हैं। इनको और अधिक प्रभावशाली तथा सुरक्षित बनाने के लिये इनको कमरे में जलाकर इस प्रकार रखना चाहिये कि इनकी सुगंध कमरे में एक सिरे से शुरू हो कर दूसरे से बाहर निकल जाये। इस प्रकार इनकी सुगंध कमरे में ठहरने नहीं पायेगी और शरीर पर जो थोड़ा-बहुत दुष्प्रभाव होने की आशंका होती है वह भी समाप्त हो जायेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर मच्छरों से छुटकारा दिलवाने में रसायन वरदान सिद्ध हुये हैं वहीं इनके उपयोग में थोड़ी सी भी असावधानी हमारे स्वास्थ्य के लिये न केवल हानिकारक वरन् अति घातक हो सकती है।

प्रोटीन का स्रोत : बिनौला

डॉ० उमेश पाण्डेय
बी—12, माडल टाउन, बरेली

निरन्तर बढ़ रही जनसंख्या के लिए खाद्यान्न-आपूर्ति एवं आवास समस्या का समाधान कर पाना आसान नहीं लगता। खाद्यान्न समस्या के समाधान हेतु वैज्ञानिकों का ध्यान नये-नये खाद्य-पदार्थों की खोज में लगा हुआ है। वैकल्पिक खाद्य पदार्थों के रूप में अब शैवाल, कुकुरमुत्ते (मशरूम), बिनौले आदि कुछ सीमा तक भूख की समस्या का उत्तर साबित हो रहे हैं।

हम सभी के शरीर के विकास एवं स्वस्थ रहने के लिए भोजन में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज लवण, विटामिनों की तथा जल की आवश्यकता होती है। कार्बोहाइड्रेट और वसा हमारे दैनिक जीवन की क्रियाओं के लिए आवश्यक ऊर्जा (शक्ति, कैलोरीज़ में) की व्यवस्था करते हैं। प्रोटीन शरीर के निर्माण एवं विकास के लिए अनिवार्य है। हमारे देश में आबादी का एक बड़ा हिस्सा (लगभग 55 से 65 प्रतिशत) प्रोटीन की कमी से प्रभावित है। इसका एकमात्र कारण है—प्रोटीनयुक्त खाद्यान्नों का मँहगा होना।

मानव शरीर में प्रोटीन की कमी से कुछ ऐसी समस्यायें आ जाती हैं, जिनका निदान जीवन पर्यन्त कर पाना संभव नहीं हो पाता। बच्चों में प्रोटीन की कमी से उनकी वृद्धि रुक जाती है, अपच की शिकायत रहती है, दस्त भी शुरू हो जाते हैं, अन्ततः पेट अप्रत्याशित रूप से बढ़ जाता है। यदि प्रोटीन युक्त आहार का लगातार अभाव रहा तो बच्चे कुपोषण के शिकार हो जाते हैं, और असमय ही मौत की भेंट चढ़ जाते हैं।

वस्तुतः हम सभी के भोजन में प्रोटीन का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। छोटे बच्चों को प्रोटीन की आवश्यक मात्रा संतुलित आहार से ही मिलती है। प्रोटीन की कमी को पूरा करने के लिए हर संभव प्रयास किये जाने चाहिए

क्योंकि बच्चे ही नहीं वयस्कों के शारीरिक विकास पर भी प्रोटीन की कमी का कुप्रभाव होता देखा गया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ० ए० ओ०) की एक रिपोर्ट के अनुसार विश्व के 50 से 65 प्रतिशत बच्चों के आहार में प्रोटीन की कमी रहती है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन कम-से-कम 70 ग्राम प्रोटीन आपूर्ति की जानी चाहिए।

वर्तमान अनुसंधानों से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि दालों में प्रोटीन की सर्वाधिक मात्रा होती है। चूँकि दालों के उत्पादन में वृद्धि हेतु पर्याप्त साधनों के बावजूद भी कोई सफलता हासिल नहीं हो पायी है (यहाँ तक कि प्रतिवर्ष दालों के उत्पादन में कमी ही आ रही है) अब कृषि वैज्ञानिकों का ध्यान तिलहनी फसलों में प्रोटीन प्राप्त करने की दिशा में भी गया है। हाल में किये गये शोध कार्यों से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि 'बिनौला' भी उत्तम श्रेणी की प्रोटीन से भरपूर खाद्य पदार्थ है। इसमें प्रोटीन की मात्रा 70 प्रतिशत तक आँकी गयी है। वर्ष 1981-82 के लिए प्राप्त आँकड़ों के अनुसार विश्व में बिनौले का वार्षिक उत्पादन लगभग 2 करोड़ 80 लाख टन है। इतने बिनौले से 60 लाख टन प्रोटीन प्राप्त हो सकती है। प्रोटीन के अलावा बिनौले के आटे का रासायनिक विश्लेषण निम्न है :—

तेल 0·62 प्रतिशत; कुल गॉसीपाल 0·12 प्रति०
नमी 3·66 प्रतिशत; हेक्सेन 35·00 प्रतिशत
रेशा 2·40 प्रतिशत; राख 7·50 प्रतिशत

पिछले दो दशकों से विकसित देशों (अमेरिका आदि) में बिनौले के आटे का प्रयोग 'प्रोफला' नाम से खाद्यरूप में हो रहा है। कोलंबिया, पेरू तथा पनामा आदि का दूसरा स्थान है।

बिनौले का उपयोग अभी तक जानवरों को खिलाने में किया जाता था। कहीं कहीं पर अवश्य खाद्य तेल की कमी के कारण बिनौले से तेल निकाला जाने लगा है।

हमारे देश में प्रतिवर्ष 25 से 30 लाख टन तक बिनौला प्राप्त होता है। बिनौले की खली जानवरों के उपयोग में लायी जाती है। यदि प्रभावी तकनीकों को प्रयोग में लाया जा सके तो इस अवशिष्ट खली से 5 लाख टन के लगभग प्रोटीन प्रतिवर्ष प्राप्त की जा सकती है। बिनौले की प्रोटीन से सभी आवश्यक एमीनो अम्ल अभिलेखित किये जा चुके हैं। प्रोटीन की इतनी बड़ी मात्रा का उपयोग कर असंख्य नवजात शिशुओं तथा वयस्कों को प्रोटीन की कमी से असमय मृत्यु से बचाया जा सकता है।

बिनौले से प्राप्त प्रोटीन के सीधे इस्तेमाल में एक समस्या है, जिसका निदान जरूरी है, यह है—एक हानिकारक पदार्थ 'गॉसीपाल' की उपस्थिति। यह खली से पीले रंग के द्रव के रूप में पाया जाता है। यदि किसी विकसित तकनीक द्वारा 'गॉसीपाल' को पृथक किया जा सके तो बिनौले का प्रयोग खाद्य प्रोटीन के रूप में किया जा सकेगा। कृषि वैज्ञानिक निरन्तर शोध कार्यों व प्रयास में लगे हुए हैं। आशा है निकट भविष्य में 'गॉसीपाल की समस्या' का समाधान अवश्य ही मिल जायेगा। अब तक कपास की कुछ ऐसी किस्मों का विकास तो हो चुका है जिनमें 'गॉसीपाल' की मात्रा कम होती है। 'गॉसीपाल' रहित किस्मों का विकास वांछनीय है। निश्चय ही आने वाले कुछ एक वर्षों में 'बिनौला' प्रोटीन का अक्षय स्रोत साबित होगा।□

परिषद् का पृष्ठ

(1) संक्षिप्त वार्षिक रिपोर्ट
(1983-1984)

वर्ष 1983-84 परिषद् के लिए मध्यम गतिविधियों का वर्ष रहा। 27 एवं 28 सितम्बर 1983 को एक द्वि-दिवसीय गोष्ठी (वैज्ञानिक अभिरुचि' का आयोजन किया गया जिसमें (16 बाह्य तथा 22 स्थानीय) वैज्ञानिकों ने भाग लिया एवं 27 निबन्ध पढ़े गये। इस अवसर पर 12 विज्ञान लेखकों को सम्मानित किया गया।

गोष्ठी के आयोजन में जिन लोगों ने आर्थिक सहायता पहुँचाई अथवा जो लोग प्रबन्ध में सहायक बने उन सब को एक बार पुनः धन्यवाद दिया जाता है। गोष्ठी का विवरण विज्ञान के नवम्बर-दिसम्बर 1983 के अंक के रूप में प्रकाशित हुआ। यद्यपि डी. एस. टी. ने 5000 रु० का अनुदान स्वीकृत किया था किन्तु अभी तक उक्त राशि नही मिल पाई जिससे प्रसाद मुद्रणालय के बिल का भुगतान नहीं हो पाया।

इस अवधि में विज्ञान परिषद् भवन की चाहार-दीवारी ऊँची कराई गई और सड़क की ओर प्रवेशद्वार लगवाने पर विचार किया गया।

व्याख्यानशाला निर्माण से सम्बन्धित ठेकेदार बचऊ के बिल में से रु० 26116-00 का भुगतान किया गया। इस वर्ष (1983-84) में 20104 रु० की राशि प्राप्त हुई। जिसमें डॉ० गोविन्दराम तोशनीवाल, हमारे सभापति द्वारा 5000 रु० दिये गये इसमें स्वामी सत्यप्रकाश जी सरस्वती द्वारा संग्रह की गई रुपये 1510 रु० की राशि भी सम्मिलित है। स्वामी जी ने न केवल व्याख्यानशाला के लिए धनसंग्रह किया अपितु विज्ञान परिषद् के लिए अपनी दो पुस्तकों की रायल्टी भी देने के अपने निश्चय से अवगत कराया।

वर्ष 1983 के डॉ० गोरखप्रसाद पुरस्कारों की घोषणा की जा चुकी है। अन्य पुरस्कारों के लिए पुस्तकें आमंत्रित की जानी हैं।

प्रकाशन : वर्ष 1983-84 में विज्ञान नियमित रूप से निकलता रहा। मार्च 1984 का अंक डॉ० आत्माराम विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। जिसकी 150 प्रतियाँ पब्लिकेशन एण्ड ईन्फार्मेशन डाइरेक्टरेट, सी० एस० आई० आर० दिल्ली ने खरीदीं।

अनुदान : गत वर्षों की भाँति सी० एस० आई० आर०, नई दिल्ली से 20 हजार रुपया तथा स्टेट कौंसिल आफ साइन्स एण्ड टेक्नॉलॉजी, लखनऊ से 10000 रु० और शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश से 2000 रु० का अनुदान मिला। सी० एस० आई० आर०, नई दिल्ली ने सूचित किया कि वर्ष 1984-85 से अनुसंधान पत्रिका को मिलने वाली 10,000 रु० की राशि स्थगित कर दी जावेगी अतः अब हमें इण्डियन नेशनल साइंस अकादमी, नई दिल्ली से अनुदान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना होगा।

उल्लेखनीय है कि हिन्दी संस्थान उत्तर प्रदेश ने जनवरी 1983 से भवन-अनुदान-शुल्क 500 रु० से बढ़ा कर 1000 रु० प्रतिमास करने का आश्वासन दिया है।

ग्राहक : इस समय विज्ञान के ग्राहकों की संख्या 450, सभ्यों की 82 एवं आजीवन सभ्यों की संख्या 136 है। हम अपने पूर्व संकल्प को, कि हर अंतरंगी 10 सभ्य बनाये, पूरा नहीं कर पाए। इसके लिए पुनः प्रयास की आवश्यकता है।

बजट : गत वर्ष का आडिट किया हुआ बजट अवलोकनार्थ प्रस्तुत है।

कार्यालय-प्रबन्ध : कार्यालय प्रभारी पं० गंगाधर तिवारी के अतिरिक्त श्री रामदेव (चपरासी) तथा श्री रतिभान सिंह (माली एवं चौकीदार) पूर्ववत् कार्य करते रहे। इनके वेतनों

में कोई वृद्धि नहीं की गई। समय को देखते हुए समुचित वृद्धि की जानी चाहिए।

पुस्तकालय : इस वर्ष धनाभाव के कारण न तो जर्नलों की जिल्दबंदी हो पाई, न नए रैक खरीदे जा सके। स्थानाभाव के कारण पुस्तकालय की व्यवस्था नहीं हो पा रही है। स्वामी सत्य-प्रकाश सरस्वती जी ने पुस्तकालय को 68 पुस्तकें भेंट की।

सुझाव : भवन की पुताई, प्रवेशद्वार तथा व्याख्यानशाला में बिजली, पंखे, तथा ध्वनि व्यवस्था की आवश्यकता है। व्याख्यानशाला के लिए धन-संग्रह करने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि किये जाने पर विचार भी होना चाहिए।

—डॉ० शिव गोपाल मिश्र
प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्

(2) **विज्ञान परिषद् के सत्र 1984-85 का चुनावफल घोषित**

नए वर्ष (1984-85) के पदाधिकारियों एवं अंतरंग सभा के निर्वाचित सदस्यों के नाम निम्नलिखित हैं—

1. डॉ० रामदास तिवारी — सभापति
2. डॉ० बाबूराम सक्सेना — पदेन उपसभापति
3. डॉ० नीलरत्न धर — ,,
4. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती — ,,
5. डॉ० रामधर मिश्र — ,,
6. श्री राम सहाय जी — ,,
7. प्रो० कृष्णजी — पदेन उपसभापति
8. डॉ० रामचरण मेहरोत्रा — ,,
9. डॉ० गोविन्दराम तोशनीवाल — ,,
10. डॉ० रमेशचन्द्र कपूर — उपसभापति
11. श्री आर० एन० कपूर — ,,
12. ०ॉडशिवगोपाल मिश्र — प्रधान मंत्री
13. डॉ० राजेन्द्र प्रसाद अग्रवाल — मंत्री (भवन)
14. श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव — संयुक्त मंत्री
15. डॉ० अशोक कुमार गुप्ता — ,,
16. डॉ० पूरन चन्द्र गुप्त — कोषाध्यक्ष
17. डॉ० जगदीश सिंह चौहान — संपादक (विज्ञान)
18. डॉ० रामसुरंजन धर दुबे — पुस्तकालयाध्यक्ष
19. श्री श्रीकृष्ण श्रीवास्तव — आय-व्यय निरीक्षक
20. श्री लोकमणिलाल जी — स्थानीय अंतरंगी
21. डॉ० ब्रह्मदत्त — ,,
22. प्रो० दामोदर दास खन्ना — ,,
23. प्रो० वाचस्पति — ,,
24. डॉ० रमेशचन्द्र तिवारी, वाराणसी — बाह्य अ०
25. डॉ० योगराज चड्ढा, दिल्ली — ,,
26. डॉ० ओउम् प्रभात अग्रवाल, रोहतक — ,,
27. श्री वेंकटलाल ओझा, हैदराबाद — ,,
28. श्री लवराजकुमार, दिल्ली — ,,
29. डॉ० मुहम्मद तकी खान, भावनगर — ,,
30. प्रो० रामचन्द्र पाल, चण्डीगढ़ — ,,
31. डॉ० हरिनारायण, हैदराबाद — ,,
32. डॉ० चन्द्रिका प्रसाद, रुड़की — ,,
33. डॉ० विश्वम्भरदयाल गुप्त, लखनऊ — ,,
34. प्रो० वेणीमाधव शुक्ल, गोरखपुर — ,,

विज्ञान वार्ता

(1) **बेशरम के पौधों से कागज़**

भारतवर्ष में गत दस-पंद्रह वर्षों से **बेशरम** का पौधा हर कोने में पाया जाने लगा है। इसके तने को किसी भी मृदा में नमी मिल जाने पर यह पनपने लगता है और धीरे-धीरे बहुवर्षीय पौधे का रूप धारण कर लेता है। इसका वैज्ञानिक नाम आइपोमिया कॉरनिया (*Ipomoea cornea*) है और यह कान्वाल्वुलेसी कुल का पौधा है। इसी तिरस्कृत पौधे से कागज़ की पल्प बनाने में हमारे देश के वैज्ञानिकों ने सफलता प्राप्त करली है। अनुसंधान-कर्ताओं ने पाया है कि सलाई की लुगदी के साथ-साथ 25

से 50 प्रतिशत तक इसकी लुगदी को मिलाने से इसकी गुणवत्ता बढ़ जाती है। इसके प्रयोग एक कागज़ मिल में चालू हैं जहाँ करीब 100 टन बेशरम के पौधे की लकड़ी से कागज़ का उत्पादन किया गया है। भारतीय वैज्ञानिकों का मत है कि कागज़ के कारखाने से जो दूषित-जल उपचार संयंत्र से प्राप्त होता है उसे बेशरम के पौधे उगाने के काम में लाकर संयंत्र के आस-पास सफलता से बेशरम की खेती करके कागज़ के कारखानों के लिए कच्चामाल वहीं पर उपलब्ध किया जा सकता है।

(2) क्या आदमी घास खायेगा ?

डॉ० एस० सिम्पसन और वनस्पति विशेषज्ञ प्रो० डरमोकेनिंग के अनुसार संसार की जन-संख्या प्रति वर्ष 7 करोड़ से ज्यादा बढ़ रही है। नई संतानों में कन्या 19 वर्ष एवम् लड़के 21 वर्ष की आयु से संतान पैदा करने की क्षमता रखते हैं। यह भी कि सन् 2000 ईसवी तक संसार की जनसंख्या 11 अरब से अधिक हो जायेगी और इनकी जरूरतें पूरी करने के लिए वर्तमान भूमि से हरियाली वाले भाग, जंगल इत्यादि कट जायेंगे और 50 वर्ष बाद शायद पशुओं की नस्लें समाप्त हो जावेंगी। और तो और कृषि उत्पादन से बचे घास-भूसे से ही मनुष्य जीवन निर्वाह करेगा। इसी कारण वैज्ञानिक सतत् प्रयत्नशील हैं कि घास को उच्च खाद्य पदार्थ में कैसे जल्दी से जल्दी बदल दिया जाये।

प्रस्तुति : अर्चना पालीवाल
द्वारा के. के. पालीवाल, सिहोर

(3) क्या पौधे भी परस्पर संदेश भेजते हैं ?

वाशिंगटन विश्वविद्यालय के दो पारि-स्थितिकी विज्ञानियों ने पहली बार यह पता लगाया है कि पौधे भी रासायनिक संदेशों को मुक्त करते हैं, जो कि दूसरे पौधों के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की एक पत्रिका **'पॉपुलर साइंस'** की रिपोर्ट के अनुसार पारिस्थितिकी विज्ञानियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि, पेड़-पौधे जिन पर कीड़े-मकोड़े आक्रमण करते हैं, वे वातावरण में **फेरोमोन्स** नामक एक रसायन मुक्त करते हैं, जिससे इस बात की सूचना आस-पास के पौधों को मिल जाती है।

सावधान करने वाले ये संदेश आस-पास के पेड़-पौधों, जिन पर इन कीड़े-मकोड़ों का आक्रमण होने वाला है, को इस योग्य बना देते हैं कि वे इनसे रासायनिक सुरक्षा की तैयारी कर सकें।

प्रस्तुति : प्रद्युम्न कुमार यादव
शोध छात्र, वनस्पति विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

(4) कृत्रिम संगमर्मर

सोवियत वैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार के पॉलीमरों तथा सामान्य बालू के मिश्रण से कृत्रिम संगमर्मर तैयार करने की उपयोगी विधि का विकास कर लिया है। यह नया कृत्रिम संगमर्मर हर दृष्टि से प्राकृतिक संगमर्मर जैसा ही होता है। इसके अलावा इसे मनचाहे रंगों में तैयार किया जा सकता है।

(5) नेपच्यून ग्रह के लिए खतरा

वैज्ञानिकों को अति दूरस्थ ग्रह नेपच्यून के बारे में और खासतौर से उसके सबसे बड़े उपग्रह ट्राइटोन के बारे में बहुत कम जानकारी है क्योंकि वह 500 करोड़ किलोमीटर से भी अधिक की दूरी पर स्थित है।

अब तक पृथ्वी के इंफ्रा-रेड टेलिस्कोपों के माध्यम से जो जानकारी प्राप्त की जा सकी है उससे पता चलता है कि ट्राइटोन के घूर्णन की गति नेपच्यून की गति के विपरीत दिशा में है जिसके कारण इसकी पूरी संभावना है कि कुछ लाख वर्ष बाद ट्राइटोन नेपच्यून से टकरा

जाएगा। इसका परिणाम क्या होगा, पता नहीं। ट्राइटोन का आकार हमारे चन्द्रमा के बराबर है।

(6) खुदायी के बिना पानी का पता लगाने का उपकरण

दो रूसी वैज्ञानिकों, अनातोली सेमेनेव और अनातोली बर्स्टीन, ने संसार का ऐसा पहला उपकरण तैयार किया है जो खुदाई के बिना ही पानी का पता लगा सकता है।

इस उपकरण में एक छोटा कंप्यूटर भी लगा है और इसका एरियल 100 मीटर की गहराई तक पानी का आसानी से पता लगा लेता है। यह उपकरण एक कैटरपिलर गाड़ी पर लगा है जो जमीन पर धीरे-धीरे घूम कर काम करती है। यह उपकरण कुछ मिनटों में ही बता देता है कि पानी कहां है और कितनी गहराई पर है। इससे खुदाई के खर्च की बचत हो जाती है। पिछली गर्मी में ही ऐसे दो उपकरणों ने साइबेरिया के एक व्यापक क्षेत्र में पानी की खोज के कार्य में लगभग 40 लाख रूबल की बचत की थी।

(7) राडार से बर्फ की मोटाई का माप

रूसी इंजीनियरों ने एक ऐसा उपकरण तैयार किया है जो समुद्री और मीठे पानी के बर्फ की मोटाई को राडार के माध्यम से ठीक-ठीक नाप सकता है।

यह उपकरण विमान से रेडियो-तरंगों को बर्फ की सतह पर भेजता है जो लौट कर पुनः इसे प्राप्त हो जाती हैं और उनकी गणना के आधार पर ही यह बर्फ की सही मोटाई का ठीक अनुमान लगा लेता है। वैज्ञानिकों ने बर्फ की ऊपरी और निचली सतह से लौटकर आने वाली रेडियो-तरंगों को नापने की विधि भी निकाल ली है।

सोवियत संघ के नागरिक उड्डयन मंत्रालय द्वारा इस किस्म के तैयार किये गये पहले उपकरण की सहायता से 1983 के नवम्बर-दिसम्बर के भीषण जाड़े में आर्कटिक प्रदेश में बर्फ में फँसे 30 जहाजों को बचाने में बड़ी मदद मिली थी। अब इसकी जो नई किस्म तैयार की गयी है वह 5 से 7 मीटर की ऊँचाई से काम कर सकती है और उसे बर्फ तोड़क जहाज़ों में भी लगाया जा सकता है। इसका उपयोग पुरातत्वविदों द्वारा भी किया जा सकता है।□

(भारत स्थित सोवियत दूतावास के सूचना विभाग के सौजन्य से)

नयी पत्रिका

'ब्रिटिश वैज्ञानिक एवं आर्थिक समीक्षा' (प्रवेशांक) का प्रकाशन हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता के क्षेत्र में एक और सशक्त कदम है। इसमें प्रकाशित सभी रचनाएँ गवेषणात्मक, सूचनाप्रद, ज्ञानवर्धक एवं उत्तमकोटि की हैं। सामग्री का चयन, लेखों की क्रमबद्धता और नयी जानकारी—सभी सम्पादक के श्रम और प्रखर बुद्धिमत्ता का प्रतीक है। 28 पृष्ठों की पत्रिका में कुलमिलाकर 12 लेख हैं। भाषा सरल और प्रवाहमय है। 'मलेरिया : उन्मूलन नहीं तो रोकथाम ही सही' और 'क्या मनुष्य की अवस्था 4 अरब वर्ष की है ?' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुद्रण स्पष्ट और कवर आकर्षक है। इसके लिए सम्पादक : श्री आर० सी० नैश, प्रकाशक : ब्रिटिश सूचना सेवा, ब्रिटिश हाईकमीशन, नयी दिल्ली-110021, लेखकगण और मुद्रक : सोती प्रिंटिंग प्रेस, नई दिल्ली-110006 सभी साधुवाद के पात्र हैं।—प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

उद्योगों में लेसर की उपयोगिता

डॉ० महेश कुमार शर्मा
वैज्ञानिक, यंत्र अनुसंधान एवं विकास संस्थान, देहरादून—248008

लेसर का सबसे अधिक नाटकीय प्रभाव कठोरतम पदार्थों में सरलता से छेद करना है। इसका आशय यह नहीं है कि लेसर से उत्पन्न समग्र शक्ति बहुत अधिक है, अधिकतर यह सोल्डर आयरन से अधिक नहीं होती है, परन्तु वास्तव में लेसर की शक्ति महीन किरन पुंज में अत्यन्त संकेद्रित होती है। यह अनुमान लगाना कि निकट भविष्य में उद्योग में लेसर का उपयोग बृहत पैमाने पर कटान या विध्वंस कार्यों में होगा, संभव प्रतीत नहीं होता है, परन्तु जहाँ कार्य सीमित तथा विशेष रूप से परिशुद्ध प्रकार का है, वहाँ लेसर का इस्तेमाल प्रभावकारी ढंग से किया जा सकता है।

इससे पहले कि उद्योग क्षेत्र में लेसर के उपयोगों के विषय में विस्तृत रूप से विचार किया जाए, आइये देखें कि लेसर क्या है ?

1960 के अन्त में अमेरिकी भौतिकविद् **थियोडोर एच. मेमैन** ने अपने सहयोगी वैज्ञानिक **चार्ल्स एच. टाउनेस** द्वारा सुझाये गये अनुसंधान तथा डिज़ाइन के आधार पर सबसे पहला लेसर बनाया। यह एक ऐसा यन्त्र था, जिससे अतितीव्र प्रकाश की महीन किरण उत्पन्न की जा सकती थी।

लेसर (LASER) शब्द में अक्षरों का समुदाय यह प्रदर्शित करता है कि लेसर किस प्रकार कार्य करता है (Light Amplification by the Stimulated Emission of Radiation : विकिरण के उद्दीपित उत्सर्जन द्वारा प्रकाश प्रवर्धन)। यद्यपि लेसर के निर्माण की तकनीकी समस्याएँ जटिल हैं, परन्तु उनके मौलिक कार्य सिद्धान्त को समझना कठिन नहीं है। **टाउनेस** के मौलिक विचार परमाणु द्वारा ऊर्जा की विभिन्न मात्राओं को संचयित करने के तरीके पर आधारित थे। तुलनात्मक कम ऊर्जा के परमाणुओं को, उन्हीं से युक्त पदार्थ को अधिकतर गर्म करके उच्च-ऊर्जा अवस्थाओं में **उत्तेजित** किया जा सकता है। उत्तेजित परमाणु अधिकतर अस्थायी होते हैं और शीघ्र ही अपनी कम ऊर्जा अवस्था में लौट आते हैं तथा ऐसा करने पर अपनी आधिक्य ऊर्जा उत्सर्जित करते हैं। अधिकतर ऊर्जा दृश्य प्रकाश के रूप में निर्मुक्त होती है। इसी कारण अधिक गर्म करने पर धातु प्रज्जवलित होते हैं। सामान्यतः भिन्न-भिन्न परमाणु, विभिन्न तरंग दैर्ध्य का प्रकाश उत्सर्जित करते हैं, परन्तु **टाउनेस** ने एक ऐसा उपाय खोजने का प्रयत्न किया जिससे उत्तेजित परमाणु विमोचन से अपनी समस्त अतिरिक्त ऊर्जा को एक साथ उच्च तीव्रता तथा एकल तरंग दैर्ध्य की प्रकाश पुंज के रूप में निर्मुक्त कर सकें।

टाउनेस ने अपने आरंभिक प्रयोग अत्यन्त उच्चआवृत्ति रेडियो-तरंगों यानी सूक्ष्म तरंगों के साथ किये। कृत्रिम रूबी क्रिस्टल में सूक्ष्म तरंगे प्रवेश कराकर उन्होंने रूबी परमाणुओं को उच्च-ऊर्जा अवस्था में **पम्प** किया। जब परमाणु काफी अधिक उत्तेजित हो गये तो उन्होंने सूक्ष्म तरंगों

के क्षीण स्पंद से उन्हें पुनः **ट्रिगर** किया। परमाणुओं ने अपनी संचयित ऊर्जा को तुरन्त एकल तरंग-दैर्घ्य की सूक्ष्म तरंगों के शक्तिशाली पुंज के रूप में निर्मुक्त किया। **टाउनेस** ने अपने अन्वेषण को **मेसर** कहा और साथ ही यह सुझाव दिया कि इस सिद्धान्त को दृश्य प्रकाश के साथ उपयोग करके लेसर बनाया जा सकता है।

टाउनेस की राय के अनुसार **मेमैन** ने कृत्रिम रूबी क्रिस्टल के परमाणुओं का एक विधि से उत्तेजित किया। इस विधि को आजकल प्रकाशिक पम्पन कहते हैं। बेलनाकार रूबी क्रिस्टल के चारों ओर कुडलिनी आकार की एक शक्तिशाली इलेक्ट्रॉनिक दमक नलिका लपेटी गई। क्रिस्टल के किनारों पर आंशिक रूप से सिल्वर का लेप किया गया ताकि यह प्रकाश के लिये अर्धपारदर्शी हो जाए। पम्पन विधि में दमक नलिका को एक निश्चित तीव्रता से फायर किय गया जिससे किस्टल के परमाणु उच्च उत्तेजित अवस्था में आ गये। एकल परमाणु द्वारा अपनी आधिक्य ऊर्जा निर्मुक्त करने से जो प्रकाश का लघु स्पंद उत्पन्न हुआ, उसने अन्य परमाणुओं को **ट्रिगर** किया और इससे एक प्रकार से सोपानी ऊर्जा प्राप्त हुई। परिणामी प्रकाश, क्रिस्टल के किनारों से बार-बार आगे-पीछे परावर्तित हुआ और जब प्रकाश की इतनी अधिक तीव्रता हो गई तो यह अर्धपारदर्शी क्षेत्र में से प्रवेश कर बाहर निकल गया। इस प्रकार जो रोशनी उत्सर्जित हुई, वह तीव्र लाल प्रकाश की अस्थायी चमक थी, यानी प्रथम लेसर किरण पुंज।

मेमैन के लेसर क्षेत्र में अग्रगामी तथा विलक्षण कार्य के पश्चात् इस क्षेत्र में तेजी से निरन्तर प्रगति हुई है। यद्यपि पहले लेसर से प्रकाश का केवल एकल स्पंद ही उत्सर्जित होता था, परन्तु आधुनिक यंत्रों में अनावरोधक पम्पन विधि द्वारा परमाणु उत्तेजित किये जाते हैं, जिससे अविरलता से लेसर किरण पुंज उत्सर्जित होती है। रूबी क्रिस्टल और अन्य ठोस पदार्थ पम्पन विधि से उत्पन्न गर्मी से अकस्मात बन्द हो जाते हैं और इनके स्थान पर आजकल नये पदार्थ उपयोग किये जा रहे हैं। द्रव तथा गैस लेसर विशेष रूप से अधिक उपयोगी हैं। द्रव लेसर में ठोस क्रिस्टल के स्थान पर विशिष्ट द्रव से युक्त एक सेल होता है।

1960 के दशक के मध्य में अत्यन्त व्यावहारिक महत्वपूर्ण उच्च-दक्षता के गैस लेसर के आविष्कार हो जाने से लेसर के औद्योगिक, चिकित्सा, सैन्य तथा वैज्ञानिक उपयोगों में यह एक वरदान साबित हुआ। निऑन और हीलियम से युक्त आरम्भिक गैस लेसर काफी कार्यकुशल नहीं थे क्योंकि ये पम्पित ऊर्जा की कम मात्रा को लेसर प्रकाश में परावर्तित कर सकते थे। परन्तु 1965 में शक्तिशाली, कार्यकुशल और सरलता से इस्तेमाल होने वाले कार्बन डाइ-ऑक्साइड लेसर का अन्वेषण हो जाने से एक आदर्श लेसर के रूप में इसका उपयोग अनेक क्षेत्रों में हुआ।

गैस लेसर से भी अधिक कार्यक्षम नये प्रकार की युक्तियाँ हैं जो अर्धचालित पदार्थों पर आधारित हैं। ये द्रव्य ट्रांजिस्टर में उपयोग हो रहे पदार्थों के समान हैं। यद्यपि इनकी निर्गम शक्ति सीमित है, परन्तु अर्धचालित लेसर संहत हैं और इन्हें बनाना सस्ता है। आधुनिक अनुसंधान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये लेसर लगभग 100 प्रतिशत पंपित ऊर्जा को लेसर किरण पुंज में परिर्वातित कर सकेंगे और इस प्रकार निकट भविष्य में अत्यन्त कार्यकुशल अर्धचालित लेसर के बनने की आशा है।

लेसर किरण पुंज जहाँ एक ओर इतनी शक्तिशाली है कि यह अति कठोर पदार्थों में छेद कर सकतो है, वहाँ दूसरी ओर इसका उपयोग कोमल नेत्र शल्यचिकित्सा में भी किया जा

सकता है। इसके साथ-साथ सैन्य कार्यों में अत्यन्त शुद्धता से दूरियाँ मापने के लिये भी इसका इस्तेमाल किया जाता है। मेमैन के प्रथम लेसर के आविष्कार के पश्चात् विभिन्न प्रकार के लेसर विकसित किये गये हैं और इनके अलग-अलग किस्म के उपयोग निरन्तर दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

आइये, अब हम उद्योग क्षेत्र में लेसर के उपयोगों के विषय में विचार करें। 1960 के दशक में सर्वप्रथम औद्योगिक क्षेत्र में लेसर किरण पुंज बेधन का इस्तेमाल अमेरिका में किया गया। वहाँ लेसर ड्रिल द्वारा सबसे कठोर पदार्थ हीरे में छोटे-छोटे छेद किये गये। इन छिद्रों से युक्त हीरों का इस्तेमाल तार खींचने की डाइ के समान, उनमें से धातु को खींचकर तार बनाने के लिये किया गया। हीरे में लेसर ड्रिल द्वारा छेद करने के लिये केवल लगभग दो मिनट समय चाहिए, जबकि रूढ़िगत विधि द्वारा हीरा धूल के प्रयोग से हीरे में छेद करने में दो या तीन दिन लगते हैं।

पहनने के लिये उपयुक्त पोशाकों को बृहत पैमाने पर बनाने हेतु इंगलैंड में सबसे पहले लेसर का इस्तेमाल कपड़ों को काटने के लिए लेसर वस्त्र कर्तन मशीन के समान किया गया। लेसर किरण पुंज द्वारा दोहरी मोटाई के संश्लेषित वस्त्रों को अत्यन्त शुद्धता से स्पष्ट किनारों के साथ काटा जा सकता है। परिश्रम से हाथ से काटने के स्थान पर, लेसर वस्त्र कर्तन मशीन से लगभग 10 फीट प्रति मिनट की दर से कपड़े काटे जा सकते हैं और इससे जहाँ एक ओर समय तथा जन-शक्ति की बचत होती है, वहीं दूसरी ओर प्रत्येक परिधान के लिए सर्वथा शुद्ध **कर्तन पैटर्न** प्राप्त होता है।

विद्युत् आर्क या ज्वाला की तुलना में लेसर किरण पुंज की ऊर्जा को अधिक परिशुद्धता से नियंत्रित कर सकने के कारण इसका उपयोग अति शुद्ध वेल्डन के लिए किया जाता है। चूंकि लेसर, जोड़ को अत्यन्त शीघ्रता से ऊर्जा प्रदान करता है, इसलिए वेल्डिन हो रहे धातु में संचालन द्वारा बहुत कम ताप हानि का वेल्डन तुरन्त पूर्ण हो जाता है। लेसर द्वारा काँच में भी वेल्डन कर पाना संभव है। इस प्रकार वेल्डन अक्रिय वायुमण्डल में किया जा सकता है, जिससे उच्च ताप पर धातु में रासायनिक परिवर्तन नहीं हो पाता है। आर्गन गैस या अन्य वायुमण्डल से युक्त सीलित काँच के पात्र में जिस धातु का वेल्डन करना हो उसे रखा जाता है। लेसर किरण पुंज पात्र के बाहर से धातु के जोड़ पर निर्देशित की जाती है और इसका वेल्डन पूर्णतः अक्रिय वायुमण्डल में हो जाता है।

लेसर के एक अति आधुनिक तथा प्रोत्साहक उपयोग की न्यूक्लीय संलयन क्रिया साधारण परमाणुओं जैसे हाइड्रोजन के न्यूक्लिअस को आपस में संलयित करती है। इन अभिक्रियाओं द्वारा बहुत अधिक ऊर्जा की मात्रा निर्मुक्त होती है और इनसे एक दिन मनुष्य को कभी न समाप्त होने वाला ऊर्जा का स्रोत प्राप्त हो जाएगा। इनमें एक कमी यह है कि संलयन केवल बहुत अधिक उच्च ताप लगभग 10 लाख डिग्री सेल्सियस पर ही हो पाता है। अब लेसर द्वारा यह असम्भव ताप प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है। लेसर से प्रेरित न्यूक्लीय संलयन पर अनुसंधान कार्य अमेरिका में 1978 में आरम्भ हुआ था। विश्व का सबसे बड़ा संलयन लेसर कैलीफोर्निया, अमेरिका में स्थित है। 260^{11} वाट प्रकाश ऊर्जा से युक्त अति शक्तिशाली लेसर प्रकाश की 20 किरण पुंज हाइड्रोजन के एक आइसोटोप पर लक्षित की जाती है। लेसर स्पन्द जो लगभग $1/10^{10}$ सेकन्ड तक रहता है, सफलतापूर्वक हाइड्रोजन आइसोटोप में संलयन अभिक्रियाओं का एक सिलसिला आरम्भ करता है। यद्यपि संलयन ऊर्जा को नियन्त्रित तथा

निरापद रूप से निष्कासित करने की समस्याओं का समाधान कदाचित इस सदी के अन्त तक न हो पाये, फिर भी लेसर कम से कम मौलिक अनुसन्धान कर पाने में अपना योगदान दे रहे हैं जिससे भविष्य में ऊर्जा के एक अक्षय स्रोत के आविष्कार के होने की आशा है।

पृथ्वी के आकार तथा आमाप के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए भूगणित विज्ञान में लेसर का उपयोग काफी किया जा रहा है। लेसर से अत्यन्त शुद्धता से दूरी मापी जा सकती है। विशिष्ट त्रिकोणीयन तकनीकों में कृत्रिम उपग्रहों के इस्तेमाल से, लेसर पर आधारित नवीन प्रकाशिक विधियाँ, पुरानी रेडियो युक्तियों के स्थान पर अब प्रयुक्त की जा रही हैं। इन रेडियो विधियों में प्राय: पृथ्वी के वायुमण्डल के कारण निरुपण होते है, जबकि लेसर तन्त्रों में यह असुविधा नहीं होती है। मौसम विज्ञान में भी लेसर का उपयोग हो रहा है। लेसर से बादलों की ऊँचाई मापी जा सकती है और इससे वर्षा होने की सम्भावना के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

वैज्ञानिक लेसर द्वारा यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं कि प्रकाश किस प्रकार पदार्थ से परस्पर क्रिया करता है। प्रकाश के अरैखिक व्यवहार पर अनुसन्धान कार्य हो रहा है। जिस प्रकार ध्वनि से हार्मोनिक उत्पन्न की जा सकती है यानी विशिष्ट स्वर की मुख्य आवृत्ति के साथ, अतिरिक्त ध्वनि आवृत्तियाँ मिश्रित की जा सकती हैं, उसी प्रकार प्रकाश की अति उच्च किरण पुंज तीव्रताओं पर समरूप हार्मोनिक जनित्र कर पाना सम्भव है। लेसर द्वारा सर्वप्रथम प्रकाश के अरैखिक व्यवहार के विषय में अध्ययन कर पाना सम्भव हो गया है। इस व्यवहार का विशेष रूप से नाटकीय दृष्टान्त तब उत्पन्न होता है, जब क्रिस्टल लेसर से वास्तविक किरण पुंज स्पेक्ट्रम के इन्फ्रारेड भाग के निकट होती है और इस प्रकार यह अदृश्य होती है। इस किरण पुंज की दूसरी हार्मोनिक स्पेक्ट्रम के दृश्य भाग में होती है और प्रेक्षक को लेसर क्रिस्टल के मध्य भाग में से नीली या हरी किरण पुंज के समान प्रत्यक्ष रूप से निकलती प्रतीत होती है। प्रकाश के अरैखिक प्रभाव का अध्ययन अभी शैशव अवस्था में है, परन्तु अब तक की खोज के आधार यह आशा की जाती है कि प्रकाश के स्वरूप के बारे में नवीनतम पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में यह अध्ययन सहायक सिद्ध होगा।□

गर्म और ठण्डे कपड़े : विज्ञान की दृष्टि में

रामनारायण त्रिपाठी

69, हलवासिया मार्केट, हजरतगंज, लखनऊ—226001

प्राय: आप लोगों से सुनते हैं, 'आपने इस साल कोई गर्म कपड़े नही खरीदे? क्या जाड़ा अधिक पड़ रहा है? इन ठण्डे कपड़ों से कैसे गुजर कर लेते होंगे?' आदि। कपड़े के पहले गर्म और ठण्डे का विशेषण प्राय: शत-प्रतिशत लोग लगाते हैं। लेकिन आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि कोई कपड़ा न तो गर्म होता है न ठण्डा।

यहाँ यह देखना आवश्यक होगा कि गर्मी या सर्दी क्या है? गर्मी एक प्रकार की ऊर्जा है,

जो गर्म वस्तु में प्रवेश करती है ताकि दोनों का तापक्रम एक समान हो जाय।

यह ठोस पदार्थ नहीं है। इसका कोई रंग, रूप और गन्ध नहीं होता। परन्तु हमें गर्मी (उष्मा) का कैसे अनुभव होता है, इस पर विचार करना आवश्यक है। जब हम अँगीठी के पास बैठते हैं, तो चूँकि अँगीठी का तापमान, हमारे शरीर से अधिक होता है, इस कारण गर्मी (उष्मा) की किरणें हमारे शरीर में प्रवेश करती हैं, जिससे हमें उष्मा (गर्मी) का अनुभव होता है। जब हम साधारण पानी से नहाते हैं तो उस समय चूँकि पानी का तापमान हमारे शरीर से कम होता है और इसलिए हमारे शरीर से उष्मा (गर्मी) पानी में चली जाती है। और हमें सर्दी लगने लगती है। परन्तु ठण्डे पानी से नहाने के बाद हमारा शरीर आस-पास की हवा से ठण्डा हो जाता है, तो हवा से उष्मा (गर्मी) हमारे शरीर में आने लगती है, इस कारण हमें सुख का अनुभव होता है। परन्तु जब हम गर्म पानी से नहाते हैं, तो गर्म पानी उष्मा (गर्मी) हमारे शरीर में प्रवेश करके हमारे शरीर का तापमान बढ़ा देती है, परन्तु चूँकि आसपास की हवा का तापक्रम, शरीर के तापमान से कम रहता है, इसलिए उस वक्त हमारे शरीर से निकल कर, उष्मा (गर्मी) हवा में जाने लगती है, तो हमें सर्दी का अनुभव होने लगता है। इस बात से आप देखेंगे कि सर्दी को उष्मा (गर्मी) की तरह कोई ऊर्जा (शक्ति) नहीं होती, बल्कि गर्मी की अनुपस्थिति को ही आप सर्दी कह सकते हैं।

ऊपर बतलाया गया है कि उष्मा (गर्मी) का नियम है, कि यदि किसी वस्तु की उष्मा आस-पास की वस्तु से, ज्यादा है तो वह संचालित होकर आस-पास की वस्तु में चली जाती है। यदि आप एक या डेढ़ फुट के लोहे के छड़ को, जिसका एक सिरा अँगीठी में डला हो, तथा दूसरा सिरा पकड़े रहें, तो उस लोहे के छड़ में से उष्मा आपकी अँगुलियों तक पहुँच जायेगी। थोड़ी देर में आपका हाथ इतना गर्म हो जायेगा कि आपके लिए छड़ का पकड़ना सम्भव न रह सकेगा। परन्तु यदि आप दाहिने हाथ में लोहे के छड़ को लें, और बायें हाथ में उतनी ही लम्बाई और मोटाई का लकड़ी का छड़ लेकर उसका दूसरा सिरा अँगीठी में डाल दें, तो यद्यपि लकड़ी का सिरा जलने लगेगा फिर भी आपका बायाँ हाथ गर्म नहीं होगा। इसका कारण यह है कि लोहा उष्मा (गर्मी) का सुचालक है और लकड़ी उष्मा का कुचालक है।

हमारे कपड़े रूई, ऊन, नायलोन आदि के बनते हैं। कपड़ों का काम शरीर को ढकने के अतिरिक्त, शरीर की उष्मा को रोक कर, उसका तापमान स्थिर रखना भी है। जब हम धूप में जाते हैं तो सूरज की किरणों और सूरज की उष्मा से पहले से गर्म हवा की उष्मा का तापमान हमारे शरीर के तापमान से अधिक होने के कारण, हमारे शरीर को उष्मा प्राप्त होने लगती है, और हम गर्मी का अनुभव करते हैं। यद्यपि रूई उष्मा का कुचालक है। परन्तु सूती कपड़ों की तह इतनी पतली रहती है कि शरीर उष्मा, उसमें से निकल कर बाहर हवा में चली जाती है। जब हम रजाई के खोल में रूई धुना कर उसकी एक मोटी तह भरा लेते हैं, तो उस रूई की मोटी तह के कारण हमारे शरीर की उष्मा हवा में प्रवेश नहीं करती। इसीलिए जाड़े में रूई की रजाई या बन्डी पहनी जाती है। चाय की केतली की टीकोजी भी इसी प्रक्रिया से चाय को गर्म रखती है। पहले रुई की बन्डी की तरह लोग शेरवानी और बन्द गले का कोट पहनते थे। परन्तु बाद में फैशन के कारण उसका रिवाज नहीं रहा, यद्यपि ऊनी कपड़े के मुकाबले में वह काफी सस्ता पड़ता था। ऊन भी रूई की तरह उष्मा का कुचालक है। परन्तु रुई की विभिन्न प्रकारों की तरह, ऊन के भी विभिन्न

प्रकार होते हैं, जिस प्रकार की रूई या ऊन उष्मा की जितनी ही कुचालक होगी उतनी उनकी कीमत अधिक होगी। एक ही मोटाई का पशमीना साधारण ऊन के कपड़े से अधिक, शरीर की उष्मा को बाहर जाने से रोकता है। इसलिए उसकी कीमत अधिक होती है। अब हम गर्म और ठण्डे कपड़े में अन्तर समझ सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कोई कपड़ा गर्म और सर्द नहीं होता, उसकी यह विशेषता, शरीर की उष्मा शरीर में बनाये रहने के गुण, और क्षमता पर निर्भर करती है।

जाड़ों में रूई की रजाई, कम्बल से अधिक शरीर की उष्मा को अपने में रोक कर शरीर को गर्म रखती है। इसीलिए रजाई को कम्बल से अधिक पसन्द किया जाता है। यदि समान प्रकार और गुण के एक के बजाय दो कम्बल ओढ़ लिया जाये, तो शरीर में अधिक उष्मा रुकी रहेगी। इसीलिये हम दो कम्बलों के ज्यादा गर्म होने की संज्ञा दे देते हैं। एक आम कहावत है कि जाड़ा जाय, रूई से, दुई से या धुई से (धुई) आग तापन के बारे में पहले चर्चा हो चुकी है, दुई के अर्थ है एक बिस्तर में दो व्यक्तियों का सोना। स्पष्ट है जब एक बिस्तर में दो व्यक्तियों के शरीर की गर्मी रुकेगी, तो दोनों को पहले से अधिक गर्मी का अनुभव होगा। एक बन्द गले का कोट अपनी बनावट के कारण खुले गले के कोट से, ज्यादा गर्म होता है। ऊन की एक ढाई मीटर लम्बी और डेढ़ मीटर चौड़ी चद्दर से, इसी प्रकार और नाप के ऊनी कपड़े से बने कोट और पैण्ट के मुकाबले में, हम अधिक गर्मी रोक सकते हैं, क्योंकि चादर में हम सर को छोड़ कर, गले के नीचे सारे शरीर को ढक कर बैठ सकते हैं। चादर से ज्यादा माप के कपड़े के बने कोट और फुलपैण्ट से हम उतनी मात्रा से शरीर कीं उष्मा बाहर जाने से नहीं रोक सकते क्योंकि चादर में जब हम सिकुड़ कर बैठते हैं, तो थोड़े ही घनफुट में हम पूरे शरीर की उष्मा को रोक लेते हैं। यदि कोट पैण्ट की जगह पूरे शरीर पर ऊनी कपड़े की आधी बाँह की मैक्सी या चोंगा पहनें तो वह अधिक गर्म होगी। क्योंकि वह पूरे शरीर की गर्मी अपने में रोक कर, हमें गर्म रखेगी। कोट और पैण्ट में वह बात सम्भव नही है क्योंकि दोनों को क्रमशः कमर के ऊपर और कमर के नीचे के हिस्से की गर्मी (उष्मा) को अलग-अलग रोक कर शरीर को गर्म रखना पड़ता है। यदि हम रजाई की जगह अपनी नाप का एक थैला बनवा कर, और उसमें रजाई की तरह, बराबर रूई भरवा कर, जाड़े में उसमें घुसकर सोवें तो हमें अधिक गर्मी लगेगी क्योंकि रजाई में से चारों किनारों से शरीर से हट जाने पर उष्मा बाहर निकल जाती है। आप चौंकें नहीं, धीरे-धीरे दुनिया में सोने वाले थैलों का प्रचार बढ़ने लगा है। इसमें कम खर्च भी पड़ता है, और उसी कम खर्च में गद्दे और रजाई दोनों का काम चल जाता है। इसी कारण आपने देखा होगा कि शरीर की उष्मा को अधिक से अधिक रोक कर, शरीर को गर्म रखने के लिये लोग रजाई या कम्बल को सर वाले भाग को छोड़कर, तीन तरफ बिस्तर के नीचे दबा देते हैं।

अब हम इस दृष्टि से विभिन्न पहनावों की उपयोगिता पर विचार कर सकते हैं। धोती की जगह पायजामा, इस दृष्टि से अधिक लाभदायक है। इसमें कपड़े भी कम लगते हैं, और पैर की गर्मी को भी वह धोती से अधिक मात्रा में, अपने में रोक कर, हमारे शरीर के नीचे के भाग को गर्म रखता है। चूड़ीदार पायजामा से चौड़ी मोहरी का पायजामा अच्छा होगा, क्योंकि वह पैरों के चारों तरफ की गर्मी की उससे बड़ी पेटी कायम रख सकता है। बेल बाटम और एलीफैंटा भी ड्रेनपाइप पैण्ट या कसे हुये चूड़ीदार पायजामा से, इस दृष्टि से अधिक उपयोगी हैं।

प्रायः आप देखते हैं कि साड़ी पहनने वाली औरतों को कम जाड़ा लगता है। इसका कारण यह है कि साड़ी के दो तहों का एक बड़ा सा बैग बन जाता है, जो एकहरे पायजामें के बजाय दुगनी गर्मी रोक कर उसके कमर के नीचे के हिस्से को गर्म रखता है। इस पेटी की गर्म हवा अपने ऊपर उठने वाले गुण के कारण, स्त्रियों को साधारण अधकटे ब्लाउज से काम चलाने में कामयाब बनाती है। साड़ी का ऊपर का पल्ला भी शरीर में लिपट कर ज्यादा उष्मा रोक सकता है। उल्टे पल्ले के बजाय सीधा पल्ला गर्मी रोकने की दृष्टि से ज्यादा लाभदायक होता है।

बच्चों को गले से लेकर घुटनों तक झबला, आधी बाँह के बुर्शट और हाफपैण्ट से इस दृष्टि से, ज्यादा लाभदायक होगा क्योंकि वह पूरे शरीर की गर्मी को एक साथ रोक कर शरीर को गर्म रख सकता है।

अब आप अच्छी तरह समझ गये होंगे कि कपड़े गर्म और ठण्डे नहीं होते उनकी बनावट और गुण से लाभ उठाकर, हम कम से कम कीमत में अपना काम चला सकते हैं।

विटामिन ए

कु० विनीता शुक्ला
डी० पी० गर्ल्स इण्टर कॉलेज, इलाहाबाद

हम पत्र-पत्रिकाओं में आये दिन कुपोषण से उत्पन्न रोगों के विषय में पढ़ते रहते हैं। भारत जैसे गरीब देश में कुपोषण से मरने वाले बच्चों की एक बड़ी संख्या है। और जो बच्चे मौत के चंगुल से बच जाते हैं वे या तो जीवन भर के लिए विकलांग हो जाते हैं अथवा अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित रहते हैं। और इसी कारण बच्चों के लिए 'संतुलित अहार' पर विशेष बल दिया जाता है। प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट (शर्करा), वसा, खनिज और विटामिन हमारे भोजन के मुख्य घटक हैं। भोजन में इनमें से किसी की भी कमी या अभाव कुपोषण कहलाता है। अत्यल्प मात्रा में किन्तु अत्यावश्यक विटामिनों की महत्ता से हम सभी परिचित हैं। इस लेख में मैं आप सभी को केवल **विटामिन 'ए'** के विषय में कुछ बताने जा रही हूँ।

विटामिन 'ए' क्या है ?

विटामिन 'ए' कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बना हुआ एल्कोहॉलीय पदार्थ है। इसकी खोज सर्वप्रथम **मेण्डेल** तथा **ओसबोर्न** ने की। 1917 में **मैक्कॉलम** तथा **साइमण्ड्स** ने इसका नाम '**विटामिन 'ए'**' रखा।

विटामिन 'ए' रंगहीन है तथा वसा में घुलनशील है। इसकी रसायनिक रचना की जानकारी सर्वप्रथम **कैरर** ने दी। यह कार्बन के 20, हाइड्रोजन के 30 और ऑक्सीजन के एक अणु से मिल कर बना होता है।

विटामिन 'ए' के स्रोत

विटामिन 'ए' प्रकृति में मुख्यरूप से वनस्पतियों से प्राप्त होता है। हरे पौधों की पत्तियों में **क्लोरोफिल** नामक पदार्थ के अतिरिक्त कुछ लाल तथा पीले रंजक (Pigments) भी पाये जाते हैं जिन्हें कैरोटीन्वॉयड्स (Caroteinoids) कहते हैं। इनके विभिन्न प्रकारों में अल्फा, बीटा, तथा गामा कैरोटीन तथा क्रिप्टोजेनेथीन प्रमुख हैं। ये पदार्थ यकृत में पहुँचकर एक विशेष प्रकार के एन्ज़ाइम **कैरोटिनेज** द्वारा विटामिन 'ए' में बदल जाते हैं। इस प्रकार विटामिन 'ए' का

90% भाग यकृत में एकत्र रहता है और शेष फेफड़ों व गुर्दों में। विटामिन 'ए' की भी दो किस्में होती हैं। **विटामिन 'ए'** 1 तथा **विटामिन 'ए'** 2, व्यवहारिक दृष्टिकोण से इनमें कोई विशेष अंतर नहीं होता है। विटामिन ए 1 पशुओं तथा समुद्री मछलियों में पाया जाता है, जबकि विटामिन ए 2, ताजे पानी में पायी जाने वाली मछलियों में पाया जाता है। ऑक्सीजन की उपस्थिति में सामान्य वातावरण के तापक्रम पर **विटामिन 'ए'** का नाश होने लगता है किन्तु ठंडक का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। भोज्य पदार्थों को धोने और पकाने से विटामिन 'ए' का नाश नहीं होता क्योंकि यह जल में घुलनशील नहीं है। दूध को धीमी-धीमी आँच पर देर तक गर्म करने से और साग-सब्जियों को गर्म रखने के लिये देर तक धीमी आँच पर रखे रहने से विटामिन 'ए' नष्ट हो जाता है। भोजन पकाते समय मक्खन तथा घी से विटामिन 'ए' का बहुत कम ह्रास होता है। 'मिल्क पाउडर' अर्थात् सुखाये गये दूध में इसकी प्रचुरता होती है। मछली को डिब्बों में बंद करके रखने से इसकी कमी होती है। विटामिन 'ए' मुख्यत: निम्न पदार्थों में उपस्थित रहता है।

दूध, घी, मक्खन, अंडा, तेल, मछली, कॉड-लिवर ऑयल, हैलिबट लिवर ऑयल, हरी सब्जियों जैसे पालक, सलाद, करमकल्ला, गाजर, टमाटर, मूंगफली तथा गरी के तेल, काजू, अखरोट, बादाम, सेब, केला, खजूर, अंजीर, अमरूद, अंगूर, हरा आम, नाशपाती, अनन्नास, नीबू, नारंगी, पपीता, आड़ू, अनार, इमली, खुबानी, धनिया, चौलाई, मेथी, चने का साग, पोदीना, चुकंदर, अरवी, आलू, मूली शकरकंद, जमीकंद, प्याज, लहसुन, अदरख, कद्दू तथा विभिन्न प्रकार की दालें।

विटामिन 'ए' की कमी से उत्पन्न रोग

विटामिन 'ए' की कमी से अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं यथा नेत्रों में लाली रोग या कंजंक्टाइवा होना, श्लैष्मिक कलाओं का अस्वस्थ होना तथा शरीर में और भी दूसरे प्रकार के रोगों का उत्पन्न हो जाना। इनमें ज्वर, जुकाम, खाँसी, निमोनिया एवं श्वासपथ का अवरुद्ध होना आम है। त्वचा का शुष्क एवं खुरदुरी होना, त्वचा पर बड़े-बड़े सूखे एवं कड़े उभारों का बन जाना आदि भी विटामिन 'ए' की कमी से ही होते हैं। इसकी जितनी ही अधिक समय तक कमी होती है, उभारों का आकार उतना ही बढ़ता जाता है, त्वचा में दरारें पड़ने लगती हैं तथा त्वचा मछली की खाल जैसी हो जाती है। ये परिवर्तन भुजाओं के पीछे कोहनी, जाँघों पर तथा टाँगों के सामने देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त **रात्रि-अन्धता** तथा **बिटॉट-स्पॉट** रोग भी प्रमुख हैं। नेत्रों में इस विटामिन की कमी से कंजंक्टाइवा के कोष मोटे, पर्तदार तथा सूखे हो जाते हैं और आँखों की स्वाभाविक चमक नष्ट हो जाती है। विटामिन 'ए' के अत्यधिक अभाव से **अतिसार** भी हो जाता है, मसूड़े अस्वस्थ हो जाते हैं और पक्षाघात या लकवा नामक रोग हो जाता है। चूहे तथा दूसरे जानवरों में तो इस विटामिन की कमी से उनकी घ्राणशक्ति या सुनने की क्षमता नष्ट हो जाती है।

इन सभी बीमारियों से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि हम उन सभी खाद्य पदार्थों का उचित मात्रा में सेवन करते रहें जिनमें विटामिन 'ए' प्रचुर मात्रा में विद्यमान होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विटामिन ए हमारे भोजन का एक अति आवश्यक अंग है जिसकी कमी हमारे शरीर में तरह-तरह की व्याधियाँ उत्पन्न कर देती है।

विज्ञान नगरी : बहस जारी है

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211002

आज देश में विज्ञान और तकनीकी को प्रोत्साहन देने का कार्य विशाल स्तर पर किया जा रहा है। 125 करोड़ रुपयों की लागत से एक विज्ञान नगरी के निर्माण की विचाराधीन योजना इसका ज्वलंत प्रमाण है। किन्तु इस योजना की रूपरेखा ने (जितनी घोषित की गई) विचारकों के मध्य अनेक प्रश्नों और विवादों को जन्म दिया है। इस योजना से जुड़ा सबसे बड़ा प्रश्न भारतीय संदर्भों में इसकी प्रासंगिकता का है।

सरकारी वक्तव्यों के अनुसार यह योजना तकनीकी की होड़ में भारत को विश्व के अन्य देशों की बराबरी पर लाने के उद्देश्य से बनाई गई है। इस प्रस्तावित योजना से संबन्धित सूचना में यह कहा गया कि भारत में एक 'तकनीकी शहर' या 'विज्ञान नगरी' की योजना विचाराधीन है जिसे संयुक्त राज्य अमेरिका में रहने वाले भारतीय मूल के वैज्ञानिकों की मदद से बनाया जायेगा। योजना के प्रथम चरण में, जिसे 'इण्ड—यू० एस० इलेक्ट्रॉनिक्स, का नाम दिया गया है, उच्च गुणवत्ता वाले कम्प्यूटर सम्बन्धी उत्पादों की चर्चा है जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर प्रवासी भारतीय वैज्ञानिकों और भारतीय कम्पनियों की मिली-जुली कोशिशों से बनेंगे। इस सहयोग के लिए इन विदेशी भारतीयों को दी जाने वाली अनेक सुविधाओं की भी घोषणा की गई है। आश्चर्यजनक रूप से इन प्रस्ताओं में कहीं भी इस तथ्य की चर्चा तक नहीं है कि किस प्रकार भारत को इन योजनाओं से लाभान्वित होने की आशा है। यद्यपि उसी में विदेशों में बसे भारतीय किस प्रकार इस सहभागिता से लाभ उठा सकते हैं यह भलीभाँति बताया गया है। योजना के दूसरे चरण में जिसे 'इण्ड-यू. एस. टेक्नॉलॉजी सिटी इन नीलगिरीज़' नाम दिया गया है, 1000 एकड़ में नीलगिरि क्षेत्र में एक तकनीकी शहर बसाने का प्रस्ताव है। इस 'साइन्स सिटी' में मूलभूत अनुसंधान की स्वतंत्रता देकर ऐसे प्रवासी भारतीय वैज्ञानिकों को बसाने की योजना है जिन्हें वह समस्त सुविधायें उपलब्ध कराई जायेंगी जो उन्हें विदेशों में प्राप्त हैं। ऐसी स्थिति में स्वभावतः एक प्रश्न उभरता है कि क्या इन अतिरिक्त सुविधाओं को पाने का अधिकार केवल प्रवासी भारतीय वैज्ञानिकों को ही है? क्या वे भारतीय वैज्ञानिक जिन्होंने अपने देश को छोड़कर जाना उचित नहीं समझा और जो प्रतिकूल वातावरण, अल्प सुविधाओं और अभावग्रस्त प्रयोगशालाओं में भी मार्ग बनाने को कटिबद्ध रहे उन्हें इन सुविधाओं से वंचित रखना उचित होगा? शायद सरकार का यह निर्णय इस धारणा से प्रेरित हो कि भूखे को तो भूखे रहने की आदत ही हो जाती है। अतः जो पहले सुविधाओं का लाभ उठा रहे हैं उन्हें ही 'विज्ञान नागरी' में भी आवास, ज़मीन और दैनिक जीवनोपयोगी अन्य आवश्यकताओं में भी प्राथमिकता दी जानी चाहिए। प्रकारान्तर से यदि इस समस्त कार्यक्रम का निचोड़ यह निकले कि

प्रवासी भारतीय ही सच्चे देशभक्त हैं तो यह सभी के लिए अत्यंत लज्जा का विषय है।

एक अन्य आशंका भारतीय वैज्ञानिकों में सम्भावित असंतोष की है। प्रवासी भारतीय वैज्ञानिकों के प्रति यह अतिरिक्त प्रेम और उन्हें अतिरिक्त सुविधा हमारे स्वदेशी वैज्ञानिकों और तकनीशियनों को अवश्य क्षुभित करेगा। अपने निजी स्वार्थों और सुख-सुविधाओं को महत्व न देकर देश के लिए ही कार्य करने को श्रेयस्कर समझने वाले की प्रतिबद्धता का यह पुरस्कार किसी प्रकार भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। विज्ञान नगरियों में शोध के लिए एक उपयुक्त आदर्श वैज्ञानिक माहौल की कल्पना की गई है। इस संबंध में स्वर्गीय डॉ० होमी भाभा का कथन विचारणीय है, "ऐसे हज़ारों वैज्ञानिकों में, जो उपयुक्त वातावरण में उच्च स्तर का शोध कर लेते है, एक ही ऐसा वैज्ञानिक होता है जो प्रतिकूल परिस्थितियों को भी अपने अनुकूल बना लेता है और एक उच्च कोटि के वैज्ञानिक की यही पहचान है।" निश्चय ही प्रवासी भारतीय वैज्ञानिक इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते। यह मानना एक भारी भूल होगी कि जो देश छोड़कर चला गया वह देश में रहने वालों से श्रेष्ठतर है। जिन वैज्ञानिकों को सरकारी तौर पर आमंत्रित करके विज्ञान नगरियों में बसाने की योजना है, क्या वे वर्त्तमान परिस्थितियों में भारत में एक उपयुक्त वैज्ञानिक वातावरण की सृष्टि कर सकेंगे ?

जब देश 'प्रतिभा पलायन' की गम्भीर समस्या से पहले ही ग्रस्त है तो प्रवासी भारतीय वैज्ञानिकों को अतिरिक्त सुविधाओं का प्रलोभन देकर अप्रत्यक्ष रूप से देश के युवा वैज्ञानिकों को विदेशों की ओर भागने के लिए प्रेरित करना कदापि उचित न होगा। प्रवासी भारतीय वैज्ञानिकों को दी जानेवाली सुविधाओं को देखकर निश्चय ही युवावर्ग यह सोचेगा कि विदेश से लौटकर वे भी अधिक सुविधाओं के अधिकारी बन सकते हैं।

विज्ञान नगरी की स्थापन से जुड़े और प्रश्न भी हैं। क्या वर्तमान भारतीय वैज्ञानिक माहौल में वस्तुतः उच्च कोटि का वैज्ञानिक भारत में वापस आकर कार्य करना चाहेगा ? क्या केवल पृथक विज्ञान नगरियों की स्थापना करके और विज्ञान नगरी वाले विश्व के गिने चुने अग्रणी देशों की पंक्ति में शामिल होकर ही हम अपेक्षित वैज्ञानिक प्रगति कर पायेंगे ? क्या हमारी व्यवस्था की जड़ता और विदेशी को ही श्रेष्ठ समझने वाली हमारी मानसिक दासता की प्रवृत्ति एक विशुद्ध शोधोपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर पायेगी ? क्या भविष्य में भी मूलभूत अनुसंधान को व्यवहारिक अनुसंधान से श्रेष्ठतर समझते रहना बुद्धिमत्ता का परिचायक होगा ?

यहाँ किसी विज्ञान की उच्चस्तरीय योजना के संबंध में अनेकानेक नकारात्मक प्रश्नों द्वारा उसकी व्यर्थता सिद्ध करना इष्ट नहीं है। न ही उच्च कोटि के ज्ञान की खोज करने वाले अनुसंधान केन्द्रों से कोई विरोध है किन्तु यह भी सत्य है कि इस प्रकार की चेष्टा के पूर्व हमें अपनी वैज्ञानिक आवश्यकताओं और लक्ष्यों का भली भाँति पुनर्वीक्षण कर लेना चाहिए। साथ ही साथ इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण निर्णयों में वैज्ञानिकों की रचनात्मक भागीदारी भी अत्यन्त आवश्यक है।

हमारे देश में आज भी यह धारणा व्याप्त है कि विज्ञान और तकनीकी, विशेषकर विदेशी, वह कल्पवृक्ष है जिससे समस्त मनोवांछित फल पलक झपकते ही प्राप्त किए जा सकते हैं। संभवतः, विज्ञान नगरी की उद्‌भावना भी ऐसे ही चमत्कार पूर्ण परिणामों में आस्था रखने वाले मस्तिष्कों द्वारा हुई है। इस योजना के अमेरिका निवासी प्रस्तावक योजना की विस्तृत रूपरेखा के विषय में आश्चर्यजनक रूप से मौन हैं। यही

कारण है कि इस योजना ने तरह-तरह के विवादों को जन्म दिया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि देश की प्रगति के प्रति भावनात्मक लगाव रखने वाले स्वदेशी और जागरूक वैज्ञानिकों द्वारा किए गये सतत प्रयत्नों से ही कोई लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। हमारे देश के वैज्ञानिक नीतियों के निर्माता यदि वस्तुतः वैज्ञानिक विकास में रूचि रखते हैं तो उन्हें पहले यहाँ के वर्तमान वैज्ञानिक संगठनों में ही सुधार लाने की ओर अधिकाधिक ध्यान देना चाहिए। इसके फलस्वरूप यदि हम कुछ सार्थक कार्य करने में सफल हो सके तो उससे प्रेरित हकर प्रवासी भारतीय वैज्ञानिक बिना शर्तों और प्रलोभनों के ही देश में आने को तत्पर होंगे अथवा कम से कम विदेशों की ओर पलायन की प्रवृत्ति तो निश्चय ही कम होगी।□

अंतरिक्ष अनुसंधान में भारत के बढ़ते कदम

अमिताभ

कक्षा 12, जीव विज्ञान, जी० आई० सी०, इलाहाबाद

प्राचीन भारत के पौराणिक आख्यानों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिसमें सशरीर अंतरिक्ष यात्रा की बात का उल्लेख मिलता है किन्तु आधुनिक अंतरिक्ष विज्ञान का जन्म भारत में 1899 से माना जा सकता है जब कोडाई कैनाल में सौर-भौतिकी प्रयोगशाला की स्थापना की गई। बाद में डॉ० अम्बालाल विक्रम सारामाई, डॉ० आर० के० रामनाथन ने इसमें विशेष रूचि ली। डॉ० साराभाई तो भारतीय अंतरिक्ष विज्ञान के जनक ही कहे जाते हैं। आज भारत ने इस क्षेत्र में जो भी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं उसका सारा श्रेय डॉ० साराभाई को है।

19 अप्रैल 1975 का दिन भारतीय अंतरिक्ष विज्ञान के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा क्योंकि इसी दिन भारतीय उपग्रह '**आर्य भट**' रूसी अंतरिक्ष केन्द्र से रूसी राकेट इन्टर कॉस्मास द्वारा अंतरिक्ष में छोड़ा गया। अब तक भारत 'आर्य भट' सहित 9 उपग्रह अंतरिक्ष में भेज चुका है। 7 जून 1979 को '**भास्कर-1**', 18 जुलाई 1980 को अपने ही राकेट एस० एल० वी०-3 द्वारा '**रोहिणी आर० एस०-1**', 19 जून 1981 को '**एप्पल**', 20 नवम्बर 1981 को '**भास्कर-2**', इसी वर्ष '**रोहिणी आर० एन० डी-1**', 10 अप्रैल 1982 को '**इन्सैट-1 ए**', 17 अप्रैल 1983 को '**रोहिणी आर० एन० डी०-2**' और 30 अगस्त 1983 को भारत का बहुउद्देशीय उपग्रह 'इन्सैट-1 बी' भी अमेरिकी अंतरिक्षयान 'चैलेंजर' की सहायता से अंतरिक्ष में छोड़ा गया। इसका कार्यकाल 7 वर्ष का है और अपना कार्य ठीक से कर रहा है। कृत्रिम उपग्रहों द्वारा देश की वर्तमान दूर संचार, प्रसारण, मौसम की पूर्व सूचना तथा दूरदर्शन प्रसारण सुविधाओं में नये-नये आयाम परिलक्षित हो रहे हैं। 'इन्सैट-1 बी' पर लगा हुआ शक्तिशाली रेडियो मीटर 24 घंटे समाचार भेजता रहता है। इससे बादलों के ऊपर का तापमान, वर्षा, हिम, बाढ़, तूफान, चक्रवात आदि की पूर्व जानकारी मिलती रहती है। इससे देश के दूर-दराज के छोटे नगरों में भी दूरदर्शन की सुविधा प्राप्त हो रही है। इन उपग्रहों को अंतरिक्ष में छोड़ने और स्थापित करने में अभी भारत पूरी तरह सक्षम नहीं हो पाया है किन्तु इस दिशा में तेजी से अग्रसर हो रहा है।

इन सारी उपलब्धियों के बावजूद भारतवर्ष 1983 तक अपना कोई भी यात्री अंतरिक्ष में भेजने में सफल नहीं हो पाया। इसका कारण यह है कि न तो अभी तक हमारे पास शक्तिशाली राकेट हैं और न ही अंतरिक्षयान। पर वर्ष 1984 न केवल अंतरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में वरन् भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा क्योंकि 3 अप्रैल 1984 को भारतीय समय के अनुसार शाम 7 बजकर 38 मिनट पर सोवियत रूस के बैकोनूर स्थित अंतरिक्ष केन्द्र से रूसी राकेट द्वारा **सोयूजटी**-11 नामक अंतरिक्षयान अंतरिक्ष में छोड़ा गया। इस अंतरिक्षयान में सोवियत रूस के दो अंतरिक्ष यात्रियों कमाण्डर यूरी वॉसिलेविच मैलिशेव तथा इंजीनियर गेन्नाडी मिखाइलोविच स्त्रेकालोव के साथ भारत के स्क्वाड्रन लीडर राकेश शर्मा अनुसंधानकर्त्ता के रूप में थे। पृथ्वी से छूटने के 26 घंटे बाद **सोयूज़टी**-11 अपनी 18वीं परिक्रमा में 4 अप्रैल 1984 को रात 8 बजकर 2 मिनट पर पहले से ही अंतरिक्ष में स्थापित '**सेल्यूत**-7' से जुड़ गया। '**सेल्यूत**-7' एक बड़ी प्रयोगशाला जैसी है जिसमें अंतरिक्ष संबंधी प्रयोगों के आधुनिकतम उपकरण लगाये गये हैं।

अंतरिक्षयान जब अंतरिक्ष में स्थापित हो जाता है तो अंदर लगभग जीरो ग्रैविटी या शून्य गुरुत्वाकर्षण के कारण सभी चीजें भारहीन हो जाती हैं। अंतरिक्षयात्री एक स्थान से दूसरे स्थान को मछलियों की तरह तैरते हुए जाते हैं और इसमें श्रम नहीं करना पड़ता है। वे जैसे चाहें चल सकते हैं क्योंकि धरती की तरह फर्श और छत नहीं होती। हर चीज को बाँध कर रखना पड़ता है अन्यथा चीजें उड़ने लगें। यहाँ इसके कारण सुविधा भी है। वस्तुओं को एक से दूसरी जगह ले जाने के लिए केवल उसे उसे दिशा की तरफ हल्के से ढकेल देना होता है। किन्तु पृथ्वी की अपेक्षा किसी भी काम को करने में दो गुना समय लगता है।

प्रथम भारतीय अंतरिक्षयात्री राकेश शर्मा ने वहाँ अनेक प्रकार के प्रयोग किए जिससे निश्चय ही हमें लाभ होगा। शर्मा के वैज्ञानिक प्रयोगों में अंतरिक्ष से भारतीय भूभाग के छाया चित्र लेना था। इसे **टेरा** प्रयोग कहा जाता है।

एक अन्य प्रयोग में सिल्वर और जर्मेनियम धातुओं को गलाकर मिश्रधातु या एलाय बनाया गया। इन धातुओं को पृथ्वी पर गला कर मिलाना संभव नहीं है। चिकित्सा संबंधी प्रयोग में हृदय का कार्डियोग्राम लिया गया और हृदय पर अंतरिक्ष के वातावरण और भारहीनता की स्थिति का प्रभाव देखा गया।

टेरा प्रयोगों से भारत में कहाँ जंगल है, कहाँ जल, कहाँ पहाड़, कहाँ कृषि योग्य भूमि और कहाँ मरुभूमि है इसका पता चलेगा। इससे धरती की खनिज सम्पदा और तेल-गैस के स्रोतों की भी जानकारी मिलती है। समुद्र में कहाँ पर मछलियाँ अधिक हैं, इसका भी पता चलेगा। इन चित्रों के आधार पर भूमि की उर्बरता, जल के उपयोग और कृषि विकास सम्बन्धी योजनायें भी बनाई जा सकती हैं। योगासन के प्रयोगों से 'मोशन सिकनेस' नामक बीमारी के समाधान की सम्भावना है। अनेक नयी तरह की मिश्र धातुयें भी अन्तरिक्ष में बनाई जा सकती हैं जिन पर बहुत ही कम लगत आयेगी। इन्हें अन्तरिक्ष में बनाकर पृथ्वी पर उपयोग के लिए लाया जा सकता है।

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हम अन्तरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में बहुत पीछे हैं। किन्तु इस संयुक्त भारत-रूसी उड़ान ने देश में अन्तरिक्ष-ज्ञान के प्रति एक ललक पैदा की है जिसका निश्चय ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा। एक बड़ा प्रभाव तो यही पड़ा है कि भारत ने अन्तरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में होने

वाली भावी योजनाओं की घोषणा की है। आत्मनिर्भरता की ओर हमारे कदम बढ़ रहे हैं। इस दशक के अन्त तक हम अन्तरिक्ष अनुसंधान से सम्बन्धित सभी वस्तुयें बनाने लग जायेंगे। 1985 में फैली हुई **रोहणी** उपग्रह श्रृंखला में भारत भूमि से ही एस० एल० वी० द्वारा उपग्रह छोड़ा जायेगा। 1986 में रूस के अन्तरिक्ष केन्द्र से एक दूर संचार उपग्रह अन्तरिक्ष में छोड़ा जायेगा। 1988 में भारत अपनी धरती से पोलर एस० एल० वी० छोड़ेगा। इसके अतिरिक्त **'इन्सैट-1 सी'** अमेरिका की मदद से 1986 में अन्तरिक्ष में प्रक्षेपित किया जायेगा और **'इन्सैट**—2' 1988—89 में। राकेश शर्मा की अन्तरिक्ष उड़ान से भारत ने निश्चय ही अन्तरिक्ष उड़ान के क्षेत्र में एक लम्बी छलाँग लगाई है और इसके फलस्वरूप देश में अन्तरिक्ष कार्यक्रमों के प्रति दिलचस्पी—एक स्पेस कान्शसनेस—भी जाग्रत हुई है।

आज भारत का अन्तरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में विश्व में विशिष्ट स्थान है। 1975 में **'आर्य भट'** के अन्तरिक्ष में प्रक्षेपण के साथ ही भारत आन्तरिक्ष युग में प्रवेश कर अन्तरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में विश्व का 11वाँ राष्ट्र हो गया था। 1980 में अपने ही राकेट द्वारा **'रोहणी'** उपग्रह का प्रक्षेपण करने के बाद वह 'स्पेस क्लब' का 7वाँ सदस्य बन गया और अप्रैल 1984 में संयुक्त भारत-रूसी अन्तरिक्ष उड़ान के साथ ही विश्व का 14वाँ राष्ट्र हो गया जिन्होंने अन्तरिक्ष में अपने देश के अन्तरिक्ष यात्री भेजे हैं। इस उड़ान से जहाँ राकेश शर्मा को प्रथम भारतीय और विश्व के 28वें अन्तरिक्ष यात्री होने का गौरव प्राप्त हो गया है वहीं अंतरिक्ष अनुसंधान में सम्भावनाओं के अनेक द्वार भी खुल गये हैं।

सी. एस. आई. आर. के नये महानिदेशक—डॉ. वरदराजन

डॉ. एस. वरदराजन ने वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के महानिदेशक का तथा सी. एस. आई. आर. के मामलों के लिये सचिव, भारत सरकार, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी विभाग, के पद का कार्यभार 22 जून 1984 से संभाला। जब तक विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग के सचिव के पद के लिये नियमित चुनाव नहीं होता तब तक वे ही उस विभाग के सचिव के पद का अतिरिक्त भार भी संभालेंगे।

डॉ. वरदराजन का वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् से अनेक वर्षों से घनिष्ट संबंध रहा है। 1964 से वे केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिक अनुसंधान संस्थान, मैसूर, के वैज्ञानिक तथा कार्यभारी समितियों के सदस्य रहे हैं। वे राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, पुणे की अनुसंधान
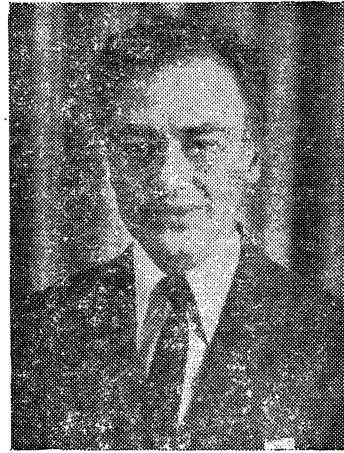
डॉ० एस० वरदराजन

सलाहकार समिति के अध्यक्ष और कार्यकारी समिति के अनेक वर्षों तक सदस्य रहे हैं। डॉ.

वरदराजन भारतीय पेट्रोलियम संस्थान, देहरादून की कार्यकारी समिति के सदस्य भी रह चुके हैं। क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला, हैदराबाद, राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, पुणे, भारतीय पेट्रोलियम संस्थान, देहरादून, क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला भुवनेश्वर तथा राष्ट्रीय प्रयोगशाला में रसायन विज्ञान के क्षेत्र में व्यावहारिक और मौलिक अनुसंधान को प्रोत्साहित करने में डॉ. वरदराजन का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। डॉ. वरदराजन के अध्यक्षता काल में पेट्रोकेमिकल्स कारपोरेशन ने पहली बार राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, पुणे द्वारा विकसित एक्रीलेट्स के लिये प्रक्रियाओं पर आधारित संयंत्र की स्थापना के लिये 25 करोड़ रुपये व्यय किये थे। वे सी. एस. आई. आर. की चतुर्थ पंचवर्षीय योजना क्रियान्वयन समिति के सदस्य भी रह चुके हैं। वे 1974 से ही सी. एस. आई. आर. की सोसायटी के सदस्य हैं। डॉ. वरदराजन 1974 से लेकर 1981 तक वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की प्रबन्ध निकाय के सदस्य रह चुके हैं। वे सी. एस. आई. आर. की अनुसंधान योजनाओं की क्रियान्यवन समिति तथा कार्मिक नीति की जांच समिति के अध्यक्ष पद को भी संभाल चुके हैं। उन्होंने सी. एस. आई. आर. द्वारा स्थापित भटनागर पुरस्कार और वैज्ञानिकों की चयन समिति के अध्यक्ष पद को भी सुशोभित किया। डॉ. वरदराजन सी. एस. आई. आर. द्वारा प्रकाशित "इंडियन जनरल ऑफ केमेस्ट्री", "रिसर्च एण्ड इंडस्ट्री" तथा अन्य अनुसंधान पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक मण्डल के सदस्य के रूप में भी कार्य कर चुके हैं।

डॉ. वरदराजन ने अनेक प्रतिष्ठित पदों का भार बड़ी सफलतापूर्वक संभाला है।

डॉ. वरदराजन केन्द्रीय मंत्रिमंडल की विज्ञान परामर्श समिति के सदस्य-सचिव हैं। वे भारतीय न्यूट्रीशन सोसायटी ऑफ इंडिया के अध्यक्ष भी हैं। डॉ. वरदराजन रामन अनुसंधान संस्थान ट्रस्ट, बिरला इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी एण्ड साइंस, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस, इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमैन्ट (अहमदाबाद), और इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी (दिल्ली) और कौंसिल ऑफ इन्स्टीट्यूट ऑफ टैक्नोलॉजी की परिषदों के सदस्य हैं। वे इंडियन केमिकल सोसायटी, आयल टैक्नोलॉजिस्ट्स एसोसिएशन ऑफ इंडिया तथा प्रोटीन फुड्स एण्ड न्यूट्रीशन डिवलपमेंट एसोसिएशन के उपाध्यक्ष भी हैं। वे इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टैक्नोलॉजी (बम्बई), न्यूट्रीशन सोसायटी ऑफ इंडिया, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के एडवांस्ड सेन्टर इन बायोकेमेस्ट्री, बंगलौर, पर्यावरणीय योजना की राष्ट्रीय समिति एक्सक्यूटिव ऑफ वर्ल्ड पेट्रो-लियम कांग्रेस, आक्सफोर्ड एनर्जी पालिसी क्लब की कार्यकारी परिषदों के सदस्य भी रह चुके हैं। इसके अतिरिक्त वे अनेक सरकारी समितियों से भी सम्बद्ध हैं।

डॉ. वरदराजन ने स्नातकोत्तर उपाधियाँ मद्रास तथा आन्ध्र विश्वविद्यालयों से प्राप्त की। दिल्ली तथा केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों ने उन्हें पी. एच. डी. की उपाधि प्रदान की है। हाल ही में आन्ध्र विश्वविद्यालय ने उन्हें सम्मानार्थ डॉ. ऑफ साइन्स की उपाधि से विभूषित किया है। उन्होंने एक के बाद एक अनेक पदों—दिल्ली विश्वविद्यालयों में रसायनशास्त्र के प्रवक्ता के, कैम्ब्रिज विश्वविद्यलय मे 1951 की प्रदर्शनी के, रायल कमीशन में रिसर्च फैलो के, अमेरिका के मैशाचुसेस्ट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टैक्नोलॉजी, जैवरसायन के विजिटिंग लेक्चरार के तथा कैम्ब्रिज में बेट मेमोरियल फैलो के पदों पर कार्य किया। डॉ. वरदराजन ने प्राकृतिक उत्पादों के रसायनशास्त्र, आर. एन. ए. के संश्लेषण और संरचना तथा डी. एन. ए. की संर-

चना तथा कार्यों पर उल्लेखनीय अनुसंधान किये हैं।

उनके मार्गदर्शन में सुगन्धित रसायन, सतह सक्रिय कारक और उत्प्रेरक तथा कई गौण तेलों के रूपान्तरण के अनेक क्षेत्रों में बहुत से नवीन अनुसंधानों को विकसित किया। उनके निर्देशन में पशु पोषण, मानव पोषण, दुग्ध उत्पाद, विष-विज्ञान, औद्योगिक वसा अम्ल तथा विभिन्न प्रकार के कार्बनिक रसायनों के उत्पादन पर सम्पूर्ण अनुसंधान कार्य हुआ है। डॉ. वरदराजन ने उत्पादन की अनेक प्रौद्योगिकियों के उपयोग तथा उच्च क्षेणी की प्रौद्योगिकी को आयातित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

डॉ. बरदराजन को इंडियन नेशनल साइंस एकेडमी तथा रायल सोसायटी ऑफ केमेस्ट्री, लन्दन, फैलो के रूप में सम्मानित कर चुकी है।□

आई० टी० आर० सी० के नये निदेशक—डॉ० पी० के० रे

मेडिकल कॉलेज ऑफ पेन्सलवेनिया की अल्मा डी, मोरानी प्रयोगशाला के निदेशक डॉ० पी० के० रे को 27 मार्च 1984 से औद्योगिक विष विज्ञान अनुसंधान केन्द्र (आई० टी० आर० सी०), लखनऊ का निदेशक नियुक्त किया गया।

डॉ० रे का का जन्म 29 सितम्बर 1941 को हुआ था। उन्होंने एम० एस-सी०, पी-एच० डी० और डी० एस-सी० की डिग्रियाँ कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राप्त कीं। कलकत्ता विश्व-विद्यालय में उनके शोधकार्य का सम्बन्ध **डौलीकस बाईफ्लोरस** के निसार में हीमाएग्लो-टीनोटिंग कारकों के विश्लेषण से था। 1969 से 1973 तक उन्होंने मिनीसोटा विश्वविद्यालय, संयुक्त राज्य अमेरिका के शल्यक्रिया और सूक्ष्मजीवविज्ञान विभाग में शोध कार्य किया। उनके कार्यों का सम्बन्ध कोशिका पृष्ठ प्रतिजनों के एन्जाइमी संशोधन से था। उन्होंने एक ऐसी विधि विकसित की थी जिससे उन छिपे हुये और अपंग कोशिका पृष्ठ प्रतिजनों का अनावरण किया जा सकता है जो कोशिकाओं को धीरे-धीरे रोधक्षम बनाते हैं। यह विधि अब पोषी कोशिका में रसौली के पैदा होने को रोकने अथवा उसके विकास को मन्द करने के लिये रोधक्षमता उत्पन्न करने के लिये विश्व की अनेक प्रयोग-शालाओं में प्रयुक्त की जा रही है।

भारत लौटने के पश्चात् डॉ० रे भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र के जैव चिकित्सा विभाग में वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी नियुक्त किये गये। यहाँ उनके सक्रिय प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप कैंसर इम्यूनो बायोलॉजी विभाग विक-सित हुआ। बाद में उन्होंने राष्ट्रीय कैंसर रिसर्च केन्द्र के निदेशक पद और बंगाल इम्यूनिटी रिसर्च इंस्टीट्यूट, कलकत्ता, के अनुसंधान अध्यक्ष के रूप में कार्य किया। उन्होंने पहली बार यह बताया कि भारत में निर्मित बी० सी० जी० वैक्सीन में रसौलीरोधी गुण मौजूद होते हैं। सामान्य पोषी कोशिका को बी० सी० जी० वैक्सीन से रोधक्षम बना कर रसौली प्रतिरोपण के विरुद्ध कुछ हद तक रोधक्षमता प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने ही पहली बार यह बताया था कि **एस०फेसालिस सूक्ष्मजीव** में रसौली-रोधी गुण होते हैं। उनके इस खोजपूर्ण कार्य की अत्यधिक प्रशंसा हुई थी।

कैंसर और सगर्भता की रोधक्षमता पर उनके अध्ययनों ने यह दर्शाया है कि सगर्भ पोषी सगर्भता सम्बद्ध प्रतिजनों द्वारा बहुत ही संवे-दनशील बना दिया जाता है। इनमें से कुछ

प्रतिजन अर्बुद पर साधारणतया उपलब्ध होते हैं। उन्होंने यह दर्शाया कि बहुप्रजाति स्त्रियों या उन स्त्रियों में जो कि भ्रूण प्रतिजनों के कारण असंक्रमित हैं, रसौली के विरुद्ध कुछ हद तक रोधक्षम हो जाती हैं। इन परिणामों ने भी इस परिकल्पना की पुष्टि की है कि भ्रूण प्रतिजन दुर्दम्य कोशिकाओं पर लक्षण सूचित करती हैं। बंगाल इम्यूनिटी में अपने कार्यकाल के दौरान उन्होंने टॉक्सिन टॉक्साइड बैक्टीरियारोधी वैक्सीनों और एन्टीसीरा आदि पर व्यापक अध्ययन किया।

पुन अमेरिका जाने के बाद डॉ० रे ने रसौली प्रेरित रोधक्षम विषालुता सीड्राम की यांत्रिकी पर अध्ययन आरम्भ किये और कैंसर के उपचार के लिये एक प्रायोगिक विधि विकसित की। यह विधि आजकल "कैंसर उपचार की रोधक्षम दमन नियन्त्रण" विधि कहलाती है। उन्होंने कैंसररोधी उपयुक्त ओषधियों की विषालुता को रोकने के तरीकों का भी अध्ययन किया। उन्होंने पहली बार यह बताया कि एक स्टैफलोकोकी प्रोटीन में रसौली रोधी गुण होते हैं और वह कैंसररोधी ओषषियों के बड़ी मात्रा में दिये जाने से उत्पन्न विषालुता को कम कर सकती है। इस विधि से अस्पतालों में इस्तेमाल किये जाने वाले कुछ उपयोगी कैंसर रोधी ओषधियों की उपयोगिता में वृद्धि हो जायेगी।

डॉ० रे ने 125 शोध पत्र, पुस्तकें, समीक्षायें, मोनोग्राफ्स आदि प्रकाशित किये हैं। उन्होंने 'इम्यूनोबायोलॉजी ऑफ ट्रांसप्लांटेशन, कैंसर एण्ड प्रेगनैन्सी' नामक पुस्तक का संपादन भी किया है। यह परगमन प्रेस, न्यूयार्क द्वारा प्रकाशित की गई है। वह इन्टरनेशनल फाउण्डेशन फॉर ह्यूमन हैल्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका, की रोधक्षम और पोषकता समिति के अध्यक्ष हैं, "प्लाज्मा थिरेपी एण्ड ट्रांसफ्यूजन टैक्नोलॉजी" नामक पत्रिका के सम्पादन बोर्ड के सदस्य तथा "एडवान्सेस इन इम्यूनिटी एण्ड कैंसर थिरेपी" की वार्षिक माला के संपादक हैं। उन्होंने "एनवायरमेंटल टॉक्सीकेंट, इम्यूनिटी एण्ड कैंसर" शीर्षक से एक पुस्तक भी लिखी है। डॉ० रे अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं के समीक्षक रह चुके हैं और उन्होंने विभिन्न राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक बैठकों की अध्यक्षता भी की है। उन्होंने 5वीं अन्तर्राष्ट्रीय कैंसर रोग और निदान गोष्ठी जो साओपालो, ब्राजील में 1982 में आयोजित की गई थी मोनोकोनल एण्टीबाड़ी पर एक पाठ्यक्रम आयोजित किया था। 1982 में ही उन्हें पुनः गारडॉन रिसर्च कान्फ्रेंस में व्याख्यान देने के लिये आमंत्रित किया गया था।

इण्डियन कॉलेज ऑफ एलर्जी एण्ड एपलाइड इम्यूनोलॉजी के फैलो, डॉ० रे इण्डियन इम्यूनोलॉजी सोसायटी के संस्थापक सदस्य हैं। वे न्यूयार्क एकेडमी ऑफ साइन्स, अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ कैंसर रिसर्च, अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ इम्यूनोलाजिस्ट और अमेरिकन एसोसियेशन फॉर दी एडवांसमेंट ऑफ साइन्स के भी सदस्य हैं। उन्हें आई० सी० एम० आर० के पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। डॉ० रे का उल्लेख अमेरिकन मैन एण्ड वीमेन ऑफ साइन्स, हूज हू इन फ्रन्टियर साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी एवं कैंसर रिसर्च की प्रोफेशनल निदेशिका में किया गया है। □

[सी. एस. आई. आर. समाचार से साभार]

वन्यजीव सप्ताह (1 अक्टूबर से 7 अक्टूबर, 1984)

वन्यजीवों के संरक्षण में सहायता करें।

रसभरी : एक उपेक्षित फल

डॉ० सुरेन्द्र कुमार गुप्त
वनस्पति विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—221005

भारत में खाद्य पदार्थ एक विकट समस्या है। जनसंख्या में वृद्धि, नई बस्तियों, आधुनिक कल-करखानों, नहरों एवं परियोजनाओं के विस्तार के कारण बढ़ता हुआ प्रदूषण, पारिस्थितिकीय-असंतुलन एवं उपजाऊ भूमि का ह्रास तथा मृदा-क्षरण खाद्य पदार्थों की कमी का मुख्य कारण है। प्रत्येक व्यक्ति को यदि पेट भर भोजन उपलब्ध न हो सके तो तकनीकी, मशीनी एवं परमाणु युग में प्रगति से क्या लाभ ? यद्यपि हरित एवं श्वेत क्रान्तियों से खाद्य-उत्पादन में आत्मनिर्भरता तो अवश्य हुई, फिर भी यह उन्नति केवल अन्न एवं दुग्ध-उत्पादन तक ही सीमित रही जबकि फल एवं शाक-सब्जी पूर्णतया उपेक्षित रह गये। इनका उत्पादन प्रति व्यक्ति बहुत ही न्यून है। यहाँ तक कि लगभग आधी जनसंख्या जो गरीबी-रेखा के नीचे है, इससे वंचित रह जाती है। और कुपोषण से इनकी स्वाभाविक वृद्धि एवं स्वास्थ्य दोनों ही प्रभावित होते हैं। यही कारण है कि सरकार ने अपनी योजनाओं में इनकी उत्पादन-वृद्धि को भी शामिल किया है। फलों में भी पूर्व परिचित फल जैसे—सेब, नासपाती, सन्तरा, मुसम्मी, आम, केला, अंगूर आदि पर ही लोग अधिक ध्यान देते हैं जबकि कुछ सस्ते फल (जो आम आदमियों के पहुँच में हैं) सभी आवश्यक तत्वों के रहते हुए भी उपेक्षित हैं। इसका कारण है इनके गुणों के बारे में लोगों की अनभिज्ञता। इन्हीं में से एक है रसभरी या मकोय जो बच्चों में अपने खटमिट्ठे स्वाद के कारण प्रिय है। तो आइये, इसकी उपयोगिता के विषय में कुछ बातें कर ली जायें।

यह बैंगन कुल, सोलैनेसी (Solanaceae) के **फाइसैलिस** (*Physalis Linn.*) जाति का है, जिसकी विश्व में लगभग 80 प्रजातियाँ पायी जाती हैं। इसका अँग्रेजी नाम केपगूजबेरी (Cape-gooseberry) है तथा वानस्पतिक नाम है **फाइसैलिस पेरुवियाना** (*Physalis peruviana*)। इसका जन्म पेरू देश में हुआ था। भारत में इसे रसभरी हवाई में पोहा तथा दक्षिण अफ्रीका में सुनहरा-फल (Golden berries) कहते हैं। इसके अलावा पश्चिमी देशों की दो और फल वाली प्रजातियाँ हैं—(1) मेक्सिकन शल्कित टमाटर (Mexican Husk Tomato) जो शल्क में ढके हुए टमाटर (बड़ी आकार) की तरह होता है तथा उद्गम मेक्सिको देश होने के कारण इसका नामकरण हुआ, (2) स्ट्राबेरी टमाटर (Strawberry tomato) जो अच्छे फल के बावजूद, वृक्षलता होने से खेती कुछ असुविधाजनक होती है। दोनों का वानस्पतिक नाम क्रमशः **फाइसैलिस इक्सोकार्पा** (*Physalis ixocarpa*) एवं **फाइसैलिस प्यूबिसेन्स** (*P. pubescens*) है। विदेशी होने के बावजूद भी दोनों का उत्पादन अपने देश में किया जा सकता है। ये सुस्वादिष्ट, अधिक उत्पादन देने वाले तथा शीघ्रता से बढ़ने वाले पौधें है। इनकी खेती वर्षा ऋतु (जुलाई-अगस्त) में की जाती है तथा फल 4-5 महीने बाद जाड़े दिसम्बर) में लगते हैं।

महत्व की दृष्टि से इनके फल में फॉस्फोरस, कैल्शियम, लौह, ऑक्जलेट तत्त्वों के साथ विटामिन ए बी, एवं सी पाये जाते हैं। इनमें तेल भी उचित मात्रा में होता है। पके फल को उसी प्रकार या विभिन्न प्रकार के व्यंजन जैसे चटनी, सिरका, मुरब्बा, करी, पेस्ट्री तथा सूप

(तरल द्रव्य) आदि रूपों में ग्रहण किया जाता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में इसका उपयोग मूत्रवर्धक, बच्चो को बस्ति यथा पुल्टिस आदि के लिए किया जाता है। पौधों का ओषधिक-महत्व उनमें संचित एल्कलायड (Alkaloid) तथा स्टेर्वायड (Steroid) के कारण है। इस प्रकार पौधे का वनस्पति-रसायन (Phytochemistry) में भी महत्व बढ़ जाता है। अब तक इन प्रजातियों से लगभग 35 स्टेर्वायड्स (C_{28} Seco-steroides) तथा 15 एल्कलायड्स (Tropane-Alkaloids) निकाली जा चुकी हैं जिस पर ज्यादातर कार्य भारत एवं इजरायल देशों में हुआ है। इसकी प्रजातियों में आनुवंशिक तथा पादप-प्रजनन आदि पर भी कार्य हुआ है तथा कई अच्छी किस्में (New improved varieties) भी निकाली गई हैं। इस प्रकार इनसे निकाले गए रसायनों का विभिन्न बीमारियों में प्रयोग चल रहा है। अनेक महत्वपूर्ण तथ्य अभी भी आने बाकी हैं। इतना ही नहीं, अभी भी अनेक महत्वपूर्ण नयी किस्में (Varietes) और रसायन निकलते जा रहे हैं। इनका संचय पौधों के हर भाग (जड़, तना, पत्ती, फल, फूल आदि) में होता है, यद्यपि उपस्थिति बहुत अल्प मात्रा में होती है। इनकी उपयोगिता एवं प्रभाव दोनों ही अधिक होता है। इसलिए इनके फलों के साथ ही पूरे पौधे उपयोगी हैं। आर्थिक और पौष्टिक महत्व को ध्यान में रखते हुये इसकी विधिवत वैज्ञानिक खेती पर विशेष बल देना होगा। ☐

नीड़ परजीविता

सतीश कुमार शर्मा

वनपाल, प्राइमरी तातारपुर नर्सरी, अलवर, राजस्थान—301404

भोज्य परजीवी काफी जाने और सुनें जाते हैं परन्तु नीड़ परजीवियों के विषय में आप और हम बहुत कम जानते हैं। ले-दे कर एक कोयल की ही बात हम नीड़ परजीवी के रूप में करते हैं। लेकिन नीड़ परजीवियों की सूची इतनी छोटी नहीं है। इससे पहले कि हम कुछ नीड़ परजीवियों को जाने, नीड़ परजीवी का अर्थ समझना उचित रहेगा।

हम मनुष्य अपने घर साल दर साल रहने के लिये बनाते हैं। विपदाओं जैसे सर्दी-गर्मी, ओले आदि से बचने के लिये बनाते हैं। परन्तु पक्षी व कुछ अन्य घोंसला बनाने वाले प्राणी अपने नीड़ अण्डे रखने एवं उन अण्डों से निकले शिशुओं को नीड़ छोड़ने तक सुरक्षा प्रदान करने के लिये बनाते हैं। जो पक्षी या प्राणी अपना घोंसला स्वयं बनाते हैं उन्हें नीड़ स्वयं-जीवी कहते हैं पर जो अपना घोंसला नहीं बनाते या बना तो सकते हैं परन्तु कुछ आलस्य या परिस्थितिवश नहीं बनाते एवं दूसरे पक्षियों द्वारा निर्मित घोंसलों को अपनाते हैं, वे नीड़-परजीवी कहलाते हैं। इसी घटना को नीड़ परजीविता की संज्ञा दी गई है।

यह बात बिल्कुल सही नहीं है कि नीड़-परजीविता की घटना मात्र पक्षीवर्ग में पाई जाती है। अन्य वर्गों के कुछ सदस्य भी ऐसा करते हैं लेकिन यह घटना पक्षियों से ही अधिक जुड़ी है अतः यहाँ चर्चा पक्षियों तक ही सीमित रहेगी।

पक्षियों के घोंसले सम्बन्धी परजीविता कई तरह की होती है। इसे एक सामूहिक नाम 'ब्रूड परजीविता' (Brood Parasitism) दिया जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं—अविकल्पी और विकल्पी। विकल्पी ब्रूड परजीवी भी दो प्रकार के होते हैं—नीड़ परजीवी और अण्ड परजीवी। इसी प्रकार नीड़ परजीवी भी दो प्रकार के होते हैं—सक्रिय नीड़ परजीवी और निष्क्रय नीड़ परजीवी।

अविकल्पी ब्रूड परजीवी वे पक्षी हैं जो घोंसला बनाना ही नहीं जानते अतः ये कभी भी स्वयं घोंसला नहीं बनाते। ये न अपने अण्डों पर बैठ कर उष्मायन करते हैं और न ही शिशुओं का लालन-पालन करते हैं। इस श्रेणी में 47 प्रकार की कोयलें आती हैं जिनमें से चार किस्में भारत में पाई जाती हैं—1. कोयल, 2. भारती कुक्कू, 3. बाज़ कोयल एवं 4. प्लेन्टिव कुक्कू। अपने सुरीले गाने के लिये विख्यात कोयल घरेलू और जंगली कौवों के घोंसलों में उनकी मालकिन की अनुपस्थिति में चुपके से घुस कर एक घोंसले में एक अण्डा रख देती है। इस प्रकार वह कई घोंसलों में अपने अण्डे रख देती है। कोयल के अण्डे रंग-रूप में कौवे के अण्डों के इतने समान होते हैं कि कौवा असली नकली की पहचान ही नहीं कर पाता। काक दृष्टि रखने वाला चालाक कौवा यहाँ मात खा जाता है और मादा कौवा अपने अण्डों के साथ कोयल के अण्डे का भी उष्मायन करती है। अण्डों से निकले सभी शिशुओं को खिलाने-पिलाने के दौर में भी वे नकली सन्तान को नहीं पहचान पाते। वयस्क होने पर उनमें एक कोयल व शेष कौवे नज़र आते हैं।

विकल्पी ब्रूड परजीवी वे पक्षी होते हैं जो घोंसला बनाने की कला जानते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर स्वयं का घोंसला बना सकते हैं। किन्तु यदि इन्हें उपयुक्त जाति का घोंसला बना-बनाया मिल जाता है तो ये उसी में अण्डे दे देते हैं। कभी अपने हाथ लगे घोंसले में ये सीधे ही अण्डे देते हैं और कभी उसमें कुछ परिवर्तन कर लेते हैं। इस श्रेणी के परजीवी अण्डों पर बैठ कर उष्मायन कर सकते हैं तथा शिशुओं सा लालन-पालन भी कर सकते हैं परन्तु कभी-कभी ये अपने अण्डे दूसरे पक्षी के घोंसलों में भी रख देते हैं जैसे पीली चोंच की कोयल व कुछ बत्तखें।

विकल्पी ब्रूड परजीवी दो तरह के होते हैं-नीड़ परजीवी व अण्ड परजीवी। नीड़ परजीवी स्वयं घोंसला बना लेते हैं परन्तु दूसरों का बना-बनाया घोंसला मिल जाता है तो उसे स्वीकार करने में हिचकते नहीं हैं जैसे सफेद गले की मुनिया, कुछ उल्लू व बाज़। नीड़ परजीवी भी पुनः दो प्रकारों में विभाजित किये गये हैं—सक्रिय नीड़ परजीवी व निष्क्रिय नीड़ परजीवी। इन दोनों ही किस्मों का उदाहरण एक छोटी पर बहादुर 'सफेद गले वाली मुनिया' नामक चिड़िया है।

मुनिया बयाओं के घोंसले में परजीवी होती हैं। वर्षा में बया पक्षी अपने खोंसले रखते हैं। इधर मादा बया अण्डों का उष्मायन कर रही होती है और उधर मुनिया अतिक्रमण करना आरम्भ कर देती है। इस प्रकार की नीड़ परजीविता सक्रिय नीड़ परजीविता कहलाती है। वर्षा की समाप्ति तक बया पक्षी अपने नववयस्क बच्चों को उड़ा ले जाते हैं तथा घोंसलों को लावारिस छोड़ जाते हैं। मुनिया इन लावारिस घोंसलों को बेझिझक स्वीकार कर अण्डे दे देती है। यह निष्क्रिय नीड़ परजीविता कहलाती है।

अण्ड परजीवी सफलतापूर्वक घोंसले नहीं बना पाते। इस श्रेणी के पक्षी अपने कुल के समीपी दूसरे कुलों के पक्षियों के घोंसलों में अण्डे देते हैं।

परजीविता का यह विवरण अधूरा ही रहेगा जब तक कि कुछ विशेष पक्षियों की आदत यहाँ

वर्णित न की जायेगी। यूरोप में पाई जाने वाली सामान्य कुक्कू चिड़िया, स्पैरो (Sparrow) नामक पक्षी के घोंसले में अण्डे रखती है। एक मौसम में यह कोयल 15 से 25 तक अण्डे देती है। प्राय: एक घोंसले में यह एक ही अण्डा रखती है तथा अण्डों की संख्या पूर्ववत रखने के लिए चतुर कोयल स्पैरो चिड़िया का एक अण्डा खा जाती है। अण्डों से शिशुओं के निकलते ही गृह-युद्ध छिड़ जाता है क्योंकि कोयल का नन्हा शिशु परविहीन डैनों व पीठ से धक्के मार-मार कर स्पैरो चिड़िया के सभी शिशुओं को घोंसले से नीचे गिरा देता है। अब वह धाय माँ के घोंसले में अकेला रह कर सारा खाना स्वयं हड़प कर जाता है तथा तेजी से बढ़ता है। अभी वह घोंसले में ही होता है कि अपनी धाय माँ और पापा से कई गुना बड़ा नजर आने लगता है।

अफ्रीकी हनी गाइड के कार्यकलाप कुछ कम दिलचस्प नहीं होते। यह खोखलों व बिलों में अण्डे देने वाले पक्षियों के घोंसलों में अपने अण्डे रख देता है। अण्डे से निकले शिशु हनी गाइड की चोंच के छोर पर ऊपर व नीचे हुकनुमा बनावट होती है। इस पैने हुक की मदद से शिशु हनी गाइड अपनी धाय माँ की सभी सन्तानों की हत्या कर देता है और अकेला घोंसले में बैठा सारा खाना खाकर तेजी से बढ़ता है। धाय माँ-बाप बिना किसी प्रकार का सन्देह किये उस हत्यारी इकलौती नकली सन्तान को बड़े चाव से पालते हैं परन्तु जब वह घोंसले से बाहर आता है तो वे बहुत निराश होते हैं क्योंकि तब वे इस वास्तविकता को पहचान जाते हैं कि उन्होंने इतनी निष्ठापूर्वक एक शत्रु का पालन किया है।□

समीक्षा

(1) नयी पुस्तक

पुस्तक : वैज्ञानिक निबन्धावली
लेखक : शुकदेव प्रसाद
प्रकाशक : प्रयाग पुस्तक सदन, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद-211002
पृष्ठ संख्या : 159
मूल्य : पेपर बैक : 12 रु०, सजिल्द : 20 रु०

आलोच्य पुस्तक '**वैज्ञानिक निबंधावली**' लेखक द्वारा समय-समय पर विज्ञान के विविध पक्षों पर लिखे गए निबन्धों का संकलन है। इसमें प्रौद्योगिकी पर 3 लेख, पर्यावरण पर 8 लेख, ऊर्जा पर 4 लेख, अंतरिक्ष विज्ञान पर 3 लेख और 3 लेख अन्य विषयों पर भी हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर 21 लेख हैं। सभी विषय प्रासंगिक हैं और साथ ही जन-रुचि के हैं। लेखों की भाषा सरल एवं प्रवाहमय है। इससे विषय को जानने वाले और आम पाठक दोनों ही लाभान्वित होंगे। पुस्तक का मुद्रण साफ सुथरा, कवर आकर्षक और मूल्य उचित है।

(2) नयी पत्रिका

पत्रिका : नयी खेती (वर्ष 1984, अंक 3)
प्रधान सम्पादक : राधा मोहन श्रीवास्तव
प्रकाशक एवं अध्यक्ष : वीरेन्द्र कुमार शुक्ल, कृषि विज्ञान परिषद्, नेशनल डिग्री कॉलेज, बड़हलगंज, गोरखपुर (उ० प्र०)
पृष्ठ : 68, मूल्य : 5 रु०

कृषि विज्ञान परिषद्, बड़हलगंज, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित वार्षिकी '**नयी खेती**' (वर्ष 1984 अंक 3) 68 पृष्ठों के अपने सीमित कलेवर में

विविध सामग्री समोये हुए है। कुल मिलाकर छोटे-बड़े लेखों की संख्या 26 है। इसमें प्रकाशित सामग्री सूचनाप्रद है और कृषकों, कृषि के छात्रों तथा जनसामन्य के लिए उपयोगी है। बड़हलगंज जैसे आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्र के लिए तो यह पत्रिका और भी उपयोगी सिद्ध होगी। पत्रिका की छपाई अच्छी है और कवर से यह कृषि विज्ञान की पत्रिका लगती है। आशा है कि राधामोहन जी के प्रधान संपादकत्व में इस पत्रिका में आगे और भी सुधार होगा और यह पत्रिका अपने उद्देश्य में सफल होगी। इसके लिए सम्पादक मण्डल और लेखक बधाई के पात्र हैं।□

—**प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव**

संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

परिषद् का पृष्ठ

'विज्ञान' का कथा विशेषांक

पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि **'विज्ञान'** मासिक **नवम्बर** 1984-**जनवरी** 1985 **अंक** विशेषांक होगा।

हिन्दी में वैज्ञानिक कथाओं का लेखन कब से शुरू हुआ यह कहना कठिन है। प्रारम्भ में हिन्दी के लेखक कुछ वैज्ञानिक रोमांचक घटनाओं या जानकारियों को लेकर कहनी का रूप देने का प्रयास करते रहे किन्तु लेखकों को स्वयं विज्ञान की समुचित पैठ न होने से उनकी रचनाएँ शिथिल रहीं। वे पाठकों के मनों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल पाईं और ज्यों-ज्यों विज्ञान प्रगति करता गया, ऐसी कहानियों का अभाव होने लगा।

शायद अंतरिक्ष उड़ान के साथ जो नये युग का सूत्रपात हुआ उससे हिन्दी के लेखकों में कुछ उत्साह जगा। तब तक अनेक विज्ञानी भी हिन्दी में लेखन प्रारम्भ कर चुके थे अतः कहानी विधा उनके हाथों में पहुँच कर अपना रंग दिखाने लगी। ऐसे लेखकों में **नवल बिहारी मिश्र** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त कैलास शाह, रमेश दत्त शर्मा, प्रेमानन्द चन्दोला, श्यामसरन अग्रवाल 'विक्रम' आदि ने भी काफी योगदान किया है। इस नवोन्मेष काल की मुख्य रचनाएँ, **अपराध का पुरस्कार, हरे दानवों का देश, उड़ती मोटरों का रहस्य, अंतरिक्ष के पार, अधूरा आविष्कार** आदि हैं। लेकिन हिन्दी साहित्य जगत् पर इन कहानियों का क्या प्रभाव पड़ा और हिन्दी के कथाकार आलोचकों ने इन लेखकों के विषय में क्या धारणा बनाई, यह पता नहीं चल पाता। हिन्दी साहित्य के इतिहास से ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

यह सच है कि वैज्ञानिक तथ्यों को कथा-कहानी के रूप में अत्यन्त रोचक बनाया जा सकता है लेकिन हिन्दी में अभी इसकी परम्परा ही नहीं बन पाई। कोयले की आत्मकथा, हीरे की आत्म कथा, मैं हवा हूँ, मैं पानी हूँ जैसी कथाओं की विधा अत्यन्त पुरानी है। इन कथाओं में तथ्यों को ठूँस-ठूँस कर भरने की प्रवृत्ति होने से ये उबाऊ सिद्ध हुईं। भले ही आज शुरू-शुरू में कोई बालक इन्हें पढ़ने के लिए आकृष्ट हो किन्तु तरुण या प्रौढ़ व्यक्ति नहीं ही पढ़ता। वह जानता है कि यह तो पाठ्यपुस्तकों में निहित ज्ञान को ही दूसरे जामे में रख दिया गया है। लेकिन नहीं, यह भ्रान्त धारणा है। एक रूसी पुस्तक का नाम है—**रसायन की** 101 **कहानियाँ** जिसमें रसायन विज्ञान सम्बन्धी प्रचुर सामग्री है। लेकिन हाँ, कहने का ढंग और कहने वाले के ऊपर ऐसी कहानियाँ निर्भर करती हैं। जिन कहानियों की हमें चाह रहती है वे हैं **एच० जी० वेल्स** या **जेम्स जीन्स** जैसे लेखकों की कहानियाँ। हमें पता नहीं कि मौलिक चिंतन

करके भारत के किसी विज्ञान लेखक ने हिन्दी में या अन्य भारतीय भाषाओं में लिखा हो।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, अंतरिक्ष युग के सूत्रपात के साथ ही कथा साहित्य में मोड़ आया है और कुछ नये नाम उभर कर सामने आये हैं। जिस गति से हिन्दी में विज्ञान लेखन हो रहा हैं उसे देखते हुये यह नितांत आवश्यक है कि कहानी विधा में भी प्रगति हो।

यह 'विज्ञान' का कहानी विशेषांक उन समस्त लेखकों को अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानी प्रेषित करने के लिए आमंत्रित करता है। इससे हम वर्तमान वैज्ञानिक कहानी की प्रगति का आकलन कर सकेंगे। पाठकों के समक्ष पहली बार सभी कहानी लेखकों को प्रस्तुत कर सकेंगे।

हमारा विश्वास है कि लेखक हमारे इस आमन्त्रण को स्वीकार करके हमें अपनी रचनाएँ 30 नवम्बर 1984 तक अवश्य प्रेषित कर देंगे।

आवश्यकता है कि हिन्दी में जितना विज्ञान लेखन हो रहा है, उसका शैलीगत अध्ययन हो। इस दिशा में यह विशेषांक उपयोगी सिद्ध होगा। एक बार पुनः सहयोग के लिए विनम्र निवेदन किया जा रहा है।

—**डॉ० शिवगोपाल मिश्र**
प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

विज्ञान वार्ता

संकलन : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

(1) दिल का दौरा—एक नयी परिकल्पना

सोवियत चिकित्सा-विशेषज्ञ कोबा पताराया ने यह पता लगाया है कि दिल की पेशियों के व्यतिक्रम के दौरान रक्त-सीरम में लेड की मात्रा अचानक कम हो जाती है जबकि एरिथ्रोसाइट्स (लाल रुधिरकण) में यह तेजी से बढ़ जाता है। अन्य रोगों में, जिनमें हृदय के रोग भी शामिल हैं, इस तरह का प्रभाव नहीं देखा गया है। अपनी प्राक्कल्पना में, सोवियत विशेषज्ञ ने बताया है कि पर्यावरण में, विशेष रूप से नगरों में, प्रचुर मात्रा में वर्तमान लेड शरीर की सभी कोशिकाओं में आसानी से प्रवेश पा जाता है और हड्डियों, यकृत और प्लीहा में जमा हो जाता है। जब यह रक्त में प्रवेश करता है तो लाल रक्त कणिकाओं को अधिक तेजी से समाप्त कर देता है। चूँकि ऑक्सीजन के मुख्य वाहक हिमोग्लोबिन अपना काम करने में असमर्थ हो जाते हैं, हृदय ने पेशियों को कम ऑक्सीजन मिलता है, परिणामतः दिल का दौरा पड़ता है।

यदि इस प्राक्कल्पना को अंतिम रूप से पुष्ट कर दिया जाता है तो इसके आधार पर दिल के दौरे के निवारण की सफल नयी विधि प्राप्त की जायेगी।

(2) मूंगफली से भी कैंसर

जाड़ों का मेवा, गरीबों का काजू और प्रोटीन का सस्ता स्रोत कहलाने वाली मूँगफली से भी अब सावधान रहने की जरूरत है। देर तक सीलन भरे गर्म गोदामों में रखे जाने के बाद यह भी कैंसर और यकृत-शोथ जैसी घातक बीमारियों की जननी बन जाती है।

यह निष्कर्ष है, के० ई० एम० अस्पताल, बम्बई के वक्षरोग विशेषज्ञ डॉ० एम० आर० कामत का जो एक विस्तृत अध्ययन के बाद उन्होंने 'पर्यावरण प्रदूषण' पर आयोजित एक

विचार गोष्ठी में अपने मुख्य भाषण में प्रकट किया।

(3) फ्लू महामारी का कारण

एक नयी खोज के अनुसार फ्लू महामारी का कारण कुछ अनजाने विषाणु नहीं वरन् सौर विकिरण में व्यापक गति है। यह मत व्यक्त किया है ब्रिटेन के 'इपिडेमिऑलोजिकल रिसर्च यूनिट के डॉ० रॉबर्ट होप-सिम्पसन ने जिसे 'जर्नल ऑव हाइजीन' ने प्रकाशित किया है। डॉ० रॉबर्ट होप-सिम्पसन के अनुसार विश्व के 1974-1975 के बीच सभी बड़ी फ्लू महामारियों का कारण यही है।

(4) क्या अंतरिक्ष में कबाड़ एकत्र हो रहा है ?

लास एंजलीस से प्राप्त एक ताजे समाचार के अनुसार 15,000 से अधिक मानवकृत पिण्डों ने अंतरिक्ष को कबाड़खाना बना दिया है तथा इनके फलस्वरूप विश्व में संचार संबंध छिन्न-भिन्न होने का गंभीर संकट पैदा हो गया है। यह निष्कर्ष निकाला है। अमेरिकी वायु सेना के लिए समस्या का अध्ययन कर रहे एक इंजीनियर ने।

रेंड कारपोरेशन के वरिष्ठ इंजीनियर एल्विन हरबर्ट (Elvin Herbert) ने बताया कि हम अंतरिक्ष में अधिक से अधिक उपग्रह प्रक्षेपित कर रहे हैं तथा अधिक से अधिक पिण्डों को अंतरिक्ष में भेज रहे हैं जिनकी वजह से वहाँ भीड़ बढ़ती जा रही है।

उन्होंने कहा कि अंतरिक्ष में इन पिण्डों के मध्य मुठभेड़ से तो बचा भी जा सकता है लेकिन पृथ्वी और अंतरिक्ष के मध्य रेडियो-संचार संबंध निरन्तर जटिल होते जा रहे हैं तथा इसको रोकना जरूरी है। अंतरिक्ष में उपग्रहों का जाल बिछ जायेगा तो संकट गहन हो जायेगा तथा संचारा समस्य जटिलतम हो जायेगी। मुख्य समस्या वर्णक्रमीय (स्पेक्ट्रमी) और कक्षीय परिक्रमा संबंधी है जिसके परिणामस्वरूप नागरिक व सैनिक आँकड़ों के संचरण में निश्चय ही व्यवधान पैदा होगा।

वन्यजीव संरक्षण सप्ताह (1 अक्टूबर—7 अक्टूबर, 1984) के अवसर पर

वन्यजीव संरक्षण : एक जीवन दर्शन

श्रीमती मंजुलिका लक्ष्मी
5 ई/4 लिडिलरोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद

अपने प्राचीन भारतीय दर्शन के अनुरूप ही वर्तमान समय में पुनः एक स्वर से वन्यजीवों के संरक्षण की महत्ता को स्वीकार कर लिया गया है। वन्य आश्रमों में पलने वाले हमारे पूर्वज अन्य जीव-जन्तुओं के साथ मनुष्य की सहजीविता की सार्थकता को अच्छी तरह समझते थे। विज्ञान की आधुनिकतम सूचनायें फिर इस तथ्य की सत्यता को प्रमाणित कर रही हैं कि वन और वन के जीव दोनों ही मानव सभ्यता के भविष्य और उसकी संतुलित स्वस्थ प्रगति के लिए आवश्यक हैं। मानव के साथ पशु भी प्रकृति के वृहत पारिस्थितिकी तंत्र के अनिवार्य अंग हैं और इसमें पेड़-पौधे, जीव-जन्तु और मानवजाति सभी एक दूसरे पर आश्रित हैं। जंगल हमारे पर्यावरण के तंत्र के फेफड़ों के समान हैं और उन जंगलों के प्राकृतिक वैभव को सुरक्षित रखने के लिए पशुओं और पक्षियों का होना अनिवार्य है। यहीं वन्यजीवों के संरक्षण की आवश्यकता उभर कर सामने आती है।

वर्तमान स्थिति तो यह है कि लगभग प्रति वर्ष किसी एक जीवजाति (स्पीशीज़) के पूर्णतः समाप्त हो जाने का भय रहता है। प्रगति की

आड़ में जंगलों का मनमाना काटा जाना वन्य जीवों के लिए सर्वाधिक घातक है। जंगल के पारिस्थितिकी तंत्र में किया गया कोई भी परिवर्तन वन्यजीवों की संख्या पर कुप्रभाव डाल सकता है। आर्थिक लोभ के कारणों से वन्यपशुओं का शिकार और उनके निवास के स्थानों में आया बदलाव भी उनकी संख्या पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।

जंगलों के पारिस्थितिकी तंत्र में स्थिरता इसी कारण रहती है क्योंकि वहाँ जैव विभिन्नता पायी जाती है। वहाँ विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तु, पशु-पक्षी और वनस्पतियाँ एक तंत्र के रूप मे सह आस्तित्व के आधार पर निवास करती हैं। इस तंत्र का प्रत्येक सदस्य एक भोजन की कड़ी के रूप में एक दूसरे से जुड़ा रहता है। जैसे शेर अथवा बाघ के शिकार के फलस्वरूप हिरन निर्बाध गति से अपनी संख्या में तब तक वृद्धि करते रहते हैं जब तक उन्हें यथेष्ट भोजन मिलता रहता है। किन्तु अधिक संख्या के कारण जब भोजन की कमी होती है तो वे मरने लगते हैं। दूसरी ओर जब उनकी संख्या बढ़ती है तो उनके द्वारा भक्ष्य वनस्पतियों की संख्या कम होने लगती है। इस प्रकार मामूली परिवर्तनों से एक स्थिर तंत्र असंतुलित हो जाता है। जंगलों के कटने के कारण अनेक जंगली जानवरों की जातियाँ विलुप्त हो गई हैं और कुछ विनाश के कगार पर हैं। इस हानि से आशंकित होकर आज विश्व में जगह-जगह वन्यजीवों के संरक्षण के लिए आवाज़ उठाई जा रही है।

हमारी सरकार ने भी वन्यजीव संरक्षण ऐक्ट (1972) के अन्तर्गत जीवों के मनमाने शिकार पर रोक लगाने का प्रयत्न किया है। इसी का परिणाम है कि वन्य जीवों की अनेक लुप्तप्राय जातियाँ अब संख्या में वृद्धि कर रही हैं और उनके विनाश की आशंका कम हो चली है। बाघ और घड़ियाल इसके उदाहरण हैं। देश में कुछ अन्य वन्य जीव संरक्षण संस्थायें भी क्रियाशील हैं। ये समाप्तप्राय स्पीशीज़ की सुरक्षा और उन्हें प्राकृतिक निवास में वापस लाकर रखने पर बल देती हैं। देश के विभिन्न स्थानों में स्थित वानस्पतिक उद्यानों और प्राणि उद्यानों से भी यह अपेक्षा की जाती है कि वे पौधों और जीवों की लुप्तप्राय जातियों के संरक्षण की दिशा में विशेष प्रयत्न करें। अभयारण्यों और नेशनल पार्कों की भूमिका क महत्व तो असंदिग्ध है ही। योजनायें यह भी हैं कि इस दिशा में शोधकार्य को बढ़ावा दिया जाय जिससे वन्यजीवों के अभयारण्यों और प्राकृतिक-वासों की व्यवस्था अधिक समुचित, विज्ञान-सम्मत नीति के आधार पर की जा सके। सामान्यजन के बीच इस संबंध में रूचि और चेतना जाग्रत करने का कार्य सबसे कठिन और सबसे अधिक महत्व का है। किन्तु मानवजाति की भलाई और भविष्य के लिए इन वन्यजीवों की आवश्यकता कितनी अधिक है, सभी को इससे परिचित कराये बिना इस आन्दोलन की सफलता संदिग्ध ही रह जाती है। वन्यजीव संरक्षण अभियान के दीर्घकालिक जीवन के लिए यह भी दृष्टि में रखना होगा कि यह कार्यक्रम विकास-वाद और आनुवंशिकी के दृढ़ सिद्धान्तों पर ही आधारित हो।

वन्यजीव संरक्षण का मुख्य ध्येय है संतुलित विकास। वृक्षों को किसी भी दशा में न काटना, सभी पशुओं के बध पर पूर्ण निषेध लगा देना या नदियों की धारा को अनियंत्रित बहने देना जैसे अतिवादी नारों से वन्यसंरक्षण के मुख्य ध्येय पूर्ति न हो सकेगी। इस लक्ष्य की प्राप्ति लिए हमें इसे किसी आन्दोलन या उच्चादर्श के रूप में नहीं स्वीकारना या चलाना होगा बल्कि जीवधारियों और प्रकृति के प्रति सहज प्रेम को अपनी स्वाभाविक जीवनशैली के रूप अंगीकार करना होगा। □